हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों का समावेश

(सन् १८७० से १९७० ई० तक)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० मालती तिवारी

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

प्रस्तुतकर्त्री

कु० रेनू प्रधान

हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९८५

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध `हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों का समावेश` विषय पर लिखा गया है। नाटकों का सम्बन्ध भारतीय जीवन, संस्कृति तथा विचारधारा के साथ अत्यन्त महत्वपूर्ण ढंग से जुड़ा हुआ है, और जैसा कि विषय से स्पष्ट है इसके अन्तर्गत जीवन से प्रत्यक्षत: जुड़े नाटक के एक विशिष्ट दृष्टिकोण के रूप में यथार्थवाद की पहचान तथा नाटकों पर उसका प्रभाव देखने की चेष्टा की गई है, मुख्यरूप से हिन्दी नाटकों के प्रारम्भिक विकास के साथ-साथ यथार्थवाद की संगति की तलाश तथा उसके प्रभाव को देखने और परखने की चेष्टा।

इस शोधप्रबन्ध को प्रस्तुत करने का मेरा मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य साहित्य का युग-यथार्थ से एक अभिन्न सम्बन्ध बतलाते हुए हिन्दी नाटकों की सार्थकता, उपयोगिता तथा नाट्य विकास में सक्रिय यथार्थवाद की एक सार्थक एवं महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करना रहा है। और यथार्थवाद का सम्बन्ध चूँकि युग-यथार्थ से होता है अत: हमने सर्वप्रथम भारतीय परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए अपने युग का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है और तत्पश्चात् उन यथार्थ सन्दर्भों का हिन्दी नाटकों में किस प्रकार प्रतिफलन हुआ है, यह दिखाया है। साथ ही युग यथार्थ के परिवर्तन के साथ ही यथार्थवाद के आगमन से नाटकों के स्वरूप अर्थात् उसके मूलभूत अंगों विषय, भाषा तथा रंग-संयोजन पर क्या प्रभाव पड़ा, उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन नाटकों में यथार्थवाद के प्रयोग और विकास के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने से सम्बन्धित है, जिसे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हमने छ: अध्यायों में विभाजित किया है।

`हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों का समावेश` विषय का विश्लेषण करते हुए सर्वप्रथम हमारी दृष्टि जिस ओर जाती है, वह है, यथार्थवाद का स्वरूप विश्लेषण अत: प्रथम अध्याय में हमारा मुख्य प्रतिपाद्य साहित्य में यथार्थवादी विचारपरम्परा का उद्भव और विकास का विश्लेषण रहा है। और चूँकि यथार्थवाद मूलत: पश्चिम की देन है अत: इसे हमने पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं तथा पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के आधार पर एक

निश्चित रूप देने का प्रयास किया है। तथा अन्त में हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के स्वरूप ग्रहण की एक रूपरेखा प्रस्तुत की है।

प्रबन्ध का दूसरा अध्याय 'आधुनिक भारतीय जीवन में होने वाले राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन' है। इसके अन्तर्गत सन् १८५० से १६७० तक के भारतीय जीवन में होने वाले समस्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों, जिन्होंने भारतीय जीवन फलत: साहित्य को प्रभावित किया, का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

प्रबन्ध का तीसरा अध्याय `यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाट्य साहित्य और भारतेन्दु युग` प्रबन्ध के क्रियात्मक पक्ष अर्थात् नाट्य-विवेचन से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम हिन्दी नाट्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए, हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद के ग्रहण का आधार प्रस्तुत किया गया है और तत्पश्चात् हिन्दी नाट्य साहित्य के प्रारम्भिक चरण भारतेन्दुयुग की परिस्थितियों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कर भारतेन्दु युगीन नाटकों का विवेचन किया गया है। और नाटकों का विवेचन करते समय विषय वस्तु अर्थात् जीवन-सन्दर्भों के साथ ही उनकी भाषिक संरचना तथा रंगमंचीय उपलब्धियों पर भी एक दृष्टि डाली गयी है।

प्रबन्ध का चौथा अध्याय नाटक का अगला चरण `द्विवेदी तथा प्रसाद युग` है। कालक्रम की दृष्टि से यह सन् १६०० से १६३० तक की कालावधि में लिखे गये नाटकों को अपने में समेटे हुए है। यथार्थवाद के युग-यथार्थ से प्रत्यक्षत: जुड़े होने के कारण यद्यपि हमारा मुख्य प्रतिपाद्य तो यहाँ मौलिक सामाजिक नाटक ही रहे हैं, किन्तु युग यथार्थ की सक्रियता को देखते हुए कतिपय ऐतिहासिक नाटकों का भी विवेचन किया गया है, जो मात्र विषय के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से ही किया गया है।

प्रबन्ध का पाँचवा अध्याय `प्रसादोत्तर युग` है। जिसके कि नाम से ही स्पष्ट है प्रसाद के बाद का युग। कालक्रम की दृष्टि से सन् १६३० से १६४७

तक का काल इस युग के अन्तर्गत आता है। एक सिद्धान्त रूप में हिन्दी नाट्य साहित्य को यथार्थवाद की ओर मोड़ने का सर्वाधिक श्रेय इस काल विशेष को ही है। अत: प्रस्तुत अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में इस काल की साहित्यिक उपलब्धियों का परिचय देते हुए प्रसादोत्तरकालीन नाटकों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रबन्ध का छठा एवं अन्तिम अध्याय 'स्वातन्त्र्योत्तर युग' है। इसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता के पश्चात् से सन् १९७० तक के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु नाटकों का अध्ययन करते समय यहाँ युग-यथार्थ से प्रत्यक्षत: सम्बन्धित सामाजिक नाटकों के साथ ही युग यथार्थ से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नाटकों को भी अध्ययन के अन्तर्गत समाहित कर लिया है। जिसके पीछे हमारा मुख्य उद्देश्य यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के ग्रहण से नाट्य जगत में होने वाले परिवर्तनों को ही संकेतित करना रहा है।

उपसंहार में निष्कर्ष रूप में हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के समावेश की स्थिति तथा यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के समावेश से हिन्दी नाटकों के स्वरूप में आगत परिवर्तनों पर विचार करते हुए सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य साहित्य की मौलिक नाट्योपलब्धियों का विवेचन किया गया है।

अस्तु, विनम्रतापूर्वक यह स्वीकार करने में मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है कि मेरा प्रयत्न पूर्ण नहीं तो कुछ हद तक सफल अवश्य हुआ है। यद्यपि अध्ययन की निजी रुचियाँ और सम्भावनाएँ होती है, फिर भी मेरा पूर्ण प्रयास रहा है कि मैं विषयगत सम्पूर्ण तथ्यों के महत्व को रेखांकित कर सकूँ। नाटकों के पात्रों और उनके जीवन सन्दर्भों के साथ जुड़कर ही इस क्षेत्र में कार्य किया जा सकता था, और इसी दृष्टि से मैंने इस कार्य को आगे ले जाने की चेष्टा भी की है तथा मुझे इसकी समाप्ति पर आत्मतोष भी प्राप्त हुआ है।

शोध की समाप्ति पर मैं अपने पूज्य गुरुजनों तथा निर्देशिका डा० मालती तिवारी जी का स्मरण करना चाहूँगी, जिनके सत्परामर्श और उचित निर्देशन से मैं यह कार्य करने में सफल हो सकी। साथ ही उन संस्थानों के प्रति

भी मैं अपना धन्यवाद व्यक्त करना चाहती हूँ, जहाँ से मुझे अध्ययन की अपार सुविधा मिली । अन्ततः अपने सहयोगियों मित्रों तथा पारिवारिक आत्मीयजनों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस शोध को प्रस्तुत करने में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुझे शक्ति और सामर्थ्य प्रदान की । इन सबके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ ।

कु० रेनू प्रधान
(कु० रेनू प्रधान)

विषयानुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

अध्याय १ : साहित्य में यथार्थवादी विचारपरम्परा का उद्भव और विकास — १ - ३२

यथार्थवाद : एक दृष्टि

यथार्थवादी विचारधारा का उदय—

ज्ञान विज्ञान तथा आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन का प्रभाव, क्लासिकल और रोमांटिक साहित्य सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया ।

साहित्य तथा अन्य कलाओं में यथार्थवादी विचारधारा के अपनाये जाने से उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रान्तियाँ—

विषयगत क्रान्ति, भाषागत क्रान्ति, शिल्पगतक्रान्ति

पश्चिमी साहित्य में यथार्थवाद का उदय और विकास--

आलोचनात्मक यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद,

हिन्दी साहित्य और यथार्थवाद ।

अध्याय २ : आधुनिक भारतीय जीवन में होने वाले राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन (सन् १८५० से १६६० ई० तक) — ३३ - १०६

खण्ड १ :

राजनैतिक परिवर्तन -

राजनैतिक क्षेत्र में गुलामी की प्रतिक्रिया और भारतीय जनसमूह पर उसका प्रभाव, औपनिवेशिक-शासन के विरुद्ध संघर्ष और विरोध का जन्म ।

आर्थिक परिवर्तन -

पूँजी का अन्तर्परिवर्तन, औपनिवेशिक शोषण, पूँजीपतिवर्ग का उदय, पूँजी का निर्यात ।

विषय | पृष्ठ संख्या

सांस्कृतिक परिवर्तन -

नयी विदेशी शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ, ज्ञान विज्ञान के विकास से भारतीय समाज में नयी जीवन-पद्धति का प्रारम्भ, नये किस्म के शहरी कस्बाई मध्यवर्ग का उदय ।

इन सभी के सम्मिलित प्रभाव से भारतीय जीवन-सन्दर्भों में होने वाले नये परिवर्तन —

राष्ट्रीय चेतना का विकास, एक नये राष्ट्रवाद का प्रारम्भ, विशिष्ट किस्म के जीवनमूल्यों का निर्माण ।

खण्ड २ :

राजनैतिक परिवर्तन -

गाँधी जी का उदय तथा स्वतन्त्रतासंग्राम का तीव्रतर होना ।

आर्थिक परिवर्तन -

औद्योगिक विकास तथा पूँजी का केन्द्रीकरण

सांस्कृतिक परिवर्तन -

नयी शिक्षा प्रणाली, संयुक्त परिवारों का विघटन, शहरी मध्यवर्ग

खण्ड ३ :

राजनैतिक परिवर्तन -

स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं राजनैतिक अव्यवस्था

आर्थिक परिवर्तन -

आर्थिक संकट एवं शोषण के नये रूप

सांस्कृतिक परिवर्तन -

देश का नवनिर्माण, सामाजिक अराजकता एवं पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण ।

विषय | पृष्ठ संख्या

आलोच्यकाल का साहित्य तथा संस्कृति पर प्रभाव

अध्याय ३ : यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाट्यसाहित्य और भारतेन्दु युग — १०६-१७९

हिन्दी नाटक की भूमिका, नाटक और यथार्थवाद

भारतेन्दु युग (सन् १८७०-१९०० ई० तक)

भूमिका

विषय प्रतिपादन

सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटक —

सामाजिक समस्याएँ; धर्मान्धता, सामाजिक विसंगति और नारीजीवन, सामाजिक भ्रष्टाचार, शिक्षा ।

राजनैतिक समस्याओं पर आधारित नाटक

राजनैतिक समस्या : राष्ट्रीयचेतना एवं जनजागरण

भाषा-प्रयोग

रंग-संयोजन

निष्कर्ष

अध्याय ४ : द्विवेदी प्रसाद युग (सन् १९०० - १९३० ई० तक) — १८०-२१६

भूमिका

विषय प्रतिपादन

द्विवेदी युगीन सामाजिक नाटकों में अभिव्यक्त समसामयिक यथार्थ —

धर्मान्धता, वैवाहिक असंगति और नारी जागरण, सामाजिक अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार, पाश्चात्य संस्कृति एवं नवीन शिक्षा ।

विषय | पृष्ठ संख्या

ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों में अभिव्यक्त यथार्थदृष्टि
(प्रसादयुगीन नाटकों के सन्दर्भ में)
भाषा-प्रयोग
रंग-संयोजन
निष्कर्ष

अध्याय ५ : प्रसादोत्तर युग (सन् १९३० - १९४७ ई० तक) — २१८ - ३१६

भूमिका
विषय प्रतिपादन
व्यक्ति समस्याश्रयी नाटक --
प्रमुख समस्याएँ : यौन समस्या, असन्तुलित अथवा विषम दाम्पत्य जीवन, आर्थिक वैषम्य, मानसिक संघर्ष
सामाजिक समस्याश्रयी नाटक —
(क) सामाजिक समस्याएँ : आधुनिक शिक्षा, नारी जागरण, सामाजिक कुरीतियाँ, सामाजिक जीवन में व्याप्त अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार, सुधारकों की स्वार्थनीति अथवा पाखण्ड
(ख) आर्थिक समस्याएँ : वर्ग संघर्ष, पूँजीवादी सभ्यता का सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव
(ग) राजनैतिक समस्याएँ : हिन्दू मुस्लिम संघर्ष राजनैतिक जीवन में व्याप्त अव्यवस्था
भाषा-प्रयोग
रंग-संयोजन
निष्कर्ष

अध्याय ६ : स्वातन्त्र्योत्तर युग (सन् १९४७-१९७० ई० तक) — ३१८ - ४३२

भूमिका

विषय — पृष्ठ संख्या

विषय प्रतिपादन

इतिहासाश्रित सामाजिक नाटक

समसामयिक जीवन से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध नाटक —

(क) सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि पर आधारित-
परम्परित सामाजिक नाटक :
प्रमुख समस्याएँ : देश विभाजन तथा शरणार्थी समस्या, जमींदारी उन्मूलन, राष्ट्रीय एकता एवं नवनिर्माण, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार, बेकारी अथवा बेरोजगारी, श्रम और पूँजी का संघर्ष, नारी जागरण, विदेशी आक्रमण

(ख) सामाजिक समस्याओं के संघात से व्यक्ति के अन्तर्मन में उत्पन्न द्वन्द्वों एवं संघर्षों से ओतप्रोत मनोविश्लेषणात्मक नाटक
प्रमुख समस्याएँ : स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की तनावपूर्ण स्थिति, व्यक्तित्व संघटन की समस्या

(ग) आधुनिक विसंगतियों से पूर्ण एब्सर्ड नाटक

भाषा-प्रयोग

रंग-संयोजन

निष्कर्ष

उपसंहार : ४३३ - ४४४

परिशिष्ट : ४४५ - ४६०

सहायक पुस्तक सूची

—

अध्याय १

साहित्य में यथार्थवादी विचार परम्परा का उद्भव और विकास

साहित्य में यथार्थवादी विचार परम्परा का उद्भव और विकास

यथार्थवाद : एक दृष्टि

साहित्य व्यक्ति की निजी एवं सामाजिक अनुभूतियों का समुच्चय है जो अपने समय की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से अनुप्रेरित होता हुआ युग-जीवन का एक सच्चा एवं जीवन्त प्रतिरूप हमारे समक्ष उपस्थित करता है और यही कारण है कि जैसे-जैसे परिस्थितियों में परिवर्तन होता है नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना के साथ साहित्य में भी अपेक्षित परिवर्तन होते चलते हैं। विश्व साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास इस तथ्य का स्पष्ट परिचायक है। साहित्य जगत में स्वीकृत शास्त्रीयतावाद, आदर्शवाद तथा स्वच्छन्दतावाद नामक साहित्यिक सिद्धान्त मूलत: युग-जीवन की इन परिवर्तित परिस्थितियों का ही परिणाम है जिन्होंने परिस्थित्यानुकूल साहित्य रचना सम्बन्धी कुछ नवीन मानदण्डों की स्थापना की। आदर्शवाद तथा स्वच्छन्दतावाद की इसी सैद्धान्तिक परम्परा में आगे चलकर यथार्थवाद का उदय हुआ। यथार्थवाद मूलत: पाश्चात्य की देन है किन्तु युग यथार्थ से अपना अभिन्न सम्बन्ध बनाये रखते हुए इसने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। जहां तक इसके अर्थ स्वरूप एवं व्याप्ति का प्रश्न है विभिन्न विद्वानो, दार्शनिकों एवं विचारकों ने इसे अपनी-अपनी दृष्टि के अनुरूप परिभाषा में बांधने का प्रयास किया है। यथार्थवाद को पश्चिम की देन बताते हुए एक विचारक लिखते हैं कि `यथार्थवाद के लिये अंग्रेजी का शब्द `रियलिज्म` है। `रियल` ग्रीक भाषा के `रेस` ( Res ) शब्द से बना है जिसका अर्थ है वस्तु। अत: रियल का अर्थ होता है वस्तु सम्बन्धी। यही कारण है कि रियलिज्म (यथार्थवाद) वस्तु के अस्तित्व सम्बन्धी विचारों के प्रति एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार जगत की वस्तुएं यथार्थ हैं अर्थात् जैसी दिखाई देती है वैसी ही है।`[१] इस प्रकार यथार्थवाद का शाब्दिक अर्थ तो हुआ जो वस्तु जैसी हो उसे उसी रूप में ग्रहण करना किन्तु इस शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त यथार्थवाद एक विशिष्ट अर्थ भी रखता है जिसका प्रयोग पश्चिमी जगत में दर्शन, कला एवं साहित्य के क्षेत्र में काफी समय से होता चला आरहा है। इस विशिष्ट अर्थ के अनुसार `वह विशेष दृष्टिकोण जो सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल

---

१. लक्ष्मीनारायण एवं डॉ० एस० के० पाल - `शिक्षा के सिद्धान्त और आधार`, पृष्ठ २५६।

को, काल्पनिक की अपेक्षा वास्तविक को भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को सुन्दर की अपेक्षा असुन्दर एवं कुरूप को तथा आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को ग्रहण करता है यथार्थवादी दृष्टिकोण कहलाता है।[1] किन्तु आज यथार्थवाद की मान्यता एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में ही अधिक प्रचलित है जो यथार्थ जीवन के सभी रूपों की यथार्थ अभिव्यक्ति में स्पष्ट होती है। यों तो यथार्थ और यथार्थवाद सामान्यत: एक ही अर्थ के परिचायक हैं एक साहित्य में अभिव्यक्त वास्तविकता है तो दूसरा उस वास्तविकता को विशिष्ट वैचारिक अर्थ प्रदान करता है किन्तु परस्पर समानार्थी होने पर भी दोनों का अपना पृथक अस्तित्व है त्रिभुवन सिंह के शब्दों में `यथार्थवाद यथार्थता की भूमि पर जीवन का नूतन चित्र है। यथार्थवाद हृदय की वस्तु है और यथार्थ उसका मूल स्रोत, जो अपनी विषय वस्तु जीवन की यथार्थता से ग्रहण करता है।[2] यद्यपि प्रारम्भ में यथार्थ का प्रयोग चित्रण की एक शैली के रूप में ही स्वीकार किया गया था किन्तु १६ वीं शताब्दी की अनेक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक निष्पत्तियों ने एक प्रेरक सिद्धान्त अथवा संपूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले सौन्दर्यशास्त्रीय[3] प्रतिमान के रूप में स्वीकार कर उसे अन्तत: एक वाद का रूप दिया। यद्यपि राबर्ट लुई स्टीवेन्सन ने यथार्थवाद को एक अभिव्यंजना शैली के रूप में ही मान्यता दी है किन्तु अधिकांश विद्वान इससे सहमत नहीं थे। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान कजामियाँ का निम्न कथन दृष्टव्य है : `कला के क्षेत्र में यथार्थवाद एक शैली नहीं बल्कि एक विचारधारा है।[4] कजामियाँ के अतिरिक्त अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी यथार्थवाद को एक विचारधारा के रूप में ही स्वीकार किया है जिसका मुख्य उद्देश्य था भाववादी मान्यताओं की अपेक्षा वस्तुगत यथार्थ को सत्य मानकर जीवन के यथार्थ अंकन पर बल देना। जो उनके द्वारा दी गई परिभाषाओं से भी सहज ही स्पष्ट है। यथार्थवाद को परिभाषित करते हुए एच० लेविन अपने 'कम्पैरिटिव लिटरेचर' में एक स्थान पर

---

१. डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त -`साहित्यिक निबन्ध`, पृष्ठ ५०६

२. त्रिभुवन सिंह - `हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद`, पृष्ठ ७

३. शिवकुमार मिश्र - `यथार्थवाद`, पृष्ठ ४

४. **"Realism in art is not a method but a tendency"**

- Cazamiang 'A History of English Literature.

लिखते हैं कि 'साहित्य में यथार्थवाद एक विचारधारा है जिसका तात्पर्य है जीवन और प्रकृति का उसके समस्त रूपों के साथ पूर्ण निष्ठामय चित्रण एवं प्रति प्रस्तुतिकरण। यह सौन्दर्य के लिये वास्तविकता के आदर्शीकरण को, अभिव्यंजना के शैलीकरण को तथा अत्युत्तम एवं अतिप्राकृतिक विषयवस्तु के व्यवहार को अस्वीकार करता है।'[1] यथार्थवाद को युगजीवन से जोड़ते हुए कुछ ऐसे ही विचार शिप्ले ने अपने 'विश्व साहित्य कोष' में व्यक्त किये हैं। उनकी दृष्टि में 'यथार्थवाद शब्द का प्रयोग उन साहित्यिक कृतियों के लिये किया जाता है जो वास्तविक जीवन की अनुकृति में निर्मित होती है और जो अपनी विषयवस्तु वास्तविक जीवन से ग्रहण करती है।'[2] यथार्थवाद के इसी वैचारिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यथार्थवाद के एक प्रमुख आलोचक एवं आख्याता जार्ज लुकाच लिखते हैं कि 'सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह प्रमुख विशेषता है कि लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आस-पास देखता है उसका चित्रण करे।'[3] ब्रिटेनिका विश्वकोष के अनुसार 'यथार्थवादी वह है जो विचारपूर्वक सुन्दर और सुसंगत विषयों को चुनने से अस्वीकार करता है तथा कुरूप चीजों का विशेष रूप से वर्णन करता है और तथ्यों को नीरस ढंग से सामने लाता है। जो व्यक्ति को महत्व देता है, टाइप्स को नहीं तथा विशेष रूप से वह जो तथ्यों को ठीक वैसा ही प्रतिरूपित करने का प्रयत्न करता है जैसे कि वे वास्तव में

---

1. " Realism in literature is an attitude which purports to depict life and to reproduce nature in all its aspects as faithfully as possible. It rejects the idealizing of reality in favour of beauty together with stylization in expression and the treatment of transcendental and supernatural subject matter."

   -- H.Lavin- 'Comparitive Literature 'Page 285.

2. J.T.Shipley : Dictionary of world Literature, Page 470.

3. " It is a condition singuanon of great realism that the author must honestly record without fear of favour everything he sees around him."

   -- George Lukacks 'Studies in European Realism', Page 137-138.

हैं ।[१] यथार्थवाद की इन्हीं चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यथार्थवाद के एक अन्य विचारक एंगेल्स मार्गरेट हार्कनेस को लिखे अपने एक पत्र में लिखते हैं कि 'मेरे विचार से यथार्थवाद का आशय यह है कि लेखक विवरण और ब्यौरों के सत्य प्रस्तुतीकरण के अलावा प्रतिनिधि पात्रों को प्रतिनिधि परिस्थितियों में सच्चाई के साथ चित्रित करे ।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन समस्त परिभाषाओं में एक बात जो सभी विद्वानों द्वारा समान एवं केन्द्रीय विशेषता के रूप में स्वीकार की गयी है वह है जीवन और जगत का सत्य एवं यथार्थ प्रस्तुतीकरण । किन्तु यहां जीवन के सत्य एवं यथार्थ प्रस्तुतीकरण से यथार्थवादियों का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि साहित्यकार एक चित्रकार की भांति जीवन की वास्तविकताओं का हूबहू एवं नग्न चित्र प्रस्तुत करे, वह साहित्य में यथातथ्यता पर बल देते हुए भी दर्पणवादी अथवा फोटोग्राफिक शैली के समर्थक नहीं थे उनका विश्वास था कि 'साहित्य के अन्दर रचनात्मक प्रक्रिया सदैव एक संयोग है तद्वत चित्रकारिता नहीं । लेखक का कार्य वस्तुओं का गिनना नहीं बल्कि चुनाव करने का हुआ होता है ।[३] अर्थात् वह अपने समक्ष जिन वस्तुओं को देखता है उनमें से कुछ को अपनी रचना के लिये चुन लेता है और फिर अपनी दृष्टि के आधार

---

1. "The realist is he who deliberatly declines to select his subject from the beautiful or harmonious and more especially describes ugly things and brings out details of an unsavoury sort. He who deals with individuals not types and most properly he who strives to represent the facts exactly as they are."
   -- Encyclopaedia Britanica - Vol.19, Page 170.

2. "Realism, to my mind, implies, besides truth of detail, the truthfull reproduction of typical characters under typical circumstances."
   - Marx Engels, 'On art and literature', Page 90.

3. "In literature the creative process is always a synthsis never a duplication the writer must select he cannot enumerate." -- H. Fast, 'Literature and reality', Page 17.

पर भिन्न-भिन्न विधाओं में भिन्न रूप से उनका वर्णन करता है । यथार्थवाद के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए हिन्दी जगत के एक प्रमुख यथार्थवादी आलोचक शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि 'यह सही है कि सच्ची यथार्थ दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है किन्तु वह मात्र संकलनात्मक अथवा यथातथ्यवादी नहीं होती । यथार्थवादी रचनाकार इस अनन्त रूपात्मक जगत तथा सामाजिक जीवन के लम्बे चौड़े प्रसार को पैनी नजरों से देखता है, व्यापक सामाजिक जीवन की भूमिकाओं में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार की घटनाओं, स्थितियों एवं चरित्रों के सम्पर्क में आता है, अनुभवों की एक मूल्यवान सम्पत्ति का स्वामी बनता है, परन्तु अपनी कृति में वह अपनी इस सारी सम्पत्ति को सम्पूर्णतः अथवा ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं करता । यथार्थवादी रचनाकार एक रचनाकार तभी है जब वह व्यापक सामाजिक जीवन से प्राप्त अनुभवों, स्थितियों तथा पात्रों के आधार पर, सत्य के प्रति - 'सत्य के सारभूत अंश के प्रति' ईमानदार रहते हुए, एक नई सृष्टि, एक नई रचना को जन्म दे ।[१] साहित्य रचनागत इसी सत्य से अवगत होकर हॉवर्ड फास्ट यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए आगे लिखते हैं, 'यथार्थवाद वह साहित्यिक संयोग है जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को समुन्नत रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित करता है ।[२] और जैसा कि उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यथार्थवादी अपने अनुभवगत वास्तविक यथार्थ को अपनी बुद्धि के अनुरूप उसे एक नवीन रूप देता है अतः इसमें स्वभावतः यथार्थ के साथ-साथ कल्पना का भी समावेश हो जाता है किन्तु उनकी कल्पना उनके सत्य को अभिभूत नहीं करती वरन् उसे अधिक सुरुचिपूर्ण ढंग से अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है ।

यथार्थवाद की इस केन्द्रीय विशेषता के अतिरिक्त यथार्थवाद के इन मनीषियों ने जिस बात पर विशेष बल दिया है वह है सुन्दर तथा सुसंगत की अपेक्षा कुरूप विकृत अथवा असंगत का चित्रण । यद्यपि उनकी इस मान्यता के कारण परवर्ती

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ २०८

२. **"Realism being that literary synthesis which through selection and creation heightens for the reader his understanding of reality."**

-- H. Fast 'Literature and reality', P.17.

विद्वानों द्वारा यथार्थवाद पर विरूपता तथा अभद्रता के पोषण जैसे अनेकों आरोप भी लगाये गये हैं किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यथार्थवाद का उद्देश्य विकृतियों का पोषण कर पाठकों की रुचि को विकृत करना कभी नहीं था । उसका उद्देश्य था पाठक को अपने युग की विकृतियों से परिचित कराकर उन्हें अपने युग जीवन के अधिकाधिक निकट लाना तथा उन विकृतियों को दूर करने का प्रयत्न करना और यही कारण है कि यथार्थवादी साहित्य में विकृतियों का चित्रण होने पर भी वहाँ सर्वत्र विरूप और कुत्सित के प्रति घृणा, आलोचना, विद्रोह अथवा आक्रोश का भाव ही व्यक्त हुआ है । इसी सन्दर्भ में एक प्रख्यात यथार्थवादी उपन्यासकार बाल्जक का यथार्थ-विरोधियों के प्रति यह कथन था कि 'जनता हमसे सुन्दर चित्रों की माँग करती है किन्तु उनके नमूने इस समाज व्यवस्था में है कहाँ ? आपके घिनौने वस्त्र, आपकी अपरिपक्व और असफल क्रान्तियाँ आपका बातूनी पूंजीपति, आपका मृत धर्म, आपकी निकृष्ट शक्ति, बिना सिंहासन के आपके 'बादशाह', ये सब क्या इतने काव्यात्मक हैं कि इनका चित्रण किया जाए ? हम अधिक से अधिक इनका मखौल उड़ा सकते हैं ?'[१] जो युग यथार्थ के प्रति यथार्थवादियों की सम्पूर्ण दृष्टि को हमारे समक्ष उजागर करता है ।

इसके अतिरिक्त यथार्थवाद को परिभाषित करते हुए एक बात, जिस पर अधिकांश विद्वानों ने विचार किया है, और सामने आती है वह है यथार्थवादियों की पात्र परिकल्पना । यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कुछ विद्वान मानते हैं कि यथार्थवाद व्यक्ति को महत्व देता है तो कुछ मानते हैं कि यथार्थवाद टाइप अथवा जाति को महत्व देता है किन्तु यह यथार्थवाद के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा बना ली गयी कुछ गलत धारणायें अथवा उनका एकांगी दृष्टिकोण था । सत्य तो यह है कि यथार्थवाद किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि सम्पूर्ण जाति का होता है जिसका मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति का उसकी सम्पूर्णता में चित्रण । फलत: जाति का चित्रण करते हुए भी उसमें व्यक्ति का अपना निजत्व बना रहता है उसमें व्यक्तित्व किसी भी प्रकार से तिरस्कृत अथवा उपेक्षित नहीं होता । इसकी पुष्टि में शिवकुमार मिश्र यथार्थवाद के चरित्र का उद्घाटन करते हुए लिखते हैं कि 'सच्चा यथार्थवाद मनुष्य के चरित्र तथा

---

१. Balzak - ' A History of Realism'. Page 104. उद्धृत शिवकुमार मिश्र कृत 'यथार्थवाद' पृष्ठ २१६ पर ।

क्रियाकलापों को अन्तरंग और बहिरंग दायरों में विभाजित नहीं करता, क्योंकि यह मनुष्य को विभाजित करके देखना हुआ। उसकी क्षमता मनुष्य के ऐसे चित्रण में स्पष्ट होती है जिसमें उसका अन्तर्बाह्य एक संश्लिष्ट सम्पूर्णता बनकर उद्घाटित हुआ हो।[1]

इस प्रकार यह तो थी यथार्थवाद के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा स्वीकृत कुछ मान्यतायें अथवा धारणायें। किन्तु यहाँ पर ही यह उल्लेखनीय है कि यथार्थवाद की यह समझ विद्वानों में अनायास ही नहीं आ गयी वरन् पश्चिमी साहित्य जगत में इसका अपना एक सुविस्तृत एवं सुदीर्घ इतिहास रहा है। यथार्थवाद की पूर्ण जानकारी के लिये जिसका संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ २१८

---

२ - यथार्थवादी विचारधारा का उदय

क- ज्ञान-विज्ञान तथा आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन का जीवन पर प्रभाव

साहित्य जगत में प्रचलित यथार्थवादी विचारधारा, जो आज साहित्य की एक महत्वपूर्ण चिन्ताधारा अथवा प्रवृत्ति के रूप में सर्वमान्य है, अपने मूल रूप में तत्कालीन परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों का प्रत्यक्ष परिणाम है और यथार्थवाद चूंकि मूलत: पश्चिम की देन है अत: यथार्थवादी विचार-परम्परा के सम्यक् अवलोकन के लिए तत्कालीन जीवन में होने वाले परिवर्तनों पर एक दृष्टि डालना भी अपेक्षित है ।

जहाँ तक साहित्य जगत में यथार्थवादी विचारधारा के उदय का प्रश्न है यह माना जाता है कि यथार्थवाद प्रत्यक्षत: ज्ञान-विज्ञान तथा आर्थिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव है जिन्होंने युग जीवन को प्रभावित करने के साथ ही साहित्य को भी एक नवीन दिशा एवं वैज्ञानिक रूप दिया । यद्यपि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति के संकेत तो हमे १५वीं एवं १६ वीं शताब्दी से, जबकि ईसाई निवृत्तिमूलक धर्म-भावना के विरुद्ध ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नवीन अन्वेषण हुए यथा कोपरनिकस ने सूर्य को स्थिर तथा पृथ्वी को उसके चारों ओर चक्कर लगाते बताया, जान कैपलर ने नक्षत्रों के घूमने का सिद्धान्त खोज निकाला, गैलीलियो ने दूरबीन का अन्वेषण किया, हारवीज ने शरीर के भीतर रक्त संचार पर खोज की, बैकन ने वैज्ञानिक प्रणाली (आगमन प्रणाली) का आविष्कार किया, न्यूटन ने गुरुत्व एवं आकर्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया ।[१] मिलने लगे थे, किन्तु सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन में इस वैज्ञानिक प्रगति का स्पष्ट प्रभाव १८ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में ही दिखायी देता है ।

इन वैज्ञानिक आविष्कारों ने जहाँ एक ओर अपनी वैज्ञानिक निष्पत्तियों के आधार पर अनेक नवीन विषयों का प्रतिपादन कर हमारे ज्ञान क्षेत्र को विस्तृत किया वहीं दूसरी ओर प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर हमारे दर्शन को भी प्रभावित किया । चिन्तन के स्तर पर प्रचलित प्रत्ययवादी दार्शनिक मान्यता" वस्तुगत

---

१. लक्ष्मीनारायण गुप्त एवं डॉ० एस० के० पाल -'शिक्षा के सिद्धान्त और आधार,' पृष्ठ २५८ ।

एवं उसके यथार्थ का अस्तित्व मानसिक है अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया के मध्य वस्तुओं का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है अथवा सम्पूर्ण विश्व को अनुभवात्मक या अनुभव रूप मानना चाहिए[१] के विपरीत यथार्थवादी विचारणा `कि बाह्य जगत और बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मन से स्वतन्त्र अपनी वस्तुगत सत्ता में यथार्थ है तथा ज्ञान से ज्ञात पदार्थों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है, पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसका उसी रूप में ज्ञान होता है[२] का उदय इन वैज्ञानिक निष्पत्तियों का ही परिणाम है। जिससे दार्शनिकों एवं चिन्तकों को सर्वप्रथम यह अहसास हुआ कि विज्ञान क्षेत्र में होने वाली प्रगति के पश्चात् मानव अब प्राचीन धार्मिक रूढ़िबद्ध एवं संकीर्ण चहारदीवारी में सीमित न रह पायेगा अत: उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विरोध कर ईश्वर जीव जगत इत्यादि पर अपने नवीन विज्ञान सम्मत एवं भौतिकवादी विचार प्रस्तुत किये। इनमें पश्चिम के देकार्त, बेकन, हॉब्स, लॉक, सेन्ट साइमन, आगस्टी काम्टे, फायरबारव, हीगेल, मार्क्स तथा एंगेल्स आदि चिन्तकों का विशेष योगदान है। जिन्होंने धर्म एवं लोकोत्तर जीवन का विरोध कर विज्ञान अथवा भौतिक तत्वों को महत्व प्रदान किया। देकार्त ने अस्तित्व तथा विचार की अविभाज्य एकता का प्रतिपादन कर लोगों को उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझने तथा उन्हें व्याख्यायित करने की दिशा में प्रेरित किया। बेकन ने संसार की भौतिक सत्ता का प्रतिपादन करते हुए जगत के संज्ञान में अनुभव की महत्ता तथा प्रयोग को ज्ञान का आधार घोषित करते हुए क्रमश: वैज्ञानिक चिन्तन एवं ज्ञान परम्परा में एक नवीन अध्याय जोड़ा। हॉब्स ने बेकन की सीमाओं को पहचान कर संसार की भौतिक सत्ता के बारे में लोगों की समझ और साफ की। जॉन लॉक ने मानवीय क्रिया-कलापों के गहरे अध्ययन हेतु मनुष्य के परिवेश के अध्ययन की महत्ता पर प्रकाश डाला। सेंट साइमन ने विज्ञान-सम्मत तथ्यों को अपनी पूरी स्वीकृति देते हुए १६ वीं शती के प्रारम्भ में रचनाकारों से वैज्ञानिक दृष्टिकोण की संगति में दुखी जनों के जीवन के चित्रण तथा उनके दुख निवारण की आवश्यकता प्रतिपादित की। आगस्टी काम्टे ने केवल विज्ञान द्वारा सिद्ध तथ्यों को ही एक मात्र सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए सत्यतत्व तथा क्रियातत्व के योग से जीवन के एक रचनात्मक तथा गतिशील दर्शन की

१-२. डॉ० अर्जुन मिश्र -'दर्शन की मूलधारा' उद्धृत `शिवकुमार मिश्र कृत `यथार्थवाद', पृष्ठ १।

नींव रखने का प्रयास किया । फायरबाख ने मनुष्य तथा उसके परिवेश को संसार का नियामक स्वीकार कर नैतिकता, धर्म, आध्यात्म तथा आदर्शों पर टिकी हुई पूर्ववर्ती समस्त विचारधारा को पृष्ठभूमि में फेंकते हुए यथार्थवादी चिन्तन को सशक्त आधारभूमि प्रदान की । इसी क्रम में आगे चलकर मार्क्स तथा एंगेल्स ने वस्तु अथवा पदार्थ को प्राथमिकता देते हुए तथा चेतना को उसके गुण रूप में स्वीकार कर पूर्व प्रचलित अनेक भ्रमात्मक रूढ़ियों का खण्डन करते हुए सामाजिक जीवन में एक नवीन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन की प्रतिष्ठा की । और इस प्रकार इन्होंने भाववादी विचारणा के विरोध में वस्तुगत भौतिक जगत एवं भौतिक सत्ता का बोध कराकर मानव मात्र के मस्तिष्क पर अज्ञानान्धकार के प्रभावस्वरूप पड़ी हुई रूढ़ियों का नाश किया तथा आदर्शवादी नैतिक एवं धार्मिक विचारों की आलोचना कर उनसे अनुप्राणित विचारधाराओं का खण्डन करते हुए तर्क एवं प्रयोग की कसौटी पर ही किसी वस्तु को सत्य मानने का प्रस्ताव रखा ।

फलत: मानव मात्र को एक नूतन तार्किक, सन्तुलित एवं वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त हुई । तार्किक एवं सन्तुलित दृष्टि के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तर्क और बुद्धि का प्राधान्य हुआ जिससे धर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण जड़ एवं जर्जरित मान्यताएँ तथा विश्वास झंकृत हो उठे और धर्म को पुन: नवीन वैज्ञानिक दृष्टि के आलोक में व्याख्यायित किया गया । परिणामस्वरूप धर्म के नाम पर थोपे गये कठोर एवं संकीर्ण बन्धन शिथिल हुए और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना प्रबल हुई तथा मनुष्य परलोक कामना का त्याग कर लौकिक एवं मानवतावादी आदर्शों को ही प्रश्रय देने लगा । मानवतावादी आदर्शों एवं विचारों को महत्त्व मिलने के कारण मानव ही चिन्तन का मुख्य विषय अथवा केन्द्र बना और इस प्रकार मानवीय आवश्यकताओं को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा ।

इन दार्शनिक निष्पत्तियों के साथ ही १६ वीं शताब्दी में कुछ महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार भी हुए जिन्होंने अपनी नवीन उपलब्धियों के आधार पर जीवन तथा जगत सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं को अस्वीकार कर विश्व की समस्त वस्तुओं एवं समस्याओं को एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया । इन वैज्ञानिक

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद' पृ, २२-२३

आविष्कारों में डार्विन के विकासवाद का अपना एक विशिष्ट महत्व है जिसने मनुष्य को पशु की एक विकसित जाति मानकर मानव सम्बन्धी प्रचलित आदर्श कल्पनाओं का खण्डन करते हुए मनुष्य के विकास से सम्बन्धित एक नवीन दृष्टिकोण को विकसित किया तथा धर्म एवं ईश्वर की महत्ता को अस्वीकार कर मानव एवं उसके स्वतन्त्र व्यवहारों को महत्व प्रदान किया। जिसे फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन ने और अधिक सुदृढ़ रूप प्रदान किया। मनुष्य के सहज विकास को मान्यता देते हुए उसका विश्वास था कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों को जब दबाया जाता है तो उसमें विकार उत्पन्न होने लगते हैं जो उसके जीवन को असन्तुलित कर देते हैं, अत: उसने मनुष्य की कामवासना कुण्ठा आदि मूलप्रवृत्तियों को सहज एवं स्वाभाविक मानकर समाज द्वारा आरोपित नियमों एवं बन्धनों को मानव विकास में बाधित मानकर मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के सम्बन्ध में प्रचलित आदर्शवादी कल्पनाओं का ह्रास तो हुआ ही उसे एक सहज व्यक्तित्व भी प्राप्त हुआ।

किन्तु इस वैज्ञानिक उन्नति ने एक ओर जहाँ प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर हमारे ज्ञान क्षेत्र को विस्तृत किया, वहीं दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति को जन्म देकर हमारे आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया। वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप १९वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने औद्योगीकरण के विकास द्वारा प्रचलित अर्थव्यवस्था के स्थान पर देश में एक नवीन अर्थ व्यवस्था को जन्म दिया। कल-कारखानों की उन्नति से उत्पादित वस्तुओं के विकास के समानान्तर ही वाणिज्य का विकास हुआ जिससे प्रचलित सामन्तवादी अर्थव्यवस्था को एक भारी धक्का लगा और शीघ्र ही औद्योगिक क्रान्ति की यह लहर अपनी उपलब्धियों के कारण सम्पूर्ण योरोप एवं विश्व के अन्यान्य देशों में फैल गई। किन्तु एक ओर जहाँ वाणिज्य के विकास से व्यवसायी वर्ग शक्तिशाली हुआ और देश भर में सामन्तों के निरंकुश शासन के स्थान पर पूँजीपतियों की एक केन्द्रीय सत्ता स्थापित हुई वहीं दूसरी ओर कल-कारखानों की उन्नति से देश की अधिकांश जनता अपने पैतृक व्यवसायों तथा गावों के निष्कपट एवं मुक्त वातावरण को छोड़कर शहरों की गन्दी, दूषित एवं तंग बस्तियों में आकर बसने लगे जहाँ उत्पन्न असंगतियों ने उनके जीवन को अत्यन्त संघर्षमय एवं निराशापूर्ण बना दिया।

इसके साथ ही सामन्तवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न यह पूँजीवादी व्यवस्था भी अधिक समय तक अपने आदर्शों पर स्थित न रह सकी। प्रारम्भ में तो पूँजीवाद ने अपनी आदर्श भावनाओं, स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व सदृश उच्च आदर्शों के कारण जनता में आशा का संचार कर अपने को एक आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में गौरवान्वित किया किन्तु कुछ ही काल उपरान्त उन्नति के शिखर पर पहुँचकर उस समाज व्यवस्था से उत्पन्न असंगतियाँ जटिलताएँ एवं विषमताएँ समाज की सतह पर उतराने लगी जिसने मानव को सामन्ती व्यवस्था के शोषण से मुक्त करने की अपेक्षा देश में ही व्याप्त एक नवीन जटिल शोषण चक्र में उलझा दिया। जिसका सविस्तार वर्णन एंगेल्स ने अपने निम्नलिखित कथन में किया है -- 'परन्तु यह नई व्यवस्था पुरानी अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हुए भी, सर्वथा विवेकपूर्ण न निकली। जिस राज्य को विवेक के आधार पर कायम किया गया था, वह बिल्कुल ढह गया। .... पहले सामन्ती बुराइयाँ दिनदहाड़े नंगा नाच करती थी, अब वे दूर तो नहीं हुई, लेकिन कम से कम पृष्ठभूमि में जरूर चली गई। उनकी जगह पूँजीवादी बुराइयाँ, जो अभी तक चुपके-चुपके होती रहती थीं, दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। व्यापार अधिकाधिक धोखा और फरेब बनता गया। बन्धुत्व का क्रान्तिकारी आदर्श होड़ के छल-कपट और ईर्ष्या द्वेष के रूप में फलीभूत हुआ। जोर जुल्म जबरदस्ती की जगह भ्रष्टाचार ने ले ली, खड्ग की जगह स्वर्ण समाज का उत्तोलक बन गया। पहली रात बिताने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं के हाथ से निकल कर पूँजीवादी कारखानेदारों के हाथ में आ गया। वेश्यावृत्ति अश्रुतपूर्व रूप से बढ़ गई। विवाह वेश्यावृत्ति को ढक रखने का कानून द्वारा स्वीकृत आवरण बना रहा और साथ ही साथ व्यभिचार भी धड़ल्ले से चलता रहा।.....'[१] इस प्रकार पूँजीवाद के प्रसार से देश में वर्ग-संघर्ष की एक नवीन समस्या उत्पन्न हुई जिसने अपने-अपने स्वार्थ हितों के कारण वर्ग वैषम्य की खाई को और अधिक चौड़ा कर मानव जीवन को अन्तरतम तक प्रभावित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज के पददलित छोटे से छोटे व्यक्ति में भी आत्म-सम्मान की भावना एवं स्वाधिकारों के प्रति चेतना जागृत हुई। जिसने पूँजीपतियों के वर्गहित की अपेक्षा समाजवाद का नारा देते हुए एक नए शोषण विहीन समाज

---

१. मार्क्स और एंगेल्स - 'संकलित रचनाएँ', पृष्ठ ६७।

की स्थापना का प्रयत्न किया । सन् १८४८ में फ्रांस में होने वाली क्रान्ति देश में इस समाजवाद की स्थापना का ही एक प्रयास था यद्यपि यह क्रान्ति असफल हुई और मजदूर वर्ग का भी दमन हुआ किन्तु नए समाज का जो स्वप्न उनके नेत्रों में बस गया था, वह न मिट सका जिसे कालान्तर में सन् १९१७ में होने वाली रूस की महान् क्रान्ति में मजदूर वर्ग ने अपने क्रान्तिकारी संगठन और संघर्ष के द्वारा प्राप्त किया और पहली बार मानवीय शोषण के सारे औजारों को दफन करते हुए मजदूरों के एक समाजवादी राज्य का जन्म हुआ जिसने विश्वभर के शोषित जनसामान्य के मन में भविष्य के प्रति एक नवीन आस्था का संचार कर समूची दुनिया में पूँजीवाद की चूल को हिला दिया ।[१]

इस प्रकार ज्ञान, विज्ञान तथा आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन के प्रभाव से हमारा ज्ञान क्षेत्र तो विस्तृत हुआ ही, तर्क एवं बुद्धि के आलोक में सामाजिक जीवन में अनेक नवीन तर्कसम्मत मान्यताएँ स्थापित हुई जिन्होंने धर्म एवं ईश्वर की महत्ता तथा अंध श्रद्धाभक्ति के स्थान पर मानव एवं उसके स्वतन्त्र व्यवहारों को मान्यता प्रदान कर जीवन तथा जगत के अन्य अनेक पहलुओं के साथ साहित्य तथा कला रचना को भी प्रभावित किया । फलत: साहित्य जगत में भी प्रचलित आदर्शवादी मान्यताओं के विपरीत मनुष्य के सहज एवं स्वाभाविक विकास तथा सामान्य जन-जीवन के गर्हित एवं निकृष्ट पक्षों को स्थान मिला और साहित्य दिन-प्रतिदिन महान् की अपेक्षा सामान्य, सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल भूत की जगह वर्तमान तथा आदर्श की जगह यथार्थ की ओर बढ़ता गया । जिसने आगे चलकर प्रचलित भाववादी एवं प्रत्ययवादी विचारणा द्वारा अनुप्रेरित स्वच्छन्दतावादी चेतना की लोकप्रियता को कम कर एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में यथार्थवाद को जन्म दिया जो सन् १८४० के बाद फोटोग्राफी, पत्रकारिता तथा मार्क्सवादी चिन्तन की आधारभूत विशिष्टताओं से अनुप्राणित हो साहित्य तथा कला रचना की एक प्रधान प्रेरक दृष्टि तथा कला निर्माण का नेतृत्व करने वाले एक आन्दोलन के रूप में प्रतिष्ठित हुई ।

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ ३१-३२

(ख) क्लासिकल और रोमैन्टिक साहित्य सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया—

सामान्यत: साहित्य में यथार्थ की सत्ता प्रारम्भ से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में सदैव रही है।"प्राचीन काल में कामेडी के अन्तर्गत चित्रित जीवन की निम्न भूमिकाओं से सम्बन्धित पात्रों के चरित्रों, स्थानीय रंगत लाने के हेतु रचनाकारों द्वारा अपनाए गए विविध माध्यमों एवं सामान्य अनुभवों पर आधारित जीवन की बारीकियों को उतारने वाले जीवन के बहुमुखी चित्रों में यथार्थ के प्रति इसी सामान्य रुझान से परिचित हुआ जा सकता है।[1]" किन्तु आज साहित्य जगत में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग जिस विशिष्ट आन्दोलन, रचना-पद्धति अथवा विचारधारा के रूप में प्रचलित है वह उस सामान्य अर्थ से भिन्न पाश्चात्य से आयातित साहित्य की एक नवविकसित विचारधारा है जिसका जन्म १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में योरोपीय साहित्य में रोमैन्टिसिज्म की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। रोमैन्टिसिज्म अपने मूल-रूप में फ्रान्स की सन् १७८६ की प्रथम गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति के स्वातन्त्र्य उद्घोष से प्रेरित साहित्य की वह प्रवृत्ति विशेष है जिसने परम्परित शास्त्रीयतावादी सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, कल्पनाप्रियता, आत्मानुभूति, आवेगधारा, प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्यप्रियता, रहस्यमयता, साहसिकता, रोमांचकता, आदि तत्वों को महत्व देते हुए अभिव्यक्तिकरण का एक नवीन मानदण्ड स्थापित किया। किन्तु कालान्तर में जब जीवन के बढ़ते हुए संघर्षमय जीवन को रूपायित करने में साहित्यकारों को अपने यह प्रचलित सिद्धान्त निरर्थक प्रतीत हुए तो साहित्य जगत में उनके प्रति भी प्रति-क्रियात्मक रुख अपनाया गया और कल्पना जगत की स्वप्निल रंगीनियों में रहने वाला साहित्यकार काल्पनिक चित्रण को छोड़कर जीवन की यथार्थ कठोर भूमि पर उतर आया।

किन्तु यहाँ एक बात स्मरणीय है कि इस विचारधारा ने एक ओर जहाँ रोमैन्टिक साहित्य सिद्धान्त की अतीन्द्रिय कल्पनाशीलता, रहस्यमयता, भावुकता एवं अतिशय वैयक्तिकता के स्थान पर यथातथ्य चित्रण, स्पष्टवादिता, तार्किकता एवं बौद्धिकता तथा जीवन की सूक्ष्म जटिलताओं एवं उसकी विविध समस्याओं के वस्तुपरक चित्रण पर जोर दिया वहीं दूसरी ओर क्लेसिकल साहित्य की नियमबद्धता,

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ ४

रूढ़िवादिता, कलात्मक चमत्कार, आदर्श के प्रति प्रेम चरित्र-चित्रण की प्रधानता, भावों एवं विचारों की सुस्पष्ट अभिव्यंजना तथा भाषागत दुरूहता एवं कृत्रिमता आदि की निरर्थकता को समझकर वास्तविकता, यथार्थता, स्वाभाविकता एवं सरलता आदि पर विशेष ध्यान दिया। यथार्थवाद की इसी चारित्रिक विशेषता का उद्घाटन करते हुए शिपले द्वारा संपादित विश्व साहित्य कोश में कहा गया है कि 'साहित्यिक समालोचना में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद के विरोध में उन साहित्यिक कृतियों के लिये किया जाता है जो वास्तविक जीवन की अनुकृति में निर्मित होती है और जो अपनी विषय-वस्तु वास्तविक जीवन से ग्रहण करती है।[१] अतः स्पष्ट है कि यथार्थवाद साहित्य जगत में प्रचलित क्लासिकल और रोमैन्टिक साहित्य सिद्धान्तों के विपरीत उत्पन्न एक नवीन दृष्टिकोण है जिसने जीवन की वास्तविकता में विश्वास करते हुए जीवन की सूक्ष्म जटिलताओं एवं उसकी विविध समस्याओं के यथार्थोद्घाटन द्वारा पीड़ित मानवता के विकास का बीड़ा उठाया।

यों तो रोमैन्टिक साहित्य भी अपने मूल रूप में मानवीय भावना से ओत-प्रोत जनसामान्य का साहित्य था जो अपने को संसार से रंचमात्र भी विलग न मानकर स्वयं को उसी में एकीकृत कर देना चाहता था। बायरन, शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ तथा कालरिज का साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जहाँ उन्होंने नागरिक स्वाधीनता का आह्वान करते हुए मानव समाज के समक्ष विकास की अक्षय सम्भावनाएं उद्घाटित की। किन्तु धीरे-धीरे रोमैन्टिक भावना के अतिशय प्रयोग एवं महत्त्व के कारण इसके स्वरूप में अन्तर आया और साहित्यकारों ने भी परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं की उपेक्षा कर कल्पना एवं अनुभूति के माध्यम से ऐसे लोक का चित्रण प्रारम्भ कर दिया जो जन-सामान्य की बुद्धि से परे था। फलतः साहित्य दिन प्रतिदिन समाज से दूर होने लगा और साहित्यकार भी सांसारिक समस्याओं के भय से आक्रान्त हो प्रचलित सामाजिक एवं साहित्यिक मान्यताओं की उपेक्षा कर काल्पनिक संसार में ही विचरण कर आनन्द प्राप्ति का प्रयत्न करने लगे। यद्यपि वर्ड्सवर्थ, कीट्स आदि ने अपनी रचनाओं में जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं किन्तु प्रकृति के मोहक वातावरण तथा कल्पना-पूर्ण तत्वों की प्रधानता एवं जीवन के यथार्थ रूप की अपेक्षा उसके सम्भाव्य रूप को महत्व देने के कारण उनका साहित्य धीरे-धीरे युग जीवन एवं युग सत्य से ही विमुख

---

१ Shiply - 'Dictionary of world literature,' Page 470.

होता चला गया और अपनी एकांगिता के कारण अल्पकाल में ही साहित्य की यह विचारधारा साहित्यजगत में अपना महत्व खो बैठी, जिसका स्थान लिया साहित्य की एक नूतन विचारधारा ने जो जीवन को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की हिमायती होने के कारण 'यथार्थवाद' के नाम से अभिहित की गई।

और इस प्रकार साहित्य जगत में क्लासिकल तथा रोमैन्टिक दोनों साहित्य सिद्धान्तों को पृष्ठभूमि की वस्तु बनाते हुए यथार्थवादी विचारणा जो १६ वीं शताब्दी के पूर्व तक अन्यान्य विचारधाराओं के समानान्तर जीवन तथा कला सम्बन्धी आयामों में अभिव्यक्ति पा रही थी अब साहित्य एवं कला रचना की एक प्रधान प्रेरक शक्ति बनकर सामने आयी।[१] साहित्य जगत में क्लासिसज्म तथा रोमैन्टिसिज्म की प्रतिक्रिया में यथार्थवाद नामक इस नवीन विचार-परम्परा के उदय का बड़ा ही सजीव चित्रण शिवकुमार मिश्र ने अलेक्जेन्डर हर्जन के इन शब्दों में किया है --"ठीक उस समय जबकि क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज्म के बीच संघर्ष चल रहा था, जब एक दुनिया को पुरातन के चोले में ढालने पर तुला था और दूसरा शौर्यत्व के, तब एक अन्य शक्तिशाली चीज उभर रही थी, और बल प्राप्त कर रही थी। यह ऐसी चीज थी जिसका इन दोनों के बीच उदय हुआ और दोनों ही, बावजूद उसकी तमाम गौरव गरिमा के, उससे बेखबर रहे। एक पाँव क्लासिसिस्टों के कंधों पर रखे और दूसरा रोमांटिसिस्टों के, वह उन दोनों से कहीं अधिक ऊंची थी, मानो समस्त शक्ति उसी के हाथ में हो। पहले उसने एक का जायजा लिया, फिर दूसरे का, और उसने दोनों को ठुकरा दिया। कारण, कि यह नई चीज हमारी आज की दुनिया के आन्तरिक जीवन का उसके मानस का मूर्त रूप थी। ... क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज्म, दोनों में से किसी को भी, इस तीसरी शक्ति के अस्तित्व का, लम्बे अरसे तक भान नहीं हुआ। शुरू में कभी इसने तो कभी उसने, भ्रमवश उसे अपना सहायक समझा। किन्तु अन्त में क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज्म दोनों को यह स्वीकार करना पड़ा कि उन दोनों के बीच कोई तीसरी चीज आ खड़ी हुई है। एक ऐसी चीज, जो उन दोनों में से, किसी को शह देने को तैयार नहीं है। ...[२]

जिससे यह स्पष्ट होता है कि यथार्थवाद प्रचलित मानदण्डों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न एक नूतन विचारधारा है जिसने दोनों के सामंजस्य से साहित्य में एक स्वस्थ विचार परम्परा को जन्म दिया।

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ २६

२. हर्जन : 'दर्शन साहित्य और आलोचना' अनुवादक नरोत्तम नागर, पृष्ठ १००

साहित्य तथा अन्य कलाओं में यथार्थवादी विचारधारा के अपनाये जाने से उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रान्तियाँ :

युग जीवन के क्रमश: जटिल रूप धारण करने पर ज्ञान विज्ञान के प्रभाव-स्वरूप साहित्य तथा कला-जगत में प्रमाण सिद्ध एवं यथातथ्य चित्रण में विश्वास रखते हुए यथार्थवाद नाम से जिस नवीन साहित्यिक दृष्टिकोण, विचारधारा अथवा कलान्दोलन का जन्म हुआ, अपने मूल रूप में वस्तु की भौतिक सत्ता को स्वीकार करते हुए उसने परम्परित मूल्यों के स्थान पर जिन नवीन मूल्यों की स्थापना की उससे सामाजिक जीवन में तो एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया ही, समाज की इन परिवर्तित परिस्थितियों में युग की बदलती माँग को देखते हुए साहित्यकारों ने भी यह अनुभव किया कि आधुनिक समाज का चित्रण १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी की प्रचलित साहित्यिक शैली द्वारा होना असम्भव है। फलत: साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी सर्वत्र एक क्रान्ति सी मच गयी जिसके स्पष्ट संकेत तत्कालीन साहित्य रचना के साथ चित्रकला, मूर्तिकला तथा रंगमंचीय कला के अन्तर्गत विषय, भाषा तथा शिल्प आदि विभिन्न आयामों में सहज ही देखे जा सकते हैं।

विषयगत क्रान्ति—

साहित्य तथा कला जगत में यथार्थवादियों का परम्परा से सबसे बड़ा विरोध विषय के स्तर पर दिखायी देता है। यथार्थवाद के ग्रहण के पूर्व जहाँ साहित्य तथा सम्पूर्ण कला-जगत में मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में राजा महाराजाओं तथा उच्च वर्ग के आदर्श चरित्रों, आदर्श कल्पनाओं तथा असामान्य घटनाओं के चित्रण का प्राधान्य था वहीं यथार्थवादी साहित्यकारों ने बुर्जुआ समाज-व्यवस्था की असंगतियों से उत्पन्न मोहभंग की स्थिति में स्वच्छन्दतावादियों के परम्परित, असामान्य, कृत्रिम एवं आदर्श चित्रण की निरर्थकता से परिचित होकर युग जीवन के विभीषिकामय एवं नैराश्यपूर्ण जीवन की ओर दृष्टिपात कर समाज के उपेक्षित, शोषित तथा असहाय व्यक्तियों तथा उनके दैनिक जीवन में घटित होने वाली साधारण घटनाओं एवं क्रियाओं को अपने प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार कर मानवता के उपकार का

प्रयत्न किया।[१] इस सम्बन्ध में उनका विश्वास भी था कि 'कला की चरितार्थता तभी है जब वह समूची मानवता के मंगल का विधान करने वाली हो। जिस कला में मनुष्यता की आशाएँ, आकांक्षाएँ मूर्त न हो, जिसमें जनसामान्य के सुख-दुख प्रतिबिम्बित न हों, जो सुविधाभोगी उच्चवर्गों के मानसिक विलास का, सस्ते मन बहलाव का साधन हो, ऐसी कला में और एक वेश्या में कोई अन्तर नहीं।[२] इस प्रकार यथार्थवादी साहित्य में जनसामान्य के प्रति विशेष लगाव तो रहा ही है, जहाँ कहीं उच्च वर्ग का चित्रण किया गया है वहाँ भी उन्होंने उनकी बुराइयों का उद्घाटन कर उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करने का ही प्रयास किया है जिसके लिये उन्होंने सर्वत्र सत्यता, निष्पक्षता, स्पष्टता तथा निर्भीकता का सहारा लिया और यही कारण है कि युगीन समस्याओं से प्रेरित होते हुए भी स्वच्छन्दतावादियों ने जहाँ विभीषिकामय जीवन से मुक्ति पाने के लिए एक आदर्श लोक की सृष्टि की है वहीं यथार्थवादी कलाकार यथार्थ में गहरे पैठकर वहाँ प्राप्त अनुभूतियों को साहित्य तथा कला रचना के माध्यम से व्यक्त करता है, जिसने उनके कृतित्व को जीवन के अत्यन्त निकट ला दिया। साहित्य रचना में गोर्की, चेखव, तोल्सतोय, इब्सन, शॉ इत्यादि साहित्यकारों का साहित्य तो इसका जीवन्त प्रमाण है ही, चित्रकला तथा मूर्तिकला में भी कलाकार की सौन्दर्य चेतना ऐसी व्यापक चेतना में तिरोहित हो गयी है जहाँ उसे राजदरबारों तथा समस्त आभूषणों से सुसज्जित नायिका की अपेक्षा चिथड़ों में लिपटी, जर्जरित, कंकाल मात्र, दर-दर की ठोकरों और अपमानों की चोट से मर्माहित किसी भिक्षुणी, टूटे फूटे घर, अर्द्धनग्न बच्चे, घर ग्रहस्थी की छोटी-मोटी व्यवस्थाएँ और बच्चों की जिम्मेवारियों से परेशान, खेत खलिहानों में कठिन श्रम करते और सूनी पगडंडियों पर पानी भरकर लाते हुए नर-नारियों के चित्रण में ही उन्हें अधिक आकर्षण दीख पड़ता है।[३] और जहाँ तक

---

१. Realism has rendered art and hamanity a great service in the deleberate extention of the subject matter of art to include the humble, the dispised and the rejected to allow the representation of all phases of modern industrial and agricultural life and to describe the manners and customs of all levels of human society." - Millett and Bentley, 'The Art of the Drama'. Page 152.

२. तोल्सतोय, 'कला क्या है', पृष्ठ

३ शची रानी गुर्टू - 'कलादर्शन', पृष्ठ ४७९

यथार्थवादी साहित्य तथा कला जगत में आगत चरित्रों का सम्बन्ध है यथार्थवादियों ने अपने समस्त चरित्र विषयवस्तु के अनुरूप युग जीवन से तो ग्रहण किये ही हैं जो प्राय: मध्य अथवा निम्न वर्ग के हैं किन्तु उनकी दृष्टि में मनुष्य न तो पूर्णत: भला होता है और न बुरा वरन् उसमें सद् असद् वृत्तियों का समन्वित रूप होता है अत: उन्होंने अपने पात्रों को उनकी समस्त अच्छाइयों-बुराइयों के साथ एक पूर्ण मानव के रूप में चित्रित किया है वह न तो आदर्शों के पुतले हैं और न ही दुर्गुणों के एकमात्र आगार । वरन् उन्होंने उन्हें युगीन समस्याओं से संघर्षरत साधारण मनुष्य के रूप में चित्रित किया है जो परिस्थितियों के संघात से अपने चरित्र का निर्माण करते हैं । अत: इनमें हमें सुख-दुख की छाया स्पष्ट दिखाई देती है ।

भाषागत क्रान्ति—

साहित्य तथा कलाजगत में यथार्थवादियों का परम्परा से दूसरा महत्वपूर्ण विरोध भाषा के स्तर पर दिखाई देता है । यथार्थवादियों के लिये भाषा परम्परावादियों की भाँति कलात्मकता की परिचायक न होकर जनसामान्य तक अपने भावों को पहुँचाने का एक माध्यम थी अत: उन्होंने भाषा की बोधगम्यता स्वाभाविकता तथा सरलता पर विशेष ध्यान दिया । भाषा के सम्बन्ध में यथार्थवादियों का विश्वास था कि आज के जटिल होते हुए मानवीय सम्बन्धों के विश्लेषण के लिये प्रचलित पद्य का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त नहीं है अत: उन्होंने परम्परा से चली आती हुई पद्यमय भाषा के स्थान पर गद्य भाषा को भावाभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट माध्यम तो स्वीकार किया ही, साहित्य को जन-जीवन के अधिकाधिक निकट लाने तथा उसे बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से भाषा के रूढ़िबद्ध आलंकारिक,भावुकतापूर्ण तथा दुरूह संवादों तथा कथोपकथनों की अपेक्षा दैनिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली व्यावहारिक भाषा का समर्थन किया और जहाँ कहीं आवश्यक समझा है वहाँ भावों की सशक्त अभिव्यक्ति के लिये पात्रों की क्रियाओं तथा भंगिमाओं का भी उपयोग किया है जिससे उनकी भाषा अत्यधिक स्वाभाविक एवं सजीव प्रतीत होती है । चित्रकला में वर्तुल रेखाओं की अपेक्षा सीधी रेखाओं का प्रयोग भी यथार्थवादी विचारधारा का ही प्रभाव है ।

शिल्पगत क्रान्ति :

विषय तथा भाषा की भाँति यथार्थवादी शिल्प के प्रयोग में भी पूर्व

प्रचलित शैलियों की अपेक्षा नवीनता के समर्थक रहे हैं । वैज्ञानिक बुद्धिवाद से प्रेरित होने के कारण यथार्थवादियों का साहित्य जगत में सर्वप्रमुख आग्रह जो दिखायी देता है वह है स्वच्छन्दतावादियों की भावुकतापूर्ण शैली की अपेक्षा वाद-विवाद अथवा बौद्धिक चिन्तन का प्रादुर्भाव जिसके समर्थन में उन्होंने भावुकतापूर्ण एवं अतिरंजित क्रियाओं, संवादों अथवा कथोपकथनों के स्थान पर साधारण वार्तालाप का प्रयोग प्रारम्भ किया । इस सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि 'अब आकर्षण न खाली बन्दूक छोड़ने में, न गिरकर मरने का स्वाँग भरने में, न उन मूर्खताओं में जिन्हें हम क्रियाओं की संज्ञा देते हैं, अपितु उन पात्रों के व्यक्तित्व के प्रगटीकरण में है, जो नाटक की कला एवं अभिनेताओं के अभिनय द्वारा रंगमंच पर सजीव जान पड़ते हैं ।'[1] इसके साथ ही सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन के लिए इन्होंने अपने निजी माध्यमों एवं दृष्टिकोणों का उपयोग कर शैलीगत स्वतन्त्रता भी क बरती । कहीं व्यंग्य, कहीं आक्रोश, कहीं आलोचना, कहीं प्रत्यक्ष चित्रण, कहीं एकदम शान्त स्थिर नई-नई दिशाओं में अपनी शैली को संचालित कर इन्होंने साहित्य जगत में उल्लेखनीय उपलब्धियां भी की है । साहित्य जगत में मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा भी यथार्थवाद की अपनी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसने व्यक्ति को उसके समूचे अन्तर्बाह्य के साथ उद्घाटित किया। समग्रत: यथार्थवादी शिल्प अथवा शैली के विषय में यदि संक्षिप्त विवेचन करना चाहें तो डॉ० श्याम वर्मा के शब्दों में यह कह सकते हैं कि 'यथार्थवाद एक ऐसी शैली की माँग करता है जो समाज को अपने यथातथ्य रूप में चित्रित कर सके उसमें लेखक को अपनी भावनाओं, राग-विरागों और रुचि अरुचि का रंग मिलाकर विकृत करने का अधिकार नहीं है । लेखक अपनी कल्पना की वहीं तक सहायता ले सकता है जहाँ तक तथ्यों के संयोजन का रूप देने की जरूरत पड़ती है, उससे आगे नहीं ।'[2]

अत: स्पष्ट है कि यथार्थवादी सिद्धान्त के स्वीकरण से सम्पूर्ण साहित्य तथा कलाजगत में एक आमूल परिवर्तन आया जिसने युग जीवन से अपना अभिन्न सम्बन्ध बनाये रखते हुए साहित्य तथा कलाओं को रचना सम्बन्धी एक नवीन दिशा दी जो अपनी महत्तम उपलब्धियों के कारण आज तक सम्पूर्ण साहित्य तथा कलारचना के एक मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया जा रहा है ।

जार्ज बर्नार्ड शॉ - 'क्विंट इसेंस ऑफ इब्सानिज्म' उद्धृत

१. कमलिनी मेहता - 'नाटक और यथार्थवाद', पृष्ठ ८५ से ।

२. डॉ० श्याम वर्मा - 'आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का विकास', पृष्ठ २०५

पश्चिमी साहित्य में यथार्थवाद का उदय और विकास

यथार्थवाद अपने मूल रूप में पश्चिम की देन है किन्तु जहाँ तक साहित्य जगत में इसके उद्भव का प्रश्न है साहित्य में यथार्थ की अक्षुण्ण सत्ता को स्वीकार करते हुए भी साहित्य रचना के एक सुसंगत दृष्टिकोण एवं कलान्दोलन के रूप में यथार्थवाद के उद्भव का आदि श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध,और वह भी१८४८ के बाद,के उन रचनाकारों को है जिन्होंने पूँजीवाद की असंगतियों के उद्घाटन तथा जीवन-सत्यों की खोज और उनके चित्रण के सिलसिले में बुर्जुआ समाज के प्रति तीव्र आलोचना का रुख ग्रहण किया।[१]

इसके पुरस्कर्ताओं में फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार बालजक का नाम अग्रगणनीय है जिसने सत्य के प्रति निर्मम निष्ठा रखते हुए, बावजूद अपने निजी विचारों के सामन्ती ह्रास तथा परिवर्तित परिस्थितियों में पूँजीवादी सभ्यता की असलियत एवं उसके दावों के खोखलेपन से परिचित होकर युग-सत्य, पूँजीवाद,सामन्त तथा किसान वर्गों के बीच चलने वाले संघर्ष को व्यापक चित्रपट पर बड़ी सजीवता के साथ चित्रित किया है। बालजक कृत `पेरीगोरियत`, `कॉमेडी ह्यूमेन` तथा `लास्ट इल्यूजन` यथार्थवाद को उसकी चिरस्मरणीय देन है और जैसे-जैसे पूँजीवादी सभ्यता की असंगतियाँ अथवा अन्तर्विरोध जटिल रूप धारण करते गये उनके प्रति अपने विद्रोहात्मक विचारों को व्यक्त करते हुए रचनाकारों की एक समूची पंक्ति, जिनमें तोलस्तोय, मोपांसा, टामसमन, रोमारोला, तुर्गनेव गोनकोर्ट बन्धु, स्टेंढल, थैकरे, डिकेन्स, गोगल, इब्सन, चेखव, दास्तोवस्की, टामसहार्डी प्रमुख हैं, सामने आयी और सभी ने अपने परिवेश के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। किसी ने तत्कालीन समाज पर छाए दम्भ और कपट की बदली को हटाने के लिये समाज के तथाकथित ढोंगियों की खिल्ली उड़ाई,तो किसी ने जीवन में पड़ी हुई गाँठों को खोलकर जीवन के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराया और किसी ने समाज की तथाकथित मान्यताओं पर व्यंग्य प्रहार कर समाज में व्याप्त रूढ़ियों के उच्छेदन का प्रयास किया। यद्यपि इनसे पूर्व १८ वीं शताब्दी में रिचर्डसन, डेफो, स्मालेट, फील्डिंग, स्विफ्ट, स्टील, दिदरो, गेटे,लेसिंग, लारेन्स स्टर्न इत्यादि रचनाकारों ने भी पूंजीवादी समाज-व्यवस्था - जो

---

१. शिवकुमार मिश्र - `यथार्थवाद`, पृष्ठ ३१

अपनी आर्थिक और भौतिक प्रगति के बल पर प्रचलित सामन्तवादी आर्थिक और नैतिक आदर्शों की अवहेलना कर, प्रजातन्त्र की स्थापना द्वारा देश में स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व सदृश उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा करती हुई एक आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में गौरवान्वित हो रही थी, के उच्च आदर्शों से प्रभावित हो सामन्ती समाज व्यवस्था के पतनशील आदर्शों तथा उन्नति के शिखर पर अग्रसर पूँजीवादी समाज व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से उत्पन्न असंगतियों का पर्दाफाश कर अपनी रचनाशीलता को सामाजिक सन्दर्भों से जोड़े रखा। १६ वीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी रचनाकार बॉयरन तथा शेली, जो स्वयं किसी समय पूँजीवाद के समर्थक के रूप में सामने आये थे, ने तो उसकी अमानवीयता के खिलाफ एक ऐसी समाज व्यवस्था के आगमन की पुकार लगाई है, जिसमें सामान्य जन को वास्तविक स्वतन्त्रता और न्याय की उपलब्धि हो सके। किन्तु युगीन वास्तविकता का सामाजिक सन्दर्भों में चित्रण करने पर भी यह समस्त रचनाकार, बावजूद अपनी क्रान्तिकारी आस्था के, अपनी आदर्शवादी एवं स्वच्छन्दतावादी सीमाओं से ऊपर न उठ सके और इस प्रकार यथार्थवाद के प्रवर्तन का आदि श्रेय मिला। १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के उन रचनाकारों को, जिन्होंने सत्य के प्रति स्वाभाविक निष्ठा रखते हुए अपने पूरे के पूरे युग को उसके समूचे अन्तर्बाह्य के साथ उद्घाटित किया। इनमें बाल्जक, तोल्सतोय, गोर्की, चेखव तथा इब्सन इत्यादि प्रमुख हैं जिनके प्रयत्नों से यह नवोद्भूत साहित्यिक धारा एक साहित्यिक आन्दोलन में परिणत हुई और उसने सम्पूर्ण विश्व में साहित्य रचना का एक नवीन मानदण्ड स्थापित किया।

किन्तु यथार्थ के प्रति रचनाकारों की भिन्न जीवन दृष्टि के कारण पश्चिमी साहित्य जगत में व्याप्त इस सम्पूर्ण यथार्थवादी कलान्दोलन के दो प्रमुख रूप दिखाई देते हैं --

(१) आलोचनात्मक यथार्थवाद। (२) समाजवादी यथार्थवाद।

आलोचनात्मक यथार्थवाद--

यथार्थवादी आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण जो १६वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में पूँजीवाद की बुर्जुआ समाज व्यवस्था के प्रति एक विद्रोहात्मक रूख को लेकर साहित्य जगत में अवतरित हुआ था। अपनी आलोचनात्मक प्रवृत्ति के कारण 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के नाम से जाना गया। आलोचनात्मक यथार्थवाद नाम की सार्थकता प्रतिपादित करते हुए शिवकुमार मिश्र ने अपनी 'यथार्थवाद' पुस्तक में लिखा है कि

`समाजवाद की स्थापना के साथ सोवियत रूस में जिस नई वास्तविकता का उदय हुआ उसके चित्रण के लिए, तथा दुनिया के दूसरे देशों में समाजवाद पूँजीवाद के बीच चल रही निर्णायक लड़ाई में प्रगतिशील आस्था वाले लेखकों के सन्दर्भ में यथार्थ को नई समाजवादी दृष्टि से देखने और रूपायित करने की आवश्यकता को महसूस करके, सोवियत लेखकों की सन् १६३४ में हुई पहली कांग्रेस में मेक्सिम गोर्की ने `समाजवादी यथार्थवाद` के नाम से यथार्थवादी कलान्दोलन में जिस नये यथार्थवाद का उद्घोष किया, जरूरी समझा गया कि उसे समाजवादी दृष्टिकोण से रहित प्रचलित यथार्थवाद से (प्रकृतवाद से भिन्न) अलगाने के लिए, उसकी अपनी विशिष्ट पहचान के लिए, कोई आधार ढूढते हुए उस प्रचलित यथार्थवाद को किसी नए नाम से पुकारा जाय, और उसे `आलोचनात्मक यथार्थवाद` यह नाम दे दिया गया।[1] अतः स्पष्ट है कि `आलोचनात्मक यथार्थवाद` में उसके नाम के अनुरूप लेखक का युग-जीवन तथा समाज की विकृतियों एवं विरूपताओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण तो प्रमुख होता ही है साथ ही समाज विकास के नियमों की वैज्ञानिक समझ के अभाव में वह भविष्य के प्रति कोई रचनात्मक दृष्टि भी नहीं रखता है।

इस वर्ग के यथार्थवादियों में स्टेंढल, थैकरे, रोमांरोला, गोनकोर्ट बन्धु, इब्सन, शॉ, डिकेन्स, गोगल, अनातोले, फ्रांस, तुर्गनेव, चेखव आदि प्रमुख हैं। बुर्जुआ समाज व्यवस्था की क्रमशः जटिल होती हुई स्थितियों से संत्रस्त तथा परिवेश से किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित न कर पाने के कारण इनके अन्तर्मन में बुर्जुआ वर्ग के प्रति तीव्र घृणा, असन्तोष एवं आक्रोश का भाव उत्पन्न हो रहा था जिसे उन्होंने अपने साहित्य में सर्वत्र बड़ी ही तटस्थता एवं ईमानदारी से प्रतिबिम्बित किया है। इस प्रकार विषय प्रतिपादन की दृष्टि से आलोचनात्मक यथार्थवाद के अन्तर्गत पूँजीवादी समाज व्यवस्था की असंगतियों से उत्पन्न अमानवीयताओं का ही पर्दाफाश किया गया है। किन्तु समाज की अमानवीयताओं के प्रति आलोचना का रुख ग्रहण करते हुए भी इन्होंने आलोचना के अनेक मार्ग अपनाये हैं। अर्न्स्ट फिशर के शब्दों में किसी ने समाज की आलोचना करते समय घृणा का मार्ग अपनाया है तो किसी ने व्यंग्य सुधार और किसी ने विध्वंस का किन्तु वह उन्हें अभिव्यक्ति के किसी निश्चित रूप से नहीं

---

१. शिवकुमार मिश्र - `यथार्थवाद` पृष्ठ ४०

बांध सकी[१]। साथ ही बूर्ज्वा समाज व्यवस्था की अमानवीयताओं के प्रति तीव्र आलोचना घृणा एवं विद्रोह का भाव रखते हुए भी १६वीं शताब्दी के अधिकांश रचनाकार समाज विकास के नियमों की वैज्ञानिक जानकारी के अभाव में उस व्यवस्था के विरुद्ध कोई रचनात्मक एवं सक्रिय कदम उठाने की अपेक्षा सदैव अपने अन्तर्मन में ही घुटते रहे हैं अतः इनकी रचनाओं में भी सर्वत्र निराशा, असहायता, पीड़ा आदि का भाव ही मुखर हुआ है। किन्तु २० वीं शताब्दी में पहुँचकर जैसे-जैसे पूँजीवादी अन्तर्विरोध साम्राज्यवादी रूप धारण करते गये, इनकी प्रतिस्पर्धा में उत्पन्न नवीन समाजवादी दर्शन की समाजवादी दृष्टि से प्रेरित होकर इन संवेदनशील रचनाकारों ने अपनी कृतियों में पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का समाजवादी व्यवस्था में रूपान्तरण तथा नई समाज रचना के लिए छेड़े गए संघर्षों को भी प्रधानता के साथ चित्रित किया गया है[२]।

किन्तु धीरे-धीरे युग की बदली हुई परिस्थितियों ने जिस परिदृश्य को प्रस्तुत किया, उनके सन्दर्भ में यह आवश्यक समझा गया कि यथार्थवाद की एक ऐसी रचनात्मक पद्धति का विकास हो जो युग की बदलती हुई परिस्थितियों में सामने आने वाली वास्तविकताओं का उचित मूल्यांकन कर सके। इसके साथ ही मार्क्सवादी समाजवादी विचार दर्शन की जो वैज्ञानिक समझ सामने आ रही थी उसने तथा रूस के अन्य क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रवादियों तथा समाजवादी क्रान्ति के पुरस्कारक लेनिन के विचारों ने भी यथार्थवाद की चली आती हुई आकृति को एक नया क्रान्तिकारी रूप ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। इन सब स्थितियों के प्रभाव स्वरूप समाजवाद को प्रथम बार साकार करने वाली रूस की धरती में यथार्थवाद के एक सर्वथा नए रूप का आगमन हुआ

---

१. "There are many different points of view which in the scope of critical realism itself........ In all these, there is a critical attitude to society as it is, but the approach may be contemptuas, setacle, reformist or nehalist. ~~Nor is each personal approach or nehalist.~~ Nor is each personal approach necessity tide to a particular form of expression."

— 'The Necessity of Art'- Ernest Fisher, Page. 107.

२. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ ३३।

जो अपने समाजवादी विचारों की प्रेरणा के कारण प्रचलित यथार्थवादी रूप से भिन्न समाजवादी यथार्थवाद के नाम से पुकारा गया[1]। और अपनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों के आधार पर अतिशीघ्र साहित्य के एक सर्वोच्च मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया गया।

समाजवादी यथार्थवाद—

'समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी कलान्दोलन के विकास की अगली कड़ी है जिसके उद्भव का सम्पूर्ण श्रेय रूस की समाजवादी धरती को है। २०वीं शताब्दी की बदली हुई परिस्थितियों में मार्क्स, एंगेल्स के वैज्ञानिक समाजवादी विचारदर्शन तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आधार ग्रहण करते हुए साहित्यकारों ने साहित्य रचना के जिस नवीन रचनात्मक आधार को खोज निकाला, शैली तथा चित्रण के स्तर पर आलोचनात्मक यथार्थवादियों से निकट का सम्बन्ध रखते हुए भी वह यथार्थवाद के इतिहास में एक सर्वथा नवीन चरण था। जिसने आलोचनात्मक यथार्थवादियों के काल्पनिक समाजवाद, जहां उन्होंने सामाजिक विसंगतियों के यथार्थोद्घाटन द्वारा एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना की है, को एक वैज्ञानिक आधार दिया। अतः स्पष्ट है कि आलोचनात्मक यथार्थवाद से समाजवादी यथार्थवाद की भिन्नता वस्तुतः दृष्टिकोण के स्तर पर मनुष्य समाज तथा जीवन को देखने, पहचानने और समझने के स्तर पर है[2]। जहाँ तक समाजवादी यथार्थवाद की साहित्यिक उपलब्धियों का प्रश्न है यद्यपि समाजवादी यथार्थवाद शैली और चित्रण के धरातल पर आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों को ही मान्यता देता है फिर भी दृष्टिभेद के कारण दोनों के स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता है। आलोचनात्मक यथार्थवादी जहाँ किसी रचनात्मक दृष्टि के निर्माण के अभाव में मनुष्य को व्यवस्था अथवा नियति के आधीन एक संतप्त एवं असहाय प्राणी के रूप में चित्रित करता है वहीं समाजवादी यथार्थवादी समाज विकास के नियमों की वैज्ञानिक जानकारी के कारण मनुष्य अथवा वस्तुगत यथार्थ को उसकी द्वन्द्वात्मक भूमिका में देखता है। वह यह जानता है कि शोषण तथा अन्याय पर आधारित अमुक समाज व्यवस्था टिकने वाली नहीं है, नई और प्रगतिशील शक्तियों के साथ चलने वाला उसका संघर्ष अन्ततः उसकी पराजय में ही समाप्त होगा, फलतः समाजवादी दृष्टि के साथ

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ ३४

२ वही - ,, , पृष्ठ ५२

स्वाभाविक रूप से वह गहन आशावाद जुड़ जाता है जो कठिन से कठिन स्थितियों में भी उसे नियतिवाद या निराशावाद की ह्रासशील परिणतियों की ओर नहीं जाने देता।[१] और सम्भवत: समाजवाद की इस सक्रियता को देखकर ही मैक्सिम गोर्की ने इसे प्रचलित यथार्थवादी रूप से अलगाते हुए 'समाजवादी यथार्थवाद' की संज्ञा दी जो १६१७ की रूसी समाजवादी क्रान्ति की सफलता के पश्चात् मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत साहित्य की एक महत्वपूर्ण चिन्ताधारा के रूप में सम्मानित हुई। समाजवादी यथार्थवाद की इस महत्वपूर्ण उपलब्धि के साथ ही समाजवादी यथार्थवादी आलोचनात्मक यथार्थवादियों के विपरीत यह मानकर चलता है कि यथार्थवाद यथार्थ की समग्रदृष्टि है अत: वस्तुगत यथार्थ का चित्रण करते हुए उसमें स्वभावत: भविष्य का उद्घाटन भी होता चलता है किन्तु भविष्य का चित्रण करते हुए वह रोमांटिकों की भाँति दिवास्वप्न नहीं देखने लगते वरन् उनकी दृष्टि एक जीवन्त दृष्टि है जो समाज विकास के वैज्ञानिक नियमों पर आधारित है। इसके साथ ही संघर्ष तथा मानवीय शक्ति में विश्वास रखने के कारण इन्होंने सर्वत्र सक्रिय नायक की सृष्टि पर ही बल दिया है। इनके समस्त चरित्र जीवित मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु उनका यह नायक कोई अतिमानव न होकर, उसी समाज तथा जन-समुदाय का अंग होता था जो क्रान्तिकारी विकास के एक दौर से गुजर रहा होता है साथ ही उनका चित्रण करते हुए उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया है कि यथार्थ के बीच मनुष्य का चित्र उसकी सम्पूर्ण भूमिका में उभरे। समाजवादी यथार्थवाद की इन्हीं चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए मैक्सिम गोर्की एक स्थान पर लिखते हैं कि 'समाजवादी यथार्थवाद यह घोषणा करता है कि जीवन क्रिया है, संरचना है, जिसका उद्देश्य है प्रकृति की शक्ति पर विजय के लिये, स्वास्थ्य एवं दीर्घायु के लिये, पृथ्वी पर प्राणियों की प्रसन्नता के लिये मनुष्य की बहुमूल्य व्यक्तिगत योग्यताओं का उन्मुक्त विकास। जिससे कि वह अपनी निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं के साथ सम्पूर्ण मानव जाति को एक ऐसे उन्नत घर के रूप में देख

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ ५३

सके जैसे कि वह एक परिवार में रहते हैं ।[1]

यथार्थवाद के इस नवीन रूप के प्रतिनिधि रचनाकारों में रूस के माइकेल शोलोखोव, निकोलाई, आस्त्रावस्की, अलेक्जेंडर फादयेव, फेदिन, मायकोव्स्की, तोल्सतोय आदि अन्य अनेक रूसी रचनाकारों के साथ गोर्की का नाम सर्वथा उल्लेखनीय है जिसने समाजवाद अथवा मानवतावाद में विश्वास रखते हुए पूर्ववर्ती यथार्थवादियों की अपेक्षा निम्न मध्यवर्ग अथवा निम्न वर्ग को ही अपनी लेखनी का प्रतिपाद्य बनाया । यद्यपि गोर्की के पूर्व तोल्सतोय भी निम्नमध्यवर्ग अथवा निम्नवर्ग को अपनाकर समाज के प्रपीड़ित एवं शोषित वर्ग की समस्याओं के साथ अपने साहित्य में उतरा था किन्तु `तोल्सतोय का समाज सीमित था और गोर्की श्रमिकों की क्रान्ति से अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित कर चुका था इसके साथ ही उसने तोल्सतोय, चेखव की अपेक्षा अक्टूबर क्रान्ति के रूप में क्षण-क्षण बढ़ती हुई उस ज्वाला को देखा था जिसने सभी मान्यताओं जर्जर तथा रोगाक्रान्त समाज उसकी स्वार्थप्रेरित साहूकारिता एवं वासनाप्लुत सामन्तशाही आदि को भस्मीभूत कर दिया । नवनिर्मित समाज के सपनों को उसने सार्थक होते देखा था अतः उसके पात्र उन जन्मजात परम्पराओं को तोड़ चुके थे, जिनसे उसका विकास अवरुद्ध था और वे मुक्त, स्पष्ट एवं उच्च स्तर पर नहीं पहुँच पा रहे थे प्रपीडित श्रमिकों के प्रति उसे प्रगाढ़ प्रेम और सहानुभूति थी । इसी कारण उसने रूसी विचारधारा में मार्क्सवाद को मुखरित किया जिसकी छाप श्रमिकों पर गहरी पड़ी ।[2] उसके साहित्य की इन्हीं विशिष्टताओं को लक्ष्य कर लुकाच ने लिखा है कि `उसका कला जीवन ठगे जाते तथा लुटते व्यक्तियों के प्रति प्रदर्शित सहानुभूति से प्रारम्भ हुआ और क्रमान्तर वह वर्गों के परिवर्तन का विवेकी प्रख्यात कवि बन गया ।[3]

---

१. **"Socialist realism proclaims that life is action, creativity whose aim is the unfettered development of man's most valuable individual abilities, for his victory over the forces of nature for his health and longavity, for the great happiness of living on earth, which he, in conformity with the constant growth of his requirements, wishes to cultivate as a magnificient habitation of mankind united in one family."- Gorky- 'On Literature page 264.**

२. कमलिनी मेहता - `नाटक और यथार्थवाद`, पृष्ठ १६३

३. **George Lukacos - 'Studies in European Realism', Page 204.**

यथार्थवाद की इन प्रमुख धाराओं के साथ ही १६ वीं शताब्दी में आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद के विरोध में प्रकृतिवाद, अतियथार्थवाद तथा आधुनिकतावाद नाम से कुछ अन्य आन्दोलन भी साहित्य में प्रयुक्त किए जा रहे थे जिन्होंने व्यवस्था जन्य असंगतियों तथा अविचारों पर प्रहार कर यथार्थवाद से अपनी समकक्षता स्थापित की किन्तु अपनी खण्ड यथार्थ दृष्टि के कारण यह आज यथार्थवाद से काफी दूर हो~~समझे~~ जाते हैं । इनमें अतियथार्थवाद का सम्बन्ध जहाँ मूलत: अन्तश्चेतना से था, वहीं आधुनिकतावाद मनुष्य समाज तथा संसार को निहायत नियतिवादी दृष्टि से देखने के कारण एक ह्रासशील जीवनदृष्टि को लेकर आगे बढ़े जिन्होंने यथार्थवादी विचारधारा को सुदृढ़ करने की अपेक्षा विरूपित ही अधिक किया ।[1] प्रकृतिवाद के अन्तर्गत बुर्जुआ समाज व्यवस्था की विसंगतियों के उद्घाटन के क्रम में कुछ जीवन्त तत्वों का समावेश अवश्य हुआ है किन्तु डार्विन के विकासवाद से प्रभावित हो मनुष्य के प्रति जीवशास्त्रीय दृष्टि अपनाने अर्थात् मनुष्य को पशु की विकसित जाति मानने के कारण प्रकृतिवादियों ने अपने साहित्य में सर्वत्र मनुष्य के नैतिक दायित्व एवं विवेकसम्मत आचारण को महत्वहीन ही बताया । जिन्दगी उसके लिये एक हारी हुई लड़ाई के समान थी । इस सम्बन्ध में प्रकृतवादियों का विश्वास था कि प्रकृति तथा समाज की बाहरी शक्तियाँ न केवल मनुष्य के स्वातन्त्र्य के समक्ष अवरोध बनकर प्रस्तुत होती है वे उसकी संकल्प शक्ति को भी सीमित करती है मनुष्य में इन शक्तियों का अतिक्रमण करके अपना रास्ता बनाने की सामर्थ्य नहीं है । इन बाहरी शक्तियों के समक्ष तो वह पराजित और समर्पित है ही स्वत: अपने भीतर निहित ऐसी तमाम अचेतन शक्तियों तथा आनुवांशिक तत्वों के समक्ष भी वह नत है, जो एक स्तर पर उसके मानवीय विवेक को सीमित करते हुए समाज के नैतिक दायित्व को भी संकुचित बनाती है ।[2] अत: उनके चित्रण में वह सप्राणता नहीं आने पायी है जो उन्हें अपने पूर्ववर्ती यथार्थवादियों के समकक्ष बैठा पाती । इसके मूल कारणों का उल्लेख करते हुए शिवकुमार मिश्र समाज के प्रति प्रकृतिवादियों के भिन्न दृष्टिकोण के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं कि 'समाज के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण जहाँ समाज में असंगतियाँ देखता है और समाज को एक सुसंगत रचना नहीं स्वीकार करता, वहीं प्रकृतवादी

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ ६४

२. वही - ,, , पृष्ठ ७२-७३

रचनाकार के लिये समाज एक सुसंगत इकाई है और समाज की उसकी आलोचना वस्तुत: उन बीमारियों की आलोचना है जो समाज की आवयविक एकता को खंडित करने की चेष्टा करती है ।[१]

इस मूलभूत विचारणा के साथ ही प्रकृतिवादी चरित्र सृष्टि में भी यथार्थवादियों से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं जहाँ यथार्थवादी रचनाकार अपनी कृतियों मे मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में उभारने के लिये कुछ सक्रिय चरित्र नायकों अथवा टाइप चरित्रों, जो टाइप के साथ व्यक्तित्व गुणों से भी युक्त होता है का चित्रण करते हैं, वही प्रकृतिवादी औसत आदमी की औसत जिन्दगी के चित्रण को ही अपना लक्ष्य मानता है और जहाँ तक रचना पद्धति अथवा शैली का सम्बन्ध है प्रकृतिवादी रचना पद्धति में भी यथार्थवादियों के विपरीत एक भिन्न दृष्टि रखता है । इसमें रचनाकार की स्थिति एक सर्जक की न होकर एक दर्शक की होती और प्रत्यक्षीकरण के इस क्रम में वह जो कुछ देखता है उसे अपनी कलाकृति में बिना सोचे विचारे निष्पक्ष रूप से सविस्तार चित्रण कर देता है । फलत: इसमें भावों की वह सघनता एवं तीव्रता भी नहीं आ पाती जो यथार्थवादी साहित्य में सहज ही मिलती है । इसके साथ ही आदर्शों की निरर्थकता प्रतिपादित करने के कारण इसमें विषयवस्तु का निर्वाह भी बड़े भद्दे ढंग से हुआ । और इस प्रकार यथार्थवाद की समकक्षता में युगीन विद्रूपताओं एव विसंगतियों को उभारने वाला यह आन्दोलन अतिशीघ्र अपनी इन चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण अन्य समकालीन साहित्यिक विचारणाओं द्वारा विगत की वस्तु बना दिया गया ।

पश्चिमी जीवन तथा साहित्य में यथार्थवाद के उदय और विकास के इस सर्वांगीण विश्लेषण से यथार्थवाद का जो रूप हमारे सामने उभरता है वह निष्कर्षत: इस प्रकार है --

(१) यथार्थवाद एक पद्धति एवं विचारधारा है जिसका उद्देश्य है जीवन के वास्तविक तथ्यों का सत्य एवं वास्तविक प्रतिरूपण ।

(२) किन्तु वह जीवन एवं जगत का नग्न चित्र एवं तथ्यों का संकलन मात्र न होकर उसका पुन: सृजन एवं प्रति प्रस्तुतिकरण है । अत: उसमें किंचित्र मात्र कल्पना का भी समावेश हो जाता है किन्तु वह कोरी भावुकता में न बहकर जीवन का प्रत्यक्षदर्शी होता है ।

---

१. शिवकुमार मिश्र : यथार्थवाद, पृष्ठ ७५

(३) भूत एवं भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का महत्व । अत: समकालीन जीवनवृत्त के चित्रण की प्रधानता ।

(४) दैवीय, आध्यात्मिक एवं आदर्श चरित्रों की अपेक्षा मध्यम एवं निम्नवर्गीय चरित्रों के व्यक्तिगत जीवन के अभावों का चित्रण ।

(५) जीवन के सौन्दर्य पक्ष की अपेक्षा कुरूप एवं असंगत विषयों के चित्रण की प्रवृत्ति विशेषकर सामाजिक विसंगतियों का चित्रण ।

(६) व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त `टाइप` का चित्रण ।

(७) युगानुरूप परिवर्तित युग-सत्य का चित्रण ।

(८) प्राचीन साहित्यिक मानदण्डों का परित्याग ।

(९) रस, छन्द एवं अलंकारों से युक्त अलंकृत एवं क्लिष्ट भाषा के स्थान पर बोलचाल की व्यावहारिक भाषा का प्रयोग ।

हिन्दी साहित्य और यथार्थवाद —

जैसा कि पूर्व विवरणों से स्पष्ट है यथार्थवाद मूलत: पश्चिम की देन है किन्तु अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं के कारण इसने सम्पूर्ण विश्व को ही प्रभावित किया । जहाँ तक हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के ग्रहण अथवा समावेश का प्रश्न है हिन्दी के समस्त विद्वानों ने भी यथार्थवाद को पश्चिम से आगत एक विचारधारा के रूप में ही स्वीकार किया है । पश्चिमी विद्वानों की भाँति उनका भी सुस्पष्ट अभिमत था कि `वास्तविकता की निष्कपट अभिव्यक्ति ही यथार्थवाद का लक्ष्य है ।`[१] जिसका स्पष्टीकरण उनके द्वारा दी गयी परिभाषाओं से सहज ही हो जाता है । यथार्थवाद को व्याख्यायित करते हुए हिन्दी के एक प्रमुख आलोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि `साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' के तौल पर गढ़ लिया गया है । यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना न तो उसको कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों से अनुरंजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिये उसे काट-छाँट कर उपस्थित करना ।`[२] गुलाबराय के शब्दों में `यथार्थ वह है जो नित्यप्रति हमारे सामने घटता

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी - `विचार और वितर्क`, पृष्ठ ६५

२. ,, ,, - `हिन्दी साहित्य`, पृष्ठ ४२७

रहता है। वह सामान्य भाव भूमि के समतल रहकर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। वह संसार की कलुष कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता है। वह स्वर्ण को कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है।[1] नन्ददुलारे बाजपेयी के अनुसार, 'यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् सत्ता का समर्थक है, वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से है।[2] प्रेमचन्द्र के शब्दों में 'यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ रूप में रख देता है उसे इससे मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा।[3] इसी सन्दर्भ में वह आगे लिखते हैं कि 'यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा रहता है। चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग धब्बा रहता है। इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है।[4] यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए रांगेयराघव एक स्थान पर लिखते हैं - 'यथार्थ है जीवन का वह वास्तविक चित्रण जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है। समाज में उसका रूप है उन शक्तियों को बल पहुँचाना जो समाज की विकृतियों को दूर करने के यत्न में लगी है।[5] किन्तु प्रसाद का दृष्टिकोण इन प्रचलित मान्यताओं से कुछ भिन्न है। उनके अनुसार दुख एवं वेदना की अभिव्यक्ति ही यथार्थवाद के मूल तत्व हैं। यथार्थवाद को व्याख्यायित करते हुए वह अपने एक निबन्ध में लिखते भी हैं कि "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।[6] किन्तु उनके साहित्य में अभिव्यक्त यह वेदना पाश्चात्य यथार्थवादियों की भाँति एक वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं रही है, वरन् उन्होंने महान् एवं आदर्श चरित्रों को भी वेदना से युक्त दिखाकर यथार्थवादी धारणा को एक विस्तृत

---

१. गुलाबराय - 'काव्य के रूप', पृष्ठ १८८
२. नन्ददुलारे बाजपेयी - 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ ३६३
३-४. मुंशी प्रेमचन्द्र - 'गद्यतरंगिणी', पृष्ठ ५२
५. रांगेय राघव - 'आलोचना' 'साहित्य में यथार्थवाद' शीर्षक से पृष्ठ ६०
६. जयशंकरप्रसाद - 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १२०

रूप दिया। इस सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि 'यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद को लेकर काफी विवेचन विश्लेषण हुआ है तथा समस्त विद्वान थोड़े बहुत अन्तर से अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यथार्थवाद सिद्धान्ततः पाश्चात्य से अनुप्रेरित एक विचारधारा है जिसका मुख्य उद्देश्य था वस्तुगत यथार्थ का वास्तविक एवं सत्य प्रतिरूपण। फलतः साहित्यकारों ने जीवन के यथार्थ से अपनी प्रतिबद्धता स्थापित करते हुए युग यथार्थ के चित्रण का प्रयत्न किया। यद्यपि एक सिद्धान्त के रूप में जीवन के यथार्थ चित्रण की यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में सन् १९३० के आस-पास पाश्चात्य से आगत प्रगतिशील विचारधारा के साथ ही प्रकाश में आयी किन्तु युग की एक मौलिक आवश्यकता के रूप में इसके स्फुट संकेत हमें भारतेन्दु युग से ही दिखायी देने लगते हैं। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण तत्कालीन साहित्य में स्वीकृत युगीन सन्दर्भों का चित्रण है। हाँ यह अवश्य है कि युगीन सन्दर्भों का चित्रण करते हुए ये साहित्यकार अपने भारतीय संस्कारों के कारण आदर्शों का भी चित्रण कर बैठे हैं, जो कि सिद्धान्ततः यथार्थवादी विचारधारा के प्रतिकूल बैठता है किन्तु यथार्थ के युग-सापेक्ष्य एवं परिवर्तनशील रूप को मान्यता देने के कारण भारत की ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों में देशवासियों को अपने युगयथार्थ से परिचित कराकर उन्हें उन्नति के पथ पर ले जाने के लिये साहित्यकारों का यह आदर्शोन्मुखी रूप सर्वथा अस्वाभाविक भी नहीं था। और यही कारण है कि आदर्शों की सक्रियता को देखते हुए भी हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के उद्भव का सम्पूर्ण श्रेय भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों को ही जाता है। अतः प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में 'हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के समावेश' का अध्ययन करने के लिये नाटकों का विवेचन भी भारतेन्दुयुगीन नाटकों से ही किया गया है।

-o-

---

१. जयशंकर प्रसाद - 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १२१

अध्याय २

आधुनिक भारतीय जीवन में होने वाले राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन (सन् १८५०-१९७०ई०)

अध्याय २

आधुनिक भारतीय जीवन में होने वाले राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन (सन् १८५० से १९७० तक)

किसी भी देश के साहित्य को प्रभावित करने में वहाँ के राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का विशेष हाथ होता है। हिन्दी नाटक साहित्य के उद्भव एवं विकास के मूल में भी देश की यही शक्तियाँ क्रियाशील थी जिन्होंने युग-जीवन को प्रभावित करने के साथ ही हिन्दी नाटकों को एक नवीन दिशा भी दी। हिन्दी नाटक तथा युग यथार्थ के प्रति रचनाकार के इसी दायित्व को लक्ष्य कर प्रस्तुत अध्याय में देश की परिवर्तनशील परिस्थितियों अथवा देश में होने वाले नित नूतन परिवर्तनों, जिन्होंने हिन्दी नाटक को समसामयिक यथार्थ की ओर मोड़ने में विशेष सहयोग दिया, को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय में इस सम्पूर्ण कालखण्ड को तीन खण्डों में विभाजित कर काल-क्रमानुसार इनकी यथार्थ रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

खण्ड १ - सन् १८५० से १९०० तक

खण्ड २ - सन् १९०० से १९४७ तक

खण्ड ३ - सन् १९४७ से १९७० तक

खण्ड १

राजनैतिक परिवर्तन

राजनैतिक क्षेत्र में गुलामी की प्रतिक्रिया और भारतीय जन-समूह पर उसका प्रभाव, औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष और विरोध का जन्म :

भारतीय इतिहास का यह युग-विशेष पाश्चात्य देशों से बढ़ते हुए सम्पर्क के कारण जीवन के एक ऐसे मोड़ पर आ खड़ा हुआ था जहाँ से भारतीय इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है । यों तो प्राचीन काल से भारत का इंग्लैण्ड इत्यादि पाश्चात्य देशों से व्यापारिक सम्पर्क रहा है, किन्तु १६ वीं शताब्दी तक आते-आते विदेशियों का यह सम्पर्क साम्राज्य-वादी शक्ति के रूप में परिवर्तित होने लगा था और संसार के प्राय: सभी समृद्ध देश अपने साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से भारत से सम्पर्क स्थापित कर,उसे अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न करने लगे थे । जिसमें अंग्रेजों को विशेष सफलता भी मिली । किन्तु इसका सर्वाधिक दायित्व तत्कालीन शासकों की अयोग्यता, विलासप्रियता, पारस्परिक विद्वेष तथा स्वार्थपूर्ण शासन नीति पर ही था, जिसने साम्राज्यवादी शक्ति के विस्तार एवं प्रसार में विशेष सहयोग दिया ।

औरंगजेब के शासनकाल तक मुगल साम्राज्य एक सूत्र में बंधा हुआ था किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् ही किसी योग्य शासक के अभाव में सम्पूर्ण राष्ट्र छोटे-छोटे राष्ट्रों में विभक्त होने लगा और राजाओं की पारस्परिक कलह तथा विलासप्रियता ने सर्वत्र अराजकता एवं अव्यवस्था को जन्म दिया । जिसका लाभ उठाकर अंग्रेजों ने दिल्ली के बादशाह से ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से स्वतन्त्र व्यापार का आज्ञापत्र प्राप्त कर लिया । किन्तु बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने जब उस आज्ञापत्र की उपेक्षा की तो कम्पनी ने उसके

विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया । सन् १७५६ का प्लासी तथा सन् १७६४ का बक्सर युद्ध देशी राजाओं के इस पारस्परिक विद्वेष का ही प्रतिफल था, जिसने भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद रूपी भवन के लिए नींव का कार्य किया । यद्यपि कम्पनी की इस प्राथमिक विजय का एकमात्र उद्देश्य धन प्राप्ति ही था, किन्तु आगे चलकर उनकी नीति साम्राज्य विस्तार की हो गई और १६ वीं शताब्दी तक आते-आते सम्पूर्ण भारत पर उनका एक छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया ।

इस प्रकार कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार तो सन् १७५७ से, क्लाइव के शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु साम्राज्य विस्तार का प्रमुख उद्घोषक डलहौजी था । सन् १८४८ में जब वह भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ तो उसने भारतीय शासकों को अयोग्य समझकर, उनके राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिलाने के लिये १८३४ की अंग्रेजी की 'सन्तति विहीन नीति' को कार्यान्वित कर सतारा, नागपुर, झाँसी इत्यादि विभिन्न रियासतों को तो अंग्रेजी राज्य में मिला ही लिया, अवध को भी वहाँ फैली अराजकता तथा अव्यवस्था के नाम पर अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।[1] देशी राज्यों के अस्तित्व के समाप्त हो जाने तथा रियासतो के जब्त हो जाने से एक ओर तो सामन्त वर्ग की निर्धनता बढ़ी, दूसरी ओर अंग्रेज अफसर भी भारतीय नरेशों के प्रति धृष्टता पूर्ण व्यवहार करने लगे थे । परिणामस्वरूप उनमें असन्तोष की अग्नि भड़क उठी ।

अंग्रेजों की इस छद्मनीति के कारण भारतीय नरेश तो उनसे असन्तुष्ट थे ही, शासन के उच्च पदों पर अंग्रेजों की पक्षपातपूर्ण नीति तथा इंडियन सिविल सर्विस की प्रतियोगी परीक्षाओं में परीक्षार्थियों के बैठने की उम्र दो वर्ष करके भारतीयों के प्रशासनिक कार्यों में प्रवेश पर नियन्त्रण

---

१. प्रो० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृष्ठ ५१

लगाने की जो चाल चली थी उससे पाश्चात्य सभ्यता में रंजित शिक्षित भारतीयों में भी असन्तोष की भावना जागृत होने लगी । डलहौजी के इंग्लैण्ड वापस चले जाने के बाद तो भारतीयों का यह असन्तोष इतना बढ़ा कि उस पर नियन्त्रण रखना ही असम्भव हो गया । फलत: भारत के सम्पूर्ण राजनीतिक गगन मण्डल पर विपत्ति के बादल मंडराने लगे जिसे भारतीय सैनिकों की असन्तुष्ट एवं उपेक्षित धर्मभावना ने एक विद्रोह एवं क्रान्ति का रूप दिया, जो भारतीय इतिहास में सन् ५७ की क्रान्ति के नाम से विख्यात है । यह क्रान्ति लगभग एक वर्ष तक चलती रही और विद्रोहाग्नि की ये लपटें धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में व्यापकरूप से फैल गयी । यद्यपि भारतीय सेनानियों ने इस युद्ध में अपनी पूर्ण युद्धकुशलता का परिचय दिया, तथापि वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सके । और ८ जुलाई सन् १८५८ को केनिंग द्वारा युद्ध समाप्ति की घोषणा कर दी गई[१]।

युद्ध समाप्ति के साथ ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के शतवर्षीय शासन का अन्त हुआ और भारत का सम्पूर्ण शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के हाथ में आया, जिसने कम्पनी की 'द्वैध शासन प्रणाली' को समाप्त कर 'एक्ट फॉर दि बेटर गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया' के अन्तर्गत लार्ड केनिंग को भारत का प्रथम वायसराय नियुक्त किया । भारतवासियों ने भी कम्पनी के हाथों से मुक्त होने पर कुछ राहत की साँस ली तथा ब्रिटिश सरकार का सहर्ष स्वागत किया । १ नवम्बर १८५८ को इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिय ने एक घोषणा पत्र पढ़ा, जिसमें उन्होंने आश्वासन दिया कि शासन की ओर से भारतीयों के प्रति दया, उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाया जायेगा तथा उनकी सभी प्रकार की स्वतन्त्रता के प्रति भी विशेष

---

१. डॉ० विनय मोहन शर्मा - 'हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास', पृष्ठ ८ ।

ध्यान दिया जायेगा । इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीयों के भेदभाव को दूर कर योग्यतानुसार निष्पक्ष रूप से नौकरियाँ देने का भी आश्वासन दिया । परन्तु ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों द्वारा ब्रिटिश सरकार की, भारतीयों को अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करने की यह नीति पूर्णत: कार्य-रूप में परिणत न हो सकी । `इंडियन सिविल सर्विस` में भारतीयों की नियुक्तियाँ तो अवश्य होने लगी किन्तु मुख्य पदों पर योग्य भारतीय होने पर भी प्रमुखता अंग्रेजों को ही दी जाती थी, जिससे भारतीयों के हृदय में अविश्वास की भावना जागृत हो रही थी ।

यद्यपि विद्रोह के पश्चात् कुछ वर्षों तक देश में काफी शान्ति रही तथा अनेक सुधार भी हुए किन्तु सन् १८७७ में लिटन द्वारा महारानी विक्टोरिया को साम्राज्ञी घोषित करने पर भारतीय जनता एकदम भड़क उठी । इस नई नीति के अनुसार समस्त भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग हो गया था तथा दोनों के बीच समानता की भावना का लोप होने लगा था, अत: उन्होंने उसका विरोध किया । इसके साथ ही लिटन ने `इंडियन आर्म्स एक्ट` तथा `वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट` जैसे प्रतिबन्धों को लगाकर भारत-वासियों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने का भी प्रयत्न किया, जिससे भारतीय जनता पुन: भड़क उठी । किन्तु लिटन के शासनकाल के इन तीक्ष्ण घावों पर रिपन के सुधारात्मक कार्यों ने मरहम का काम किया । सन् १८८० में जब वह भारत का वायसराय हुआ तो उसने सर्वप्रथम देश में व्याप्त ब्रिटिश अन्यायों को समाप्त करने के उद्देश्य से प्रेस एक्ट को रद्द किया तथा जातीय भेदभाव को समाप्त करने के लिये `इल्बर्ट बिल` पास कराया । यद्यपि अंग्रेजों के विरोध के कारण उसका यह प्रस्ताव उस समय कार्यरूप में परिणत न हो सका था, किन्तु थोड़े ही समय बाद, अर्थात् १८८२ में, उसने भारतवासियों को शासन कार्य में सहयोग देने की भावना से प्रेरित होकर स्वायत्त शासन स्थापित किया।[१]

---

१. प्रो० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - `आधुनिक हिन्दी साहित्य`, पृ० ६१

किन्तु रिपन के पश्चात् ही ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्यवादी नीति भारत में पुन: खूब फली-फूली और उन्होंने भारतीयों पर नये-नये कर लगाकर तथा अन्य देशों में होने वाले युद्धों का व्यय-भार भारत पर डालकर भारत को आर्थिक दृष्टि से अनेक यातनायें दीं। साथ ही, भारतीयों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर उन पर अन्यायों एवं अत्याचारों की भी अति कर दी, जिससे समस्त भारतवासी अत्यन्त शंकालु एवं भयभीत हुए और उनका हृदयगत असन्तोष जो अभी तक उनकी सहनशीलता के कारण अन्दर ही अन्दर सुलग रहा था, अब वैचारिक संघर्ष के रूप में सामने आया और उन्होंने संगठित होकर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाज उठायी तथा उनके विरोध में अनेकों सभाओं तथा संस्थाओं की स्थापना की। सन् १८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा स्थापित `इंडियन एसोसिएशन` नामक संस्था भारतीयों के इस विरोध का ही प्रतिफल थी जिसमें `प्रेस एक्ट` तथा आई० सी० एस० की आयु घटाने के लिये विरोध सभायें भी की गयीं। वस्तुत: लार्ड लिटन के समय बढ़ते हुए अन्यायों को देखकर लोगों को यह शंका होने लगी थी कि कहीं यह अन्याय फिर से विद्रोह का रूप धारण न कर ले। अत: इस शंका के निवारणार्थ सन् १८८५ में मिस्टर ए० ओ० ह्यूम, विलियम वेडरबर्न और श्री दादाभाई नौरोजी के उद्योग से `इंडियन नेशनल कांग्रेस` की स्थापना की गई। यद्यपि अपने उदयकाल में कांग्रेस एक सुधारवादी संस्था थी, किन्तु इसके उद्देश्यों से प्रसन्न होकर स्वयं डफरिन ने ही इसको राजनैतिक संस्था प्रदान करने की प्रेरणा दी थी।[१] कांग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने में उनका मुख्य उद्देश्य सरकार को भारतीय जनता के मन से अवगत कराते रहना था। किन्तु धीरे-धीरे जब कांग्रेस के द्वारा देशी राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया गया तो सरकार इस संस्था को शंका तथा अविश्वासपूर्ण नेत्रों से देखने

---

१. डॉ० विनय मोहन शर्मा - `हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास` अष्टम भाग, पृष्ठ १०।

लगी और इसके दमन के लिये अंग्रेजों के कांग्रेस के नेतृत्व में होने वाली सभाओं में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यवधान तो उपस्थित किये ही, साथ ही कांग्रेस को एक देशद्रोही संस्था समझकर सरकारी कर्मचारियों को उसमें भाग लेने से भी रोका गया तथा कांग्रेस के समर्थकों पर झूठे अभियोग लगाये। कांग्रेसियों से वह इतने अधिक भयभीत हो गये थे कि उन्होंने खादी पहनने का ही विरोध किया।

यद्यपि अंग्रेजों की इन दमनकारी नीतियों से वह अत्यन्त क्षुब्ध थे फिर भी वह अपने कर्तव्य पथ पर डटे रहे तथा कांग्रेस को अंग्रेजों की अमानुषिक एवं अत्याचारपूर्ण नीति से बचाने के लिये उन्होंने राजनीतिक सभाओं को धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभाओं का रूप प्रदान किया। जिनकी आड़ में यह राष्ट्रीय कार्यकर्ता देश की समस्याओं पर विचार विमर्श कर राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु योजनाएँ बनाते थे तथा उनका पथ-प्रदर्शन करते थे। यद्यपि भारतीयों की संगठित शक्ति एवं एकता से भयभीत होकर अंग्रेजों ने उसे निर्मूल करने के उद्देश्य से भेद-नीति का अनुसरण किया तथा हिन्दू-मुसलमान के मध्य वैमनस्य की भावना का बीजारोपण कर देशभर में अनेक साम्प्रदायिक दंगों की शुरूआत भी करायी। किन्तु भारतीय उससे विचलित नहीं हुए वरन् अंग्रेजों के नित्यप्रति बढ़ते हुए अन्यायों ने उन्हें औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध स्वराज्य की माँग के लिये ही विवश किया। परिणामस्वरूप देश भर में कांग्रेस के नेतृत्व में अनेक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ। सन् १६०५ में होने वाला स्वदेशी आन्दोलन भारतीयों की इस संगठित शक्ति एवं एकता का ही प्रतीक है, जिसने भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को शक्ति प्रदानकर भारतीय राष्ट्रवाद की नींव को सुदृढ़ करने में अपेक्षित सहयोग दिया।

आर्थिक परिवर्तन :

पूँजी का अन्तर्परिवर्तन :

भारत प्राचीन काल से एक औद्योगिक देश रहा है । यहाँ की मलमल, नक्काशीदार बर्तन तथा अन्य अनेकों हस्तनिर्मित वस्तुएँ तो सम्पूर्ण विश्व में विख्यात थी । किन्तु यह उल्लेखनीय है कि भारत में निर्मित इन वस्तुओं के मुख्य निर्माण केन्द्र आज की भाँति बड़े-बड़े नगर एवं कल-कारखाने न होकर छोटे-छोटे गाँव होते थे,जहाँ ग्रामवासी अपनी मेहनत और लगन से इन व्यवसायों को वंशानुगत रूप से अर्जित कर कुशल कारीगर बन जाते थे । इनके अतिरिक्त देश की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी गाँवों द्वारा ही होती थी, जैसे किसान भोजन के लिये अन्न उत्पन्न करते थे, जुलाहे कपड़ा बुनते थे, लोहार खेतीबाड़ी के लिये आवश्यक औजार तथा लोहे के बर्तन तैयार करते थे, बढ़ई लकड़ी का सामान बनाता था, सुनार सोने चाँदी के आभूषण बनाता था, तथा चमार चमड़े की वस्तुएँ निर्मित करता था । इस प्रकार तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था एवं समृद्धि के मूलाधार गाँव थे तथा देश की संपूर्ण अर्थ व्यवस्था गाँवों द्वारा ही संचालित होती थी ।

किन्तु सम्पूर्ण वस्तुओं के गाँवों में निर्मित होने के कारण इनका लेन-देन एवं विनिमय परस्पर सहयोग के आधार पर ही होता था । जैसे किसान को यदि वस्त्र की आवश्यकता होती थी तो वह वस्त्र के बदले में जुलाहे को अनाज दे देता था और इस प्रकार पूँजी के अन्तर्परिवर्तन द्वारा सम्पूर्ण ग्रामवासियों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, उसमें पूँजी के बाह्य रूप अथवा माध्यम अर्थात् रुपये-पैसे की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । परन्तु अंग्रेजों ने भारत आगमन के पश्चात् यहाँ की इस परस्पर सहयोगी व्यापार परम्परा को विनष्ट कर लेन-देन अथवा वस्तुविनिमय का

मुख्य माध्यम पैसे को बनाया । अत: किसी वस्तु को खरीदने पर उसका मूल्य अब वस्तु के रूप में न देकर पैसे के रूप में दिया जाने लगा । उनकी इस नीति के मूल में उनका एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक धन संचय करके अपने देश इंग्लैण्ड को भेजना था । और अपनी इस नीति को प्रतिफलित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने धीरे-धीरे भारत की समस्त हस्तकलाओं एवं ग्रामोद्योगों को भी अपने हाथ में ले लिया । परिणामस्वरूप ग्रामवासियों को विवश होकर वस्तु का मूल्य पैसे में चुकाना पड़ा ।

औपनिवेशिक शोषण-

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत औद्योगिक कुशलता, सम्पन्नता एवं धनधान्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था अत: विश्व के सभी देशों की दृष्टि इस पर लगी हुई थी । दुर्भाग्यवश इसी समय सत्रहवीं शताब्दी के लगभग अन्त में, जब योरोपीय देश नये-नये देशों का पता लगाकर वहाँ पर अपने उपनिवेश- व्यापारिक केन्द्र - स्थापित कर रहे थे, साम्राज्यवादी - इंग्लैण्ड की दृष्टि भी भारत जैसे सुसम्पन्न एवं समृद्ध देश पर पड़ी और उसे अपना उपनिवेश बनाकर उन्होंने यहाँ अपनी शोषणकारी नीतियों को खूब पल्लवित एवं पुष्पित किया ।[१] यहाँ आकर उन्होंने भारत को अंग्रेजी वस्त्रों एवं अन्य वस्तुओं के विक्रय के लिये एक बड़ा बाजार तो बनाया ही, साथ ही अंग्रेज दस्तकारियों एवं व्यापारियों के प्रवेश तथा औपनिवेशिक शोषण द्वारा यहाँ के प्रचलित उद्योगों को नष्ट कर उनके स्थान पर नवीन उद्योगों का विकास किया तथा बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों का निर्माण कर भारत की अधिकांश पूँजी को अपने हाथ में लेकर यहाँ भी पूँजीवाद की प्रतिष्ठा की और अपनी इन्हीं शोषण नीतियों के परिणाम स्वरूप वह धीरे-धीरे व्यापारी से शासक बन गये ।

---

१. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृष्ठ ५५

पूँजीपतिवर्ग का उदय -

'पूँजीवाद' एक नवीन आर्थिक व्यवस्था है। इसका प्रथम सूत्रपात १८ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में फ्रान्स में होने वाली राज्यक्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगिक उन्नति के परिणाम स्वरूप उत्पादन साधनों का सम्पूर्ण अधिकार प्रभुता सम्पन्न कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के हाथ में आया, जो पूँजी अर्थात् धन की अधिकता के कारण पूँजीपति कहलाया तथा अपनी अतुलित शक्ति सम्पन्नता के कारण इसने कुछ ही समय में सामन्तों का स्थान ग्रहण किया। पूँजीवाद की इसी विशिष्टता को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि 'उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित एवं सामन्तशाही के ध्वंस पर प्रतिष्ठित अर्थ व्यवस्था पूँजीवाद के नाम से प्रसिद्ध है ---- तत्कालीन समाज में पूँजी की सत्ता और महत्ता बढ़ जाने के कारण ही समाजवादियों ने नयी अर्थ व्यवस्था को पूँजीवाद की संज्ञा दी थी।'[१]

अन्य देशों की भाँति भारत में भी पूँजीवाद का जन्म सामन्तशाही की समाप्ति तथा व्यापारी वर्ग के उदय का परिणाम है। व्यावसायिक उन्नति के परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने भारत में इतना अधिक धन संचय कर लिया था कि कुछ ही समय में यहाँ पर उनका एक शक्तिशाली वर्ग तैयार हो गया और अपने इस बल के आधार पर ही उन्होंने राजाओं तथा सामन्तों के समस्त अधिकारों को छीनकर यहाँ की शासन व्यवस्था को भी अपने हाथ में ले लिया। किन्तु यह हुआ लगभग सौ वर्ष बाद अर्थात् १९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में।

पूँजीवाद के प्रचार तथा प्रसार के लिये उन्होंने भारत में भी एक

----

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), हिन्दी साहित्य कोष' भाग २, 'पूँजीवाद' १ शीर्षक से पृष्ठ ५०१।

नवीन वर्ग को जन्म दिया, जो औद्योगिक विकास में उनका सहायक हुआ। किन्तु भारत में उत्पन्न यह नवीन पूँजीपति वर्ग मुख्यत: विदेशी था, जो जीवन भर अपने स्वार्थ के वशीभूत हो भारतीयों के शोषण तथा अंग्रेजों के पोषण में संलग्न रहा और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति में इन्होंने रेलों तथा नहरों का निर्माण एवं अन्य तकनीकी प्रतिष्ठानों का प्रसार किया। यद्यपि यह सब उन्होंने अपने स्वार्थ के कारण ही किया था ; किन्तु यह सब किया उन्होंने इस प्रकार कि उपनिवेशों की समस्त जनता मुख्यरूप से उनकी आर्थिक नीतियों पर ही आश्रित रहे। नहरों से उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई तथा रेलों के निर्माण से उस उत्पादित वस्तु के आवागमन में सरलता के साथ ही व्यय भी कम हुआ। इसके साथ ही भारत निर्मित कच्चे माल को विदेश भेजने की सुविधा के कारण भारतीयों को जीविका का साधन मिला, जिससे प्रसन्न होकर भारतीयों ने भारत में पूँजीवाद के पैरों को और मजबूत किया।

किन्तु एक ओर जहाँ अंग्रेजों की इस कूटनीति के कारण भारत में औद्योगीकरण एवं पूँजीवाद का सूत्रपात हो रहा था वहीं दूसरी ओर इसका प्रभाव भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर भी पड़ रहा था। अंग्रेजों द्वारा किये गये इस औद्योगीकरण को देखकर भारतीयों के मन में यह विचार उत्पन्न हो रहा था कि क्यों न हम भी अन्य देशों की भाँति अपने देश का औद्योगिक विकास स्वयं करें। परिणाम स्वरूप "१९वीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीयों ने औद्योगिक विकास में अपनी पूंजी लगाना प्रारम्भ कर दी।"[1] और इस प्रकार भारत में एक नये पूँजीपति वर्ग का जन्म हुआ। इन भारतीय पूँजीपतियों के स्वार्थ विदेशी पूँजीपतियों के विरोध में थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थन में इस वर्ग ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

---

१. शम्भुनाथ सिंह - 'मूल्य और उपलब्धि' पृष्ठ ४६

पूँजी का निर्यात -

भारतीय पूँजी के निर्यात का सबसे बड़ा कारण यह था कि प्रारम्भ में ये अंग्रेज व्यापारी इंग्लैण्ड से पूँजी लेकर नहीं आते थे और यहाँ आकर ऋण ले लेते थे। इस प्रकार यहाँ के धन से ही पूँजी एकत्र करके यह अपने देश अर्थात् विदेशों में भेज देते थे। परन्तु बाद में जब १८३३ ई० में कम्पनी का चार्टर बदलने पर उनसे व्यापार का अधिकार छीन लिया गया[१] और यह कम्पनी जब यहाँ केवल शासक के रूप में रह गयी तो ये अंग्रेज भारत की सरकारी आय से कम्पनी के लिये व्यापारिक वस्तुएँ खरीदते थे और फिर बिना किसी प्रकार के बदले के इन वस्तुओं को योरोप में बिकने के लिये भेज देते थे। इस प्रकार भारत का बहुत सा धन प्रतिवर्ष बाहर चला जाता था।

इसके अतिरिक्त बंगाल में अंग्रेजों का प्रभुत्व हो जाने पर तो देश के समस्त व्यापारों पर उनका एक छत्र अधिकार हो गया। अधिकांश व्यापार तो उन्होंने पहले ही अपने हाथ में ले लिये थे, किन्तु नमक, सुपारी तथा तम्बाकू का व्यापार जो अभी तक भारतीयों के हाथ में था, वह भी धीरे-धीरे कम्पनी के व्यापारियों ने उनसे छीन लिया। क्योंकि इनको तैयार करने में इतना अधिक लाभ था कि कम्पनी बहुत भारी टैक्स लगाकर भी इतना अधिक लाभ नहीं उठा सकती थी।

कम्पनी के व्यापारियों के साथ-साथ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों तथा अधिकारियों ने भी भारतीय उद्योगों को नष्ट करने तथा भारतीय पूँजी को हड़पने में कोई कमी नहीं रखी। फलतः इनके - कम्पनी के गवर्नर जनरल तथा व्यापारिक रेजीडेन्टों - द्वारा ब्रिटेन में बनी हुई वस्तुओं की खपत तो

---

१. प्रो० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृष्ठ ७३

भारत में बढ़ायी ही गयी, भारतीय वस्तुओं पर भारी चुंगी लगाकर उन्हें इंग्लैण्ड जाने से भी रोका गया। परिणाम स्वरूप भारत से पूंजी का निर्यात तो निरन्तर होता रहा, किन्तु धन का आयात कुछ भी न हुआ। जिससे निराश होकर भारतीय कारीगरों ने अपने उद्योगों को छोड़कर कृषि-कार्य प्रारम्भ किया।

इसके अतिरिक्त कम्पनी के ये उच्च अधिकारीगण फसल के समय मंडियों से समस्त अनाज तथा अन्य आवश्यक सामग्री खरीद लेते थे और फिर उन्हीं वस्तुओं को अभाव की स्थिति में मनमाने दामों पर बेचते थे। सरकार की इस नीति के कारण कृत्रिम अभावों एवं दुर्भिक्षों की सृष्टि हुई और भारत का समस्त धन धीरे-धीरे विदेशों में जाने लगा।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने भारत में रेलों की सुविधा प्रदान कर लोहे और मशीनों के निर्यात से अपना अर्थ कल्याण तो किया ही, अन्य देशों से होने वाले युद्धों का व्ययभार भी भारत पर ही डाला।

अंग्रेजों की इस अन्यायपूर्ण व्यापारिक नीति से भारत के अनेक उद्योग तो नष्ट हुए ही, अन्य देशों से आने वाली वस्तुओं की वृद्धि के मूल्य स्वरूप भारत के बहुत बड़े भाग की जीविका उससे छिनकर इंग्लैण्ड जाने लगी और हमारा देश भारत दिन प्रतिदिन आर्थिक दृष्टि से दुर्बल एवं दरिद्र होता गया।

सांस्कृतिक परिवर्तन :

नयी विदेशी शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ -

भारत में शिक्षा का जो प्राचीन रूप दिखाई देता है वह पुरोहितों की वर्ग भावना के कारण कर्मकाण्डीय तथा उच्च वर्गों तक ही सीमित था। किन्तु परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप इसके स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। अंग्रेजों ने जिस समय भारत में प्रवेश किया उस समय कुछ शिक्षाविदों के प्रयत्न से शिक्षा यद्यपि सर्वजन सुलभ हो गई थी किन्तु धन के अभाव में इसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी। उचित स्थान के अभाव में अधिकांशत: पाठशालाएँ मन्दिरों, बरामदों अथवा पेड़ों के नीचे ही खोल ली जाती थी, जिनमें शिक्षा देने वाले अध्यापकगण भी पूर्णत: योग्य अथवा शिक्षित नहीं होते थे। साथ ही शिक्षा के धर्म प्रधान होने के कारण विज्ञान आदि अन्य महत्वपूर्ण विषयों की भी उपेक्षा होती थी।

किन्तु अंग्रेज जब भारत आये तो उनके साथ वहाँ की भाषा तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भी आगमन हुआ। जिसके सम्पर्क से देश की परिस्थितियों में तो परिवर्तन हुआ ही, इन परिवर्तित परिस्थितियों में शिक्षा की प्रचलित धर्म प्रधान देशी शिक्षा प्रणाली भी संकीर्ण एवं व्यर्थ सिद्ध प्रतीत हुई। जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप देश भर में एक नवीन शिक्षा पद्धति की योजना की गई, जो अपने नवीन रूप के कारण भारतीयों द्वारा विदेशी शिक्षा प्रणाली के नाम से पुकारी गयी। किन्तु इस शिक्षा विकास के मूल में अंग्रेजों की भारतीय हित चिन्तना की अपेक्षा उनकी साम्राज्यवादी स्वार्थ नीति ही क्रियाशील थी। क्योंकि वह जानते थे कि जब तक भारतीय अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठावान है तब तक उन्हे अपने पूर्णत: आधीन नहीं किया जा सकता। अत: उन्होंने अपने स्वार्थ के वशीभूत ही भारतीयों को उनकी संस्कृति से विमुख करने तथा पाश्चात्य संस्कृति को उन पर आरोपित करने के लिये शिक्षा सुधार की एक नवीन चाल चली और अंग्रेजी शिक्षा, भाषा तथा साहित्य के ज्ञान को भारतवर्ष की

उन्नति का एक महत्वपूर्ण साधन बताकर भारत में उसके प्रचार हेतु अनेक नवीन स्कूलों की स्थापना की । जिनमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी तो रखा ही गया, शिक्षा प्रणाली में सुधार हेतु अनेक विकासात्मक कदम भी उठाये गये । शिक्षा-विकास को ध्यान में रखकर सन् १८५४ में चार्ल्स वुड ने शिक्षा के स्वरूप को निश्चित करने तथा उसे सर्वजन सुलभ बनाने के लिये एक निर्देश पत्र तैयार किया जिसके अनुसार शिक्षा का मूलाधार यूरोपीय कला, विज्ञान, दर्शन और साहित्य का अध्ययन निश्चित किया गया तथा इसे सर्वजन सुलभ बनाने के लिये उच्च शिक्षा के अतिरिक्त गांवों में पाठशालाओं की व्यवस्था के साथ ही शिक्षा के माध्यम स्वरूप देशी भाषाओं पर भी जोर दिया गया ।

शिक्षा के क्षेत्र में इन सुविधाओं को प्रदान करने के साथ ही, अंग्रेजी शिक्षा के प्रति जन-सामान्य को आकृष्ट करने के लिये उन्होंने एक चाल और चली और वह थी प्रचलित फारसी के स्थान पर अंग्रेजी को सरकारी काम-काज की भाषा स्वीकार करना । परिणाम स्वरूप भारतीयों में स्वयं भी अंग्रेजी के प्रति तीव्र जिज्ञासा एवं उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, जिसका लाभ उठाकर अंग्रेजों ने देश में इस नवीन शिक्षा प्रणाली का खूब प्रचार एवं प्रसार किया ।

किन्तु इस नवीन शिक्षा प्रणाली में पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के समक्ष भारतीय धर्म, दर्शन, कला तथा साहित्य की पूर्णत: उपेक्षा कर उसे पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित रखा गया था, अत: शिक्षा धीरे-धीरे जीवन से ही विच्छिन्न हो गई । जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्यालय से निकलने के पश्चात् छात्रों के पास क्लर्की के अतिरिक्त कोई ऐसा साधन ही शेष नहीं रहता था, जिसके द्वारा वह अपना तथा अपने परिवार का जीवन निर्वाह कर सकें फलत: विवश होकर उन्हें सरकारी नौकरियों का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता था । जिसने अप्रत्यक्ष रूप से भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पैरों को ही अधिक मजबूत बनाया ।

इस प्रकार यद्यपि यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों द्वारा प्रचारित समस्त

शिक्षा प्रसार कार्य भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कारों को आरोपित करने की एक चाल थी । जिसमें उन्हें काफी कुछ सफलता भी मिली थी । किन्तु इसके माध्यम से एक ओर जहाँ उन्होंने सुधारों के नाम पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पैरों को भारत में सुदृढ़ करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर इस नवीन शिक्षा के द्वारा आगत ज्ञान विज्ञान के नवीन विचारों ने भारतीय जन-मानस को उद्बुद्ध कर उसे विकास के विविध आयाम दिये । भारतीय नवजागरण एवं राष्ट्रीयता के मूल में तो भारतीयों की अंग्रेजी शिक्षा से प्राप्त यह नवउद्भुत जागरूक चेतना ही क्रियाशील थी, जिसने पाश्चात्य प्रभावों को ग्रहण कर भारतवासियों में आत्मोन्नति एवं अपने देश के प्रति अनन्य अनुराग की भावना को जन्म दिया ।

अंग्रेजी शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही अभिमत प्रस्तुत करते हुए शिवकुमार मिश्र ने लिखा है --"अंगरेजों ने देश में अंगरेजी के प्रचार और प्रसार का जो प्रयास किया, उसके मूल में उनका वास्तविक उद्देश्य निश्चित रूप से अपने को मजबूत करना था - - --- किन्तु एकबार ज्ञान के दरवाजे खुल जाने पर उनके माध्यम से जो प्रकाश विकीर्ण हुआ, उसने अनेक दिशाओं में प्रबुद्ध भारतीय मानस को गतिशील किया - - - - - - -- ।[१]

ज्ञान-विज्ञान के विकास से भारतीय समाज में नयी जीवन पद्धति का प्रारम्भ -

प्रशासनिक क्षेत्र में अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत में जिस नवीन शिक्षा एवं ज्ञान विज्ञान का आगमन हुआ उसने भारतीय समाज में वैज्ञानिक एवं बौद्धिक दृष्टि प्रदान कर एक नवीन जीवन-पद्धति को जन्म दिया, जिसका अमिट प्रभाव तत्कालीन सामाजिक जीवन पर स्पष्ट दिखाई देता है ।

---

१. शिवकुमार मिश्र - यथार्थवाद - पृष्ठ १५८

पाश्चात्य शिक्षा के परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञान का भारतीय जीवन पर सबसे बड़ा प्रभाव जो दिखाई देता है वह है बौद्धिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में सामाजिकों का बौद्धिक तथा मानसिक विकास । सम-सामयिक विसंगतियों एवं कुरीतियों के विरुद्ध जन्मे सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन वस्तुत: सामाजिकों की इस नवोद्भूत वैज्ञानिक एवं बौद्धिक दृष्टि के ही परिणाम हैं । फलत: समाज में व्याप्त अन्धविश्वास एवं रूढ़ियाँ,जो अति प्राचीन काल से समाज में अपना आधिपत्य जमाये थी, दूर हुई । शिक्षा में सभी वर्गों को समानाधिकार प्राप्त होने से जाति-पाँति के संकीर्ण बन्धन दूर हुए तथा समाज में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन हुआ ।

यद्यपि यह सत्य है कि भारत में इन बुद्धिवादी विचारों के आगमन का मूल कारण पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का विकास है,किन्तु भारतीय समाज में उत्पन्न इन उदार विचारों को जन्म देने का एकमात्र श्रेय पाश्चात्य शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान को ही नहीं दिया जा सकता । वस्तुत: सत्य तो यह है कि जिस समय अंग्रेज नवीन शिक्षा के नाम पर भारतीय समाज को अपने अनुरूप ढालने के लिये प्रयत्नशील थे,उसी समय भारतीय समाज में जागरूक शिक्षितों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो रहा था जो अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर भी भारतीयता को सुरक्षित रखना चाहता था,अत: उसने पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण की अपेक्षा पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति की महान् उपलब्धियों को भारतीय संस्कृति में आत्मसात कर देश को नवजागरण का सन्देश दिया । बंगाल तथा सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में होने वाला नवजागरण वस्तुत:, पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित राजाराममोहनराय,दयानन्द सरस्वती, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिम चन्द्र तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सदृश कुछ ऐसे ही जागरूक बुद्धिवादियों की सन्तुलित एवं सामंजस्य पूर्ण दृष्टि का ही प्रत्यक्ष परिणाम है, जिन्होंने दोनों संस्कृतियों के समन्वय द्वारा एक ओर यदि धर्म के परिष्करण द्वारा जागरण का मंत्र फूँका, तो दूसरी ओर साहित्य

रचना के माध्यम से प्राचीन गौरव और आधुनिक दुरवस्था की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कराकर भारतीय जनता के चतुर्दिक विकास का महत्वपूर्ण प्रयास किया ।[१]

भारतीय समाज में उद्भूत इन उदार विचारों को जन्म देने के साथ ही भारत की स्वतन्त्रता का एक मात्र कारण भी पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान से उत्पन्न नवीन जीवन दृष्टि का ही अप्रत्यक्ष परिणाम है । यद्यपि अप्रत्यक्षत: तो अंग्रेज भारत को परतन्त्रता के पाश में जकड़े रहने के लिये ही प्रयत्नशील दिखायी देते हैं, किन्तु पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन द्वारा उन्होंने अनजाने में ही - देशवासियों को स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व सदृश जिन उच्चादर्शों से परिचित कराया था उससे प्रेरित होकर ही भारतवासियों ने अंग्रेजों की शोषण नीति के विरुद्ध स्वतन्त्रता को मानव का जन्म सिद्ध अधिकार स्वीकार कर समय-समय पर अनेक आन्दोलनों को जन्म दिया और इस प्रकार भारतीय गतिविधियों को एक नवीन मोड़ देकर वह नवयुग के निर्माण के लिये प्रयत्नशील हुए ।

---

१. सम्पादक धीरेन्द्रवर्मा आदि - हिन्दी साहित्य (तृतीय खण्ड) पृष्ठ ६

किन्तु एक ओर जहाँ नवीन शिक्षा के प्रभावान्तर्गत पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान एवं शिक्षा के विकास ने भारतवासियों को एक तर्क सम्मत एवं वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर भारतीय रूढ़िग्रस्त समाज को विकास की अनेक नवीन दिशायें दी, वहीं पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण ने देश में कुछ ऐसे नव-शिक्षितों को भी जन्म दिया जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समक्ष अपने गरिमामय ज्ञान की अवहेलना कर भारतीय संस्कृति की ही उपेक्षा कर बैठे। परिणाम स्वरूप भारतीयों के रहन-सहन एवं खान-पान में तो अन्तर आया ही, उनके परिवर्तित विचारों के कारण समाज में धार्मिक एवं सामाजिक अराजकता का भी जन्म हुआ। किन्तु दो संस्कृतियों में स्थित परस्पर विरोध के कारण इन नवशिक्षितों का जीवन अस्थिर हो उठा और इनमें चरित्रहीनता तथा धार्मिक विरोध के लक्षण भी दिखायी देने लगे।

ज्ञान-विज्ञान के आलोक में अन्य देशों की भाँति भारत में भी औद्योगिक क्रान्ति की अवतारणा हुई। फलत: हस्त-उद्योग तो समाप्त हुए ही, आजीविका की तलाश में भारतीयों का नागरिक जीवन से अटूट सम्बन्ध स्थापित हुआ और भारतीय समाज में प्रचलित संयुक्तपरिवार व्यवस्था टूट-टूट कर छोटे-छोटे परिवारों में विभक्त होने लगी।

ज्ञान-विज्ञान के आगमन से देश में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए। जिनके कारण एक ओर यदि मनुष्य को दैनिक जीवन में अनेकों सुविधाएँ प्राप्त हुई तो दूसरी ओर युग-युग की व्यस्तताओं ने व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बनाकर समाज को अनेकविध विषमताओं एवं जटिलताओं में भी जकड़ लिया। आधुनिक समाज में होने वाला पारिवारिक विघटन, वस्तुत: यन्त्रयुग की इन बढ़ती विषमताओं का ही एक पहलू है, जिसने भारतीय समाज की प्रचलित मान्यताओं में आमूल परिवर्तन की माँग को स्पष्ट कर युगानुकूल नवीन जीवनादर्शों की स्थापना पर बल दिया।

नये किस्म के शहरी कस्बाई मध्यवर्ग का उदय -

'मध्यवर्ग' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, समाज के लोगों का ऐसा समूह जो मध्यम मार्ग का अनुयायी हो अर्थात् जिसकी स्थिति न तो समाज के उच्च कहलाने वाले वर्ग में हो, जिसके लिए ऐश्वर्य विलास के समस्त साधन सहज उपलब्ध होते हैं और न ही निम्न वर्ग में जहाँ दिन-रात मजदूरी एवं श्रम के बावजूद मनुष्य अपनी जीविका निर्वाह में असफल रहता है। वरन् इन दोनों से ही भिन्न 'मध्यवर्ग' सामाजिक प्राणियों का एक ऐसा वर्ग समूह है जहाँ मनुष्य यथाशक्ति शैक्षिक योग्यता प्राप्त कर अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता हुआ विकास की ओर अग्रसर होता है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का अधिकारी होता है।

मध्यमवर्ग का उदय सर्वप्रथम यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी में व्यावसायिक उन्नति और उपनिवेशों से अतिशय धन संचय के कारण हुआ।[१] अर्थात् १७ वीं शताब्दी में जब व्यावसायिक उन्नति के परिणाम स्वरूप वहां पूँजीवाद का विकास हुआ और सामन्तों के अधिकार छिनकर धीरे-धीरे मध्य-वर्गीय व्यवसाइयों के हाथ में जाने लगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि मूलत: यह मध्यवर्ग पूँजीवादी सभ्यता का परिणाम है। मध्यवर्ग की इसी विशिष्टता को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि "पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्ग की आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन सूत्र को संभाल सके। इस वर्ग में नौकरी पेशा, शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषत: बुद्धि प्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्ति के प्राय: समस्त विचारों का सर्जन इस में ही होता है।[२]"

---

१. शम्भू नाथ सिंह - मूल्य और उपलब्धि, पृष्ठ ७५

२. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक) 'हिन्दी साहित्य कोश', पृष्ठ ५६४

किन्तु भारत में इसका उदय यूरोप से लगभग एक शताब्दी बाद हुआ ~~अर्थात्~~ अर्थात् १८वीं शताब्दी में जब भारत में भी अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् औद्योगिक क्रान्ति तदनन्तर पूँजीवाद का विकास हुआ। इस प्रकार यद्यपि दोनों ही स्थानों पर मध्यवर्ग की उदयकालीन परिस्थितियां समान थी। किन्तु भारतीय समाज में मध्यवर्ग की उत्पत्ति सर्वप्रथम दलालों के रूप में ही दिखायी देती है, जो भारत में आये अंग्रेज व्यापारियों और भारतीयों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते थे। ये आर्थिक दृष्टि से न बहुत अमीर होते थे और न गरीब। इनकी मुख्य योग्यता अंग्रेजी भाषा का सामान्य ज्ञान था और जैसे-जैसे व्यापार की वृद्धि होती गयी दलालों की वृद्धि के साथ ही विस्तृत व्यापार के कार्यभार को सम्भालने एवं उनकी आय-व्यय का लेखा-जोखा रखने के लिये एक बड़े शिक्षित समुदाय की भी आवश्यकता पड़ी, जिसने विदेशी व्यापार के साथ मध्यवर्ग के क्षेत्र को भी विस्तृत किया। किन्तु इसका पूर्ण विकास १९वीं शताब्दी में ही हुआ।

१९ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध अर्थात् सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद मध्यवर्ग का जो रूप दिखायी देता है उसका सम्बन्ध प्रत्यक्षत: नवीन शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के परिणामस्वरूप उत्पन्न औद्योगिक क्रान्ति से था, अत: इस वर्ग के अन्तर्गत मुख्यत: ऐसे व्यक्तियों का ही बाहुल्य था जो भारत में हो रहे उद्योगों की ओर आकर्षित होकर शहरों की ओर बढ़ रहा था। वस्तुत: औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप भारत का अधिकांश जन-जीवन जो अपनी आजीविका नष्ट होने से कृषि पर ही आश्रित हो गया था, जमींदारों की स्वार्थ नीतियों तथा निरन्तर पड़ने वाले दुर्भिक्षों से संत्रस्त हो, आजीविका की खोज में अपने गाँवों से दूर बड़े-बड़े शहरों तथा पास के कस्बों में जाकर बसने लगा। क्योंकि वहाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे साधन थे जिनके माध्यम से धनोपार्जन करके वह अपना तथा अपने परिवार का जीवन निर्वाह आसानी से कर सकता था यथा छोटा मोटा व्यवसाय, नौकरी तथा

कार्यालयों के चपरासी इत्यादि । इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास के फलस्वरूप नयी-नयी मिलों एवं कारखानों की स्थापना भी मुख्यत: शहरों में ही हो रही थी अत: एक ओर तो उनके प्रति उनमें विशेष आकर्षण था, दूसरे श्रमिकों की आवश्यकता के कारण उस समय शहरों में नौकरी भी आसानी से मिल जाती थी । यद्यपि मूलत: यह वर्ग कम पढ़ा लिखा एवं अशिक्षित ही था किन्तु शिक्षितों के बीच रहने के कारण इसमें अपेक्षाकृत जागरूकता का भाव उत्पन्न हो रहा था ।

इसी समय निम्न मध्यवर्गीय कहलाने वाले इस अशिक्षित अथवा अर्द्ध शिक्षित वर्ग के साथ ही शहरों में अंग्रेजी शिक्षा एवं सभ्यता से प्रभावित एक नवीन पढ़े-लिखे शिक्षित वर्ग का भी उदय हो रहा था, जो नौकरी करने में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझता था तथा जन सामान्य में `बाबू ` वर्ग के नाम से प्रख्यात था साथ ही शहरों की साधन सम्पन्नता के कारण यह वर्ग गाँवों की अपेक्षा शहरों में निवास करना ही अधिक पसन्द करता था । इस प्रकार स्पष्ट है कि इस नवीन मध्यवर्ग में शिक्षित, अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित सभी लोगों का समावेश हुआ । किन्तु शहरों में निवास के बावजूद यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से सन्तुष्ट नहीं था । धनाभाव के कारण अधिकांशत: उसे गन्दी एवं घनी बस्तियों में रहना पड़ता था, साथ ही यहाँ आकर उसका सम्पर्क कुछ ऐसे लोगों से हो रहा था जिनकी आर्थिक स्थिति उससे कहीं ज्यादा अच्छी थी और उन तक पहुँचने की उसकी महत्वाकांक्षा ने उसके जीवन में असन्तोष की भावना को जन्म देकर उसके सामाजिक जीवन को अत्यन्त संघर्षमय बना दिया था ।

लेकिन यह भी सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होने के कारण यह नवीन वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक जागरूक हो गया था । भारत को आधुनिकता की ओर अग्रसर कराने तथा भारतीय जीवन में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों को जन्म देने में इस वर्ग का विशेष हाथ रहा है । इसका मूल कारण था कि निम्न वर्ग तो सीधा-सादा, भोला और निरीह

किसान था, जो अपनी निर्धनता के कारण नवीन शिक्षा एवं ज्ञान विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ एवं अपरिचित था तथा अपनी ही समस्याओं से पूर्णत: घिरा हुआ था । इसके विपरीत जो उच्चवर्ग - राजा-महाराजा, सामन्तों और जमींदारों का था, वह अपने स्वार्थ के वशीभूत हो अंग्रेजों का ही- हित साधन करते थे साथ ही कट्टर होने के कारण ज्ञान-विज्ञान द्वारा होने वाले नवीन परिवर्तनों का भी उनके लिये कोई महत्त्व न था अत: वह उसका विरोध ही करते थे ।

लेकिन यह मध्यवर्गी अपनी जागरूक बुद्धि तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव स्वरूप देश-विदेश में होने वाले नित-नूतन परिवर्तनों से भी परिचित थे, अत: पाश्चात्य देशों के साथ उनकी दृष्टि अपने देश की दयनीय दशा के प्रति आकृष्ट हुई और उन्होंने उसके निवारणार्थ देशवासियों को आत्मोन्नति के लिये ही प्रेरित किया । इस प्रकार भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कराने का प्रमुख दायित्व इस नवीन शहरी वर्ग पर ही है । किन्तु यह नवीन मध्यवर्ग पाश्चात्य मध्यवर्गियों की भाँति उग्र नहीं था वरन् इसने अत्यन्त उदारता के साथ समय-समय पर अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक माँगों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर देश की विशाल पीड़ित मानवता का समर्थन किया । मध्यवर्गियों की इसी चारित्रिक विशिष्टता का उद्घाटन करते हुए श्री सिंह का कथन है -- 'यद्यपि राष्ट्रीयता की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी परन्तु १६ वीं शताब्दी का नवीन भारतीय मध्यवर्ग पाश्चात्य मध्यवर्ग की भाँति विद्रोही नहीं था । राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति उस काल में उदारपन्थी थी जो एक ओर तो अंग्रेजी राज्य के शोषण का विरोध करती थी और दूसरी ओर महारानी विक्टोरिया की कृपा पर विश्वास भी करती थी, उसी प्रकार वह एक ओर तो राजाओं सामन्तों को रहने देना चाहती थीं दूसरी ओर स्वदेशी उद्योगों की वृद्धि और सामाजिक न्याय पर आधारित शासन व्यवस्था की माँग भी करती थी ।'[१] किन्तु धीरे-

---

१. शम्भूनाथ सिंह -'मूल्य और उपलब्धि', पृष्ठ ७६-८० ।

धीरे अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित होकर उनकी यह राष्ट्रीय भावना उग्र रूप धारण करती गयी । जिसकी चरण परिणति भारत को परतन्त्रता के पाश से मुक्त कराने में दिखायी देती है ।

लेकिन एक ओर जहाँ मध्यवर्ग ने अपने सद्प्रयत्नों से देश को परतन्त्रता के पाश से मुक्त कराने के लिये अनेक प्रयास किये वहीं दूसरी ओर वह अपनी ही दुर्बलताओं के पाश में जकड़ते गये । परिणाम स्वरूप मध्यवर्ग के साथ ही देश में अनेक नयी समस्याओं का भी जन्म हुआ ।

इन सभी के सम्मिलित प्रभाव से भारतीय जीवन-सन्दर्भों में होने वाले नये परिवर्तन -

भारतीय जीवन-सन्दर्भों में परिवर्तन की दृष्टि से १६वीं शताब्दी भारतीय इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है । यद्यपि प्रत्यक्षत: यह युग अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण नीतियों तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रचार एवं प्रसार का युग था, जिसने अपने स्वार्थ के वशीभूत हो देश में अनेक आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों को जन्म देकर भारत में अनेक विध नवीनताओं एवं विचारणाओं का सूत्रपात किया । किन्तु इन परिवर्तित परिस्थितियों का भारतीय जन-जीवन पर जो अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा वह इन प्रत्यक्ष प्रभावों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक एवं महत्वपूर्ण था । इस दृष्टि से इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, राष्ट्रीय चेतना का विकास, नये राष्ट्रवाद का प्रारम्भ तथा विशिष्ट किस्म के जीवन मूल्यों का निर्माण, जिन्होंने अंग्रेजों की षडयन्त्र-पूर्ण नीतियों से जनसामान्य को अवगत कराते हुए स्वतन्त्रता संग्राम के लिये एक नवीन वातावरण तो निर्मित किया ही, समाज की जर्जरित मान्यताओं में आमूल परिवर्तन कर तथा जन सामान्य के बीच एक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देकर परवर्ती युग को भी एक नवीन दिशा प्रदान कर उन्नति की ओर अग्रसर किया ।

राष्ट्रीय-चेतना का विकास -

१६वीं शताब्दी में विकसित राष्ट्रीय-चेतना मूलत: अंग्रेजी साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया का परिणाम है, जिसने एक ओर यदि अंग्रेजों के शोषण एवं अन्यायों के विरुद्ध कटुता, अवज्ञा तथा घृणा की भावना को भरकर भारतवासियों में अपने देश तथा देशवासियों के प्रति अनन्य अनुराग तथा प्रेम की भावना को जन्म दिया वहीं दूसरी ओर अपने द्वारा लाये गये पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन से देश में नये-नये विचारों को जन्म देकर देशवासियों को अपनी परतन्त्रता के प्रति सचेत किया ।

किन्तु अपने प्रारम्भिक रूप में होने के कारण १६ वीं शताब्दी में विकसित यह राष्ट्रीय-चेतना अत्यधिक व्यापक न होकर हिन्दू-पुनरुत्थान तथा देश-दशा सुधार तक ही सीमित थी। जिसके प्रथम संवाहक थे राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीमती एनीबेसेन्ट, जिन्होंने देश की जर्जरित सामाजिक अवस्था से क्षुब्ध होकर अपने क्रान्तिकारी विचारों को एक सामाजिक आन्दोलन का रूप दिया । यद्यपि इनके ये प्रयत्न विदेशी ढंग पर थे किन्तु इनकी आत्मा भारतीय ही थी ।[१] पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होने के कारण इन्होंने देश में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों का परिष्करण कर लोगों को विशुद्ध हिन्दू धर्म का ज्ञान तो कराया ही, जन-जीवन में आत्मविश्वास एवं आत्मगौरव का भाव जागृत कर भारतीयों को अपने जन्मसिद्ध अधिकारों के प्रति भी सचेत किया । किन्तु जैसे-जैसे अंग्रेजों के अत्याचार बढ़ते गये, राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कतिपय नेताओं की दृष्टि समसामयिक राजनीति पर भी पड़ी और उन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण कर इस संकुचित राष्ट्रीयता को विस्तृत राजनीतिक रूप प्रदान किया ।

---

१. संपादक धीरेन्द्रवर्मा आदि `हिन्दी साहित्य' तृतीय खण्ड, पृष्ठ ६

इन महानुभावों में श्री महादेव रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा दादाभाई नौरोजी अग्रगणनीय हैं। जनता का करुण क्रन्दन सुनकर इनका हृदय दया से भर उठा और उनके उद्धार के निमित्त इन राष्ट्रीय नेताओं ने विदेशी सरकार के विरुद्ध एक व्यापक संघर्ष छेड़ दिया साथ ही राष्ट्रीयता की भावना को अधिक संगठित एवं सुदृढ़ रूप प्रदान करने के लिये इन्होंने लार्ड डफरिन द्वारा संस्थापित 'इंडियन नेशनल कांग्रेस', जो एक सामाजिक संस्था थी, को भारतवर्ष की एक राष्ट्रीय सभा का रूप देकर देश के सम्पूर्ण आबाल वृद्ध वनिताओं के हृदय में 'राष्ट्रीय चेतना' का प्रसार किया। २०वीं शताब्दी में विकसित राष्ट्रीय आन्दोलन वस्तुत: भारतवासियों की इस नव-उद्भूत राष्ट्रीय चेतना का ही विकसित रूप था।

भारतीय जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना जागृत कराने में तत्कालीन सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारण तो मूल प्रेरणा स्रोत थे ही, तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों ने भी राष्ट्रीय चेतना के विकास में अपूर्व सहयोग प्रदान किया। भारतीय साहित्य के इतिहास में १९वीं शताब्दी वह काल विशेष है जब उर्दू और अंग्रेजी के समक्ष हिन्दी भाषा फलत: सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति उपेक्षित हो रही थी। संयोग से इसी समय भारतेन्दु सदृश कुछ राष्ट्र-प्रेमी चिन्तकों की दृष्टि देश के प्राचीन गौरव एवं आधुनिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट हुई और उन्होंने देश के पुनरुत्थान के लिये हिन्दी को जन-सम्पर्क का महत्वपूर्ण माध्यम स्वीकार कर राष्ट्रीय भावना के विकास का पूर्ण प्रयत्न किया। उनका विश्वास था कि भारतीय संस्कृति एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिये हिन्दी ही एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा वह अपने राष्ट्रीय भावों एवं विचारों को जन-सामान्य तक पहुँचाने में सफल हो सकते हैं। अपनी भाषा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए भारतेन्दु ने स्वयं लिखा भी है।

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हियको शूल ।।"

जिसके लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील भी रहे । उनके द्वारा लिखे गये नाटक, कविताएँ तथा निबन्ध इत्यादि वस्तुत: अप्रत्यक्ष रूप से उनकी राष्ट्रीय भावनाओं के ही प्रतीक है, जिसमें उन्होंने सरल हिन्दी के माध्यम से समसामयिक प्रश्नों यथा अंग्रेजों द्वारा किये गये शोषण, अन्याय एवं अत्याचार, अज्ञानान्धकार में सोये भारतीयों की अज्ञानता, धर्मान्धता एवं कूपमण्डूकता, धर्म के नाम पर समाज में होने वाले व्यभिचार, सामाजिक कुरीतियों, अन्यायों एवं असंगतियों पर व्यंग्य प्रहार कर अपने क्रान्तिकारी विचारों को जनसामान्य तक पहुँचाया । किन्तु तत्कालीन अधिकांश साहित्यकार, साहित्यकार के साथ-साथ पत्रकार भी थे अत: इस काल विशेष में पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन ही अधिक हुआ । कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, सरस्वती पत्रिका, भारत मित्र हिन्दी प्रदीप, हिन्दोस्थान, मित्र विलास, आर्य सिद्धान्त तथा धर्म प्रचारक इस युग की कतिपय प्रमुख पत्रिकाएँ थी । जिनमें अपनी रचनाओं को प्रस्तुत कर साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य को समृद्ध करने के साथ ही युगीन राँजैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रश्नों को उठाकर भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना के विकास प्रसार का एक महत्वपूर्ण कार्य किया । इस प्रकार इस युग में राष्ट्रीय चेतना के विकास की एकमात्र संवाहक ये युगीन पत्र-पत्रिकाएँ ही थी, जिन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को देश के कोने-कोने तक पहुँचाकर उसे व्यापक गतिशीलता भी प्रदान की ।

राष्ट्रीय चेतना के विकास का जो सर्वव्यापी प्रभाव इस युग में दिखायी देता है वह है गुलामी के प्रति तीखी प्रतिक्रिया । किन्तु अपने प्रारम्भिक चरण में होने के कारण इस युग में विकसित राष्ट्रीयता की भावना उग्र एवं विद्रोही न होकर उदार पन्थी ही थी । जिसकी पूर्णाभिव्यक्ति तत्कालीन

साहित्य में सर्वत्र ही दृष्टव्य है । भारतेन्दु का तो सम्पूर्ण नाट्य साहित्य उनकी राष्ट्रीय चेतना की ही प्रबल अभिव्यक्ति है, जिसे उन्होंने कहीं हास्य-व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है तो कहीं अपनी स्थिति पर क्षोभ प्रकट कर और कहीं विदेशी शासकों की अन्यायपूर्ण नीतियों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर । यद्यपि इसका पूर्ण विकास तो २० वीं शताब्दी में ही हुआ, किन्तु इस विकसित राष्ट्रीयता के उदय का मूल दायित्व १९वीं शताब्दी की इस नवोद्भूत उदारपन्थी राष्ट्रीय चेतना को ही है, जिसने युगानुरूप नवीन तत्वों को ग्रहण कर भारतेन्दु युगीन इस उदारतापूर्ण राष्ट्रीयता को एक व्यापक आन्दोलन का रूप दिया ।

एक नये राष्ट्रवाद का प्रारम्भ -

'राष्ट्रवाद' एक राष्ट्र के जन-समुदाय को कसकर बाँध रखने की शृंखला मात्र है जिससे वह छिन्न-भिन्न न हो जाये ।[१] किसी भी देश को एक राष्ट्र की संज्ञा तभी दी जाती है जब उसमें रहने वाले सभी व्यक्ति राष्ट्रीय भावना अर्थात् अपने देश के प्रति अगाध स्नेह एवं अपनत्व की भावना से ओतप्रोत हो । यद्यपि राष्ट्र अथवा राष्ट्रवाद शब्द का प्रयोग अति प्राचीनकाल से होता आ रहा है, किन्तु तब इसका प्रयोग अपने राज्य तक ही सीमित था । सच्चे अर्थों में राष्ट्रवाद का प्रारम्भ १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी में उद्भूत-पूँजीवादी सभ्यता की देन है । इससे पूर्व सम्पूर्ण विश्व छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था तथा वहाँ पर सामन्तवादी व्यवस्था प्रचलित थी । ये सभी राज्य राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते थे अत: एक सूत्रीय शासन व्यवस्था के अभाव में उनमें राष्ट्रवादी भावना का सूत्रपात नहीं हो पाया था ।

किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था से उद्भूत मध्यम वर्ग ने इस प्रचलित सामन्तवादी व्यवस्था का विरोध कर सम्पूर्ण देश में एक शासन सत्ता का

---

१. डॉ० सुषमा नारायण - 'भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति', पृष्ठ ६ ।

सूत्रपात किया, जिसका मूल उद्देश्य था सामन्तवादी व्यवस्था के विरोध में एक राष्ट्र की स्थापना । अतः स्पष्ट है कि यह राष्ट्रवादी विचारधारा १८ वीं शती में उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुई थी जो सामन्तवादी शोषण के कारण तत्कालीन समाज में एक नवीन रूप धारण कर रही थी । जिसे फ्रांस की क्रान्ति से विशेष शक्ति एवं प्रेरणा प्राप्त हुई । एक अंग्रेज विद्वान जी० पी० गच ने तो इसे फ्रान्स की क्रान्ति से ही उत्पन्न बताया है ।[१]

किन्तु भारत में इस राष्ट्रवाद का प्रारम्भ सामन्तवाद के विरुद्ध न होकर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हुआ, जिसे १९ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय महासभा ने अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों द्वारा एक सुदृढ आधार प्रदान किया । और इसके विकसित होते ही देश की सम्पूर्ण जनता सदियों से व्याप्त संकीर्णता का परित्याग कर संगठित हो देश-सेवा के कार्यों में संलग्न हुई । इसके अतिरिक्त भारत में उद्भूत यह नवीन राष्ट्रवाद अपने आप में एक नवीनता एवं विचित्रता भी रखता है, वह यह कि साधारणतया किसी राष्ट्र की परिकल्पना प्रायः समभाषी तथा समानधर्मी व्यक्तियों के संगठन के रूप में की जाती है किन्तु भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ अनेकों धर्मावलम्बी तथा

---

१. "Nationalism is the child of French Revolution."

-G.P. Gooch - 'Studies in Modern History.'

P. 217.

डॉ० सुषमा नारायण कृत 'भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति' में उद्धृत, पृष्ठ २ ।

बहुभाषा-भाषी निवास करते हैं। यद्यपि इससे पूर्व भी यहाँ पर उपरोक्त सभी व्यक्ति निवास करते थे किन्तु उस समय वह एक होकर भी अलग-अलग थे। अत: तत्कालीन राष्ट्रवाद स्वार्थ भावना से प्रेरित तथा स्वान्त: सुखाय था, जो अपने राज्य तक ही सीमित था। किन्तु इस समय साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश में जिस नवीन राष्ट्रवाद का उदय हुआ वह स्वान्त: सुखाय न होकर सर्व-हिताय थो और भारत में स्थित समस्त वर्गों, सम्प्रदायों एवं व्यक्तियों की कल्याण कामना करता था तथा मानव मात्र को अज्ञानता, मूर्खता और कूपमण्डूकता से मुक्त कर उसमें आत्म-विश्वास एवं पुरुषत्व जागृत कराना ही उसका मुख्य उद्देश्य था।

भारत में इस नये राष्ट्रवाद के जनक राजा राममोहनराय माने जाते हैं। यद्यपि उनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक तथा धार्मिक सुधार एवं परिष्कार कर प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना था किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो भारतीय राष्ट्रवाद का बीजारोपण यहाँ से ही होता है। जिसने समय के साथ ही गाँधी जी के उदात्त विचारों से प्रभावित होकर उसमें मानवता-वाद का समाहार कर राष्ट्रवाद के आदर्श स्वरूप को विश्व के समक्ष उपस्थित किया। जो जातीयता, धर्म, साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, स्वार्थपरता से ऊपर उठकर राष्ट्र की सीमा में विश्वास रखते हुए भी मानव कल्याण की भावना से प्रेरित होता है।

राष्ट्रवाद की इस युगव्यापी भावना से प्रेरित होकर साहित्यकारों ने भी अपने प्राचीन गौरव का सफल चित्रण कर देशवासियों में आत्मसम्मान एवं आत्म-गौरव का संचार कर राष्ट्रवाद की नींव को और अधिक सुदृढ़ करने का प्रयास किया, जिसका पूर्ण विकास जयशंकरप्रसाद के नाटकों में स्पष्ट दिखाई देता है।

विशिष्ट किस्म के जीवन-मूल्यों का निर्माण -

देश की परिवर्तनशील परिस्थितियों एवं उनसे उद्भूत राष्ट्रीय

भावना के विकास के साथ ही मानव जीवन एवं उसके आदर्शों में परिवर्तन आना भी स्वाभाविक था। अतः ऐसे समय में जबकि सम्पूर्ण समाज ज्ञान-विज्ञान एवं पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर विकास की ओर प्रवृत्त हो रहा था, भारतीय समाज में प्राचीन जीवनादर्शों के स्थान पर नवीन जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा हुई और इन आदर्शों की पूर्ति के लिये जीवन की पुरातन रूढ़िवादी प्रणाली को त्यागकर एक नवीन प्रणाली को जन्म दिया गया, जिसके अनुसार धार्मिकता तथा नैतिकता की श्रद्धा और आध्यात्मिकता की पुरानी कसौटियों के स्थान पर तर्क और बुद्धिवाद की कसौटियों पर कसा जाने लगा। परिणामस्वरूप परम्परा से चले आ रहे जीवन मूल्यों की अवहेलना हुई तथा उनके स्थान पर नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना की गई।

मूल्य एक वैचारिक इकाई है किन्तु इसकी स्थिति किसी वस्तु में न होकर स्वयं मनुष्य में ही होती है। विभिन्न विद्वानों द्वारा मूल्य को परिभाषित करते हुए यह अभिमत व्यक्त किया गया है कि 'मूल्य मानव निर्मित निकष या कसौटी है जिनके सहारे साहित्य की परख की जाती है।'[1] इसी सिद्धान्त के अनुसार जीवन के वे मान लक्ष्य अथवा आदर्श जिनके आधार पर मानव जीवन का मूल्यांकन अथवा विवेचन किया जा सके जीवन-मूल्य कहे जाते हैं।

मनुष्य एक सामाजिक इकाई है। समाज हित को ध्यान में रखकर वह जीवन को व्यवस्थित रूप देने, उसे उचित अनुचित का ज्ञान कराने तथा उसके आचरण का संचालन करने के लिये कक ऐसे मान्यता प्राप्त लक्ष्य

होते रहते हैं । हमारा सम्पूर्ण इतिहास इसका साक्षी है जहाँ समाज की परिवर्तनशील आवश्यकताओं तथा समय की पुकार ने सदैव ही प्राचीन मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों की स्थापना की ।

आधुनिक युग में मूल्य परिवर्तन का प्रमुख कारण, पाश्चात्य सभ्यता एवं ज्ञान-विज्ञान का बढ़ता हुआ प्रभाव है, जिसने देश के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में परिवर्तन उपस्थित कर जीवन सम्बन्धी कुछ नवीन मूल्य अथवा मानदण्ड स्थापित किये और धीरे-धीरे सम्पूर्ण जीवन की परख इन नवीन आदर्शों तथा स्थापनाओं के ही अनुरूप होने लगी ।

पाश्चात्य सभ्यता का सर्वप्रमुख प्रभाव, जिसने इस युग में भारतीय जीवन को प्रत्यक्षत: प्रभावित किया, वह था वैज्ञानिकता एवं बौद्धिकता से परिपूर्ण नवीन जीवन दृष्टि का विकास । जिसने मानव मात्र के हृदय में स्थित ईश्वर के प्रति अन्ध श्रद्धा भक्ति एवं आस्तिक्य भाव को समाप्त कर उसे एक सर्वथा नवीन बौद्धिक एवं तर्क सम्मत दृष्टि प्रदान की । फलत: समाज में जागरूकता एवं चेतना का जन्म हुआ और समाज का जो व्यक्ति अभी तक अपनी अज्ञानता के कारण उच्चवर्गों के अन्याय को ईश्वरीय विधान अथवा अपने कर्मों का फल जानकर सह रहा था, ज्ञान-विज्ञान के फलस्वरूप जागरूकता, गर्व, उत्साह, साहस एवं अहंकार की भावना से भर कर स्वयं को ही अपने भाग्य का निर्माता एवं विधाता मानने लगा । फलस्वरूप धार्मिक तथा नैतिक आदर्शों की अवहेलना तो हुई ही, सामाजिक मूल्य एवं मान्यताएँ भी जर्जरित हो परिवर्तन की ओर अग्रसर हुईं । नारी तथा समाज के अन्य शोषित वर्गों की जागरूकता के मूल में वस्तुत: यह नवीन बौद्धिकतापूर्ण दृष्टि ही कार्यरत थी, जिसके द्वारा सामाजिकों ने तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों के वास्तविक कारणों की खोज कर सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन की माँग की जिसके विकास में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का भी व्यापक प्रभाव पड़ा ।

बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ ही वैज्ञानिक अनुसन्धानों तथा नवीन आविष्कारों ने भी औद्योगिक क्रान्ति अर्थात् मशीनी सभ्यता को जन्म देकर देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में विशेष हलचल मचा दी । फलत: एक ओर तो कल-कारखानों के विस्तार से मनुष्य की व्यस्तता बढ़ी जिससे उसके पारस्परिक सम्बन्धों में खिंचाव आया, दूसरी ओर नागरिक सभ्यता के प्रति विशेष आकर्षण के कारण परम्परा से चली आ रही पारिवारिक एकता में दरार पड़ी और संयुक्त परिवार टूट-टूट कर छोटे-छोटे परिवारों में बिखरने लगे । पारिवारिक इकाइयों के टूटने से संयुक्त परिवारों की सद्भावना-पूर्ण मानसिकता का तो लोप हुआ ही, व्यक्तिवादी विचारणा को महत्ता प्राप्त हुई जिसने व्यक्ति में स्वार्थ एवं अहंकार जैसे दुर्गुणों को जन्म देकर धन प्राप्ति को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य घोषित किया, जो धीरे-धीरे सामाजिक प्रतिष्ठा का एकमात्र मानदण्ड बन गया ।

युग के इन परिवर्तित मानदण्डों ने युग-जीवन को तो प्रभावित किया ही साहित्य जगत में भी नवीन मूल्यों की स्थापना की । साहित्य मूलत: युग जीवन का ही मुखरित रूप एवं व्याख्या है, जीवन की प्रेरणायें ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ होती हैं, अत: जीवन के साथ-साथ साहित्य जगत में परिवर्तन आना स्वाभाविक भी था । साथ ही युग-जीवन का व्याख्याता होने के कारण साहित्यकार के लिये भी यह सम्भव न था कि वह युग जीवन से विमुख होकर साहित्य सृजन करे, क्योंकि ऐसा करने पर उसकी रचनाएँ जीवन्त साहित्य का अंग नहीं बन सकती थी । अत: जीवन मूल्यों के परिवर्तन का स्पष्ट प्रभाव हमें तत्कालीन साहित्य में सर्वत्र ही दिखायी देता है ।

फलत: इस समय पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न अभूतपूर्व सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों की प्रतिक्रिया स्वरूप देश में जिस नवयुग एवं विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हो रहा था, उससे प्रेरित एवं प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य और भाषा अपनी प्राचीन परम्परा को छोड़कर नवदिशोन्मुख हुआ । वस्तुत: इस युग तक आते-आते वैज्ञानिक

आविष्कारों के कारण जीवन इतना उलझ गया था, मानवीय सम्बन्ध इतने जटिल हो गये थे कि उन्हें विश्लेषित करने के लिये परम्परा से चली आ रही रूढ़िग्रस्त रीतिकालीन काव्य भाषा असमर्थ प्रतीत होने लगी और जीवन के इन जटिल सम्बन्धों की साहित्य में सफल अभिव्यक्ति के लिये एक नवीन गद्य-भाषा का जन्म हुआ, जिसकी विविध विधाओं ने हिन्दी साहित्य को विकास के अनेक आयाम देकर उसके रूप को ही बदल दिया। साहित्यकारों ने भी नाटक, कहानी, निबन्ध, उपन्यास सदृशनवीन विधाओं में परम्परागत जीवन के आदर्श रूप को त्यागकर उसके यथार्थ रूप का वास्तविक चित्रण प्रारम्भ किया। फलत: उनकी दृष्टि राजप्रासादों तथा दरबारों की अपेक्षा गरीब की झोपड़ी पर भी पड़ी और इस प्रकार वह अपने नवीन रूप में एक रूढ़िबद्ध साहित्यकार की अपेक्षा जन-जीवन के अधिक निकट होकर मानव मन की बढ़ती हुई उलझनों एवं व्यस्तताओं का गम्भीर अन्वीक्षक ही अधिक हुआ। भारतेन्दु युग का सम्पूर्ण साहित्यिक धरातल युग के इस परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रमाण है, जहाँ वह युग-यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिये प्राचीन भाषा एवं शैलीगत बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी साहित्य में एक नवीन धारा का सूत्रपात करते हैं।

-0-

खण्ड २

राजनैतिक परिवर्तन

गाँधी जी का उदय तथा स्वतन्त्रता संग्राम का तीव्रतर होना

२० वीं शताब्दी राजनैतिक दृष्टि से वह महत्वपूर्ण काल है जब भारत ही क्या सम्पूर्ण विश्व राजनैतिक चेतना से भरकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्षरत था। यद्यपि भारत में राजनैतिक चेतना का प्रारम्भ तो १६ वीं श० में ही हो चुका था किन्तु उस समय भारतवासियों का मुख्य ध्येय स्वतन्त्रता न होकर देश के शासन-प्रबन्ध में सहयोग एवं सुधार की आकांक्षा मात्र था। लेकिन २० शताब्दी में अंग्रेजों के बढ़ते हुए अत्याचारों तथा कुछ छोटे-छोटे राष्ट्रों की शक्तिशाली राष्ट्रों पर विजय प्राप्ति सदृश कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने यूरोपीय शक्ति का भय छिन्न-भिन्न कर भारतवासियों में अपूर्व राजनैतिक दृढ़ता एवं आत्म-विश्वास उत्पन्न कर उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये प्रेरित किया। जिसका प्रथम आह्वान सन् १६०५ में बंगाल में होने वाले भंग-विरोधी आन्दोलन के समय सुनाई पड़ा। यद्यपि मूलत: यह आन्दोलन भी भारतवासियों की सुधार नीति के अनुसार शासन-सुधार अर्थात् अंग्रेजों की भेदनीति के विरुद्ध विभाजित बंगाल की अखण्ड एकता के उद्देश्य को लेकर चला था किन्तु जब अंग्रेजों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान देने की अपेक्षा आन्दोलन को दबाने के लिये अपना दमन चक्र चलाया तो यही आन्दोलन उग्र रूप धारण कर स्वतन्त्रता आन्दोलन में परिणत होने लगा और बंग-भंग के विपरीत अब उनके आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य हुआ स्वराज्य अथवा सेल्फ-गवर्नमेन्ट। इसके अतिरिक्त इस समय तक कुछ राष्ट्रवादियों को यह अनुभव भी होने लगा था कि जब तक हम विदेशी सरकार के आधीन रहेंगे भारत इसी प्रकार से संत्रस्त होता रहेगा। अत: भारत की वास्तविक उन्नति विदेशी शासन से मुक्त होने में ही है और यही कारण है कि सन् १६११ में अंग्रेजों द्वारा बंगभंग समाप्ति की घोषणा कर देने पर भी भारतवासियों का यह आन्दोलन समाप्त न हुआ वरन् राष्ट्रवादियों के बढ़ते असन्तोष ने इसे एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप दिया, जिसका पूर्ण विकास प्रथम विश्व-युद्ध काल में हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध का यह काल विशेष (१६१४-१८) राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण काल था जिसने अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को जन्म देकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नवीन मोड़ दिया । राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास की दृष्टि से इस युग की महत्वपूर्ण घटना थी भारतवासियों का ब्रिटिश सरकार के प्रति अविश्वास । वस्तुत: इस युद्ध-काल में भारतवासियों ने, इस आशा एवं विश्वास से भरकर कि भारतीयों की सहायता से प्रसन्न होकर ब्रिटिश सरकार युद्धोपरान्त भारतवासियों को पुरस्कार स्वरूप स्वराज्य प्रदान कर देगी ; अंग्रेजों की तन-मन-धन से सेवा की थी। किन्तु युद्ध के उपरान्त जब उन्होंने सरकार की इच्छा को इसके विपरीत पाया तो वह उनके प्रति अविश्वास से भर उठे और उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध पुन: एक सक्रिय कदम उठाने का निश्चय किया ।

इसके साथ ही कुछ राष्ट्रवादी नेतागण ऐसे भी थे जो प्रारम्भ से ही यह जान रहे थे कि जब तक सरकार पर कोई शक्तिशाली दबाव नहीं डाला जायेगा तब तक सरकार भारत को किसी प्रकार की छूट नहीं देगी । अत: उन्होंने जनशक्ति को संगठित कर एक आन्दोलनकारी रूप दिया । सन् १६१६ में एनीबेसेन्ट द्वारा संचालित `होमरूल आन्दोलन` उनकी इस आशा का ही प्रतीक था, जिसका मुख्य उद्देश्य था भारत का औपनिवेशिक स्वराज्य । इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने स्वयं कहा था कि `होमरूल का अर्थ यह नहीं कि इंग्लैण्ड और भारत का सम्बन्ध विच्छेद हो जाये इसका अर्थ यह है कि भारत माता अपने घर की पूरी तरह से स्वामिनी हो जाये ।`[१] जो उनके प्रयत्नों से अतिशीघ्र व्यापक रूप में फैल गया ।

इसके अतिरिक्त यातायात का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण विदेशों से आयातित वस्तुओं के अभाव में देश में औद्योगीकरण का जो विकास हुआ, उसने भी भारतवासियों में अपनी शक्ति के प्रति यह चेतना तथा विश्वास दृढ़ किया कि विदेशों से यदि वस्तुओं का आना बन्द हो जाये तो भारतीय अर्थव्यवस्था फिर

---

१. मिसेज एनीबेसेन्ट - `होमरूल एण्ड दि एम्पायर` (१६१७) पृ० १० उद्धृत कृष्ण बिहारी मिश्र कृत `आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य` में पृष्ठ १५५-१५६ ।

से ठीक हो सकती है । किन्तु यह तभी सम्भव था जब भारत की अपनी स्वतन्त्र सरकार हो, अत: समस्त भारतवासियों ने एक स्वर से ब्रिटिश सरकार का विरोध किया ।

संयोग से इसी समय, जबकि सम्पूर्ण भारतवासी अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण कृत्यों के प्रति असन्तोष एवं विक्षोभ से भर उठे थे, सन् १९१५ में भारतीय राजनीति में एक नये नेता गाँधीजी का उदय हुआ, जिन्होंने सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन का अध्ययन कर सन् १९१६ में अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की तथा अपने अनुयायियों एवं साथियों को सत्य और अहिंसा का अमूल्य पाठ पढ़ाया । भारतीय राजनीति में प्रवेश के मूल में गाँधी जी का मुख्य उद्देश्य अपने देश तथा देशवासियों की सेवा था अत: सर्वप्रथम उनकी दृष्टि भी देश के शोषित किसान एवं मजदूर वर्ग, जो अभी तक भारतीय राजनीति से काफी दूर पड़ा अपने कष्टों से स्वयं ही जूझ रहा था, की ओर ही गई तथा उसके स्वर से स्वर मिलाकर उन्होंने सन् १९१७ तथा १९१८ में चम्पारन (बिहार) अहमदाबाद तथा खेड़ा (गुजरात) में उनकी समस्याओं के समर्थन में सत्याग्रह प्रारम्भ किया । जिसकी सफलता ने उन्हें अतिशीघ्र ही विशाल भारतीय जन-समूह का एक राष्ट्रीय नेता बना दिया । यद्यपि इसी बीच रूसी क्रान्ति (सन् १९१७) से प्रभावित होकर बंगाल में एक क्रान्तिकारी दल भी उत्पन्न हो रहा था, जो अंग्रेजी शासन को समाप्त कर देश में एक राष्ट्रीय शासन स्थापित करना चाहता था । किन्तु अब तक भारत का नेतृत्व पूर्णत: गाँधी जी के हाथों में आ चुका था और वह हिंसा में विश्वास नहीं करते थे अत: उन्होंने इन हिंसात्मक कार्यों का विरोध कर अहिंसात्मक कार्यों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य निर्धारित किया ।

किन्तु गाँधी जी के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करते ही सन् १९१९ में ब्रिटिश सरकार द्वारा राजनैतिक आन्दोलनों को दबाने के उद्देश्य से `रालेट बिल` पास किया गया, जिसके अनुसार पुलिस को बहुत अधिक अधिकार प्रदान किये गये थे । अत: इसके पास होते ही भारतवासियों में व्याप्त असन्तोष उग्र रूप धारण कर विद्रोह में परिवर्तित होने लगा । यद्यपि गाँधी जी ने भी इसे भारतवासियों के जन्मसिद्ध अधिकारों का बाधक मानकर इसका विरोध किया था किन्तु वह अनुशासन

एवं सत्य और अहिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते थे अत: उन्होंने विद्रोह का विरोधकर सर्वत्र असहयोग आन्दोलन का प्रचार किया । वस्तुत: प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों को पूर्ण सहयोग प्रदान करने पर भी विपरीत फल की प्राप्ति ने उन्हें सिखा दिया था कि सरकार के कार्य में सहयोग देने से कोई लाभ नहीं । अत: १ अगस्त १९२० को उन्होंने अंग्रेजों के कार्यों में सहयोग देना बन्द कर सम्पूर्ण देश में असहयोग आन्दोलन की घोषणा की,[१] जिसमें जलियाँ वाला बाग की क्रूर एवं अमानवीय घटना (१९१९) तथा खिलाफत के प्रश्न से असन्तुष्ट होकर देश की हिन्दू तथा मुसलमान समस्त जनता ने अपना पूर्ण सहयोग दिया ।

गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन का मुख्य ध्येय सत्य तथा अहिंसात्मक प्रणाली द्वारा राष्ट्रीय एवं पुनर्निर्माण की योजना में सम्पूर्ण राष्ट्र की शान्ति का प्रयोग करके भारत को विदेशी शासनाधिकार से मुक्त करना था[२] । अत: उन्होंने अपने इस आन्दोलन को अहिंसात्मक बनाये रखने पर विशेष जोर दिया तथा इसकी सफलता के लिये जनता को त्याग, सहनशीलता तथा अहिंसा का पाठ पढ़ाया । सितम्बर सन् १९२० में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में इस आन्दोलन का सर्वसम्मति से समर्थन करते हुए इसे सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ प्रस्ताव भी पास किये गए जिनमें मुख्य थे - सरकारी उपाधियों का त्याग, अवैतनिक पदों से स्तीफा, सरकारी उत्सवों तथा स्वागत समारोहों का बहिष्कार, सरकारी स्कूल तथा कालेजों का बहिष्कार, राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना, सरकारी अदालतों का बहिष्कार तथा पंचायतों की नियुक्ति, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा भारतीय उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन[३] । इन प्रस्तावों के साथ ही इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए

---

१. पट्टाभि सीतारामैय - 'कांग्रेस का इतिहास' खण्ड १
अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, पृष्ठ २०२

२. डॉ० सुषमा नारायण - 'भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति', पृष्ठ १०९ ।

३. पट्टाभि सीतारमैया - 'कांग्रेस का इतिहास' खण्ड १
अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, पृष्ठ २०५ ।

गाँधी जी ने साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, मादक द्रव्य निषेध, खादी, दूसरे ग्रामोद्योग, गाँवों की सफाई, नई अथवा बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, नारियों की उन्नति, स्वास्थ्य और सफाई सम्बन्धी शिक्षा, राष्ट्र भाषा का प्रचार, स्वभाषा प्रेम की शिक्षा, धार्मिक समानता की चेष्टा आदि कुछ रचनात्मक कार्यक्रम भी प्रारम्भ किये। जिसके समुचित प्रसार एवं प्रचार के लिए उन्होंने स्वयंसेवकों को तो एकत्रित किया ही, स्वयं भी विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर जनता को यह विश्वास दिलाया कि विदेशी सरकार से मुक्ति का एक मात्र साधन अहिंसात्मक असहयोग है। जिसके समर्थन में भारतीय जनता ने भी अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की। यद्यपि इससे अभीप्सित उद्देश्य की प्राप्ति तो नहीं हुई किन्तु इसके द्वारा जनता में आत्मबल की वृद्धि अवश्य हुई। परिणाम यह हुआ कि वह बहुत निडर हो गई और जेलों का भय समाप्त हो गया तथा सम्पूर्ण देश में एक विचित्र जागृति उत्पन्न हो गयी, जिससे सशंकित हो ब्रिटिश सरकार ने भारतवासियों के दमन के लिये सेडिशस मीटिंग, क्रिमिनल ला अमेन्डमेन्ट एक्ट और १४४ धारा का कठोर प्रतिबन्ध लगाया तथा असहयोगियों को राजद्रोही समझकर गिरफ्तार किया जाने लगा।

इसी बीच सन् १६२२ में गाँधी जी ने बारडोली (गुजरात) में सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहा किन्तु उसी समय 'चौरी चौरा' (गोरखपुर) में पुलिस के अत्याचारों से असन्तुष्ट कुछ आक्रामक असहयोगियों ने पुलिस स्टेशन पर आग लगा दी, जिससे दुखी होकर गाँधी ने अपना वह आन्दोलन स्थगित कर दिया, इसका परिणाम यह हुआ कि जनता में गाँधी जी का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा। जिसका लाभ उठाकर अंग्रेजों ने गाँधी जी को गिरफ्तार कर लिया और इस प्रकार गाँधी जी द्वारा संचालित ये आन्दोलन उनके नेतृत्व के अभाव में धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। देश में फिर से साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हो गये।

असहयोग आन्दोलन के समाप्त होने पर सन् १६२३ से १६२७ तक देश में स्वराज्य पार्टी की धूम रही । ये स्वराज्यवादी सरकार से मिलकर तथा उनके भेदों को जानकर उनपर आक्रमण करना चाहते थे, अत: इन्होंने सरकार के कार्यों में विशेष सहयोग दिया । परिणाम यह हुआ कि सन् १६२७ तक देश का राजनैतिक जीवन सुचारुरूपसेशान्तिपूर्वक चलता रहा तथा देश के किसी भी भाग से राजनैतिक उपद्रवों एवं विद्रोहों की सूचना न मिली । किन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि भारतवासी इस काल-विशेष में अंग्रेजों के कार्यों से सहमत एवं सन्तुष्ट थे और उनकी राष्ट्रीय भावना पूर्णरूपेण विलुप्त हो गई थी वरन् सत्य तो यह है कि वह पहले से भी अधिक वेग से अन्दर ही अन्दर सुलग कर एक ज्वालामुखी का रूप धारण कर रही थी, जिसका प्रथम विध्वंसकारी विस्फोट १६२७ में देश के नवजवानों में दृष्टिगत हुआ । जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस इस वर्ग के नेता थे, जिन्हें चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव जैसे क्रान्तिकारी नवजवानों के साथ देश के विद्यार्थियों तथा श्रमिक वर्ग का भी पूर्ण सहयोग मिला और इस प्रकार स्वतन्त्रता की लहर एक बार फिर से सम्पूर्ण देश में फैल गयी । किन्तु देश में व्याप्त पारस्परिक वैमनस्य के कारण मुस्लिम लीग कांग्रेस से अलग हो गयी ।

इसी वर्ष दिल्ली में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ । इस सम्मेलन में मोतीलाल नेहरू ने देश के स्वायत्त शासन के लिए संविधान की योजना बनायी और दिसम्बर १६२८ की कलकत्ता कांग्रेस ने सरकार को चेतावनी दी कि यदि एक वर्ष के भीतर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य का अधिकार न दिया गया तो कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य के लिये असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर देगी लेकिन तत्कालीन वायसराय के जब इस विषय पर कोई आश्वासन न दिया तो १६२६ में लाहौर कांग्रेस ने अपना उद्देश्य 'पूर्ण स्वतन्त्रता' घोषित कर दिया ।[१]

इसके साथ ही स्वराज्य पार्टी को जब अपनी नीति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति की कोई आशा न दिखायी दी तो उसने भी पुन: कौंसिलों के बहिष्कार का प्रण किया तथा इसकी प्राप्ति के लिए २६ जनवरी १६३० को पूर्ण स्वराज्य

---

१. पट्टाभि सीता रामैया - कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, पृष्ठ ३६४ ।

दिवस मनाकर सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया । जिसमें अहिंसा पर विशेष ध्यान दिया गया था । देश के इस अहिंसात्मक वातावरण को राष्ट्रीय आन्दोलन के उपयुक्त जानकर ६ अप्रैल १९३० को गाँधी जी ने नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका मुख्य उद्देश्य था पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना । नमक कानून तोड़ते समय उन्होंने कहा भी था मुझे `भिक्षां देहि' की नीति में विश्वास था पर वह सब व्यर्थ हुआ । मैं जान गया कि इस सरकार को सीधा करने का यह उपाय नहीं है । अब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है । पर हमारी लड़ाई अहिंसा की लड़ाई है । हम किसी को मारना नहीं चाहते, किन्तु इस सत्यानाशी शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्तव्य है ।[1] जिसके परिणामों से भयभीत होकर सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने का पूर्ण प्रयत्न किया तथा अनेक सत्याग्राहियों को पकड़कर कानून के हवाले किया । ५ मई १९३० को गाँधी जी को भी राजद्रोह का अभियोग लगाकर गिरफ्तार कर लिया गया, जिससे सारे देश में एक हलचल सी मच गयी । किन्तु सरकार द्वारा तीव्र दमन चक्र चलाये जाने पर भी ये सत्याग्रही पीछे नहीं हटे वरन् पहले से भी अधिक जोश से वह पूर्ण स्वराज्य के लिये अपने प्राणों की आहुति चढ़ाने लगे ।

भारतीयों के इन उत्साहपूर्ण कार्यों को देखकर सरकार अत्यन्त भयभीत हो गई थी, अत: उसने इन्हें शान्त करने के उद्देश्य से सन् १९३१ में गाँधी जी को बिना किसी शर्त के मुक्त कर दिया तथा कांग्रेस से समझौता करने के लिये वार्ता भी प्रारम्भ की । ५ मार्च १९३१ को गाँधी इरविन समझौते पर हस्ताक्षर हुए और राष्ट्रीय संघर्ष स्थगित कर दिया गया ।[2] किन्तु इस समझौते के पश्चात् भी सरकार के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया अत: उन्होंने पुन: अपने पुराने अस्त्र असहयोग आन्दोलन का प्रयोग किया । आन्दोलन के व्यापक रूप धारण करते ही सरकार ने इसके दमन के लिये विशेष धारायें लागू की तथा कांग्रेस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये ।

---

१. पट्टाभि सीता रामैया, `कांग्रेस का इतिहास' खण्ड १, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, पृष्ठ ३९० ।

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ४४५ ।

प्रेसों पर कठोर नियन्त्रण रखा तथा भेदनीति को अपना कर भारतीयों में फूट डालने के प्रयत्न किये । साथ ही आन्दोलन को पूर्णतया समाप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने ४ जनवरी १६३२ को गाँधी जी को पुन: कैद कर लिया । सरकार की इन नीतियों के परिणामस्वरूप गाँधी जी का यह सविनय अवज्ञा आन्दोलन सुचारु रूप से नहीं चल पाया तथा अपना लक्ष्य पूर्ण किये बिना मई १६३४ के लगभग पूर्णतया समाप्त हो गया ।

असहयोग आन्दोलन के समाप्त होते ही सन् १६३४ में समाजवादी दल की स्थापना हुई, जिसने साम्राज्यवाद के साथ ही पूँजीवाद तथा जमींदार वर्ग का विरोध कर दलित वर्ग के उत्थान के समर्थन में एक सक्रिय संघर्ष प्रारम्भ किया । इसके साथ ही कांग्रेस ने भी अपना कार्यक्षेत्र बदला और सत्याग्रह के स्थान पर कौंसिलों में प्रवेश का कार्यक्रम प्रारम्भ किया । किन्तु इसी समय अर्थात् १६३५ में, ब्रिटिश शासकों ने भारतीय शासन प्रणाली में परिवर्तन की दृष्टि से एक नया 'भारत सरकार अधिनियम' बनाया जिसके अनुसार 'संघ शासन' तथा 'प्रान्तीय स्वायत्तता' की योजना की गई थी । किन्तु सन् १६३७ में जब यह अधिनियम कार्यान्वित हुआ तो केवल प्रान्तीय स्वायत्तता का नियम ही लागू हुआ । संघ शासन का नियम राष्ट्रीय नेताओं के विरोध स्वरूप कार्यक्रम में परिणत न हो सका । क्योंकि इसके अनुसार अंग्रेजी भारत के प्रान्तों के साथ देशी राज्यों को मिलाकर जिस भारतीय संघ का निर्माण किया गया था वह वास्तव में द्वैध शासन प्रणाली का ही एक रूप था, इसके अतिरिक्त जो प्रान्तीय स्वायत्तता थी वह भी गवर्नर के विशेषाधिकारों के कारण नाममात्र को ही थी । अत: सबने इस अधिनियम का विरोध किया । प्रारम्भ में तो नेहरू जी ने इस अधिनियम के अन्तर्गत पद ग्रहण करने का ही विरोध किया । किन्तु सन् १६३६ के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस ने चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया । चुनाव में भाग लेने का उनका मुख्य उद्देश्य राजनैतिक कार्यों में बाधाएँ उपस्थित करना तथा अन्यायकारी कानूनों को नष्ट कर समाजवाद की स्थापना करना था । परिणामस्वरूप १६३७ के चुनाव में कांग्रेस को विशेष सफलता मिली। और इस प्रकार प्रान्तीय प्रशासन में भाग लेकर कांग्रेस ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को साकार करने की चेष्टा की ।

इसके पश्चात् ही देश में एक ऐसी घटना घटी जिससे भारतीय नेता अत्यन्त क्रुद्ध हो गये । सितम्बर १६३६ में जब द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तो वायसराय ने भारतीय जनता और उसके प्रतिनिधियों की राय लिये बिना ही भारत की ओर से धुरी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । लेकिन भारत इस युद्ध में किसी प्रकार का सहयोग देने के पक्ष में न था अत: उसने इसका विरोध किया । किन्तु अन्त में कांग्रेस ने युद्ध में सहयोग देने के लिये भारत को स्वतन्त्र घोषित करने की शर्त रखी तथा लीग ने मुसलमानों के साथ उचित न्याय की शर्त रखी । तत्कालीन वायसराय ने दोनों को इस सम्बन्ध में आश्वासन दिया तथा युद्ध समाप्ति तक की प्रतीक्षा करने को कहा । किन्तु कांग्रेस इसके लिये तैयार न हुई वह तो युद्ध में सहयोग देने से पूर्व ही स्वतन्त्रता चाहती थी अत: कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया ।

परन्तु १६४० के रामगढ़ अधिवेशन में कांग्रेस पुन: युद्ध में सहायता देने के लिये तैयार हो गई साथ ही पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग भी रखी, किन्तु सरकार की ओर से जब उस पर कोई विशेष ध्यान न दिया गया तो सुभाषचन्द्र बोस ने युद्ध विरोधी सम्मेलन किया और ६ अप्रैल से युद्ध विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ करने का निर्णय किया,[१] जिसकी सफलता के लिये गान्धी जी ने भी व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया । इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिए सरकार की ओर से भी अनेकों नेताओं को गिरफ्तार किया गया जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप इस आन्दोलन ने अनेक प्रान्तों में जन आन्दोलन का रूप धारण किया ।

इसी बीच जून १६४१ में जर्मनी ने रूस पर तथा ७ दिसम्बर १६४१ को जापान ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । इस युद्ध में पूर्वी क्षेत्र में जापान को आशातीत सफलता प्राप्त हुई, जिससे ब्रिटिश सरकार अत्यन्त चिन्तित हो गयी और उसने नेहरू सहित समस्त कांग्रेसियों को कारामुक्त कर दिया तथा ११ मार्च १६४२ को प्रधानमन्त्री श्री स्टेफर्ड क्रिप्स को समझौते के लिये भारत भेजा[१] । किन्तु गान्धी जी ने उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया । उनका विश्वास था कि जब जापानी आक्रमण के भय से सरकार इतना झुक गयी है तो उसे और झुकाया जा सकता है । अत: जुलाई १६४२ में कांग्रेस ने एक नवीन

---

१ बिपन चन्द्र `माडर्न इण्डिया`, पृष्ठ २६८

आन्दोलन प्रारम्भ करने का विचार किया तथा ८ अगस्त को बम्बई में `भारत छोड़ो` का प्रस्ताव पास कर अंग्रेजों से राजत्याग की माँग की तथा देश की जनता को गाँधी जी के नेतृत्व में एक अहिंसात्मक जन-आन्दोलन प्रारम्भ करने का आदेश दिया। किन्तु अक्टूबर में जापानियों के आक्रमण की आशंका थी, अत: इसे रोकने के लिये सरकार ने आन्दोलन के प्रारम्भ होने से पहले, अर्थात् ९ अगस्त को ही इसे नजरबन्द कर दिया तथा गाँधी सहित समस्त नेताओं को गिरफ्तार कर लिया जिससे भारतीयों की असन्तोषाग्नि भड़क उठी और अनेक स्थानों पर तोड़-फोड़ प्रारम्भ हो गई। स्टेशनों, सरकारी कार्यालयों को जलाकर तथा रेल की पटरियों तथा टेलीफोन के तारों को उखाड़कर देश की सम्पत्ति को नष्ट किया जाने लगा तथा अनेक स्थानों पर जुलूस, प्रदर्शन व सभायें प्रारम्भ हुईं। इस प्रकार आन्दोलनकारियों के प्रयत्न से सम्पूर्ण देश में एक प्रकार की क्रान्ति सी उत्पन्न हो गयी, जिसने सन् ५७ की क्रान्ति से भी अधिक विकराल रूप धारण किया। सरकार ने भी इसका निर्दयतापूर्वक दमन किया फलत: अनेक स्थानों पर गोली चलायी गयी, आग लगायी गयी, गाँवों पर बम गिराये गये तथा क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार कर उन्हें अनेक यन्त्रणाएँ दी गईं। यद्यपि क्रान्तिकारी इससे भयभीत नहीं हुए थे फिर भी उचित नेतृत्व के अभाव में यह क्रान्ति सफल न हो सकी।

युद्धकाल में ही सुभाषचन्द्र बोस गुप्त रूप से जर्मनी गये और वहाँ से १९४३ में जापान पहुँचकर उन्होंने भारतीय साथियों की सहायता से `आजाद हिन्द फौज` तथा 'अस्थायी स्वतन्त्र भारत सरकार` की स्थापना की। यद्यपि अंग्रेजों के समक्ष इस `आजाद हिन्द फौज ` को पूर्ण सफलता नहीं मिली, फिर भी वह देश की स्वतन्त्रता के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

वस्तुत: सन् ४२ की क्रान्ति तथा `आजाद हिन्द फौज` ने भारतवासियों को उनकी बहादुरी तथा दृढ़ता के दर्शन करा दिए थे। अत: अप्रैल १९४५ में जापान द्वारा युद्ध समाप्ति की घोषणा होते ही भारतवासियों ने पुन: स्वतन्त्रता संग्राम के नये चरण में प्रवेश किया और राष्ट्रीय नेताओं के जेल से छूटते ही उन्होंने आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों तथा अफसरों पर चल रहे मुकदमे के विरुद्ध एक आन्दोलन

प्रारम्भ किया।[१] किन्तु इसी समय इंग्लैण्ड के अनुदार दल की पराजय से वहाँ की सत्ता मजदूर दल के हाथों में आयी थी और यह नयी सरकार इस समय भारतवासियों की माँगों का विरोध करने की स्थिति में नहीं थी अत: उसने भारत को सत्ता हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध में भारतीयों से बातचीत करने के लिये मार्च १९४६ में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत भेजा, जिसने २० फरवरी १९४७ को यह घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार जून १९४८ तक भारत छोड़ देगी। किन्तु इसी बीच संयोग कुछ ऐसा हुआ कि ३ जून १९४७ को आयोजित लार्ड माउन्ट बैटेन के समझौते के आधार पर भारत १५ अगस्त १९४७ को ही `भारत` तथा `पाकिस्तान` दो भागों में विभक्त कर स्वतन्त्र कर दिया गया, जिसने भारतीय राजनीति के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ किया।

आर्थिक परिवर्तन

औद्योगिक विकास तथा पूँजी का केन्द्रीकरण

आर्थिक दृष्टि से १९वीं शताब्दी ब्रिटिश महाजनी पूँजी के शोषण का काल था। अंग्रेजों की `फ्रीट्रेड` नीति ने इस काल में भारतीय उद्योगों तथा कला-कौशलों का विनाश तो किया ही, बाहर से आने वाली वस्तुओं में निरन्तर वृद्धि कर भारत को विदेशी वस्तुओं का बाजार बना दिया। किन्तु धीरे-धीरे पूँजीवाद के प्रसार से भारत में औद्योगिक कार्यों को प्रोत्साहन मिला और २० वीं शताब्दी तक आते-आते देश में अनेक औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना हुई।

यद्यपि प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार की ओर से इस औद्योगिक विकास को निरुत्साहित करने के लिये अनेकों प्रतिबन्ध लगाये गये थे, किन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पड़े हुए भीषण दुर्भिक्षों ने सरकार का ध्यान पुन: भारत की औद्योगिक उन्नति की ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप सन् १९०१ में दुर्भिक्ष आयोग का गठन हुआ जिसने दुर्भिक्षों के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिये औद्योगीकरण को विकास की प्रक्रिया मानते हुए भारतीय उद्योगों के विकास पर अधिकाधिक बल दिया। इसके साथ ही औद्योगिक उन्नति को दृष्टि में रखकर

---

१. बिपन चन्द्र - `माडर्न इंडिया`, पृष्ठ २०१-२०२

सन् १६०५ में लार्ड कर्जन के अनुरोध पर `व्यापार और उद्योग का साम्राज्यीय विभाग` खोलकर भारत में औद्योगीकरण के प्रति एक नवीन कदम उठाया गया । लेकिन सन् १६१० में तत्कालीन भारत के राज्य सचिव लार्ड मार्ले ने औद्योगीकरण के इस नवीन प्रयास का विरोध कर प्राचीन आर्थिक नीतियों का ही समर्थन किया ।[1] जो १६१५ अर्थात् प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक इसी प्रकार चलती रही और भारत में औद्योगिक विकास का प्रत्यक्षत: विरोध होता रहा, किन्तु सन् १६१४-१८ में होने वाले प्रथम विश्वयुद्ध के कारण ब्रिटिश सरकार की भारतीय उद्योगों को निरुत्साहित करने की नीति में कुछ परिवर्तन आया और उन्होंने ब्रिटिश उद्योगों के साथ ही भारतीय उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया ।[2]

अंग्रेजों की इस परिवर्तित नीति का सर्वप्रमुख कारण युद्धजनित आवश्यकताएँ थीं । वस्तुत: युद्धकालीन परिस्थितियों में यातायात व्यवस्था के अवरुद्ध हो जाने से ब्रिटिश सरकार को इंग्लैण्ड से आयात की जाने वाली वस्तुओं के आयात में जिन असुविधाओं एवं कष्टों का सामना करना पड़ा था, उससे भयभीत होकर ही सरकार ने सर्वप्रथम भारतीय औद्योगीकरण की आवश्यकता का अनुभव किया तथा भारत के लिये आवश्यक प्रत्येक वस्तु के भारत में ही निर्माण के लिये भारतीय उद्योगों के निर्माण एवं विकास पर विशेष ध्यान दिया ।

युद्धजनित आवश्यकताओं के अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में औद्योगीकरण के विकास का दूसरा प्रमुख कारण राजनैतिक भी था । वस्तुत: इस समय तक आकर ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव हो गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य विस्तार में भारतीयों का सहयोग अपेक्षित है और वह भारतीयों को बिना कुछ सुविधाएँ प्रदान किए सम्भव नहीं । इसके साथ ही इंग्लैण्ड को यह डर भी था कि कहीं अगला युद्ध भारतीय सीमा पर सोवियत रूस के साथ न छिड़ जाय ? और ऐसी स्थिति में यदि भारत के अपने बड़े-बड़े उद्योग न होंगे तो युद्ध सुचारु रूप से न चल

---

१. रमेशचन्द्र मजुमदार- `भारत का वृहत इतिहास` अनु० योगेन्द्र मिश्र, पृष्ठ ३१४ ।
२. कृष्ण बिहारी मिश्र, `आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य`, पृष्ठ ७८ ।

पायेगा । अत: उन्होंने भारत में औद्योगिकरण के विकास को विशेष प्रोत्साहन दिया ।

राजनीतिक समृद्धि तथा युद्ध-जनित आवश्यकताओं के साथ ही, स्वदेशी आन्दोलन, जो ब्रिटिश पूँजीवाद के विरोध में अपनी राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वरूप भारतीय उद्योग धन्धों को विशेष प्रोत्साहन दे रहा था, ने भी भारतीय औद्योगीकरण के प्रति ब्रिटिश सरकार की आँखें खोलीं और इसके समाधान के लिये ब्रिटिश सरकार ने औद्योगीकरण के विकास को एक अच्छा साधन माना । फलत: ब्रिटिश पूँजीपतियों ने अपनी स्वतन्त्र व्यापार नीति के स्थान पर भारत में ही कारखाने खोले तथा विदेशी पूँजी से निर्मित वस्तुओं को स्वदेशी कहकर भारतीय जनता का खूब शोषण किया । इस प्रकार स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी में भारतीय तथा ब्रिटिश दोनों के ही प्रयत्नों से भारत में औद्योगिक विकास तीव्रता से हुआ । यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध तक तो औद्योगिक विकास की गति काफी धीमी ही रही, किन्तु इस युद्ध से भारतीय उद्योगों को एक विशेष उत्तेजना मिली ।

भारतीय उद्योगों के विकास को दृष्टि में रखकर सन् १९१६ में एक औद्योगिक कमीशन नियुक्त किया गया जिसने १९१८ में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में औद्योगिक विकास की दृष्टि से सरकार से `औद्योगिक मामलों में शक्तिपूर्ण हस्तक्षेप की नीति' का प्रारम्भ, साम्राज्यीय और प्रान्तीय उद्योग विभागों की स्थापना, वैज्ञानिक एवं टैकनिकल शिक्षा के लिये अधिक सुविधाओं की व्यवस्था, भोजन वस्तुएँ खरीदने की नीति में परिवर्तन, उद्योगों को टैकनिकल एवं वित्तीय सहायता प्रदान करना, औद्योगिक सहयोग को प्रोत्साहन तथा आवागमन एवं माल ढोने की सुविधाओं की उन्नति[1] आदि बातों की सिफारिश की, जिसकी स्वीकृति से भारतीय उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन मिला।

इसके अतिरिक्त १९१८ में प्रस्तुत मॉंटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भी औद्योगिक विकास पर विशेष और दिया गया । औद्योगिक विकास के इसी क्रम में सन् १९२१ में एक `कर विषयक आयोग ' नियुक्त किया गया । इस आयोग ने `प्रभेदात्मक संरक्षण'की नीति अपनाने की सिफारिश की । इस सिफारिश के अनुसार जुलाई

---

१. रमेशचन्द्र मजुमदार - `भारत का बृहत् इतिहास' तृतीय भाग, अनु० योगेन्द्र मिश्र, पृष्ठ ३१५ ।

१९२३ में एक `टैरिफ बोर्ड` नियुक्त हुआ जिसने बहुत से उद्योगों के दावों की परीक्षा कर उन्हें संरक्षण दिया[1] किन्तु उनकी नीति के अनुरूप यह संरक्षण मुख्यत: उन उद्योगों को ही दिया गया जिनमें अधिकांशत: ब्रिटिश पूँजी ही लगी होती थी । अत: इस नीति से ब्रिटिश पूँजी को ही विशेष लाभ हुआ ।

भारतीय उद्योगों को निरुत्साहित करने के इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ब्रिटिश सरकार ने भारतीय मुद्रा का मूल्य १९२०-२१ में २ शिलिंग प्रति रुपये से १ शिलिंग ४ पेन्स प्रति रुपया कर दिया तथा १९२७ में उसे फिर बढ़ाकर १ शिलिंग ६ पेन्स कर दिया[2] जिससे भारतीय आयात कर्ताओं को बहुत हानि हुई और भारतीय उद्योग शिथिल पड़ने लगे । ब्रिटिश पूँजी के विकास को ध्यान में रखकर इस समय संरक्षण की नीति के साथ ही इंग्लैण्ड से आने वाले सामान के साथ साम्राज्यगत रियायती समझौता भी हुआ । इस समझौते के अनुसार अंग्रेजी माल पर चुंगी साम्राज्य के बाहर दूसरे देशों जापान, जर्मनी इत्यादि से कम लगने लगी । सन् १९३० में यह रियायत सूती वस्त्र उद्योग पर लागू की गई थी किन्तु १९३२ में `ओटावा समझौते` के अनुसार यह सिद्धान्त भारत के सभी आयातों पर लागू कर दिया गया[3] । इस प्रकार औद्योगिक विकास से अर्जित अधिकांश लाभ ब्रिटिश पूँजीपतियों के हाथ में ही रहा ।

अत: हम कह सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी का यह काल ब्रिटिश शासकों की आर्थिक नीति के कारण पूँजीपतियों द्वारा सामान्य जनता के शोषण का काल था, जिसने भारत में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने पर भी भारतीय उद्योगों को निरन्तर निरुत्साहित ही किया तथा जो कुछ औद्योगिक विकास हुआ वह मुख्यत: उपभोक्ता सामग्री की पूर्ति करने वाले हल्के उद्योगों के क्षेत्र में ही था, देश के आधारभूत बड़े तथा भारी उद्योगों में विकास की गति काफी धीमी रही ।भारी

---

१. रमेशचन्द्र मजुमदार -`भारत का बृहत इतिहास` अनु० योगेन्द्र मिश्र,पृष्ठ ३१६ ।

२. कृष्ण बिहारी मिश्र - `आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य`, पृष्ठ १६५ ।

३. कृष्ण बिहारी मिश्र-`आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य`, पृष्ठ १६३ ।

उद्योगों के क्षेत्र में वास्तविक उन्नति द्वितीय विश्वयुद्ध काल के बाद से ही दिखायी देती है।

किन्तु इस समय जो विकास हुआ वह भी अंग्रेजों की साझेदारी की नीति पर आधारित था। यद्यपि यह सत्य है कि इस समय तक कुछ भारतीय पूँजीपति भी स्वतन्त्र उद्योग खोलने की दृष्टि से समर्थ हो गये थे, किन्तु इसके लिये उन्हें जिस तकनीकी सहायता की आवश्यकता थी वह उनके पास उपलब्ध नहीं थी, जिसका लाभ उठाकर ब्रिटिश पूँजीपतियों ने भारत के औद्योगिक विकास में अपना हस्तक्षेप बनाये रखने के लिये साझेदारी का दूसरा ही मार्ग ढूढ़ निकाला। वस्तुत: इस समय भारतीय औद्योगीकरण के प्रति जनता की बढ़ती हुई अभिरुचि तथा सामर्थ्य को देखते हुए उन्हें पहली बार भारतीय औद्योगीकरण से अपने पाँव उखड़ते प्रतीत हुए तथा यह विश्वास हुआ कि अब वह प्रत्यक्ष विरोध द्वारा बहुत दिनों तक अपनी स्वार्थनीति को स्थिर नहीं रख सकते हैं अत: उन्होंने तकनीकी सहायता के बहाने से भारतीय उद्योगपतियों के साथ साझेदारी की नीति को अपनाया और इस प्रकार साझेदारी के बहाने से भारत को आर्थिक क्षेत्र में अपने और अधिक आधीन बना लिया।

उनकी इस नीति का स्पष्ट संकेत रायल सोसायटी के संसद सदस्य श्री ए० बी० हिल के शब्दों में मिलता है 'यदि हम साहस, उदारता और दूरदर्शिता का परिचय दें तो भारतीय उद्योग के साथ सहयोग करने का हमारे पास मौका है लेकिन यदि हमने ऐसा नहीं किया तो उसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय उद्योग का विकास नहीं होगा, बल्कि इसका अर्थ यह है कि भारत के लोग सहायता के लिये हमारे पास आने के बजाय अमरीका के पास चले जायेंगे।[१]

अत: ब्रिटिश सरकार के सहयोग से साझेदारी के आधार पर भारत में अनेक सहायक कम्पनियाँ खोली गयी और लीवर ब्रदर्स, डनलप, इम्पीरियल केमिकल्स जैसी विशाल व्यापारिक कम्पनियों ने भारत में अपनी सहायक कम्पनियाँ खोलकर भारत में ही उनकी रजिस्ट्री कराई, जिससे भारत में इस प्रकार की इंडिया लिमिटेड

---

१. इंडियन एनुअल रजिस्टर, १९४४ खण्ड २, पृष्ठ ३०२ उद्धृत 'रजनी पामदत्त' 'आज का भारत', पृष्ठ २०५।

कम्पनियों की बाढ़ सी आ गयी ।[1]

इस प्रकार युद्धोपरान्त ब्रिटिश और भारतीय पूँजीपतियों के मध्य हुए समझौते के अनुसार भारत में अनेक उद्योग प्रारम्भ हुए । `जून १६४५ में बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड ने इंग्लैण्ड के `नफील्ड आर्गनाइजेशन` से मिलकर भारत में मोटरकार निर्माण के लिये समझौता किया तथा दिसम्बर १६४५ में ही टाटा ने ब्रिटेन की`इम्पीरियल केमिकल इन्डस्ट्रीज` से मिलकर रासायनिक उद्योग के निर्माण के लिये एक दूसरा समझौता किया ।[2] किन्तु भारत में विकसित इन इंडिया लिमिटेड कम्पनियों ने भारत के लघु उद्योगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया । यह तो केवल बड़े उद्योगों, बड़े रसायनिक उद्योगों तथा अभियान्त्रिकी की यथासम्भव देखभाल तथा उनके कार्यक्षेत्र को सीमित रखने के लिए एक आवरण मात्र थी, जिन्होंने परोक्षत: ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं के लिए भारत में एक सुरक्षित बाजार तैयार करने का कार्य किया ।

अत: स्पष्ट है कि युद्धोत्तर काल में भारत के औद्योगिक विकास में गतिशीलता तो अवश्य आयी किन्तु इससे भारतीयों को उतना लाभ न हुआ जितना ब्रिटिश पूँजीपतियों को । कारण, इन वस्तुओं से अर्जित अधिकांश धनराशि विदेशों में ही चली जाती थी । इस प्रकार २० वीं शताब्दी में होने वाले आर्थिक विकास को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत में औद्योगिक विकास का मूल कारण ब्रिटिश सरकार की भारत को लूटने की एक चाल थी, जिसके द्वारा उन्होंने भारतीय लघु उद्योगों को समाप्त कर सम्पूर्ण पूँजी को अपने आधीन करने का प्रयास किया ।

किन्तु अंग्रेजों की षडयन्त्रपूर्ण नीति के कारण अपने श्रम का पूर्ण लाभ न मिलने पर भी वे हतोत्साहित नहीं हुए वरन् औद्योगिक उन्नति द्वारा उन्होंने देश की आर्थिक समस्याओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया । सन् १६४४-४५ में भारतीय पूँजीपतियों ने`भारत के आर्थिक विकास की एक योजना` देश के समक्ष प्रस्तुत की । जिसने कार्य रूप में परिणत होकर देश की आर्थिक स्थिति को ऊँचा उठाने का पूर्ण प्रयास किया ।[3]

१. रजनी पामदत्त - `आज का भारत`, पृष्ठ १८७
२. वही वही , अनु० आनन्दस्वरूप, पृष्ठ २०८ ।
३. वही ,, , पृष्ठ २०५ ।

सांस्कृतिक परिवर्तन

नयी शिक्षा प्रणाली

१६वीं शताब्दी में सरकार ने भारतीय समाज में ज्ञान-विज्ञान के प्रसार एवं प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में सुधार के नाम पर देश में जिस नयी विदेशी शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ किया था वह भारतीयों के सहयोग से शताब्दी के अन्त तक अबाध रूप से चलती रही। यद्यपि भारतीय धीरे-धीरे उनकी इस शिक्षण नीति के मूल में छिपे षडयन्त्रों से भी परिचित हो चले थे किन्तु उस समय तक इसका प्रत्यक्ष विरोध सामने नहीं आया था। अत: देश में यह नवीन विदेशी शिक्षा प्रणाली खूब फल-फूल रही थी।

किन्तु २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब लार्ड कर्जन भारत का वायसराय नियुक्त हुआ और उसने देश के सर्वांगीण विकास एवं शिक्षा व्यवस्था में सुधार अथवा शिक्षा के गिरते स्तर को ऊँचा उठाने के नाम पर सन् १६०४ में 'शैक्षणिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव' तथा 'भारतीय विश्वविद्यालय ऐक्ट' पास कर भारतीय कालेजों पर अधिकाधिक नियन्त्रण रखना प्रारम्भ कर दिया तो भारतीय नेतागण अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उनका विचार था कि सरकार ने शिक्षा सम्बन्धी यह नवीन ऐक्ट भारतीयों के शिक्षा प्रचार कार्य को निरुत्साहित तथा समाप्त करने के लिये ही प्रारम्भ किये हैं। अत: उन्होंने सरकार के इन शिक्षा सम्बन्धी प्रस्तावों के प्रति घृणा व्यक्त कर विदेशी शिक्षा प्रणाली का यथासम्भव विरोध किया तथा अपने इस विरोध को सक्रियता प्रदान करने के उद्देश्य से देश में अनेक राष्ट्रीय स्कूलों तथा कालेजों की स्थापना की। साथ ही निम्नस्तरीय शिक्षा से उच्च स्तरीय शिक्षा तक सभी में आमूल परिवर्तन की माँग कर देश में व्याप्त निरक्षरता को दूर करने के लिये हर सम्भव प्रयत्न किये। लोकहित से प्रेरित होकर ही राष्ट्रीय नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने मार्च १६१० में 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' में ६ से १० वर्ष तक के बालकों के लिये प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा नि:शुल्क करने का प्रस्ताव रखा[१]। यद्यपि प्रारम्भ में उनका यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया, किन्तु कुछ समय पश्चात् प्रारम्भिक शिक्षा

---

१. चोपड़ा, पुरी, दास - 'भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास', पृष्ठ

के विस्तार की माँग के पुन: जोर पकड़ने पर अनेक स्थानों पर यह शिक्षा नि:शुल्क कर दी गई ।

इस प्रकार इस युग में दो शिक्षण नीतियाँ साथ-साथ विकसित हो रही थी पहली सरकार द्वारा संचालित विदेशी शिक्षण नीति दूसरी राष्ट्रवादियों द्वारा संचालित स्वदेशी शिक्षण नीति । किन्तु राष्ट्रवादियों के विरोध पर भी सरकार का यह शिक्षा प्रसार कार्य तीव्रगति से बढ़ता रहा । अंग्रेजी शिक्षा के प्रति जनता की बढ़ती हुई रुचि को देखकर सरकार ने अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना की तथा शिक्षा योजना में अपेक्षित सुधार एवं परिवर्तन की माँग को देखते हुए समय-समय पर शिक्षा सम्बन्धी अनेक सुझाव एवं प्रस्ताव पास किये गये । सन् १६१७ में माइकेल सैडलर की अध्यक्षता में गठित `कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग, सन् १६२६ में साइमन कमीशन के उद्योग से सर फिलिप हारटोग के नेतृत्व में प्रस्तुत `हारटोग समिति' की रिपोर्ट तथा सन् १६४४ में प्रस्तुत सर जान सार्जेण्ट की `शिक्षण-नीति सम्बन्धी रिपोर्ट' कुछ ऐसे ही शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव एवं सुझाव थे, जिन्होंने अंग्रेजों के स्वार्थों की रक्षा करते हुए भारतीयों की आवश्यकताओं तथा माँगों को ध्यान में रखकर देश में अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना की तथा साहित्यिक शिक्षा की अपेक्षा व्यावसायिक शिक्षा को महत्त्व देकर व्यावसायिक शिक्षा, कृषि, डाक्टरी, इन्जीनियरिंग, पशु-चिकित्सा, तथा अन्य तकनीकी शिक्षा के प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया तथा देश में अनेक कला स्कूलों तथा औद्योगिक स्कूलों की स्थापना भी की, किन्तु इनका मुख्य ध्येय नवीन शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, नवीन विषयों के अध्यापन, प्रवेश की शर्तों पर नियन्त्रण तथा शिक्षा के बाह्य सुधारों पर ही रहा शिक्षा व्यवस्था में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ । वरन् सत्य तो यह है कि जितनी वृद्धि स्कूलों की संख्या में हुई उतनी साक्षरता में नहीं । तत्कालीन शिक्षा की इसी निराशाजनक स्थिति की ओर संकेत करते हुए हारटोग समिति की रिपोर्ट में प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में कहा गया था कि `सारी शिक्षा प्रणाली में अपव्यय और प्रभावहीनता है । हमारे ख्याल से तो प्रारम्भिक शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि लोग साक्षर बनें और सोच समझ कर मतदान कर सकें । लेकिन इस दिशा में अपव्यय और निरर्थकता भयंकर रूप से है । प्रारम्भिक स्कूलों की संख्या में

जितनी व्यापक वृद्धि हुई है उसके अनुपात में साक्षरता में वृद्धि नहीं हुई है। क्योंकि जो प्रारम्भिक शिक्षा पा रहे हैं उनमें से बहुत ही कम छात्र चौथी कक्षा तक पहुँचते हैं जहाँ जाकर यह आशा की जा सकती है कि वे साक्षर बनेंगे।[1] प्रारम्भिक शिक्षा की भाँति माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा में भी ऐसी ही अव्यवस्था विद्यमान थी।

किन्तु इन सरकारी शैक्षणिक सुधारवादी प्रयत्नों की प्रतिक्रिया स्वरूप जो भारतीय नेतागण शिक्षा-सुधार क्षेत्र में प्रवृत्त हो रहे थे उन्होंने तत्कालीन शिक्षा को अपूर्ण एवं भारतीय शैक्षणिक प्रयासों को निरुत्साहितकरने वाली समझकर उसका यथासम्भव विरोध किया तथा प्रचलित शिक्षा प्रणाली के सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक पाठ्यक्रमों की अपेक्षा व्यावहारिक पाठ्यक्रमों पर विशेष ध्यान दिया। साथ ही निरक्षरता विरोधी अभियान चलाकर हरिजनों को भी शिक्षा के लिये प्रोत्साहित किया। जिसके लिये उन्होंने विविध सुविधाएँ प्रदान करने के भी प्रयत्न किए। यों तो गोखले के समय से ही कांग्रेसी नेता देश में अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा पर जोर दे रहे थे किन्तु सरकार की उपेक्षा के कारण उन्हें इस कार्य में विशेष सफलता न मिल सकी थी, अतः सन् १९३७ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के बनते ही इन्होंने इस शिक्षा व्यवस्था को शीघ्र कार्यान्वित किया। किन्तु इसके लिये धन की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति के लिये गान्धी जी ने एक विशेष शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था की, जो शिक्षा की बुनियादी आवश्यकताओं को लेकर चलने के कारण बुनियादी शिक्षा, बेसिक शिक्षा अथवा नयी तालीम के नाम से प्रसिद्ध हुई।

विदेशी शिक्षा प्रणाली के विपरीत यह नवीन शिक्षा प्रणाली कम व्यय साध्य एवं छात्रों के स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा थी। इस प्रणाली के द्वारा बालकों को शिक्षा किसी धन्धे के माध्यम से देने का विचार था। इस प्रकार एक ओर तो छात्र अपनी पढ़ाई के लिये स्वयं पैसे एकत्र कर सकता था दूसरे किसी विशेष कार्य में योग्यता प्राप्त कर वह जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हो सकता था।

---

१. चोपड़ा, पुरीदास - भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास, पृष्ठ २८८।

उनका विचार था कि प्रचलित शिक्षा प्रणाली के अनुसार शिक्षा प्राप्त करके भी अधिकांश छात्र अपने जीवन में दूसरों पर ही आश्रित रहते हैं और नौकरी न मिलने पर उनको दाने-दाने के लिये ठोकरें खानी पड़ती हैं। अत: देश भर में अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। बेसिक शिक्षा प्रणाली की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि "इस नवीन शिक्षा प्रणाली का जन्म नये समाज और नवीन तथा पूर्ण मानव की रचना के निमित्त हुआ था। इस शिक्षा में गांधी जी ने शिक्षा के श्रेष्ठ आदर्शों को समन्वित किया। वे इस शिक्षा के द्वारा अपनी मातृभूमि में वास्तविक शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे, ऐसी शिक्षा जो पुस्तकीय न हो वरन् अभिज्ञता तथा सृजनात्मक कार्यों पर निर्भर हो, जो भारतीय संस्कृति के पाये पर खड़ी हो, जिसमें शारीरिक परिश्रम के लिये यथेष्ट स्थान हो, जो अमीर-गरीब का भेद भाव मिटावे और पूरे देश को एक सूत्रता में पिरो देवे।"[१] वास्तव में यह शिक्षा जीवन की शिक्षा थी, जिसने छात्रों में परिश्रम के प्रति आदर की भावना उत्पन्न कर माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में नव-जीवन का संचार किया।

बेसिक शिक्षा के साथ ही इन राष्ट्रवादियों ने स्त्री शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा के महत्व को जानकर इसके समुचित प्रचार एवं प्रसार पर भी जोर दिया। अत: देश भर में अनेक स्त्री पाठशालाओं, प्रौढ़ पाठशालाओं तथा रात्रि पाठशालाओं की व्यवस्था की गई तथा उनकी प्रगति के लिये उन्हें अनेकों सुविधाएँ भी प्रदान की गईं।

इस प्रकार अंग्रेजों तथा राष्ट्रवादियों के प्रयत्नों से देश में शिक्षा का समुचित प्रचार एवं प्रसार हुआ और समस्त भारतवासी जो शिक्षा के अभाव में अज्ञानान्धकार में ही भटक रहे थे, शिक्षा के प्रचार से प्रगति की ओर उन्मुख हुए। जिससे देश भर में एक अभूतपूर्व राजनैतिक एवं सामाजिक चेतना को प्रश्रय मिला और देश में अनेक प्रगतिशील तत्वों का विकास हुआ।

संयुक्त परिवारों का विघटन -

संयुक्त परिवार भारतवर्ष की अतिप्राचीन सामाजिक व्यवस्था है, जिसका

---

१. श्रीधर नाथ मुखर्जी - 'भारत में शिक्षा', पृष्ठ ४०

आधार व्यक्ति न होकर परिवार होता था । इस व्यवस्था के अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य एक स्थान पर रहकर परिवार के वयोवृद्ध एवं अनुभवी व्यक्ति के निर्देशन में अपने परम्परागत व्यवसाय को स्वक्षमतानुसार करते थे तथा उससे उपार्जित धनराशि को किसी एक की सम्पत्ति न मानकर सम्पूर्ण परिवार की सम्पत्ति मानते थे । इस प्रकार ये प्राचीन परिवार आज की भाँति पति-पत्नी तथा बच्चों तक ही सीमित नहीं होते थे वरन् कई छोटे-छोटे परिवार मिलकर एक वृहद् रूप धारण करते थे, जिसे `संयुक्त परिवार` की संज्ञा दी जाती थी ।

सहनशीलता, सहानुभूति, आदर श्रद्धा एवं अनुराग संयुक्त परिवारों के चिर स्थायित्व के आवश्यक गुण थे जो अनेक असुविधाओं के बावजूद परिवार के सभी सदस्यों को एक श्रृंखला में आबद्ध किये रहते थे । यद्यपि आग्रहपूर्ण नियम-कानून, रीति-रिवाज, बन्धन एवं रूढ़िगत मान्यताओं की अधिकता के कारण इन परिवारों में समय-समय पर अनेक असुविधाएँ एवं समस्याएँ भी उत्पन्न होती रहती थीं, किन्तु परिवार की सुख-सुविधा एवं समृद्धि की दृष्टि से समाज में संयुक्त परिवारों को ही महत्व दिया जाता था । और अपने इन मूलभूत गुणों के कारण ही ये संयुक्त परिवार काफी समय तक समाज में अपना अस्तित्व बनाये रहे ।

किन्तु परिस्थितियों के परिवर्तन से आज समाज की यह प्राचीन परम्परा दिन पर दिन विघटित होकर सीमित परिवारों में परिवर्तित होती जा रही है । इसका सर्वप्रमुख कारण १६वीं तथा २०वीं शताब्दी में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव है, जिसने मनुष्य के विचारों में क्रान्ति उत्पन्न कर उसके दृष्टिकोण को ही बदल दिया । परिणाम यह हुआ कि जो मनुष्य अभी तक अपने जातीय एवं पारम्परिक व्यवसायों को ही अपने योग्य समझ कर उसमें संलग्न रहता था वही अब अपने उज्ज्वल भविष्य की कामना से प्रेरित हो नौकरी की तलाश में शहरों की ओर बढ़ा और वहाँ ही बसने लगा । परिवार से अलग रहने के कारण धीरे-धीरे उसमें निहित पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों, एकता सहानुभूति तथा सद्भावना जैसे गुणों का लोप हुआ और उसका दायित्व अपने छोटे से परिवार तक ही सीमित रह गया । इस प्रकार उद्योगों के विकास के साथ प्राचीन संयुक्त परिवारों ने धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोकर सीमित परिवारों के रूप में जन्म लिया ।

औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता एवं संस्कृति ने भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तनों की माँग कर संयुक्त परिवार व्यवस्था को भंग करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । पाश्चात्य व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण समाज में व्यक्ति का महत्व तो बढ़ा ही, व्यक्तिवादी विचारों को मान्यता प्रदान करने पर समाज में स्वार्थ भावना तथा संकीर्ण मनोवृत्ति जैसे दुर्गुणों का भी विकास हुआ, जिसने मनुष्य की सोचने विचारने की परिधि को अत्यन्त सीमित कर उसे स्वाहित चिन्ता में ही निमग्न कर दिया । परिणामस्वरूप प्राचीन सामाजिक तथा पारिवारिक मान्यताएँ उसे व्यर्थ एवं अन्याय-पूर्ण प्रतीत हुई और इनके विरोध में उसने अन्य नवीन मान्यताओं के साथ ही सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त परिवार की अपेक्षा सीमित परिवारों को मान्यता दी ।

व्यक्तिवादी विचारों को महत्व देने के साथ ही समाज में स्वातन्त्र्य-भावना का भी उदय हुआ । परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दूसरों के हस्तक्षेप का विरोध कर स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया । संयुक्त परिवारों की जटिल बन्धनयुक्त व्यवस्था उनकी इस स्वातन्त्र्य-भावना के विपरीत थी, अत: उन्होंने संयुक्त परिवारों का विरोध कर सीमित परिवारों को ही महत्व दिया ।

पारिवारिक विघटन के इन दो मूलभूत कारणों के अतिरिक्त सामान्य जीवन की कुछ ऐसी परिस्थितियाँ एवं विषमताएँ भी थी जिन्होंने भारत की प्राचीन पारि-वारिक व्यवस्था को विश्रृंखलित करने में अपेक्षित सहयोग दिया । इनमें सर्वप्रमुख थी भारतीय जीवन की विकट आर्थिक समस्या । वस्तुत: बीसवीं शताब्दी के इस अर्थयुग में जबकि मानव जीवन निरन्तर बढ़ती हुई मँहगाई के कारण नित्यप्रति विषमताओं के जाल में फंसता जा रहा था, यह अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होने लगा था कि समस्त पारिवारिक सदस्यों की आवश्यकताओं एवं आकाँक्षाओं की पूर्ति समान रूप से की जा सके । अत: इन परिवारों में आर्थिक विषमताओं को लेकर प्राय: एक तनाव अथवा मानसिक असन्तुलन उत्पन्न हो जाया करता था, जो आगे चलकर पारिवारिक विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण बनता था ।

किन्तु एक ओर जहाँ भारतीय समाज की आर्थिक विषमताएँ अपना ताँडव

दिखा रही थी वहीं दूसरी ओर भौतिक एवं वैज्ञानिक उन्नति के कारण मनुष्य की आकाँक्षायें भी आसमान को छूने लगी थी । संयुक्त परिवारों के दायित्व अथवा जिम्मेदारियों के समक्ष उसकी इन आकाँक्षाओं की पूर्ति सम्भव न थी, अत: वह धीरे-धीरे संयुक्त परिवारों से ही विमुख होने लगा ।

आर्थिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न संयुक्त परिवारों के विघटन का एक अन्य पहलू संयुक्त परिवारों के उपयुक्त निवास स्थान का अभाव भी है । और परिवार के बढ़ने पर मनुष्य को न चाहते हुए भी अलग रहने के लिये विवश होना पड़ता है ।

इन महत्वपूर्ण समस्याओं के साथ ही आज यन्त्रयुग की व्यस्तताओं के कारण उत्पन्न समयाभाव की समस्या ने भी पारिवारिक ढाँचे को जर्जरित करने में महत्वपूर्ण योग दिया है । वस्तुत: आज यन्त्रों के साथ काम करते-करते मनुष्य का जीवन भी यन्त्रवत् हो गया है और कार्य की अधिकता के कारण उसे इतना अवकाश नहीं मिल पाता कि वह अन्य कार्यों को करते हुए पूरे परिवार की सुख-सुविधा का ध्यान रख सके अत: वह सीमित परिवारों को ही वरीयता देता है । इसके अतिरिक्त अधिकांश व्यक्ति अपने अकर्मण्य एवं आलसी स्वभाव के कारण पूरे परिवार की जिम्मेदारी को बोझ समझते हैं और यथासम्भव उससे बचने की कोशिश करते हैं ।

पारिवारिक विघटन के इन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त संयुक्त परिवारों के विघटन का एक अन्य कारण भी है जो देखने में यद्यपि बहुत छोटा है किन्तु आज अधिकांश परिवारों के विघटन का महत्वपूर्ण कारण है । और वह है विचारों की अपरिपक्वता एवं सहनशीलता का अभाव । परिणाम यह होता है कि पारिवारिक जीवन की छोटी-छोटी बातें विकराल रूप धारण कर परिवार में कलह को जन्म देती है, जो अन्तत: पारिवारिक सदस्यों में निहित परस्पर प्रेम एवं सौहार्द्र के विपरीत हृदय के अन्तराल को बढ़ाकर पारिवारिक विघटन का कारण बनती है । और यही कारण है कि आज एक ही घर में चार चूल्हे जलते हैं । अथवा एक ही शहर में रहकर लोग अलग-अलग रहना पसन्द करते हैं । लेकिन जिन परिवारों में सहनशीलता की भावना होती है वहाँ आज भी मनुष्य अनेक परेशानियों को सहकर संयुक्त परिवारों की एक शृंखला में बंधा दिखाई देता है । किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों एवं मनोवृत्तियों के कारण आज अधिकांश व्यक्तियों को इसमें सुख

की अपेक्षा परेशानियाँ ही अधिक दिखायी देती है, अत: वह इसकी उपेक्षा करता है।

इसके अतिरिक्त सामाजिकों की परिवर्तित मानसिकता को देखते हुए आज पारिवारिक सदस्य भी यह उचित समझने लगे हैं कि लोग संयुक्त परिवारों की अपेक्षा सीमित परिवारों में ही रहें क्योंकि इससे एक तो रोज-रोज की परेशानियों से दूर हटकर घर में सुख-शान्ति रहेगी, दूसरे दूर रहकर पारिवारिक सदस्यों का प्रेम भाव भी पारस्परिक विद्वेष में परिणत न हो सकेगा। अत: आज संयुक्त परिवारों की संख्या दिन पर दिन घटती जा रही है। यों तो १६वीं शताब्दी से ही परिवारों का विघटन प्रारम्भ हो गया था, किन्तु २० वीं शताब्दी तक आते-आते तो इसमें विशेष तीव्रता एवं गतिशीलता आ गयी।

किन्तु इन सब असंगतियों एवं अन्तर्विरोधों के बावजूद ऐसा नहीं है कि आज हमारे यहाँ की संयुक्त परिवार व्यवस्था पूर्णतया समाप्त हो गयी है, वरन् इसका रूप आज भी भारतीय समाज में मिलता है। गाँवों में तो अभी भी परिवारों का संयुक्त रूप ही अधिक मिलता है। लेकिन यह सत्य है कि इन असंगतियों के कारण उनका पहले जैसा स्वरूप स्थिर न रह सका, वरन् वहाँ नित्य अनेक प्रकार की समस्याएँ जन्म लेकर पारिवारिक फलत: सामाजिक वातावरण को दूषित करती रहती हैं। सास-बहू, नन्द-भाभी, देवरानी-जिठानी की नोंक-झोंक तथा धन-दौलत, जमीन-जायदाद तथा मान-हानि की समस्या को लेकर भाई-भाई के मध्य उत्पन्न पारिवारिक झगड़े तथा रूढ़ियों के पालन अथवा उल्लंघन से उत्पन्न पीढ़ी-भेद इत्यादि ऐसी ही अनेक दैनिक समस्याएँ हैं, जिन्होंने आज संयुक्त परिवारों की नींव को हिला दिया है।

समग्रत: पारिवारिक विघटन की यह समस्याएँ ही आलोच्यकालीन समाज की प्रमुख सामाजिक समस्याएँ थीं, जिनका मर्मान्तिक चित्र आज साहित्य के विभिन्न रूपों में विविध प्रकार से किया जा रहा है।

शहरी मध्यवर्ग -

औद्योगिक प्रतिष्ठानों तथा सरकारी कार्यालयों के निरन्तर विकास के कारण भारतीय समाज में मध्यवर्गियों का प्रभुत्व दिन प्रति दिन बढ़ रहा था। अत: आलोच्यकालीन सांस्कृतिक परिवर्तनों के उचित मूल्यांकन के लिये इस वर्ग का सम्यक्

अवलोकन भी अपेक्षित है । किन्तु मध्यवर्ग का उल्लेख करते हुए हमारा मुख्य केन्द्र शहरों में निवास करने वाला मध्यवर्ग ही रहा है क्योंकि इस काल विशेष में नवीन शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होने के कारण यह शहरी वर्ग ही सर्वाधिक जागरूक एवं क्रियाशील था । और इसी ने समय-समय पर अपने अथक परिश्रम,सूक्ष्म एवं सजग बुद्धि तथा संघर्षशील प्रवृत्ति के कारण देश में अनेकों सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों का नेतृत्व कर सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन उपस्थित किए ।

इस वर्ग के अन्तर्गत मुख्यत: व्यापार एवं शासनप्रबन्ध में सहयोग प्रदान करने वाला सरकारी और गैर सरकारी कार्यालयों एवं अनुष्ठानों में काम करने वाला शिक्षित वर्ग ही आता है । यद्यपि इसका जन्म तो १६ वीं शताब्दी में ही हो चुका था, किन्तु २०वीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय समाज में उद्भूत यह शहरी मध्यवर्ग अंग्रेजों की षडयन्त्रकारी नीतियों से परिचित होकर तथा अपनी संघर्षशील प्रवृत्ति के कारण परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक उग्र हो गया था । अत: इस युग में वह देशभक्त की अपेक्षा क्रान्तिकारी एवं साम्राज्यद्रोही के रूप में ही अधिक दिखायी देता है । यद्यपि इनकी देखादेखी देश का निम्न कृषक तथा दलित वर्ग भी राजनैतिक जीवन में प्रवेश कर रहा था किन्तु उसका यह प्रयास अभी नवीन था अत: उसमें अपेक्षित जागरूकता नहीं आ पायी थी । इसके विपरीत यह बुद्धिजीवी शहरी वर्ग,जो काफी समय से शहरों में निवास कर देश के राजकीय कार्यों में सहयोग दे रहा था, उसने अपनी शिक्षा तथा ज्ञान के बल पर अंग्रेजों की अन्तर्बाह्य समस्त कमजोरियों एवं नीतियों से परिचित होकर अवसर का पूरा लाभ उठाया और तत्कालीन सभाओं, प्रदर्शनों, कौंसिलों, पत्र-पत्रिकाओं एवं जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों में प्रवेश कर आन्दोलनों को और अधिक गतिशीलता प्रदान की । साथ ही अन्य वर्गों-कृषक मजदूर वर्ग द्वारा होने वाले आन्दोलनो का नेतृत्व कर उनका पथ-प्रदर्शन भी किया ।

एक बुद्धिजीवी वर्ग का सदस्य होने के कारण वह अंग्रेजों की षडयन्त्रकारी नीतियों के प्रति सचेत तो था ही,पुरातत्व विभाग की खोजों के परिणामस्वरूप प्राचीन गौरवमयी भारतीय संस्कृति के स्मरण से उसका ध्यान अपने देश की दीन हीन दशा की ओर भी आकृष्ट हुआ । और सर्वप्रथम उसे यह अनुभव हुआ कि

सदियों से परतन्त्रता के पाश में जकड़े रहने के कारण हमारी आत्मा पूर्णत: मर चुकी थी, जिसका लाभ उठाकर अंग्रेजों ने हम भारतीयों की यह दुर्दशा की है। फलत: राष्ट्रोत्थान एवं अंग्रेजों द्वारा किये गये निर्मम अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप उनमें आत्मसम्मान एवं बदले की भावना उत्पन्न हुई और वह अपनी मातृभूमि को बन्धनमुक्त कराने के लिये प्रयत्नशील हुए। इस प्रकार राजनीतिक जीवन में प्रवेशकर तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग प्रदान कर इस वर्ग ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किन्तु राष्ट्रीय चेतना को विकसित करने के कारण यह मध्यवर्ग एक ओर जहाँ भारतवासियों का आदर्श एवं गर्व का पात्र बना हुआ था वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों के निर्मम अत्याचारों एवं अन्यायों का कोपभाजन भी सबसे अधिक यही वर्ग बना हुआ था। भारतीय स्वतन्त्रता सेनानियों एवं क्रान्तिकारियों के जीवन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

मध्यवर्ग की राजनैतिक विद्रोही प्रवृत्ति का आभास उसके सामाजिक जीवन में भी दिखायी देता है। उसका यह विद्रोह प्राचीन सामाजिक रूढ़िवादी मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों के विरुद्ध था अत: उसमें समाज सुधार की प्रबल भावना भी दृष्टिगत होती है। राजाराममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गान्धी प्रभृति ऐसे ही महान सुधारक व्यक्तित्व थे, जिन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति के अगाध सागर में अवगाहन कर अमूल्य प्रगतिशील रत्नों को संजोकर और उनमें सामंजस्य स्थापित कर जीवन के श्रेष्ठ आदर्श स्थापित किये तथा अपने विवेकसम्मत नवीन विचारों को मान्यता प्रदान कर देश के सामाजिक एवं राजनीतिक उद्धार के लिए समय-समय पर अनेक आन्दोलनों का सूत्रपात किया। तत्कालीन साहित्यकारों की जागरूकता भी मध्यवर्गियों की इस विद्रोही एवं सुधारक प्रवृत्ति की ही सूचक है, जिससे प्रभावित होकर उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी के द्वारा जन-जागरण का पावन संदेश जन-सामान्य तक पहुँचाया।

यद्यपि यह सत्य है कि मध्यवर्गियों में जागरूकता एवं सुधारवादी भावना अपेक्षाकृत अधिक थी, किन्तु मध्यवर्ग के अन्दर एक ऐसे वर्ग समूह के भी दर्शन होते हैं जो प्राचीनता के निर्मोक को न उतारकर सभी दुखों एवं कष्टों को दैवीय अथवा भाग्यवशात् मानकर परम्परागत मान्यताओं को ही प्रश्रय दे रहा था और इस प्रकार भारत के सामाजिक अथवा सांस्कृतिक अध:पतन का कारण भी बना हुआ था।

मध्यवर्ग की उत्पत्ति की मूल समस्या यद्यपि आर्थिक थी तथा इसकी पूर्ति

में ही नवीन मध्यवर्ग का उदय हुआ था किन्तु आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग अभी भी संत्रस्त ही था।वरन् सत्य तो यह है कि शिक्षितों की बढ़ती जनसंख्या ने बेकारी की समस्या को जन्म देकर सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग में असन्तोष, निराशा एवं कुण्ठा की भावना को ही जन्म दिया था । इसके साथ ही शहरों में जनसंख्या के असीमित दबाव के कारण आपूर्ति साधनों के अभाव में वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि ने भी मध्य-वर्गियों के जीवन को एक बहुत बड़े संकट में डाल दिया था ।

२० वीं शताब्दी तक आते-आते पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का व्यापक प्रभाव भी इस वर्ग पर पड़ा । फलत: इनकी भाषा, आचार-विचार, रहन-सहन तथा खान-पान में तो अन्तर आया ही ; पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में कुछ मध्यवर्गियों को अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण संस्कृति भी व्यर्थ एवं हीन प्रतीत होने लगी और वह दिन प्रतिदिन पाश्चात्य सभ्यता के रंग में ही रंगते चले गये, जो आगे चलकर स्वयं उनके लिए ही एक समस्या बन गयी । क्योंकि एक ओर तो यह वर्ग अंग्रेजों की भाँति खुले विचारों का प्रदर्शन करता था किन्तु दूसरी ओर भारतीय संस्कारों की पूर्णत: उपेक्षा न कर पाने के कारण, सामाजिक मान्यताएँ उसके जीवन में बेड़ियों के समान पड़ी थीं ।

इस प्रकार मध्यवर्गीय समाज का अवलोकन करने पर उनके जीवन की कतिपय विशिष्टताएँ यथा नेतृत्व भावना, सुधारवादी दृष्टिकोण, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना, संघर्षशील विद्रोही प्रवृत्ति तथा विवेकसम्मत दूर दृष्टि आदि प्रकाश में आयी। जिन्होंने अपनी इन विशिष्टताओं के कारण मध्यवर्ग को समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाया ।

इन विशिष्टताओं के साथ ही मध्यवर्गीय समाज की अपनी एक और विशेषता थी और वह थी, नारी जाति का उत्थान अथवा नारी जागरण । यों तो समाज के सभी वर्गों में नारी जागरण की यह भावना इस समय तक उदित हो चुकी थी, किन्तु मध्यवर्गीय नारी में जागरण की यह प्रवृत्ति सर्वाधिक क्रियाशील थी । नारी जाति के उत्थान एवं उद्धार के लिये उसने सरकार से उचित न्याय एवं समाना-धिकारों की माँग की तथा समाज में नारियों की दुर्दशा एवं उसकी शोचनीय अवस्था के प्रतिक्रियास्वरूप उसमें सामाजिक वातावरण को दुर्गन्धिपूर्ण बनाने वाले मूलभूत

कारणों दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति एवं अन्य सामाजिक रूढ़ियों का विरोध तथा विधवा विवाह एवं नारी शिक्षा का समर्थन कर सामाजिक जीवन एवं जीवन-दृष्टि को आमूलत: परिवर्तित करने का प्रयत्न किया । सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग प्रदान कर भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने में भी इस मध्यवर्गीय नारी समाज का अपूर्व योगदान है ।

विगत जीवन के सम्पूर्ण अनुभव से वह आज इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि नारी जीवन की दासता का मूलाधार उसकी आर्थिक परतन्त्रता है और इसका निवारण करने के लिये ही वह आज घर की चहारदीवारी का अतिक्रमण कर नौकरी के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई है। किन्तु नौकरी के क्षेत्र में प्रवेश करने पर एक ओर जहाँ वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हुई है वहीं दूसरी ओर उसके जीवन में पारिवारिक अव्यवस्था एवं अशान्ति तथा व्यस्त जीवन एवं पुरुष वर्ग की अधिकार लोलुपता के कारण दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याएँ आ गई हैं, जिन्होंने उसकी समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा उसके पारिवारिक जीवन में विघटनकारी दरार उत्पन्न कर दी है ।

इसके अतिरिक्त सामाजिक सन्दर्भों के बदलने से उसके दृष्टिकोण में भी नितान्त भिन्नता आ गयी है । प्राचीन रीति-रिवाज उसे बन्धन प्रतीत होते हैं । सामाजिक जीवन की मूलभूत आवश्यकता के सम्बन्ध में भी उसकी दृष्टि बदली और वह परम्परागत वैवाहिक आदर्शों को नारी जाति के ऊपर बन्धन स्वीकार कर स्वच्छन्द प्रेम को महत्ता देने लगी । फलत: समाज में स्वच्छन्दता एवं अनैतिकता का बाहुल्य हुआ जो हमारी भारतीय संस्कृति से मेल न खाकर समाज के लिए एक विषम समस्या बन गई । इस प्रकार मध्यवर्गीय समाज की नारी इस काल की एक महत्वपूर्ण एवं चिन्तनीय विषय बनी, जिसे आधार बनाकर साहित्यकारों ने जीवन के अनेक तथ्यों का उद्घाटन साहित्य की विविध विधाओं में किया है ।

निश्चय ही भारतीय जीवन के विशाल प्रांगण में मध्यवर्गियों का कार्यक्षेत्र ही सर्वाधिक विस्तृत रहा है और इसी ने समय-समय पर अपने सक्रिय सहयोग द्वारा भारतीय समाज का पथ-प्रदर्शन कर समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, अत:

हम कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन भारतीय समाज में शहरी मध्यवर्ग का महत्वपूर्ण स्थान था । एक शब्द में इसे तत्कालीन भारतीय समाज का मेरुदण्ड भी कहा जा सकता है क्योंकि इनके जीवन की समस्यायें ही एक तरह से सम्पूर्ण देश की समस्यायें थीं । अत: देश का यथार्थ चित्रण करने के लिए इनकी उपेक्षा सम्भव नहीं, इसी कारण भारतीय समाज के समस्त युगदृष्टा साहित्यकारों ने तत्कालीन जीवन के सफल चित्रण के लिये मुख्यत: इन मध्यवर्गियों की समस्याओं को ही अपनी रचनाओं का प्रमुख विषय बनाया और इनके माध्यम से देश के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया ।

खण्ड ३

राजनैतिक परिवर्तन

स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं राजनीतिक अव्यवस्था

१५ अगस्त सन् १९४७ भारतीय राजनीति का वह युगान्तरकारी प्रस्थान बिन्दु है, जहाँ से भारतवासियों ने ब्रिटिश साम्राज्य के दासत्व बन्धन से विमुक्त होकर भारतीय इतिहास के एक नये चरण में प्रवेश किया। फलत: देश भर में नव-निर्माण का एक असीम जोश था जिससे प्रेरित होकर सम्पूर्ण देश में अनेक विकासात्मक कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये।

किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति ने एक ओर जहाँ भारत की पराधीन जनता को आशा एवं उत्साह से पूर्ण स्वर्णिम भविष्य की ओर उन्मुख किया, वहीं दूसरी ओर अखण्ड भारतवर्ष को— भारत और पाकिस्तान-इन दो भागों में विभाजित कर भारत के सम्मुख कुछ विचित्र एवं नवीन समस्याओं को जन्म दिया। फलत: विभाजन के परिणाम स्वरूप दोनो ही देशों में भीषण हत्याएँ, मारकाट, साम्प्रदायिक दंगे, लूटपाट तथा परस्त्री अपहरण जैसी अमानुषिक घटनाएँ प्रारम्भ हुई और हजारों लोग बेघरबार हो गये। दोनों ही देशों के नागरिकों के आदान प्रदान के कारण साम्प्रदायिक सहयोग एवं सद्भावना का लोप हुआ, साथ ही निर्वासितों के पुनर्वास एवं संरक्षण की विकट समस्या ने भी गम्भीर रूप धारण किया। जिसका व्यापक प्रभाव तत्कालीन आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़ा और भारत का सुख, शान्ति एवं समृद्धि का वह सपना, जो उसने स्वतन्त्रता के पूर्व देखा था, एक सपना बनकर ही रह गया।

दुर्भाग्य से इसी समय, जबकि देश में उद्भूत इन समस्याओं के कारण भारत-वासी स्वातन्त्र्य सुख का अनुभव भी न कर पाये थे, ३० जनवरी १९४८ को स्वतन्त्रता के पुजारी एवं शान्ति और अहिंसा के दूत महात्मा गाँधी की मृत्यु हो गयी। जिससे सम्पूर्ण देश में शोक और आतंक की लहर तो व्याप्त हुयी ही, उनकी मृत्यु के साथ ही भारतीय राजनीति के मूल सिद्धान्त सत्य और अहिंसा जैसे उच्चादर्श भी लुप्त हो चले। जिसने देश में एक नवीन अव्यवस्था को जन्म दिया।

स्वतन्त्रता के उपरान्त देश की बागडोर अंग्रेजों के हाथों से कांग्रेस के हाथों में आयी और पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये। लेकिन कुछ ही समय बाद कांग्रेस में भी सत्ता संघर्ष प्रारम्भ हो गया और कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो गयी- नेहरूवादी एवं पटेलवादी। किन्तु १६५० में सरदार वल्लभ भाई पटेल की मृत्यु से इस संघर्ष में शिथिलता आयी और कांग्रेस पर नेहरूवादियों का पुन: एक छत्र अधिकार हो गया।

इसी समय अर्थात् सन् १६५० में ही, भारत का नवीन संविधान बनकर तैयार हुआ और २६ जनवरी १६५० को भारतवर्ष एक स्वतन्त्र गणराज्य घोषित कर दिया गया। इस नवीन संविधान के अन्तर्गत देश में एक नवीन जनतन्त्रात्मक व्यवस्था की शुरूआत हुई, जिसके अनुसार देश का संचालन जनता के द्वारा अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा होना निश्चित हुआ। अत: लोकहित को ध्यान में रखकर इस जनतन्त्रात्मक एवं लोकतन्त्रात्मक शासन में समस्त नागरिकों को समानाधिकार प्रदान करने की व्यवस्था की गई। साथ ही संविधान के निर्माणोपरान्त लोकतन्त्रात्मक शासन को कार्यरूप में परिणत करने के उद्देश्य से सन् १६५२ में सम्पूर्ण राष्ट्र में एक आम चुनाव हुआ। इस चुनाव में कांग्रेस के साथ ही देश के नव-निर्माण के लिये प्रयत्नशील अन्य अनेक राजनैतिक दल भी राजनैतिक क्षेत्र में अवतरित हुए। यद्यपि इसमें सफलता कांग्रेस को ही मिली, किन्तु नवनिर्माण के लिये सक्रिय इन राजनैतिक दलों की स्वार्थ-परता एवं वैचारिक संघर्षों के कारण भारतीय राजनीति में सत्ता का एक नवीन संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसने भारतीय जनता को सुख देने की अपेक्षा उनका शोषण ही अधिक किया। फलत: देश के राजनैतिक जीवन में एकबार फिर से अनैतिकता एवं अस्त-व्यस्तता व्याप्त हो गयी और नेतागीरी जीवन-यापन का एक अत्यन्त सरल एवं श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा। परिणाम स्वरूप राजनीति के इस विशाल प्रांगण में जितने भी नेता इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के निर्वाह के लिये प्रकाश में आये उनमें राष्ट्रोन्नति, देशहित तथा लोकहित के भावों का सर्वथा अभाव था, अत: वह जीवन भर परमार्थ की अपेक्षा स्वार्थ हितों से ही चिपके रहे। उनके जीवन का मुख्य ध्येय आर्थिक लाभ तथा सत्ता की प्राप्ति ही था जिसकी पूर्ति में वे अपने पद का लाभ उठाकर उचित अनुचित प्रत्येक कार्य को करने में तत्पर रहे और इस प्रकार सफेद पोश नेताओं के खद्दर के धोती कुर्तें की आड़ में अनेक अन्याय एवं कुकर्म किये जाने लगे।

इसके साथ ही देश में जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाई भतीजावाद, राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं शासन तन्त्र के दुरुपयोग जैसी अनेक दुष्प्रवृत्तियों का भी प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भारतीय समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा भारतीय राजनीति को पारस्परिक संघर्षों, वर्गभेद तथा अन्य अनेक विध अन्तर्बाह्य विषमताओं की दलदल में ही उलझा दिया। और इस प्रकार भारतीय नेताओं की वह अपूर्व एकता एवं संगठन शक्ति, जिसका परिचय उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय दिया था, नेताओं के स्वार्थ के कारण पुन: बिखरती प्रतीत हुई जिसका लाभ उठाकर चीन तथा पाकिस्तान ने भारत पर कई आक्रमण किये। इनका भारत के सामाजिक, आर्थिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव तो पड़ा ही, भारतीय नेताओं को भी इन युद्धजनित आवश्यकताओं के नाम पर भारतीय जनता के शोषण का एक अच्छा अवसर प्राप्त हुआ, और उन्होंने पूँजीपतियों के साथ मिलकर अपने स्वार्थों की पूर्ति ही अधिक की।

देश की इन आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं के साथ ही इस कालावधि में देश के अनेक राज्यों का पुनर्गठन तथा राज्य की सीमाओं में किंचित परिवर्तन हुआ जिससे देशवासियों में प्रान्तीयता की भावना ने जोर पकड़ा और सम्पूर्ण भारत में प्रान्तीयता के आधार पर भाषा एवं स्वाधिकारों को लेकर एक नवीन संघर्ष चालू हुआ, जिसने सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन में उथल पुथल मचा दी।

आर्थिक परिवर्तन

आर्थिक संकट एवं शोषण के नये रूप

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये कोई सक्रिय कदम उठाती उससे पहले ही उसे भारत-पाक विभाजन तथा शरणार्थी पुनर्वास की समस्या के रूप में कुछ ऐसी विकट स्थितियों का सामना करना पड़ा, जिन्होंने भारत की रही-बची अर्थव्यवस्था को भी पूर्णत: झकझोर दिया।

वस्तुत: शरणार्थियों के पुनर्वास के कारण देश की धनराशि का बहुत बड़ा भाग तो शरणार्थियों के समस्या समाधान में व्यय हो ही रहा था, भारत-पाक विभाजन से देश के आर्थिक स्रोतों में भी कमी आयी। कारण, भारत का

बहुत सा उपजाऊ भाग पाकिस्तान में चला गया था, जिससे खाद्यान्न की पूर्ति में तो कमी आई ही कच्चे माल के अभाव के कारण देश के औद्योगिक विकास में भी शिथिलता आयी। उद्योगों की शिथिलता का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण कुशल कारीगरों का अभाव भी था। वस्तुत: मुसलमान कारीगर अनेक उद्योगों में प्रवीण थे किन्तु पाकिस्तान का विभाजन होने पर अधिकांश मुसलमान अपने देश पाकिस्तान चले गये। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन प्रयोग में आने वाली वस्तुओं की खपत में कमी आने से उद्योगपतियों में भी उत्साह हीनता के लक्षण दिखायी देने लगे।

किन्तु इसी समय सरकार की ओर से भारत की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा उसे उन्नतिशील एवं समृद्धिशाली बनाने के लिये सन् १९५० में एक योजना आयोग का गठन हुआ, जिसने १९५१ से देश में पंचवर्षीय योजनाओं का शुभारम्भ किया। इन योजनाओं का लक्ष्य देश की आर्थिक उन्नति कर विषमताओं को कम करना था। तत्कालीन परिस्थितियों में देश की सर्वप्रमुख समस्या खाद्यान्न समस्या थी, अत: इन योजनाओं के अन्तर्गत कृषि के समुचित विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। साथ ही देश को उसके अपने पैरों पर खड़ा करने तथा औद्योगीकरण के विकास के लिये देश में अनेक छोटे-बड़े उद्योगों की भी स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त शिक्षा, बेकारी तथा जनसंख्या वृद्धि आदि अनेक समसामयिक समस्याओं पर समान रूप से ध्यान दिया गया तथा इनके निवारण के पूर्ण उपाय भी किये गये।

देश में हुए इन योजनात्मक प्रयासों द्वारा भारत की अर्थव्यवस्था में गतिशीलता तो अवश्य आयी, किन्तु देश में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण वह अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सकी। यद्यपि इस समय तक भारतीय जनता पर से विदेशी शोषण का भय समाप्त हो चुका था किन्तु उसके स्थान पर देश में भारतीय पूँजीपतियों का नवीन शोषण प्रारम्भ हो रहा था, जिन्होंने देश के भ्रष्ट नेतागण तथा लालची एवं धूर्त अफसरों के साथ मिलकर अपने इस शोषणचक्र को अत्यधिक वेग से चलाया। और इस प्रकार तीनों वर्गों के स्वार्थों के कारण देश में हो रहे सार्वजनिक विकासों का वास्तविक लाभ देश की सामान्य जनता तक न पहुँच कर कुछ वर्ग विशेष तक ही सीमित रहा। औद्योगिक उन्नति का अधिकांश भाग तो उनकी शोषण नीति के कारण पूँजीपतियों तक सीमित था ही, कृषि के क्षेत्र में होने वाली क्रान्तिकारी

उपलब्धियों का लाभ भी धनी किसानों को ही सुलभ हुआ, भीषण धूप एवं आँधी पानी में काम करने वाले खेतिहर मजदूरों को उससे किसी प्रकार की राहत न मिल सकी । परिणामस्वरूप इन वर्गों में आर्थिक वैषम्य बढ़ा, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप देश में ट्रेड यूनियनों का विकास हुआ और फैक्ट्री के श्रमिकों एवं खेतिहर मजदूरों के संगठन शक्तिशाली होने के कारण देश में आये दिन हड़ताल तथा प्रदर्शन होने लगे ।

इसी समय उद्योगों के विकास के साथ उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों में भी अपार वृद्धि हुई, जिसका व्यापक प्रभाव तत्कालीन जीवन पर पड़ा और समस्त भारत-वासी एक बार फिर से इस नवीन शोषण की चक्की में पिसने को विवश हुए । किन्तु आर्थिक दृष्टि से इस काल विशेष में सर्वाधिक विषम स्थिति बंधी पूँजी वाले उन मध्यवर्गियों की ही थी जो अपनी महत्वाकांक्षाओं के कारण बढ़ती हुई मंहगाई के साथ सामंजस्य स्थापित करने में अक्षम था ।

देश में व्याप्त चतुर्दिक शोषण के अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में उत्पन्न विषमताओं का एक अन्य प्रमुख कारण जनसंख्या में वृद्धि भी था, जिसके कारण सम्पूर्ण देशवासियों को पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो पा रही थी । जनसंख्या में वृद्धि के कारण बेकारी की समस्या भी विकराल रूप धारण कर रही थी । देश की आर्थिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील सरकार का ध्यान देश की इन बढ़ती हुई समस्याओं की ओर आकृष्ट हुआ और उनको दूर करने के लिये उसने हर सम्भव प्रयास किये, साथ ही परिवार नियोजन तथा लघु उद्योगों के विकास को अधिकाधिक प्रश्रय दिया ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारत ने आर्थिक क्षेत्र में आशातीत उन्नति की किन्तु भारतीय परिस्थितियों एवं अव्यवस्थाओं के कारण भारतवासियों के जीवन स्तर में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, वरन् सत्य तो यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उत्पन्न अनेक विध जटिलताओं के कारण भारतीयों का सम्पूर्ण जीवन आर्थिक कठिनाइयों से संघर्ष करते ही करते व्यतीत होने लगा ।

सांस्कृतिक परिवर्तन

देश का नवनिर्माण, सामाजिक अराजकता एवं पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकर

सांस्कृतिक परिवर्तन की दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर भारत की सर्वप्रमुख विशेषता दासत्व बन्धन से विमुक्त भारतवासियों में नवनिर्माण की असीम उत्कण्ठा,उत्साह एवं आत्मसम्मान की भावना का उदय है।जिससे प्रेरित एवं प्रभावित होकर देश भर में जमींदारी उन्मूलन, ग्राम पंचायतों की स्थापना, सहकारी समितियों का निर्माण सदृश अनेकों विकासात्मक कार्यक्रम तो प्रारम्भ किये ही गये,समाज में व्याप्त अज्ञानता एवं कूपमण्डूकता को दूर करने के लिए शिक्षा को प्रमुख साधन स्वीकार कर शिक्षा प्रचार एवं प्रसार कार्य पर भी विशेष ध्यान दिया गया । फलत: देश भर में अनेकों शिक्षण संस्थाएँ खोली गई, शिक्षा विकास को दृष्टि में रखकर १४ वर्ष तक की आयु के बालकों को नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने की व्यवस्था की गई तथा निर्धन एवं मेधावी छात्रों को अनेक विध आर्थिक सहायताएँ प्रदान की गई । इससे शिक्षितों की संख्या में वृद्धि तो अवश्य हुई,किन्तु शिक्षा व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टिगत न हुआ । शिक्षा का जो रूप स्वतन्त्रता के पहले था वही बाद में भी रहा । वरन् सत्य तो यह है कि समयानुकूल अपेक्षित परिवर्तन, निर्देशन एवं नियन्त्रण के अभाव में आज शिक्षा का स्तर दिन पर दिन गिरता ही जा रहा है । साथ ही शिक्षा का व्यवसाय से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण आज शिक्षित बेरोजगारों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है और व्यवसाय के अभाव में अनिश्चित भविष्य की ओर बढ़ते हुए इस युवावर्ग में शिक्षा के प्रति उत्साह हीनता के लक्षण भी दिखायी देने लगे हैं । साथ ही चारों ओर व्याप्त अराजकता एवं अव्यवस्था को देखकर आज छात्रों का विश्वास नवनिर्माण की अपेक्षा हिंसा तथा ध्वंस में अधिक बढ़ रहा है,जिससे छात्रों में अनुशासनहीनता की भावना का भी विकास हो रहा है ।

स्वातन्त्र्योत्तर कालीन सांस्कृतिक जीवन की दूसरी प्रमुख विशेषता पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण है।यद्यपि हम आज राजनीतिक रूप से अंग्रेजों के बन्धन से मुक्त हो गये हैं किन्तु मानसिक और वैचारिक रूप से हम अभी भी उनके गुलाम हैं,पश्चिम का व्यामोह हमारे ऊपर से समाप्त होने की जगह दिन पर दिन

बढ़ता ही जा रहा है । देश का भावी कर्णधार युवावर्ग तो पाश्चात्य विचारों से इतना अधिक प्रभावित है कि उसके सामने भारतीय संस्कृति को ही भूल बैठा है । अपने रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचारों में वह पाश्चात्य संस्कृति को ही अपना आदर्श मान बैठा है, अन्य बातों एवं प्रभावों के साथ उसमें मूल्यहीनता के लक्षण भी दिखायी देने लगे हैं, जिसने भारतीय जन-जीवन को अत्यधिक जटिल बना दिया है ।

पाश्चात्य प्रभावस्वरूप नारी शिक्षा के क्षेत्र में भी विशेष प्रगति हुई है किन्तु अधिकांश नारियाँ शिक्षा का अनुचित लाभ उठाकर पाश्चात्य सभ्यता के रंग में ही रंग रही है । उनके लिए शिक्षा का तात्पर्य सामाजिक दायित्व से मुक्त होकर अपने बाह्य जीवन को संवारना मात्र है । फलत: सामाजिक जीवन में पारिवारिक विघटन तथा असन्तुलित दाम्पत्य सदृश अनेक विकृतियाँ भी जन्म ले रही हैं, जिन्होंने भारतीय सामाजिक जीवन को अत्यन्त जटिल बना दिया है ।

यद्यपि यह सत्य है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा के समुचित विकास से भारतवासियों का बौद्धिक स्तर कुछ ऊँचा हुआ है।उनके सोचने विचारने के ढंग में वैज्ञानिकता एवं उदारता का समावेश हुआ है,जिससे सामाजिक रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वास धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं किन्तु फिर भी समाज में रूढ़ियों की कमी नहीं । जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, जमींदारी व्यवस्था, वेश्यावृत्ति अभी भी समाज से चिपकी हुई है,जिनके निवारण के लिये सरकार प्रयत्नशील है । नवीन भारतीय संविधान ने अस्पृश्यों को समानाधिकार वरन् कुछ विशेषाधिकार प्रदान कर अस्पृश्यता का तो मूलत: निवारण कर ही दिया है, जाति प्रथा, जमींदारी प्रथा एवं भिक्षावृत्ति को रोकने के लिये भी सरकार ने अनेक कानून बनाये हैं । वेश्याओं की स्थिति में सुधार को दृष्टि में रखकर सरकार की ओर से अनेक महिला कल्याण केन्द्र खोले जा रहे हैं,परन्तु वहाँ बढ़ते हुए अनाचारों के कारण यह सुधार केन्द्र सामाजिक विकृतियों एवं दुर्व्यसनों के केन्द्र ही अधिक बन रहे हैं ।

उपर्युक्त सामाजिक विकृतियों के अतिरिक्त दहेज तथा मद्यपान जैसी कुप्रथायें भी कुष्ठ रोग की भाँति भारतीय समाज से चिपकी हुई हैं।यद्यपि सरकार इनके निवारण के प्रति सचेष्ट है फिर भी दिन प्रतिदिन इनका प्रचलन अधिक ही हो

रहा है । सबसे बड़े दुख की बात तो यह है कि इनका प्रचलन अब शिक्षित समुदाय में अधिक हो रहा है और तो और वह इन दुर्व्यसनों को ही अपनी प्रतिष्ठा एवं सम्मान का सूचक मान बैठा है,जो एक सभ्य समाज के लिए कलंक स्वरूप है ।

इन सब के अतिरिक्त आज का मनुष्य एक विशेष प्रकार के वैचारिक वातावरण से होकर गुजर रहा है । उसके एक ओर कार्ल मार्क्स के आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों से जन्मी मार्क्सवादी विचारधारा जीवन के प्रत्येक पहलू में अपना स्थान बना रही है तो दूसरी ओर फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक अन्वेषणों के कारण समाज में अनैतिकता एवं उच्छृंखलता को प्रश्रय मिल रहा है । साथ ही वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिणामस्वरूप मनुष्य का मानसिक झुकाव आध्यात्मिकता की ओर से हटकर बौद्धिकता की ओर बढ़ रहा है,जिसने सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में एक सामाजिक एवं वैचारिक क्रान्ति को जन्म दिया ।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत की एक अन्यतम विशेषता सामाजिक जीवन में बढ़ता हुआ धन का महत्व भी है । वस्तुत: आज समाज में वही व्यक्ति सम्मानित है जिसके पास धन है अत: इसकी प्राप्ति के लिये आज सर्वत्र चोरी बेईमानी, हिंसा तथा घूसखोरी जैसी सामाजिक विकृतियाँ पनप रही है,जिनकी सफलता ने प्राचीन आदर्शों की निरर्थकता एवं अव्यावहारिकता सिद्ध कर सामाजिक जीवन को अत्याधिक विश्रृंखल कर दिया है ।

आलोच्यकाल का साहित्य तथा संस्कृति पर प्रभाव

प्रत्येक साहित्यकार अपने युगीन जीवन के बहुमूल्य रत्नों को संचित करके ही अपने साहित्यिक कोष की श्रीवृद्धि करता है । अत: जैसे-जैसे देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में परिवर्तन उपस्थित होते हैं साहित्य का स्वरूप स्वत: ही परिवर्तित होने लगता है । हिन्दी का सम्पूर्ण साहित्य इस युग सत्य की स्पष्ट प्रतिकृति है ।

और यही कारण है कि स्वतन्त्रता से पूर्व जबकि सम्पूर्ण भारतवासी परतन्त्रता के पाश में जकड़े हुए अपनी मुक्ति के लिये संघर्षशील थे हिन्दी साहित्य भी युगानुकूल राष्ट्रीय भावना अथवा जागरणकालीन चेतना से अनुप्राणित होकर

राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहा था । यद्यपि हिन्दी साहित्य में जागरण का यह स्वर भारतेन्दु काल से ही मुखरित हो गया था किन्तु उस समय यह अपने प्रारम्भिक रूप में होने के कारण समाज सुधार अथवा देश दशा सुधार तक ही सीमित था । अत: तत्कालीन साहित्यकारों का प्रमुख प्रहार भी सामाजिक विसंगतियों तथा अज्ञानान्धकार में सोई देश की जनता के प्रति ही रहा है । किन्तु जैसे-जैसे यह जागकरणकालीन स्वर उग्र रूप धारण कर राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ग्रहण करता गया, हिन्दी साहित्य भी अपने सीमित परिवेश को त्याग कर विस्तृत राष्ट्रीयता से जुड़ता गया । २० वीं शताब्दी का सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इस युगीन व्यापक राष्ट्रीयता का प्रत्यक्ष प्रमाण है । जहाँ साहित्यकार ने सामाजिक आन्दोलनों की अपेक्षा सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त राजनीतिक आन्दोलनों को ही अपने साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया ।

किन्तु आलोच्यकाल में राष्ट्रीय भावना का विकास प्राय: दो रूपों में हो रहा था - प्रथम, अपनी प्राचीन संस्कृति के उज्ज्वल एवं गौरवमय रूप चित्रण द्वारा भारतीय जनता को जागृत कर उसे उस अमूल्य गौरव को पुन: प्राप्त करने की प्रेरणा देकर; द्वितीय, शासकों एवं शोषकों के अत्याचारों की ओर भारत की अज्ञान एवं निरीह जनता को आकृष्ट कर उनसे विद्रोह करने की प्रेरणा देकर । जिसका व्यापक प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा । प्रसाद का सम्पूर्ण नाटक साहित्य यदि राष्ट्रीय भावना के प्रथम रूप का परिचायक है, तो प्रसादोत्तर साहित्य उसके द्वितीय रूप का । वर्तमान साहित्य पर छाये राष्ट्रीय आन्दोलनों के व्यापक प्रभाव को देखकर ही पं० नन्द दुलारे वाजपेयी का कथन है कि "इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की छलक में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फूला है ।"[१]

यद्यपि यह सत्य है कि अनेक उपन्यासकारों, नाटककारों तथा कहानीकारों ने अपनी कृतियों में इन राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा देश के आर्थिक एवं राजनैतिक परिवेश पर दृष्टिपात किया है, किन्तु इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता के अधिकारी मुंशी प्रेमचन्द्र ही माने जाते हैं जिन्होंने स्वच्छन्द काल्पनिक चित्रण का त्याग कर तथा यथार्थ जीवन को अपनी तीक्ष्ण लेखनी का प्रतिपाद्य बनाकर अन्य साहित्यकारों का पथ प्रदर्शन किया । उनका `रंगभूमि` तथा `कर्मभूमि` तो राजनैतिक जीवन का

---

१ नन्द दुलारे वाजपेयी - `आधुनिक साहित्य` भूमिका पृष्ठ २१ ।

जीता जागता चित्र है जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों का सजीव चित्र प्रस्तुत कर, सम्पूर्ण देश में व्याप्त अनैतिकता एवं अत्याचार के विरुद्ध आवाज भी उठायी है।

इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित होने के कारण स्वतन्त्रता पूर्व साहित्य में सर्वत्र अभूतपूर्व उत्साह एवं उल्लास की भावना तो दृष्टिगत होती ही है, साथ ही अंग्रेजों द्वारा किये गये अत्याचारों, आन्दोलनों में प्राप्त असफलताओं तथा जीवन के कटु अनुभवों के कारण अनेक स्थानों पर पीड़ा तथा निराशा के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं।

शोषकों के दुर्दमनीय व्यवहारों के साथ ही तत्कालीन समाज की भीषण सामाजिक समस्याएँ भी देश की अवनति का एक महत्वपूर्ण कारण बनी हुई थी। समाज-सुधार के क्रम में साहित्यकारों की दृष्टि इन समस्याओं के प्रति भी आकृष्ट हुई और उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से उनके निवारण का पूर्ण प्रयत्न किया। अत: तत्कालीन साहित्य में विधवा विवाह, दहेज प्रथा, स्त्री स्वातन्त्र्य, स्त्री शिक्षा, आर्थिक वैषम्य, अस्पृश्यता तथा निम्न वर्ग की स्वाधिकारों के प्रति सचेतनता आदि अनेक समस्याओं के गुण-दोषों का विवेचन कर उनका भी अत्यन्त यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है।

किन्तु १५ अगस्त सन् १९४७ को जब भारत शताब्दियों से जकड़ी पराधीनता की जर्जर श्रृंखलाओं को तोड़कर स्वतन्त्र हुआ तो सर्वत्र प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। देश भर में भारत के सर्वांगीण विकास के लिये अनेकों विकासात्मक कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये, जिससे प्रभावित होकर साहित्य ने भी एक नवीन मोड़ लिया और अब स्वतन्त्रता संघर्ष के स्थान पर साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य हुआ देश के पुनर्गठन का प्रयास। फलत: स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में सर्वत्र नवनिर्माण का असीम जोश एवं उत्साह तथा कुछ कर दिखाने की भावना है। किन्तु जैसे-जैसे परिस्थितियों के परिवर्तन से देश में सामाजिक विकृतियों एवं विसंगतियों का बाहुल्य हो रहा है, साहित्य भी अपना रूप बदलता जा रहा है। सन् ६० के बाद का साहित्य तो पूर्णत: विसंगतियों का ही साहित्य है। वस्तुत: इस समय तक आते-आते मनुष्य सामाजिक विकृतियों से इतना अधिक आक्रान्त हो गया था कि उनके समक्ष उसका नव-निर्माण का स्वप्न तो दूर हो ही चुका था, सामाजिक विसंगतियों के

बीच उसे अपना भविष्य भी अनिश्चित एवं अन्धकारमय प्रतीत होने लगा था,जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्य ने भी करवट बदली और नव-निर्माण की अपेक्षा अब साहित्य का मुख्य स्वर हुआ सामाजिक जीवन में व्याप्त निराशा, कुण्ठा,पीड़ा, घुटन, संत्रास आदि मनोविकारों की अभिव्यक्ति ।

साहित्य को निरन्तर नवीन दिशा प्रदान करने के साथ ही इन परिस्थितियों ने भारतीय संस्कृति को भी विशेष रूप से प्रभावित किया । हमारा देश काफी समय तक विदेशी शासकों के निकट सम्पर्क में रहा है अत: उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का व्यापक प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ना स्वाभाविक भी था ।

पाश्चात्य प्रभावस्वरूप भारतीय संस्कृति में जो सर्वप्रथम परिवर्तन दिखायी देता है वह है शिक्षा विकास द्वारा मानव-विचारों एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन । परिणामस्वरूप आज मनुष्य परम्परागत बातों में विश्वास न कर प्रत्येक वस्तु को बुद्धि एवं तर्क की कसौटी पर ही कसकर देखता है,जिससे एक ओर तो जीवन में वैज्ञानिकता का विकास हुआ दूसरे स्वतन्त्र एवं तर्क सम्मत विचारों का बाहुल्य हुआ ।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावस्वरूप भारतीय संस्कृति में जो दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ वह था पाश्चात्य विचारों के अन्धानुकरण द्वारा प्राचीन गौरवमयी भारतीय संस्कृति की अवहेलना । फलत: हमारे रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाजों तथा आचार-विचारों में तो परिवर्तन आया ही, उसके अन्धानुकरण से भारतीय समाज में एक अन्तर्विरोध उठ खड़ा हुआ,जिसने अपनी समग्रता में सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन को प्रभावित किया । हिन्दी का सम्पूर्ण नाटक साहित्य भारतीय संस्कृति के इस परिवर्तित रूप का जीवन्त प्रतिरूप है ।

अध्याय ३

यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाट्य साहित्य और भारतेन्दु युग

यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाट्य साहित्य और भारतेन्दुयुग

हिन्दी नाटक की भूमिका

नाटक भारतवर्ष की एक अति प्राचीन साहित्यिक विधा है। संस्कृत भाषा का विपुल नाट्य साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जहाँ कालिदास, भवभूति, दण्डी एवं भास सदृश अनेकों प्रतिभाशाली नाटककारों ने अपनी अमूल्य नाट्य रचनाओं की सुदीर्घ शृंखला को प्रस्तुत कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया। किन्तु जहाँ तक हिन्दी नाट्य साहित्य के उद्भव का प्रश्न है इसका प्रमुख दायित्व हिन्दी भाषा के मूर्धन्य साहित्यकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को ही है, जिन्होंने अपनी समन्वयात्मक बुद्धि के आलोक में प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पाश्चात्य साहित्य के अनुशीलन से हिन्दी साहित्य जगत में सहृदय सामाजिकों के शिक्षार्थ एवं देशोद्धारार्थ नाटक सदृश एक नवीन साहित्यिक विधा का प्रणयन किया।

प्राचीन संस्कृत साहित्य नाट्य रचना की दृष्टि से समृद्धशाली साहित्य था किन्तु जैसे-जैसे संस्कृत लोकजीवन से विच्छिन्न होकर एक सीमित वर्ग की भाषा बनती गयी, साहित्य जगत से भी उसका सम्बन्ध विच्छेद होता गया। परिणाम यह हुआ कि संस्कृत की वह महान् साहित्यिक परम्परा जो किसी समय उन्नति की पराकाष्ठा पर आसीन थी क्षीण होकर क्रमशः विलुप्त हो गयी और उसके स्थान पर एक नयी भाषा हिन्दी का आगमन हुआ। यद्यपि संस्कृत साहित्य के समानान्तर हिन्दी में भी कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि के द्वारा श्रेष्ठ साहित्य की रचना की गई किन्तु देश में व्याप्त तत्कालीन राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा एवं विलासिता के कारण रचनाकार का सम्पूर्ण चिन्तन, जो वर्ग, जाति, वर्ण, भाषा, परम्परा आदि प्रतिबन्धों से ऊपर उठकर मानव मात्र की मुक्ति के लिये प्रयत्नशील था, साधन तथा सुविधा के अभाव में छन्दोबद्ध भक्तिपूर्ण साहित्य रचना तक ही सीमित रहा और भक्ति की ओर से जब उनकी दृष्टि विरत हुई तो वह श्रृंगारिकता से पूर्ण रचनाओं में डूब गये। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दी साहित्य के इस सुदीर्घ अन्तराल में नाटकों की अपेक्षा छन्दोबद्ध साहित्य ही रचा गया। यद्यपि सामान्य जन-जीवन में प्राचीन नाटकों की यह परम्परा सामाजिकों की कलात्मक तुष्टि एवं धार्मिक भावनाओं की

पुष्टि हेतु लोक नाटकों यथा रामलीला, रासलीला तथा स्वाँगों के रूप में अपनी सत्ता अवश्य बनाये हुए थी किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से परिपूर्ण नाटकों का इस काल विशेष में एक प्रकार से अभाव ही रहा ।

यद्यपि नाटकों की इस पूर्व प्रचलित परम्परा को देखकर कुछ लोग हिन्दी नाटक को इन पूर्व-प्रचलित नाट्य रूपों का ही विकसित रूप मानते हैं[1]। किन्तु आज जबकि हिन्दी नाटकों का विकास हो चुका है, लोकनाटकों की परम्परा को उसी जीवन्त रूप में देखकर उनका यह आधार तर्कहीन एवं असंगत ही प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त ऐसा भी नहीं था कि संस्कृत साहित्य और भारतेन्दु काल के सुदीर्घ अन्तराल में नाट्य परम्परा बिलकुल ही विलुप्त हो गई हो वरन् वास्तविकता यह है कि रास-लीलाओं एवं स्वांगों के ऐतिहासिक एवं धार्मिक चरित्रों को आधार बनाकर ब्रजभाषा में `देवमाया प्रपंच नाटक``प्रभावती नाटक`,`आनन्दरघुनन्दन नाटक` सदृश कुछ नाटक लिखे गये, जो लीलाओं तथा स्वाँगों से कुछ उच्चकोटि के थे तथा जिन्हें नाटक नाम भी दिया गया । लेकिन नाट्यगुणों के अभाव में उन्हें नाटकत्व का वह गौरव प्राप्त न हो सका जो भारतेन्दुयुगीन नाटकों को प्राप्त हुआ । इसके साथ ही हिन्दी नाटकों के पूर्व पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप पारसी नाटकों का भी काफी जोर था, जो अश्लील एवं श्रृंगारिक कथाओं के माध्यम से सामाजिकों की कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने एवं अपरिष्कृत रुचि सम्पन्नों के सस्ते मनोरंजन के साधन थे । भारतेन्दु की दृष्टि इस ओर गयी और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने परिष्कृत रुचि सम्पन्नों के मनोरंजनार्थ एवं जन-साधारण के रुचि परिष्कार तथा देशोद्धार की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की रचना की और अश्लील श्रृंगारिक कथाओं पर आधृत नाटकों के स्थान पर नवीन यथार्थ दृष्टि सम्पन्न जन-जीवन को अपने नाटकों का मूलाधार बनाया ।

और इस प्रकार शास्त्रानुमोदित नाट्य-विधा, जिसे भारतेन्दु ने पात्र-प्रवेशादि एवं गद्य प्रयोग[2] माना, एक लम्बे अन्तराल तक अपनी परम्परा से विच्छिन्न रहकर भारतेन्दु के प्रतिभाशाली एवं बौद्धिक व्यक्तित्व से श्रृंखलाबद्ध हुई ।

---

१. डॉ० दशरथ ओझा - `हिन्दी नाटक उद्भव और विकास`, पृष्ठ ४२
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - `नाटक` संपा० दामोदर स्वरूप गुप्त, पृष्ठ ५५

नाटक और यथार्थवाद

हिन्दी नाट्य जगत में यथार्थवादी विचारधारा अथवा जीवन दृष्टि का उदय यों तो पाश्चात्य साहित्य अथवा कला के एक सिद्धान्त रूप में १९३६ के आस-पास प्रगतिशील अन्दोलन के दौर में रचित सामाजिक नाटकों से ही माना जाता है[१]। किन्तु यथार्थवाद की मूलभूत विशेषता-- अपने युग अथवा परिवेश के चित्रण में तटस्थता तथा लेखक की ईमानदारी, सच्चाई अथवा निरपेक्षता[२]--को लक्ष्यकर हिन्दी नाट्य साहित्य में यथार्थवाद के उद्भव का आदि श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही दिया जाता है, जिन्होंने अपने प्रखर यथार्थबोध का परिचय देते हुए परम्परित नाट्य शैली में परिवर्तन कर नाटक को पुराण अथवा इतिहास के गर्भ से निकाल कर अपने समसामयिक जीवन अथवा परिवेश से जोड़ दिया। यथार्थवाद का यह प्रारम्भिक रूप भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों के नाटकों में सर्वत्र ही दिखायी देता है जहाँ उन्होंने पाश्चात्य साहित्य में विकसित यथार्थवादी विचारधारा से सर्वथा अपरिचित रहते हुए भी हिन्दी में यथार्थ दृष्टि सम्पन्न श्रेष्ठ मौलिक नाटकों की रचना की, जो क्रमश: विकसित एवं परिष्कृत होता हुआ परवर्ती सैद्धान्तिक यथार्थवादी नाटकों में परिणत हुआ।

अत: हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के विश्लेषण की दृष्टि से सर्वप्रथम हमारी दृष्टि भारतेन्दु युग पर ही केन्द्रित होती है, जिसके अन्तर्गत नाटकों के अध्ययन द्वारा हमने यह देखने का प्रयास किया है कि हिन्दी नाटककारों ने अपने नाटकों में वर्ण्य विषय के रूप में जिन सन्दर्भों अर्थात् समस्याओं का चयन किया है वह वस्तुत: यथार्थवादी अर्थात् उनके अपने युग की है अथवा नहीं, और यदि है तो उनके प्रति नाटककारों का क्या दृष्टिकोण रहा है तथा वे अपने युग को प्रतिबिम्बित करने में कहाँ तक सफल हुए हैं।

भारतेन्दु युग (सन् १८७०-१९०० तक)

हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह युग-विशेष अंग्रेजों के बढ़ते हुए सम्पर्क के कारण सर्वत्र पाश्चात्य एवं पौर्वात्य नवीन एवं प्राचीन विचारों के संघर्ष से एक संक्रमण की स्थिति से गुजर रहा था। भारतीयों के समक्ष एक ओर तो अपनी प्राचीन

---

१. शिवकुमार मिश्र - 'यथार्थवाद', पृष्ठ १९५
२. जार्ज लुकाच - 'स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज्म', पृष्ठ १३७-१३८

भारतीय संस्कृति थी और दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव स्वरूप आगत नवीन विचार, जिनके सम्मिलित प्रभाव ने परम्परित भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में एक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर उसे अत्यन्त विशृंखल कर दिया था । फलत: संक्रान्ति की इन विषम परिस्थितियों में भारतवर्ष की उन्नति तथा भारतवासियों को उचित मार्ग पर लाने के लिये यह आवश्यक था कि कोई प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति दोनों संस्कृतियों के उचित आदर्शों का समन्वय कर उनका पथ-प्रदर्शन करे । संयोग से इसी समय भारतीय रंगमंच पर बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा हुआ जो अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर भी भारतीय संस्कृति की गरिमा को अपनी दृष्टि से ओझल न कर सका था, अत: उसने दोनों संस्कृतियों के समन्वय से अध:पतित भारत के समक्ष आत्मोन्नति का एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया । यों तो इस समय तक देश के विभिन्न भागों में ऐसे अनेकों प्रयास प्रारम्भ हो गये थे किन्तु हिन्दी प्रदेश में एक साहित्यकार के रूप में भारतेन्दु ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लिया । यद्यपि इसकी मूल प्रेरणा उन्हें अपनी बंगाल यात्रा के दौरान बंगाल में होने वाले धार्मिक साहित्यिक एवं सामाजिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप होने वाले नवजागरण, जिसका संचालन वहाँ राजा राममोहन राय, प्रिंस द्वारिका नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन तथा ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर प्रभृति विद्वान् अपने नवीन एवं प्राचीन विचारों के समन्वय द्वारा कर रहे थे, से मिली थी । किन्तु इसके साथ ही उनके चारों ओर के वातावरण तथा उनके व्यक्तिगत विचारों ने भी उन्हें इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये प्रेरित किया । वस्तुत: नवोत्थान के सन्धिकाल में जन्म लेने के कारण वह न तो घोर प्रतिक्रियावादी थे और न प्रगतिवादी, अत: उन्होंने अपने उदार विचारों एवं समन्वयवादी भावना से प्रेरित होकर आगत एवं अतीत तथा नवीन एवं प्राचीन दोनों के ही बहुमूल्य रत्नों को संचित कर अपने वर्तमान को संवारने एवं सुदृढ़ राष्ट्र की स्थापना करने का प्रयास किया । और यही कारण है कि उनके नाटकों में एक ओर जहाँ भारतीय एवं पाश्चात्य उन्नतिशील विचारों की प्रशंसा की गई है तो दूसरी ओर वहाँ प्रचलित कुप्रथाओं की निन्दा भी ।

भारतेन्दु ने जिस समय अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया, भारत का राजनैतिक जीवन विश्रृंखलता की चरम सीमा पर था । अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का प्रतिक्रियात्मक परिणाम सन् १८५७ का विद्रोह यद्यपि इस समय तक पूर्णत: शान्त हो चुका था तथा भारत का शासन प्रबन्ध भी हस्तान्तरित होकर महारानी विक्टोरिया

के हाथों में आ गया था, जिनके सद्भावनापूर्ण आश्वासनों से भारतवासियों को कुछ राहत की सांस भी मिली थी, किन्तु उनकी यह नीति अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। वरन् सत्य तो यह है कि विद्रोह के पश्चात् भारत आये, नये वायसरायों ने भारत में अपने पैरों को सुदृढ़ करने के लिए दमनचक्र को ही अधिक तीव्रता से चलाया। कारण, भारतीयों ने इस युद्ध में जिस अपूर्व साहस एवं एकता का परिचय दिया था उससे अंग्रेजों को अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगा था, अत: उन्होंने जी खोलकर भारतीयों का शोषण किया तथा अपनी प्रसिद्ध छलपनीति के स्थान पर कूटनीति का सहारा लिया। और इस प्रकार मित्रता एवं सुधार के नाम पर देश के एक विशाल जन-समुदाय को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया।

राजनीतिक वातावरण के साथ ही देश का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन भी अशिक्षा एवं धर्मान्धता के कारण रूढ़िग्रस्त होकर रसातल को पहुंच रहा था। सर्वत्र अनैतिकता, भ्रष्टाचार एवं शोषण का साम्राज्य तो था ही, देश में व्याप्त रूढ़िगत मान्यताएँ यथा बालविवाह, बहु-विवाह, विधवाविवाह निषेध, वेश्यागमन, अशिक्षा, वर्णव्यवस्था तथा छुआछूत आदि भी समाज को जर्जरित कर देश की उन्नति में अनेक अवरोध उपस्थित कर रहीं थी। ऐसी ही विषम परिस्थिति में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान एवं बंगाल में होने वाले नवजागरण के आलोक में राष्ट्रप्रेमी, समाजोद्धारक एवं नव-शिक्षित भारतेन्दु का साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु साहित्यकार के साथ-साथ एक सुधारक भी थे अत: समाज संस्कार अथवा परिष्कार के उद्देश्य से उन्होंने उन रूढ़िबद्ध आदर्शों एवं मान्यताओं पर पुनर्विचार तो किया ही, साथ ही समाजोपयोगी नवीन विचारों को जन-सामान्य तक पहुँचाने के लिये साहित्य विशेषत: नाट्य-साहित्य को ही सर्वोत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया। क्योंकि तत्कालीन भारत की अशिक्षित जनता के बीच नाटक ही एक ऐसा सशक्त माध्यम था जिसके द्वारा गाँवों की पददलित शोषित एवं निरक्षर जनता भी देख अथवा सुनकर कुछ ज्ञानार्जन कर सकती थी।[१] साथ ही सर्वसाधारण भी नाटक देखने के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करते थे।[२] अत: भारतेन्दु

---

१. 'नाटक से बढ़कर ऐसा दूसरा कोई उपाय नहीं है जिससे सर्वसाधारण को सामाजिक दशा का वर्तमान चित्र दिखाकर उसका पूरा-पूरा सुधार किया जाय।'
—किशोरीलाल गोस्वामी - 'नाट्य संभव' की प्रस्तावना, पृष्ठ २

२. 'आज वही भारतवर्ष है कि यहाँ के ग्रामीण मनुष्य तथा छोटे-छोटे बालक और स्त्रियाँ तक नाटक देखने को टिड्डी दल की भाँति टूट पड़ती है।'
— लाल खड्ग बहादुर मल्ल, 'कल्पवृक्ष' पृष्ठ २।

युग में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाट्य रचना के प्रति विशेष झुकाव रहा तथा नाटकों में भी समाज अथवा जीवन के उन सन्दर्भों तथा समस्याओं को ही नाट्य विषय के रूप में स्वीकार किया गया जो तत्कालीन जीवन के यथार्थ को चित्रित करने में पूर्णतः समर्थ थे ।

किन्तु उनकी इस दृष्टि के मूल में उनकी राष्ट्रीयता अथवा देश-प्रेम की भावना ही कार्यरत थी अतः उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र देशोद्धार की भावना से प्रेरित होकर तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों,अन्धविश्वासों कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों तथा राजनीतिक अन्यायों एवं अत्याचारों को ही अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया है। जो तत्कालीन समाज की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का वास्तविक एवं यथार्थ चित्र तो प्रस्तुत करते ही हैं साथ ही सहृदय सामाजिकों को समाज की इस शोचनीय स्थिति से अवगत कराकर उन्हें इनसे सचेत एवं मुक्त होने के लिये प्रेरित भी करते हैं । इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं उन्होंने ऐतिहासिकता एवं काल्पनिकता का सहारा लिया है वहाँ पर भी उनकी दृष्टि यथार्थ पर ही केन्द्रित रही है । जिसके मूल में उनका मुख्य उद्देश्य जीवन से मुँह फेरना नहीं वरन् अपने यथार्थ को ही अत्यधिक गहन एवं प्रगाढ़ बनाना तथा युग को कोई बात सुझाना या सिखाना था ।[१] इस प्रकार भारतेन्दु ने अपने सद्प्रयत्नों से पूर्व प्रचलित ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रेम प्रधान नाटकों की अपेक्षा सामाजिक नाटकों की आधारशिला रखकर अज्ञान के अन्धकार में सोये भारतीयों को पुनः जागृत करने एवं उन्हें स्वदेशानुराग की भावना से परिपूर्ण करने का कार्य किया । भारतेन्दु ने स्वयं तो इस महान् कार्य में सहयोग दिया ही परवर्ती नाटककारों को भी इसके लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया । और यही कारण है कि उनके जीवन काल में ही उनके द्वारा प्रशस्त इस नवीन मार्ग पर चलने के लिए नाटककारों का एक विस्तृत समुदाय संगठित हो गया, जिनमें प्रमुख थे- बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, बदरीनारायण चौधरी `प्रेमघन`, खड्.ग बहादुर मल्ल, केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास तथा गोपालराम गहमरी ।

जागरणकालीन परिस्थितियों में जन्म लेने के कारण उपरोक्त सभी नाटककार समाजोत्थान की भावना से प्रेरित एवं प्रभावित थे । अतः उनके नाटकों में

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा -`भारतेन्दु युग`, पृष्ठ ७२ ।

सुधारवादी दृष्टिकोण ही सर्वोपरि रहा, जो आर्य समाज की खण्डन-मण्डन पूर्ण तार्किक पद्धति तथा हास्य-व्यंग्य के मधुर छींटों के रूप में तत्कालीन नाटकों में सर्वत्र ही मुखरित हुआ है। विषय वस्तु की दृष्टि से इस युग की महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं धार्मिक असंगतियाँ अथवा रूढ़ियाँ, धर्मान्धता, बाल विवाह, बहुविवाह, विधवा विवाह निषेध, अनमेल विवाह, वेश्यागमन एवं अशिक्षा। जिनके निवारणार्थ उन्होंने अपने नाटकों में इन समस्याओं के दुष्परिणामों को दिखाकर समाधानात्मक चित्र तो प्रस्तुत किये ही हैं साथ ही इनके माध्यम से परिवर्तित परिस्थितियों में प्राचीन सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों की निरर्थकता सिद्ध कर अपने तर्क-सम्मत विचारों द्वारा भारतवासियों को आत्मोन्नति का एक नवीन मार्ग भी दिखाया है। किन्तु नवीनता के आग्रह में वह अपने संस्कारों से कहीं भी विमुख नहीं हुए हैं, वरन् सत्य तो यह है कि भारतीयता की रक्षा करते हुए उन्होंने सर्वत्र उन विकारों का ही विरोध किया है जो विदेशी संस्कृतियों के प्रभावस्वरूप अथवा समाज एवं धर्म के ठेकेदारों के स्वार्थवश भारतीय संस्कृति में उत्पन्न होकर समाज को पतन की ओर ले जा रहे थे। यद्यपि कहीं-कहीं इन्होंने पाश्चात्य संस्कारों के ग्रहण का भी आग्रह किया है किन्तु वहाँ पर उनकी दृष्टि अन्धानुकरण की न होकर समन्वयात्मक ही थी अत: उन्होंने गुणों को स्वीकार्य मानते हुए भी उनके दोषों की सदैव निन्दा ही की है।[१] और इस प्रकार संक्रान्ति की इस अवस्था में नवीन प्रभाव ग्रहण करते हुए भी 'भारतीय' बने रहने में ही सच्चा देशहित समझा।[२]

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन नाटककारों के समक्ष समाज का संस्कार अथवा पुनरुत्थान ही उनका मुख्य ध्येय था, किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि उनका यह 'समाज' शब्द संकुचित समाज तक सीमित न होकर विस्तृत अर्थों में सम्पूर्ण राष्ट्र का ही द्योतक था अत: समाज सुधार के इस क्रम में उनकी दृष्टि सामाजिक विकृतियों के साथ ही राजनीतिक विकृतियों की ओर भी आकृष्ट हुई जिसके उद्घाटन ने सम्पूर्ण देशवासियों में एक अभूतपूर्व राजनैतिक चेतना का प्रसार किया। मूलत: यह समस्त नाटककार शिक्षित समुदाय के एक ऐसे वर्ग के प्रतिनिधि थे जो अंग्रेजों के सम्पर्क में

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नील देवी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५९६

२. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - ,, भारतेन्दु की विचारधारा ', पृष्ठ १०

रहने के कारण अंग्रेज शासकों की साम्राज्यवादी नीतियों से भी पूर्णत: परिचित थे, अत: उन्होंने अपने नाटकों में उनकी षडयन्त्रकारी नीतियों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर उनकी कटु आलोचना तो की ही साथ ही उनका विरोध कर शासन-प्रणाली में समुचित सुधार की माँग भी की। यथा —

'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धनविदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।'

जो तत्कालीन परिस्थितियों में नाटककारों का एक सर्वथा नवीन प्रयास था । यद्यपि राष्ट्रीय चेतना का प्रथम वैतालिक स्वर भारतेन्दु साहित्य से पूर्व सन् १८५७ के विद्रोह रूप में सुनाई पड़ा था, किन्तु अंग्रेजों के आतंक, शिक्षित भारतवासियों की राजभक्ति तथा अंग्रेज शासकों के प्रति विश्वास के कारण इसकी सशक्त अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य में सम्भव न हो सकी थी ।[१] लेकिन जब वह अपने वादों से मुकरने लगे तो भारतवासियों का उक्त विश्वास विद्रोह में परिवर्तित होने लगा । इसके साथ ही सन् १८५७ के युद्ध में होने वाली पराजय का क्षोभ अथवा असन्तोष भी कम न था, जो भारतीयों के अन्तरतम में प्रज्वलित होता हुआ उपयुक्त अवसर पाकर भारतेन्दुयुगीन साहित्य में अभिव्यक्त हुआ । भारतेन्दुयुगीन नाटककारों के इस यथार्थबोध -- जो एक ओर सामाजिक जीवन से जुड़ा था तो दूसरी ओर राजनीतिक जीवन से — को देखकर ही प्रस्तुत अध्याय में भारतेन्दुयुगीन समस्त नाटकों का अध्ययन भी क्रमश: दो भागों में किया गया है :

(१) सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटक ।

(२) राजनैतिक समस्याओं पर आधारित नाटक ।

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा- 'संस्कृति और साहित्य', पृष्ठ ६८

सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटक

नव जागरण के आलोक में सामाजिक उन्नायकों की दृष्टि समाज की जिन गलित रूढ़ियों, अन्धपरम्पराओं अथवा विकृतियों की ओर आकृष्ट हुई, उनमें सर्व प्रमुख है :

(क) धर्मान्धिता -

तत्कालीन समाज में धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बर एवं पाखण्ड नित्य नवीन समस्याओं को जन्म देकर सामाजिक गतिशीलता में बाधा उत्पन्न कर रहे थे, अत: देशोद्धार के प्रयास में इन नवजागृतों का प्रमुख प्रहार देश की धार्मिक अव्यवस्था पर ही रहा है। किन्तु पुनरुत्थान काल में जन्म लेने के कारण इनका मुख्य उद्देश्य 'हिन्दू पुनरुत्थान' मात्र था अत: इनके नाटकों का प्रमुख प्रहार भी मुख्यत: हिन्दू धर्म, धार्मिक विकृतियों एवं धर्मान्ध चरित्रों पर ही रहा है, जिसके माध्यम से उन्होंने हिन्दू धर्म की संकीर्णता एवं रूढ़िगत अन्धविश्वासों को दूर कर एक व्यापक धर्म की प्रतिष्ठा तो की है साथ ही धार्मिक जीवन में व्याप्त विकृतियों असंगतियों एवं अव्यवस्था का उद्घाटन कर पाठकों के हृदय में उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करने का भी प्रयास किया है। वस्तुत: वह जानते थे कि जब तक भारत आन्तरिक रूप से सुदृढ़ नहीं होगा तब तक भारत का उद्धार सम्भव नहीं, जिसकी पूर्ति उन्होंने अपने नाटकों में धार्मिक रूढ़ियों एवं विसंगतियों के उद्घाटन तथा आदर्श हिन्दू चरित्रों की अवतारणा द्वारा की।

धार्मिक अव्यवस्था एवं धर्मान्ध चरित्रों को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सर्वप्रथम रचना है। इसमें उन्होंने धर्म के ठेकेदारों, पंडितों एवं पुरोहितों के चरित्रोद्घाटन द्वारा धार्मिक कर्म-काण्डों एवं धर्म की आड़ में हो रहे भ्रष्टाचार का यथार्थोद्घाटन कर हिन्दू धर्म की संकीर्णता एवं समाज के पतन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। वस्तुत: तत्कालीन समाज में अंग्रेजों के संसर्ग से सामाजिकों के खान-पान एवं आचार-विचार में जो उच्छृंखलता आ रही थी वह धर्माधिकारियों की विलासी मनोवृत्ति के कारण अब धर्म के क्षेत्र में भी दिखायी देने लगी थी। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन धर्म की आड़ में अपनी वासनाओं की तृप्ति करने वाले ऐसे ही कुछ पाखण्डी ब्राह्मणों पर व्यंग्य है

जो माँस-मदिरा तथा परनारी गमन जैसे दुर्व्यसनों का खुलकर उपभोग तो करते ही थे साथ ही उन्हें तर्कों द्वारा शास्त्रानुमोदित एवं धार्मिक कर्मकाण्ड का एक अंग घोषित कर सर्वथा उपभोग्य एवं सेवनीय भी बताते थे यथा -'न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।'

इस प्रकार हिन्दू धर्म अपने वास्तविक स्वरूप से विमुख होकर स्वार्थ-सिद्धि का एक साधन मात्र बनता जा रहा था। किन्तु एक वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण भारतेन्दु उनकी इस दम्भपूर्ण नीति से अत्यन्त दुखित थे, अत: इस नाटक में उनका प्रहार पण्डितों एवं पुरोहितों पर ही रहा है जिनका उद्घाटन करते हुए वे लिखते हैं - 'महाराज ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दम्भार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत न किया होगा पर मन्दिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा ताकते रहे, महाराज इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है और समय तो मैं श्री रामचन्द्र जी का, श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी - --'[१] । 'प्रेमजोगिनी' में तो भारतेन्दु ने मन्दिर के पुजारियों के भोगविलासी जीवन का चित्रण करते हुए धार्मिक आडम्बरों की ओट में फैली विलासिता को ही चित्रित करने का प्रयास किया है, जिसके कारण अधिकांश मन्दिर ईश्वरीय उपासना की जगह वासना एवं भोगविलासों के केन्द्र बनते जा रहे थे । जिनका यथार्थ चित्र बनितादास के निम्न शब्दों में स्पष्ट है : 'कुछ कहे की बात नाहीं है । भाई मन्दिर में रहे से स्वर्ग में रहे । खाए के अच्छा, पहिरे के परसादी से महाराज कब्बों गाढ़ा तो पहिरबे न करियै, मलमल नागपुरी ढाकैं पहिरियें, अतरै फुलेल केसर परसादी बीड़ा चामो सब से सेबकी ल्यों, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है ।'[२]

भारतेन्दु के अनुकरण पर ही राधाचरण गोस्वामी ने धार्मिक विकृतियों को आधार बनाकर 'तन मन धन गोंसाई जी को अर्पण' प्रहसन की रचना की । वैष्णव धर्म की आड़ में ये कामी गुरु किस प्रकार नित्यप्रति नवीन प्रथाओं को जन्म देकर तथा

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ६० ।

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'प्रेमजोगिनी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास पृष्ठ ३२६ ।

अनुचित कार्यों को भी धार्मिक कर्मकाण्डों के रूप में प्रतिपादित कर धर्मभीरू अज्ञानी एवं धर्मपरायण जनता को ठगकर अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहे थे, इनका यथार्थ चित्रण गोस्वामी जी ने अपने इस प्रहसन में गोसाईं जी के चरित्र के माध्यम से किया है जो गोकुल की नवविवाहिता पत्नी के प्रति आसक्त होकर उसके श्वसुर रूपचन्द्र को परम्परागत प्रथा समर्पण की याद दिलाता है। अपने दूसरे प्रहसन 'बूढ़े मुंह मुंहासे' में भी राधाचरण गोस्वामी ने भगवद्भक्तों की इस विलासी प्रवृत्ति को ही अपने प्रहसन का मूलाधार बनाया है। ये तथाकथित भगवद्भक्त जो अपने धार्मिक संस्कारों के कारण खान-पान में तो मुसलमानों का विरोध करते थे किन्तु इन्द्रियों के नियन्त्रण के अभाव में उन्हीं मुसलमानों के साथ व्यभिचार करते समय अपने धर्म की चिन्ता भी नहीं करते थे, तब उनका कथन होता—'शास्त्र में लिखा है कि यौवन में कुकुरी भी धन्य है।'[१] अथवा 'फिर क्या इस परी के लिए हिन्दू-धर्म क्या चीज है।'[२] वस्तुत: जहाँ धर्म के नियन्ता ही अपने आचरण से विमुख हो रहे हों तो अन्य सामाजिकों का तो कहना ही क्या ? तत्कालीन सामाजिकों के इसी विलासी चरित्र का उद्घाटन भारतेन्दु ने अपने 'प्रेमजोगिनी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में किया है।

तत्कालीन पण्डितों पुरोहितों के साथ ही नाटककार की तीक्ष्ण एवं सजग दृष्टि पण्डों की स्वार्थी मनोवृत्ति पर भी पड़ी थी, जिनका यथार्थ चित्रण भारतेन्दु ने अपने 'प्रेमजोगिनी' में काशी नगरी का चित्रण करते हुए एक परदेसी के माध्यम से किया है, जो कहता है --

> घाट जाओ तो गंगापुत्तर नोचैं दै गल फाँसी।
> करैं घाटिया बस्तर-मोचन दे दे के सब झाँसी ।।[३]

यहाँ बार-बार पण्डितों के इस कर्मकाण्डीय चरित्र को उद्घाटित करने के मूल में नाटककार का एकमात्र मन्तव्य यही था कि वह उन सतही और गलत

१-२. राधाचरण गोस्वामी - 'बूढ़े मुंह मुंहासे' पृष्ठ क्रमश: २१, ३४।
३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'प्रेमजोगिनी' भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ३३३-३३४।

धारणाओं से उन सामाजिकों की यथासम्भव रक्षा कर सकें जो किसी तरह अपने उद्धार या विकास की ओर उन्मुख होने की चेष्टा कर रहा था। और इसीलिये उन्होंने इन पण्डितों और पुरोहितों को धर्म के सन्दर्भ में कभी व्यंग्य कभी पीड़ा और कभी चिन्ता के स्तर पर अपने नाट्य विषय का आधार बनाया है, जो अपने सीमित रूपाकार में ही युग-जीवन की एक सच्ची तस्वीर हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं।

संयोग से इसी समय स्वामी दयानन्द आर्य समाज की स्थापना कर धर्म की आड़ में पनपने वाली विकृतियों रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का विरोध कर वास्तविक वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा द्वारा भारतवासियों को नवजागरण का सन्देश दे रहे थे, जिससे प्रभावित होकर इस युग के अधिकांश नाटककारों ने धार्मिक रूढ़ियों एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति एक आलोचनात्मक रुख भी अपनाया, जो तत्कालीन नाटकों में स्पष्ट परिलक्षित है। आर्य समाज की इसी आलोचनात्मक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर राधाकृष्णदास अपने `दुखिनीबाला` नाटक में एक जागरूक नवशिक्षित पात्र के शब्दों में ब्राह्मणों की कर्मकाण्डता की उपेक्षा कर वैदिक धर्म को ही अनुकरणीय बताते हुए तर्क देते हैं --`जो बापदादा करते थे वह करना चाहिए` यह कभी नहीं जो वेद में लिखा है वह करना चाहिए क्योंकि हम वैदिक हिन्दू हैं और ब्राह्मण कुछ परमेश्वर नहीं है जहाँ ब्राह्मणों का महात्म है वहाँ यह नहीं लिखा है कि जो ब्राह्मण कहे अच्छा हो या बुरा वही किया जाय। ब्राह्मणों को केवल जप-तप, पठन-पाठन वैदिक कर्म कराने का अधिकार है यह अधिकार नहीं कि वे नित्यमेव नई-नई बात कहें और लोग उसको जबरदस्ती मानें।`[१]

वस्तुत: पंडितों की इस स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण तत्कालीन धर्म का जो विकृत रूप हो रहा था वह स्वयं को तो बदनाम कर ही रहा था, समाज में अनेक विकृतियों को जन्म देकर सामाजिक गतिशीलता में भी बाधा उत्पन्न कर रहा था अत: इस युग के नाटककारों ने अपने नाटकों में धर्म के कारण उत्पन्न सामाजिक विकृतियों का भी अति यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। तत्कालीन समाज में धर्म के कारण जिन सामाजिक विकृतियों का बाहुल्य था उनका उद्घाटन करते हुए `भारत दुर्दशा` में

---

१. राधाकृष्णदास - `दुखिनी बाला`, पृष्ठ ५

सत्यानाश फौजदार कहता है —

जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो
खान-पान संबंध सबन सो बरजि छुड़ायो

< < < <

अपरस सोलह छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाय
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय ।।[1]

भारतेन्दु की भाँति राधाकृष्णदास ने भी अपने नाटकों में सामाजिक कुरीतियों का मूल कारण धर्म को ही माना है,किन्तु उनका प्रमुख प्रहार सामाजिकों की धर्मान्ध प्रवृत्ति पर ही है जो उचित अनुचित का विचार किये बिना धर्म के नाम पर लोगों का सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर रहे थे। अत: उनपर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए वह `दुखिनीबाला` में कहते हैं—`यह काहे को होना है, ब्राह्मणों को फिर कौन पूछेगा । चाहे अपनी कैसी ही हानि क्यों न हो परन्तु ब्राह्मणों की बात न टले ।[2] वैष्णव भक्तों की यही धर्मान्धता राधाचरण गोस्वामी के `तन मन धन गोसाईं जी को अर्पण ` में धर्म के नाम पर अपनी बहू-बेटियों को संकट में डालकर अपने को सौभाग्य-शाली समझने वाले धर्मान्ध चरित्रों के रूप में प्रकट हुई है,जो अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों की धर्मान्ध प्रवृत्ति पर ही व्यंग्य है ।

सामाजिक विसंगति और नारी जीवन

तत्कालीन समाज में व्याप्त इन धर्मगत रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के साथ ही समाज में प्रचलित जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, बालविवाह, बहुविवाह, सती प्रथा तथा विधवा विवाह निषेध सदृश अनेकों सामाजिक विकृतियाँ भी विकराल रूप धारण किये हुए थी । समाज सुधार के क्रम में नाटककारों का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट हुआ । किन्तु उनकी दृष्टि में समाज की इन समस्याओं से पीड़ित एवं प्रताड़ित यदि कोई वर्ग

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -`भारत दुर्दशा ` भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४७५ ।

२. राधाकृष्णदास - `दुखिनीबाला` पृष्ठ ६ ।

था तो वह था नारी वर्ग । जो सामाजिक मान्यताओं के वशीभूत हो पुरुष वर्ग के लिये मात्र उपभोग की वस्तु समझा जाता था तथा समाज में उसका अपना कोई व्यक्तित्व एवं सम्मान भी न था । अत: वह अपने नाटकों में नारी के प्रति विशेष रूप से चिन्तित दिखायी देते हैं । वस्तुत: जिस भारतवर्ष में नारी की स्थिति किसी समय स्वर्ग से भी श्रेष्ठ मानी जाती थी `जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी` अथवा पूजा की वस्तु समझी जाती थी `यत्र नारी पूज्यन्ते तत्र रमन्ते देवता` उसी भारत देश में नारी का यह अपमान अथवा तिरस्कार उनके लिये अत्यन्त लज्जा की बात थी । फलतः कुछ प्रतिभा सम्पन्न जागरूक नवशिक्षितों की दृष्टि नारी की इस शोचनीय दशा की ओर आकृष्ट हुई और उन्होंने उसके कारणों का पता लगाकर उसके उद्धार हेतु सामाजिक विसंगतियों एवं विकृतियों के विरुद्ध एक सक्रिय आन्दोलन छेड़ दिया तथा अपने अथक् प्रयत्नों द्वारा उसे पुन: उसका पूर्व गौरव प्रदान करने का निश्चय किया। हिन्दी साहित्य में सामाजिक क्रान्ति के उन्नायक भारतेन्दु के सामाजिक आदर्श का तो नारा ही था `नारि नर सम होहिं`, जिसे भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने तो आजीवन निभाया ही, आर्य समाज के व्यापक प्रचार ने नारी उत्थान के इस महत्वपूर्ण प्रयास को व्यापक गतिशीलता भी प्रदान की । भारतेन्दु के पश्चात् तो आर्य समाज के प्रभाव स्वरूप नारी सम्बन्धी समस्याओं को लेकर नाटक लिखने वालों का एक विस्तृत वर्ग उठ खड़ा हुआ, जिसने अपने नाटकों के माध्यम से समसामयिक सामाजिक विसंगतियों एवं रूढ़ियों की व्यर्थता सिद्ध कर, मानव मस्तिष्क का परिष्कार तथा नारी दशा सुधार का ही पूर्ण प्रयत्न किया ।

तत्कालीन समाज में थोथी सामाजिक मान्यताओं से आक्रान्त नारी की जो दुर्दशा थी उसका यथार्थ चित्र बालकृष्ण भट्ट के `जैसा काम वैसा परिणाम` नाटक की नायिका मालती के निम्न शब्दों में पूर्णत: स्पष्ट है, जहाँ वह अपने जीवन से दुखी होकर नारी जीवन को ही घृणास्पद एवं पाप का परिणाम मानने लगती है अत: कहती है, `हमारे भाग्य में जो सुख बदा होता तो क्या तिरिया का जन्म पाती । नारी के समान घिनौना जन्म किसी का न होगा जिसने पुर्बले में बड़े-बड़े पाप कर रखे हैं वही स्त्री का जन्म पाते हैं । पराधीन तिस पर भी अनेक यातना जैसे पिंजरे में बन्द पखेरू हो । ऊँची-ऊँची दीवालों से घिरा हुआ घर क्या मानों पिंजरा है । सूर्यदेव

भी जिसका मुख कभी न देखते हों, न हवा अंग स्पर्श कर सकती हो, वही नारी सती कलावती, पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है जिसने बाहर कभी पाँव न रखा हो। पढ़ने लिखने से चरित्र बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें लिखना पढ़ना नहीं सिखलाया जाता ।.....लड़काई में माँ-बाप के आधीन रहती है, ब्याह होने पर सास ससुर और पति के वश में रही । जो वे हमें अच्छी तरह रक्खें, लिखना पढ़ना सिखावें, हमें तुच्छ न समझें, हमसे घिन न करें मनुष्य का सा बर्ताव हमारे साथ करें और कहाँ लौं कहें मुंह भर हमसे बोलें भी तो सही, तो भी हम अपना भाग्य सराहें और अपना जन्म सफल मानें । आठ ही वर्ष से हमें ब्याह देते हैं सो भी बिना देखे भाले, बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट हो जाता है ।[1] यहाँ मालती के इस विस्तृत कथन को सम्पूर्ण उद्घाटित करने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि इससे एक ओर जहाँ युगीन नारी-विषयक मानसिकता का बोध होता है वहीं दूसरी ओर इससे रचनाकार की सूक्ष्म संवेदनशीलता, चिन्तना और जागरूकता का भी परिचय मिलता है ।

नारी जीवन की इसी दुखद समस्या को प्रतिपाद्य बनाकर राधाकृष्णदास ने 'दुखिनी बाला' नाटक लिखा । नाटक के प्रारम्भ में नटी का निम्न संवाद 'हा ! इस भारतवर्ष में बहु-विवाह, बाल्य विवाह के होने और विधवा विवाह के न होने से कैसी हानि है ।'[2] देश में व्याप्त वैवाहिक असंगतियों को ही संकेतित करता है । अपने इस नाटक में नाटककार ने जन्मपत्री मिलाकर अपने बच्चों का विवाह अयोग्य पात्र से करने वाले सामाजिकों की अल्पज्ञता एवं रूढ़िवादिता पर दुख प्रकट कर समाज की इस रूढ़ि का तर्कसंगत विरोध किया है । अत: विवाह में वरपक्ष की सुयोग्यता पर बल देते हुए नाटक का एक जागरूक पात्र बलदेवदास कहता है -- 'मेरी आप क्या राय पूछते हैं मैं तो उसी १४ वर्ष वाले की तरफ हूँ और जो कहिये जन्मपत्री नहीं बनती तो यह तो केवल मूर्खता है ब्राह्मणों ने खाने का यह भी एक ढंग निकाला है क्योंकि वेद पुरान शास्त्र किसी में जन्मपत्री देख के विवाह करना नहीं लिखा है - - - - आप अपने यहाँ ही देखिये, जिनका विवाह जन्मपत्री दिखाकर होता है वे क्यों विधवा

---

१. बालकृष्ण भट्ट - जैसा काम वैसा परिणाम, भट्ट नाटिकावली,
सम्पादक - धनंजय भट्ट, पृष्ठ ६१-६२ ।

२. राधाकृष्णदास - 'दुखिनीबाला', पृष्ठ १

होती है ? क्यों उनको शारीरिक और मानसिक सुख नहीं मिलता ? - -- निदान यह कि जन्मपत्री दिखाने से कुछ लाभ नहीं होता ।[१] इस प्रकार इस पात्र के माध्यम से नाटककार ने एक ओर जहाँ समाज की इन परम्परागत रूढ़ियों की विद्रूपता को उन तमाम लोगों के समक्ष उद्घाटित किया है, जो इनके दुष्परिणामों से अभी अपरिचित ही थे वहीं दूसरी ओर उनसे छुटकारा पाने तथा मानसिक त्रास से मुक्ति पाने का एक प्रकार से आह्वान भी किया है ।

जिसके स्वर से स्वर मिलाकर इस युग के अन्य नाटककारों देवकी नन्दन त्रिपाठी, देवीप्रसाद शर्मा, काशीनाथ तथा पंडित निद्धलाल मिश्र आदि ने भी अपने नाटकों[२] में विवाह सम्बन्धी कुरीतियों के दुष्परिणाम दिखाकर भारत से इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया है जिसके लिये नाटककारों ने नारी शिक्षा पर भी जोर दिया । नाटक `सज्जाद सम्बुल` में केशवराम भट्ट का निम्न कथन `लोगों का यह ख्याल कि औरतों को पढ़ाना लिखाना अच्छा नहीं न मालूम कब दूर होगा ।[३] वस्तुत: नारी शिक्षा के गुणों से अनभिज्ञ भारतीयों की अल्पज्ञता पर ही व्यंग्य है ।

सामाजिक पुनरुत्थान के इस युग में जागरूक पुरुषों के साथ ही नारी वर्ग में भी अपनी अधोगति के प्रति चेतना का भाव जागृत हो रहा था । अत: अपनी वर्तमान नारकीय दशा से क्षुब्ध होकर वह सर्वत्र ही स्ववर्गोन्नति के लिये सामाजिक प्रथाओं एवं रूढ़ियों का विरोध करती है, किन्तु समाज भय के कारण उसका यह विरोध उसकी वाणी अर्थात् आक्रोश तक ही सीमित रहा है जिसकी पूर्ण छाया तत्कालीन नारी चरित्रों में स्पष्ट दिखायी देती है । `दुखिनी बाला` की नायिका अपनी दासता

---

१. राधाकृष्णदास - `दुखिनीबाला`, पृष्ठ ३

२. क्रमश: `कलियुगी विवाह` `बाल्य विवाह` बाल विधवा संताप तथा `विवाहिता विलाप` ।

३. केशवराम भट्ट, `सज्जाद सम्बुल`, पृष्ठ ७५ ।

के प्रतीक पुरुषों की इन्हीं रूढ़िवादी मान्यताओं एवं अल्पज्ञता पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए एक स्थान पर कहती है -- `हाय हमारी यह दशा क्यों हुई ? जन्म पत्र और बाल्य-विवाह से। यदि जन्म पत्र न होता तो क्यों ऐसे मूर्ख से मेरा विवाह होता ? - -- - - इसी जन्म पत्री ने हमारा विवाह उस कुरूप मूर्ख लड़के से कराया अन्त में अब जन्मपत्री क्या हुई मैं क्यों विधवा हुई। वे पण्डित लोग कहाँ गये जिन्होंने जन्म-पत्री देखा था भगवान उन लोगों का सर्वनाश करे।- - - क्यों नहीं अब आगे से यह कुरीति उठा दी जाय तो फिर ऐसा दुख काहे को हो हम पर तो जो बीतना था सो बीत चुका दूसरी बिचारी तो यह दुख न सहें पर यह काहे को होना है - - -।'[1] इस पूरे कथन के माध्यम से यहाँ नाटककार ने एक ओर जहाँ पात्र की परिस्थिति से उत्पन्न सहज करुणा और व्यथा को चित्रित करने का प्रयास किया है वहीं दूसरी ओर नायिका के इन शब्दों में `क्यों नहीं अब आगे से यह कुरीति उठा दी जाय' में समाज की उस मूलभूत समस्या के समूल नाश का सन्देश भी दिया है जो समाज सुधार के क्रम में सामाजिक विषमता का एक बहुत बड़ा कारण थी।

नारी जाति के इसी उत्थान एवं कल्याण कामना से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने अपने `नील देवी' नाटक की रचना की। यद्यपि इसका कथानक ऐतिहासिक है, किन्तु नाटक के मूल में जो भावना निहित है वह उसे अपने समसामयिक यथार्थ से पूर्णत: जोड़ देती है। अपने इस नाटक में नाटककार ने स्त्रियों की वर्तमान हीनावस्था से क्षुब्ध होकर भविष्य में उनके जिस रूप की कल्पना की है वह उनकी युगीन सामाजिक चेतना अथवा यथार्थ सम्पृक्ति का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, जो तत्कालीन परिस्थितियों में नारी उद्धार की प्रथम सीढ़ी थी। वस्तुत: तत्कालीन जागरूक भारतीयों के हृदय में अपने देश की इस अधोगति के प्रति जो एक पीड़ा, कसक एवं वेदना उत्पन्न हो रही थी उसी को व्यक्त करते हुए भारतेन्दु अपने इस नाटक में कहते हैं --`जब मुझे अंगरेजी लोग मेद सिंचित केशराशि - - - - - - - प्रसन्न वदन इधर-उधर फट-फट कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती है तब इस देश की सीधी-सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है। - - - - और बातों में जिस भाँति अंगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती है, घर का काम काज सँभालती है,- - - उसी भाँति हमारी गृहदेवता

---

१. राधाकृष्णदास `दुखिनी बाला', पृष्ठ ८-६

भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।[1] किन्तु नीलदेवी के चरित्र के माध्यम से यहाँ नाटककार ने यह दिखाने का प्रयास भी किया है कि भारतीय स्त्रियाँ सदा से ही इतनी पराधीन नहीं थी, वरन् वह अपने कर्त्तव्य को पहचान कर उसमें पूर्ण सहयोग भी देती थी। इस प्रकार नीलदेवी के आदर्श को प्रस्तुत कर भारतेन्दु ने भारतीय नारियों को उनके कर्त्तव्यों का स्मरण दिलाकर उन्हें उनके प्रति सचेष्ट रहने के लिये ही प्रेरित किया है।

नारी वर्ग की इसी सुधारवादी भावना से प्रेरित होकर इस युग विशेष में कतिपय प्रेमप्रधान नाटकों की भी रचना की गई।[2] यद्यपि इनके पात्र अधिकांशत: ऐतिहासिक एवं पौराणिक ही थे किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य रूढ़िग्रस्त भारतीय नारी को स्वतन्त्र प्रेम एवं ऐच्छिक विवाह की स्वतन्त्रता प्रदान कर एक स्वस्थ समाज की स्थापना करना था। जो 'संयोगिता स्वयंवर' के नाटकीय चरित्र जयचन्द के शब्दों में पूर्णत: स्पष्ट है। विवाह में कन्या की अनुमति की आवश्यकता पर बल देते हुए वह कहता है --'नि:सन्देह विवाह का विषय ऐसा कठिन है कि इसमें जन्म भर के लिए एक मनुष्य की प्रारब्ध के संग दूसरे की प्रारब्ध जोड़ दी जाती है। इस कारण कन्या की अनुमति बिना सम्बन्ध करने में महा अनर्थ हो जाता है।'[3] विवाह के सम्बन्ध में स्त्रियों की इस स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखकर भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने अपने नाटकों में गान्धर्व विवाह एवं स्वयंवर सदृश उदार वैवाहिक पद्धतियों का समर्थन किया है। जो तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में नारी जाति के उत्थान का एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

विवाह की इन उदारतापूर्ण पद्धतियों को मान्यता देने के साथ ही

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नीलदेवी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, संपा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५१६

२. यथा 'विद्यासुन्दर', 'तप्ता संवरण', संयोगिता स्वयंवर', 'रणधीर प्रेममोहिनी' इत्यादि।

३. लाला श्रीनिवास दास - 'संयोगिता स्वयंवर', पृष्ठ ६२

नाटककारों ने समसामयिक जीवन में कलंक स्वरूप माने जाने वाले 'विधवा विवाह' का भी समर्थन किया है । तत्कालीन समाज में सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण असमय ही वैधव्य की शिकार नारियों की जो दुर्दशा थी उसने विधवाओं का जीना दूभर कर दिया था । सामाजिक मान्यताओं के अनुसार समाज में विधवाओं के लिये केवल एक अवलम्ब था और वह था पति की मृत्यु के पश्चात् उसके साथ ही सती हो जाने की प्रथा, जिसे इच्छा न होते हुए भी स्त्रियों को स्वीकार करना पड़ता था । यद्यपि स्त्रियों की इस दुर्दशा से दुखी होकर राजा राममोहन राय ने समाज की इस पाशविक एवं अमानवीय प्रथा का विरोध किया था और उनके अनुरोध पर ही सरकार ने भी सती प्रथा को समाप्त कर-विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिया था, किन्तु फिर भी समाज में पुनर्विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता था । अत: विधवाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । समाज के कुमार्गी पुरुष तो उनको गलत दृष्टि से देखते ही थे, कभी-कभी बहुत-सी स्त्रियाँ भी अपनी नारी-सुलभ चंचलता, अज्ञानता अथवा सामाजिकों की कृतघ्नता के वशीभूत होकर कुप्रवृत्तियों का शिकार हो जाया करती थी, जिससे समाज में नित्यप्रति ही विकृतियों का बाहुल्य होता जा रहा था । समाज में बढ़ती हुई इन विकृतियों के निदान स्वरूप समाज-सुधारकों ने विधवा विवाह की आवश्यकता का अनुभव किया और अपने तर्कों द्वारा उसे उचित प्रमाणित कर उसका समर्थन किया, जिसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन नाटकों पर भी पड़ा ।

तत्कालीन समाज की इन्हीं यथार्थताओं से परिचित होकर भारतेन्दु ने अपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन में विधवा विवाह अथवा पुनर्विवाह का समर्थन कर उसे शास्त्रानुमोदित अत: अनुकरणीय एवं ग्राह्य ही बताया है । वस्तुत: तत्कालीन समाज में धर्मभीरू सामाजिकों के समक्ष शास्त्रसम्मति ही एक ऐसी कसौटी थी, जिसका उल्लंघन करना वह पाप समझते थे। अत: विधवा विवाह को शास्त्रसम्मत सिद्ध करते हुए वह कहते हैं --'पुनर्विवाह का करना क्या । पुनर्विवाह अवश्य करना । सब शास्त्र की यही आज्ञा है - - - जो विचार कर देखिये तो विधवाजन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी आज्ञा है --

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।[1]

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ संपा- ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ७२

इसी प्रकार काशीनाथ खत्री ने भी अपने नाटक `बाल विधवा संताप' में बाल विधवाओं के दुखों का चित्रण कर विधवा विवाह का समर्थन किया है ।

विधवा विवाह के समर्थन के साथ ही जागरूक नाटककारों की दृष्टि समाज की एक अन्य प्रचलित कुरीति पर-स्त्री संसर्ग अथवा वेश्यागमन की ओर आकृष्ट हुई, जिसके कारण सुखमय गृहस्थ जीवन एक अभिशाप बनकर रह जाता था । वेश्यागमन की इसी दुखदायी समस्या के निवारणार्थ बालकृष्ण भट्ट ने `जैसा काम वैसा परिणाम' नाटक लिखा । इसमें उन्होंने वेश्यागमन के दुष्परिणामों को दिखाकर पुरुष वर्ग को वेश्याओं के जाल से छुड़ाने तथा समाज के इस कलंक को दूर करने का ही प्रयास किया है । वस्तुत: वेश्याओं के प्रति सामाजिकों के विशेष आकर्षण के कारण समाज में एक बुराई तो पनप ही रही थी, साथ ही सच्चरित स्त्रियों की जो दुर्दशा एवं उपेक्षा थी वह भी कम दु:सह नहीं थी जिसका यथोद्घाटन करते हुए नाटक की नायिका मालती कहती है `- - - -- - हाय ! ऐसा नसीब ! जब से ब्याह के आई हूँ कभी आँख भरकर एक बार उनकी सूरत भी आज तक नहीं देखी कि कैसे हैं काले या गोरे । और बात को को भूले एक बार घर में खाने आते तब भी जो दो एक मीठी बात बोल ले तो हूँ जी जुड़ा जाय सो भी नहीं केवल गाली और फिटकार ।'[1] जो नारी उत्थान के क्रम में सहृदय सामाजिकों की चिन्ता का एक बहुत बड़ा कारण बनी हुई थी, जहाँ ऐसी एक नहीं वरन् न जाने कितनी मालतियाँ जन्म लेकर और इसी प्रकार घुट-घुट कर अपना जीवन व्यतीत कर रही थी । किन्तु प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने वेश्यावृत्ति के कुपरिणामों के साथ ही मालती के आदर्श चरित्र —जहाँ वह अपने पत्नीधर्म पर अटल रहकर अन्त में कुमार्गी पति को सद्बुद्धि प्रदान कर उसकी आँखे खोल देती है — को प्रस्तुत कर भारतीय पतनशील नारी को उसकी शक्ति से परिचित कराकर उसे अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति सचेत भी किया है ।

सामाजिकों की इसी विलासी मनोवृत्ति का उद्घाटन भारतेन्दु ने अपने `प्रेमजोगिनी' तथा राधाचरण गोस्वामी ने `बूढ़े मुंह मुँहासे' और `तन मन धन गोसांई जी को अर्पण ' में भी किया है । अपने घर की चिन्ता छोड़ वेश्याओं के जाल में फँसे सामाजिकों की इसी विलासिता पर दु:ख व्यक्त करते हुए भारतेन्दु

----

१. बालकृष्ण भट्ट - `जैसा काम वैसा परिणाम' भट्ट नाटकावली- संपादक धनंजय भट्ट, पृष्ठ ६४ ।

'प्रेमजोगिनी' में कहते हैं --

घर की जोरू लड़के भूखे, बने दास और दासी ।
दाल की मंडी रंडी पूजें, मानो इनकी मासी ।।[१]

सामाजिकों की इस विलासी प्रवृत्ति के कारण तत्कालीन समाज में नैतिकता एवं सदाचरण की जो दुर्दशा थी उसका यथार्थ उद्घाटन प्रतापनारायण मिश्र ने अपने 'कलिकौतुक रूपक' में एक गृहस्थ, विद्यार्थी, साधु एवं पुजारी आदि के चरित्रों के माध्यम से किया है । तत्कालीन समाज में धनी पुरुष वर्ग तो विलासी था ही, पुरुषों की उपेक्षा के कारण बड़े घर की स्त्रियों में भी जो आचरण हीनता उत्पन्न हो रही थी उसकी एक झलक चम्पा और श्यामा के चरित्रों में मिलती है । वस्तुत: इन परिवारों में जो महत्व धन का था वह आचरण का नहीं, अत: परिवार के सभी सदस्य अपने कर्तव्यों से विमुख होते जा रहे थे । इसी की ओर संकेत करते हुए चम्पा कहती है --'अपने रुजगार ब्योहार औ कचहरी दरबार ही में रहे हैं-- रोटी खाने और बारह एक बजे तक सो रहने के सिवा घर से काम ही नहीं रक्खे है मैं चाहूँ सो करूँ ।'[२] किन्तु यहाँ चम्पा भट्ट जी की मालती की भाँति पति की इस उदासीनता से दुखी नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं ही धन के मोह में दुश्चरित्र हो गयी है । अत: पति की इस अवहेलना को बड़े ही साधारण से शब्दों में कह देती है -- 'हमारे तो तीन पीढ़ी से गोद ही लेते आवे है सो देखी जायगी ।'[३] किन्तु किशोरी का अन्तिम परिणाम दिखाकर लेखक ने जनता को सुधार की ओर मोड़ा है ।

वैवाहिक एवं दाम्पत्य जीवन की इन असंगतियों के उद्घाटन के साथ ही नाटककार तोताराम ने 'विवाह विडम्बन' नाटक में विवाह में होने वाली फिजूल-खर्चियों तथा विवाह की दोषपूर्ण पद्धति पर भी व्यंग्य किया है । प्रस्तुत नाटक समाज के ऐसे लोगों पर व्यंग्य है जो पहले तो अपनी चादर को न देखते हुए ब्याह-शादी में अन्धाधुंध खर्च करते हैं । किन्तु अन्त में देनदारों के तकाजों को पूरा न कर पाने के कारण अपना सब घर-बार बेचकर हवालात की सैर करते हैं । इसके मूल में मध्यवर्गियों की प्रदर्शन भावना ही क्रियाशील थी जो अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'प्रेमजोगिनी' भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, संपा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ३३४

२-३. प्रतापनारायण मिश्र - 'कलिकौतुक रूपक'

लिये उन्हें दूसरों से कर्ज लेने के लिये विवश करती है और उसको वापस न कर पाने पर विवाह जैसा शुभ कार्य उनके लिये एक विडम्बना बन जाता है । अपनी इसी करनी पर दुख व्यक्त करते हुए नाटक का एक भुक्तभोगी पात्र कहता है --'क्या करें इस व्याह ने तो हमारा खेल बखेल कर डाला — घर वार नीलाम हो गया - - - कैसा बना हुआ बानक बिगड़ा है कि जिसकी याद करके कलेजा टूक-टूक हुआ जाता है— न जाने किस निठुर निर्बुद्धि ने यह व्याह की रीति इस देश में निकाली है— अपने दुर्भाग्य को क्या करें तब हमें भी न सूझी— इन बातों के सोचने से अब क्या फायदा --'[१] जिसके माध्यम से नाटककार ने सामाजिकों को उनकी मिथ्या प्रदर्शन भावना अल्पज्ञता एवं अदूरदर्शिता से परिचित कराकर उन्हें इस सामाजिक बुराई से दूर रखने का ही प्रयास किया है ।

सामाजिक भ्रष्टाचार

विवाह सम्बन्धी इन दोषपूर्ण पद्धतियों तथा वैवाहिक जीवन में उत्पन्न अनेक असंगत रूढ़ियों एवं कुरीतियों के दुष्परिणामों के साथ ही नाटककारों की दृष्टि तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्य समस्याओं की ओर भी गई, जिनका सफल चित्रण उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र ही किया है । सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन की दृष्टि से भारतेन्दु की 'प्रेमजोगिनी' एक सफल रचना है । इसमें नाटककार ने काशी नगरी के चित्रण द्वारा समाज की उन तमाम समस्याओं को पाठकों के समक्ष उद्घाटित करने का प्रयास किया है जो घुन की भाँति भारतीय समाज में प्रवेश कर उसकी नींव को खोखला कर रहीं थीं । अत: उनका यथार्थोद्घाटन करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं --

अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विश्वासी ।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी ।।

चोरी भए पर पुलिस नोचै हाथ गले बिच फांसी ।
गए कचहरी अमला नोचै मोंचि बनावें घासी ।।'[२]

---

१. तोताराम - 'विवाह विडम्बन नाटक' पृष्ठ १७२

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'प्रेमजोगिनी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, संपा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ३३३-३४ ।

जो उनके प्रखर यथार्थबोध का ही परिचायक है । वस्तुत: तत्कालीन समाज की अवस्था थी भी ऐसी ही । चारों तरफ अन्याय, शोषण एवं भ्रष्टाचार का साम्राज्य था । घूसखोरी, सिफारिश, दूसरों की निन्दा करना, फूठ बोलना तथा अकर्मण्य रहकर समाज को ठगना ही मानो उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था और दिन रात सब उसी में रत रहते थे । समाज की इसी दुर्व्यवस्था से खिन्न होकर भारतेन्दु ने अपने प्रहसन 'अन्धेर नगरी' में सर्वत्र ही इन पर तीक्ष्ण व्यंग्य प्रहार किया है । कर्मचारी वर्ग में व्याप्त स्वार्थपरता, लोभवृत्ति एवं शोषण का निराकरण करते हुए उनका एक नाटकीय चरित्र चूरन वाला अपनी चटपटी भाषा में कहता है --

'चूरन अमले सब जो खावैं । दूनी रिश्वत तुरत पचावैं ।।
चूरन सभी महाजन खाते । जिससे जमा हजम करजाते ।।
चूरन साहिब लोग जो खाता । सारा हिन्द हजम कर जाता ।।
चूरन पुलिस वाले खाते । सब कानून हजम कर जाते ।।[१]

किन्तु रिश्वत अथवा घूसखोरी का यह प्रचलन समाज के निम्न वर्गों तक ही सीमित नहीं था वरन् समाज के बड़े-बड़े रईस लोग भी इसके शिकार हो रहे थे, यह बात दूसरी है कि वहाँ पर इसका रूप बदलकर उपहारों डालियों अथवा दावतों के रूप में प्रचलित था जिसका प्रयोग वह अंग्रेज अफसरों को खुश करने के लिये करते थे तथा इसमें कोई बुराई भी नहीं समझते थे । सामाजिकों की इस मनोवृत्ति का उद्घाटन तोताराम ने अपने 'विवाह विडम्बन नाटक' में किया है ।

इसी तरह की अन्य न जाने कितनी छोटी-छोटी समस्याएँ सामाजिकों के समक्ष बिखरी हुई थी तथा समाज को खोखला कर रही थीं । नाटककारों की तीक्ष्ण एवं सजग दृष्टि समाज की इन समसामयिक समस्याओं की ओर आकृष्ट हुई, जिन्हें उन्होंने बड़े नाटकीय ढंग से अपने नाटकों में यथास्थान प्रस्तुत कर जन-सामान्य को अपने अनुभव में लेने का सफल प्रयास किया है ।

----

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'अन्धेर नगरी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ६६२-६३ ।

शिक्षा

सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों तथा विकृतियों के साथ ही समाज की एक अन्य रूढ़ि अथवा विकृति भी नवशिक्षित एवं जागरूक भारतीयों के दृष्टिपथ में अवरोध स्वरूप उपस्थित हो रही थी और वह थी भारतीय समाज में शिक्षा की अवहेलना जो अप्रत्यक्ष रूप से समस्त सामाजिक विकृतियों का मूल कारण थी । समाजोत्थान के क्रम में सुधारकों की दृष्टि देश की इस समस्या की ओर भी गई जिससे क्षुब्ध होकर उन्होंने देश में व्याप्त अज्ञानता एवं अशिक्षा के विरुद्ध शिक्षा के महत्व को स्वीकार कर भारतवासियों में नवीन शिक्षा एवं पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का प्रचार किया । किन्तु नवीन शिक्षा एवं ज्ञान विज्ञान के प्रति उनकी दृष्टि सर्वत्र नीर-क्षीर विवेकपूर्ण ही थी, अत: उन्होंने नवीन शिक्षा के गुणों को स्वीकार कर उसके दुर्गुणों की सदैव निन्दा ही की है, जिसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन नाटकों पर भी पड़ा।और यही कारण है कि समस्त नाटककारों ने एक ओर यदि नवीन शिक्षा के प्रति सहानुभूति का भाव रखा है तो दूसरी ओर नवीन शिक्षा के प्रभाव में भारतीय संस्कृति को भूलने वाले नवशिक्षितों पर व्यंग्य प्रहार कर दु:ख भी प्रकट किया है ।

भारतेन्दुकृत 'नीलदेवी' उनके इन्हीं भावों एवं विचारों की पूर्ण प्रतिच्छाया है । यद्यपि यह सत्य है कि भारतेन्दु पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता से प्रभावित थे किन्तु उन्होंने उसे वहीं तक अनुकरणीय माना है जहाँ तक वह भारतीय संस्कृति की पोषक बनकर रहे । अपने इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए नाटक की भूमिका में आर्य ललनाओं को सम्बोधित करते हुए वह लिखते हैं --'इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें किन्तु, और बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं पढ़ी लिखी होती हैं - - - -- उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें यही लालसा है ।'[1] जो नवजागरण के इस युग में युग की एक अनिवार्य आवश्यकता थी ।

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नीलदेवी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ संपा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५१६ ।

किन्तु इस समय एक ओर जहाँ पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप देश के प्रगतिशील लोगों में यह जागरूकता उत्पन्न हो रही थी वहीं दूसरी ओर समाज का रूढ़िवादी वर्ग अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय संस्कृति में होने वाले नवीन परिवर्तनों से भयभीत होकर उसे धर्म विरुद्ध समझ उसका विरोध कर रहा था। अंग्रेजी शिक्षा के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे वह `दुखिनीबाला` के एक धर्म भीरु सामाजिक के निम्न शब्दों में व्यक्त है --"जी हाँ हुजूर बजा फरमाते हैं जो लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं उनकी अक़्ल नाक़िस हो जाती है इससे मैंने अपने लड़के को अंगरेजी की तालीम नहीं दी वह शबोरोज़ ख़ोदा की इबादत में मशगूल रहता है और मिर्जा साहब ने अपने लड़के को अंग्रेजी पढ़ाया है वह कभी ख़ोदा का नाम नहीं लेता - - - -"[१]।

शिक्षा के प्रति ऐसे ही रूढ़िवादी विचार राधाचरण गोस्वामी के `तन मन धन गोसाईं जी को अर्पण` में भी व्यक्त है जहाँ नाटक का एक रूढ़िवादी चरित्र रूपचन्द्र अपने पुत्र गोकुल के उदार विचारों की निन्दा कर अंग्रेजी शिक्षा को ही धर्म-विरुद्ध मान बैठता है। `बूढ़े मुँह मुँहासे` में भी नाटककार ने नारायणदास के निम्न शब्दों में "क्या कहा ? और ज्यादा अंग्रेजी पढ़ाकर क्या अपने कुल में कलंक लगाना है।"[२] तत्कालीन सामाजिकों के अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रूढ़िवादी विचारों को ही व्यक्त किया है।

किन्तु दूसरी ओर देश का नवशिक्षित एवं जागरूक चरित्र अपने सुदृढ़ विचारों के कारण समाज की इन रूढ़िवादी मान्यताओं का खण्डन कर उसे सर्वसाधारण के लिये आवश्यक एवं ग्राह्य बताता है। अतः इस युग में आकर नवीन तथा पुरातन पीढ़ी के बीच एक प्रकार का वैचारिक संघर्ष छिड़ गया था, जिसका पूर्ण प्रभाव तत्कालीन नाटकों में भी सर्वत्र ही दिखायी देता है। `तन मन धन गोसाईं जी को अर्पण` नाटक का नायक गोकुल जो कि एक जागरूक नवयुवक है अपनी शिक्षा के बल पर पाखण्डी ब्राह्मणों की नीच प्रकृति से अवगत होकर सामाजिक रूढ़ियों का विरोध तो करता ही है साथ ही अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए गोसाईं जी के दुश्चरित्र का उद्घाटन

---

१. राधाकृष्णदास - `दुखिनीबाला` पृष्ठ ६

२. राधाचरण गोस्वामी - `बूढ़े मुंह मुँहासे`, पृष्ठ २४

कर उनको जेल भी भिजवाता है । जिसके माध्यम से नाटककार ने अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक रूढ़िवादिता का खण्डन करते हुए नवीन शिक्षा का ही समर्थन किया है । शिक्षा के प्रति अपने इन्हीं प्रगतिशील विचारों को व्यक्त करते हुए राधाकृष्णदास अपने `दुखिनीबाला` में कहते हैं-` क्या अंग्रेजी पढ़ने से सब कोई नास्तिक हो जाता है ? कभी नहीं । यह भी एक विद्या है उसके पढ़ने से कोई नास्तिक नहीं हो सकता।`[१] जो नवीन शिक्षा के प्रति उनकी रुचि का ही समर्थन करता है ।

किन्तु पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप जहाँ एक ओर इन नाटककारों ने अपने नाटकों में नवीन शिक्षा का समर्थन किया है वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में पोषित होने के कारण इन्होंने पाश्चात्य सभ्यता में पूर्णत: रंग जाने वाले नवयुवकों की आचार व्यवहारगत असंगतियों का उद्घाटन कर उन्हें सामाजिक अवनति का मूल कारण भी माना है ।[२] लाला खड्ग बहादुर मल्ल के नाटक `भारत-आरत` में एक अंग्रेज का यह कथन `शूअर ! हम तुमसे बोलना नहीं मांगटा । अपना मुल्क का बोली बोलो ।`[३] अप्रत्यक्ष रूप से देश के उन नवशिक्षितों पर ही व्यंग्य है जो पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप अपने देश अपनी भाषा अथवा अपनी संस्कृति को तुच्छ समझ,पाश्चात्य संस्कृति में ही पूर्णत: अनुरक्त हो गये थे ।

अत: स्पष्ट है,कि शिक्षा के प्रति इस युग के समस्त नाटककारों का दृष्टिकोण उदारतापूर्ण था और सभी ने भारतीय संस्कृति की रक्षा करते हुए पाश्चात्य शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान का सहर्ष स्वागत किया है । किन्तु भारतीयों द्वारा शिक्षा को समर्थन एवं प्रोत्साहन मिलने पर भी शिक्षा के क्षेत्र में एक गहरी उदासीनता छायी हुई थी । यद्यपि यह सत्य है कि अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् गाँवों-गाँवों में अशिक्षित बालकों की शिक्षा के लिये शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर शिक्षा कार्य को प्रोत्साहन दिया जा रहा था, किन्तु भारतीयों की अरुचि, अन्धविश्वास अज्ञानता एवं अधिकारियों की स्वार्थपूर्ण नीति के कारण शिक्षा प्रसार

---

१. राधाकृष्णदास - `दुखिनीबाला`, पृष्ठ ५

२. राधाकान्तलाल - `देशी कुत्ता बिलायती बोल `

३. खड्ग बहादुरमल्ल - `भारत-आरत`, पृष्ठ २४

कार्य में आशातीत उन्नति नहीं हो सकी थी । शिक्षा के प्रति भारतीयों की इसी मानसिकता का उद्घाटन करते हुए काशिनाथ खत्री ने अपने 'ग्राम पाठशाला' नाटक में ग्रामपाठशालाओं की दुर्दशा तथा शिक्षकों की असमर्थता का बड़ा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है जो एक शिक्षक के ही शब्दों में स्पष्ट है --' या अल्ला बड़े निर्दयी से पाला पड़ा एक रुपये से ऊपर खा गया दो रुपये जुरमाना कर गया, बचे दो रुपये, कहो क्या इसमें मैं महीने भर खाऊँ क्या घर वालों को जहर दूँ गाँव में यहाँ एक कौड़ी का किसी का सहारा नहीं बल्कि उलटे अपने पास से किताबों के दाम देता हूँ फिर भी लड़के पढ़ने को नहीं आते हाय ! कैसे बिचारे दीन दुखियों के प्रान बचें धिक्कार है ऐसी नौकरी करना, भीख माँग कर पेट भरना अच्छा पर खुदा ऐसी नौकरी न करवावे जिसमें कुसूर किसी और का और मारा जाय कोई और जब इतनी खुशामद और मिन्नत से भी लड़के पढ़ने न आवें तो कहिये मुदर्रिस ईंट पत्थरों को पढ़ावें, ऐसी तैसी में गई यह नौकरी भाई इससे तो वही अपने घर का उद्यम अच्छा - - - - -'[1] सच पूछा जाय तो उपर्युक्त कथन में नाटककार ने शिक्षकों की दुर्दशा के माध्यम से अपने पारम्परिक व्यवसायों को छोड़कर नौकरी की ओर भागने वाले नवशिक्षितों की अल्पज्ञता पर ही व्यंग्य किया है ।

तत्कालीन शिक्षितों के प्रति ऐसे ही व्यंग्यपूर्ण विचार उन्होंने अपने दूसरे नाटक 'निकृष्ट नौकरी' में भी व्यक्त किये है । नाटक के प्रारम्भ में ही नाटकीय वस्तु की ओर संकेत करते हुए सूत्रधार कहता है 'प्रिये आजकल समय का ऐसा रंग बिगड़ गया है कि जिस विद्वान शिक्षित जन को देखिये वह संसार के सब उत्तम व्योपार बनिज आदि उद्यम छोड़कर नौकरी ही करने को कमर बाँधे है मानों उससे बढ़कर संसार में और कोई प्रतिष्ठित और माननीय जीविका प्राप्ति का कोई द्वारा ही नहीं है परन्तु जैसी कुछ कुदशा भले मानसों की इस नौकरी में होती है वह वही भलीभाँति जानते है ।[2] जो नाटक के ही एक भुक्तभोगी भरोसदास के निम्नांकित शब्दों में स्पष्ट है -- 'हाय राम क्या अंगरेजी पढ़कर मट्टी खराब है दिन भर बक्की

---

१. काशीनाथ खत्री - 'ग्रामपाठशाला' पृष्ठ ६

२. काशिनाथ खत्री - 'निकृष्ट नौकरी', पृष्ठ २५

पीसनी पड़ती है और फिर भी हेड क्लार्क की हर वक्त झिड़कियाँ सहनी पड़ती है - - - - धिक्कार है उन पर जो ऐसी नोकरी पर घमन्ड करते हैं जिसकी न कुछ जड़ न बुनियाद, और क्या हमारे बाप दादा सब अंगरेज ही की नौकरी करते आये हैं ? क्या वह रोटी नहीं खाते थे वाह वाह । क्या हमने अंगरेजी पढ़कर कुल को स्वर्ग में चढ़ा दिया ।'[1]

किन्तु यहाँ उपर्युक्त कथन को उद्धृत करने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि नाटककार अंग्रेजी शिक्षा का विरोधी है,वरन् इस नाटक के माध्यम से उसने अंगरेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले उन नवयुवकों पर ही व्यंग्य किया है जो अंग्रेजी का अल्पज्ञान प्राप्त कर अपने को सुशिक्षित समझने लगे थे। अत: अन्त में वह स्वयं अपनी गलती को स्वीकार करते हुए कहता है - 'नहीं जी बिचारी अंगरेजी का क्या दोष है दोष तो हमारा है कि सिवाय नकल करने के और कुछ नहीं पढ़ सके देखो वह विद्यानन्द हमारे साथ का उसने खूब मेहनत करी हाईकोर्ट में मुतरज्जिम की आसामी पर १५०) फटकारता है मकदूर है कि कोई उसे डेमफूल कहे यह मिट्टी तो हम कम पढ़ों की खराब है जो न इधर के न उधर के, यह नोकरी काहे की है गुलामी ठहरी इससे तो हजार दरजे अपने घर का उद्यम अच्छा - - - - - परन्तु पढ़ लिख कर वह भी तो नहीं हो सकता अभी ऐसा करें तो लोग कहने लगें कि - 'पढ़े फारसी बेचे तेल यह देखो कुदरत का खेल ।'[2]

इस प्रकार यहाँ काशिनाथ के इन दोनों नाटकों का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी शिक्षा का अल्पज्ञान प्राप्त कर अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर नौकरी की ओर आकर्षित होने वाले नवयुवकों को पुन: अपने परम्परागत व्यवसायों की ओर आकृष्ट कराना है । साथ ही समाज निन्दा के भय से अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर दूसरों के अत्याचारों को सहन करने वाले शिक्षितों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के उस दोष पर भी दृष्टिपात किया है जो हस्तकलाओं की उपेक्षा एवं व्यावहारिक शिक्षा के अभाव में शिक्षितों को अपने परम्परागत व्यवसायों के प्रति उदासीन बना रही थी ।

---

१. काशिनाथ खत्री,- 'निकृष्ट नौकरी' पृष्ठ ४३
२. " " पृष्ठ ४३-४४

राजनीतिक समस्याओं पर आधारित नाटक

राष्ट्रीय चेतना एवं जनजागरण -

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का युगीन यथार्थबोध एक ओर जहाँ उनके सामाजिक जीवन से जुड़ा था वहीं दूसरी ओर समाज-सुधार एवं जन-जागरण के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन राजनीतिक जीवन भी उनकी दृष्टि से अछूता न था । वरन् सत्य तो यह है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में नवजागरण की यह तथाकथित सुधारवादी भावना राजनीतिक परिस्थितियों से उद्वेलित होती हुई अपने विस्तृत रूप में राष्ट्रोद्धार अथवा राष्ट्रप्रेम में ही परिणत हो रही थी । यों तो तत्कालीन प्राय: समस्त नाटकों में ही अंग्रेजों की षडयन्त्रकारी नीतियों तथा देश की अव्यवस्था पर व्यंग्य प्रहार कर तत्कालीन राजनीतिक जीवन के प्रति जन-सामान्य की दृष्टि आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है, किन्तु भारतीयों में जन-जागृति अथवा राष्ट्रीय चेतना का संचार करने के उद्देश्य से इस समय कुछ शुद्ध राजनीतिक अर्थात् राजनीति प्रधान नाटक भी लिखे गये । राजनीतिक जीवन-सन्दर्भों को नाटकों का प्रतिपाद्य बनाने का मूल प्रयोजन उनकी दृष्टि में भारत की दीन-हीन दशा का यथार्थ चित्रण कर तत्कालीन शासन व्यवस्था अथवा शासक वर्ग के गुण दोषों से जनसामान्य को अवगत कराकर उनमें देश वत्सलता अथवा स्वदेशानुराग की भावना को उत्पन्न कराना था । अपने इसी उद्देश्य को व्यक्त करते हुए भारतेन्दु 'भारतजननी' के प्रारम्भ में कहते हैं --'भारतभूमि और भारत-सन्तान की दुर्दशा दिखाना ही इस 'भारतजननी' की इतिकर्तव्यता है और आज जो यह आर्य-वंश का समाज यह खेल देखने को प्रस्तुत है, उसमें से एक मनुष्य भी इस भारत भूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करे तो हमारा परिश्रम सफल है ।'[१] जो भारतभूमि के प्रति नाटककार की अपूर्व निष्ठा, प्रेम एवं अनन्य अनुराग का ही जीवन्त प्रमाण है ।

राजनीतिक जीवन-सन्दर्भों को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में भारतेन्दु का 'भारतदुर्दशा' सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण नाटक है । इसमें नाटककार ने

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'भारत जननी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५०९

भारत की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक हीनावस्था से व्यथित होकर देश की दुर्दशा पर अतिरोदन तो किया ही है साथ ही उसकी अवनति के मूलभूत कारणों का उद्घाटन कर भारतवासियों को जागृति की प्रेरणा भी दी है। जिसके अनुकरण पर बाद में भारत जननी, भारत दुर्दशा रूपक, भारत सौभाग्य (अम्बिकादत्त व्यास), भारत सौभाग्य (प्रेमघन), भारत आरत, विषस्य विषमौषधम् सज्जाद सम्बुल तथा शमशाद शौसन आदि कतिपय अन्य नाटकों की भी रचना की गई। लेकिन यहाँ यह स्मरणीय है कि भारतीयों की राजभक्ति के कारण तत्कालीन राजनीति आज की भाँति विद्रोहात्मक नहीं थी अतः इन नाटकों में उच्चरित राष्ट्रीयता का स्वर भी मुख्यतः विद्रोहात्मक न होकर विश्लेषणात्मक ही रहा है। जो एक राष्ट्रभक्त के रूप में उनके प्रखर यथार्थ-बोध का ही परिचायक है।

यद्यपि नवजागरण के आलोक में तत्कालीन नाटककार जागरूकता के शिखर पर आ खड़े हुए थे जहाँ से उन्हें भारतीयों की अज्ञानता, अंग्रेज शासकों के अत्याचार तथा आगत भविष्य का विकासमान रूप स्पष्ट दिखाई दे रहा था, जिसका उन्होंने अपने नाटकों में यथार्थ चित्र भी प्रस्तुत किया है। किन्तु अपनी तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि का परिचय देते हुए उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र विद्रोह की अपेक्षा सद्भावना एवं उदारता पूर्ण नीति - राजभक्ति -- को ही विशेष महत्व दिया है। वस्तुतः अंग्रेजों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण वह यह भलीभाँति जान गये थे कि वह सरकार से लड़ने की अपेक्षा उनकी प्रशंसा द्वारा उनसे बहुत कुछ पाने में समर्थ हो सकेंगे। अतः उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र ही महारानी विक्टोरिया की महिमा का गुणगान कर उनके द्वारा अपनायी गई सुधारवादी नीतियों एवं ज्ञान-विज्ञान के समुचित-विकास से प्रसन्न होकर अंग्रेजी राज्य को भारत की उन्नति के लिए एक उपयुक्त अवसर माना है। अतः कहा भी है —

'तुम जीयो रानी लाख बरस, गयो भारत दुख सुख पाय परस।'[१]

'पूरी अमी की कटोरिया सी, चिरजीवी रहो विक्टोरिया रानी।'[२]

---

१. उपाध्याय बदरीनारायण शर्मा चौधरी 'प्रेमघन' -'भारत सौभाग्य', पृष्ठ ५९

२. अम्बिकादत्त व्यास -'भारत सौभाग्य', पृष्ठ ४०

भारतेन्दु में तो राजभक्ति का यह गुण विशेष रूप से था, जिसकी झलक उनके नाटकों में सर्वत्र ही दिखायी देती है। 'भारत जननी' में भारतमाता के निम्न कथन जहाँ वह भारत पुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहती है --"बेटा तुम लोग अब क्या कर सकते हो, तुम्हारे पास अब है क्या ? तुम लोग अब एक बेर जगत विख्याता ललना-कुल - - - महारानी विक्टोरिया के चरणकमलों में अपने इस दु:ख का निवेदन करो वह अतीव कारुण्यमयी - - - - निस्सन्देह तुम लोगों की ओर कृपा कटाक्ष से देखेंगी और अगस्त की भाँति झटित ही तुम लोगों के शोक-सागर का शोषण कर लेंगी।"[१] अप्रत्यक्ष रूप से भारतेन्दु की राजभक्ति ही वर्णित है। किन्तु अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा में कही गयी उनकी यह उक्तियाँ मात्र दिखावा नहीं थीं, उनमें कुछ सत्यता भी थी। वस्तुत: सन् ५७ की क्रान्ति के बाद शासन सत्ता के कम्पनी से हस्तांतरित होकर महारानी विक्टोरिया के हाथों में आने पर, भारतीयों ने उनके द्वारा स्थापित शान्तिपूर्ण व्यवस्था तथा सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में अपने कष्टों को भूलकर कुछ राहत की साँस ली थी, साथ ही महारानी विक्टोरिया के द्वारा दिए गए आश्वासनों, जिन्हें लार्ड रिपन ने प्रत्यक्ष कर दिखाया था, से भारतीयों को कुछ विश्वास सा हो गया था कि अब महारानी के शासनकाल में हमारे दुख दूर अवश्य होंगे। अत: सभी ने उनके द्वारा अपनायी गयी सुधारवादी नीतियों तथा ज्ञान-विज्ञान के समुचित विकास से प्रभावित होकर तत्कालीन देशी तथा मुस्लिम राजाओं के निरंकुश शासन के विपरीत अंग्रेजों के राज्य को ही श्रेयस्कर मानकर उसके अधिक दिनों तक स्थिर रहने की कामना भी की, जो तत्कालीन परिस्थितियों में सर्वथा अनुचित भी न था।[२] भारतीयों की

----

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -'भारत जननी' भारतेन्दुग्रन्थावली भाग १, संपा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५१०।

२. "भारतेन्दु जी का रचनाकाल संवत् १६२४-१६४१ तक था और यह वह समय था जब भारतवर्ष में पूर्ण शान्ति नहीं हुई थी। उनके जन्म स्थान काशी में ही उन्हीं के समय सन्ध्या के बाद किसी अमीर आदमी का आगे पीछे दस पाँच सिपाही लिये बिना निकलना कठिन था। ऐसे समय में शान्ति स्थापक अंग्रेजी राज्य को 'ईस इत थिर करै थापै' कहना ही देशप्रेम था।" बाबू ब्रजरत्नदास -- 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृष्ठ २०८-२०६।

इसी सद्भावनापूर्ण मनोवृत्ति का उद्घाटन भारतेन्दु ने अपने 'विषस्यविषमौषधम्' नाटक में बड़ौदा नरेश मल्हारराव के गद्दी से उतारे जाने पर मंडाचार्य के शब्दों में किया है — 'अहा धन्य है अंगरेज सरकार ! यह बात कहीं नहीं है । दूध का दूध पानी का पानी । और कोई बादशाह होता तो राज जप्त हो जाता । यह इन्हीं का कलेजा है । हे ईश्वर जब तक गंगा-जमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहै ।- - - - -'[1]

किन्तु एक ओर जहाँ ये नाटककार अंग्रेजी राज्य की इनायतों से परिचित थे वहीं दूसरी ओर वह उनके द्वारा अपनायी गयी षडयन्त्र पूर्ण नीतियों से भी भली-भाँति परिचित थे अत: वह अपने नाटकों में उनकी प्रशंसा के साथ ही निन्दा करने से भी नहीं चूके हैं, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति तत्कालीन नाटकों 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'सज्जाद-सम्बुल' इत्यादि में सर्वत्र ही सुनायी पड़ती है । यथा —

'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ।'[2]

किन्तु सरकार के कोपभाजन से बचने के लिये इस समय अधिकांश नाटक-कारों ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का ही सहारा लिया है । इस दृष्टि से भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', प्रताप-नारायण मिश्र का 'भारत दुर्दशा रूपक' तथा अम्बिकादत्त व्यास और बदरी नारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं, जिसमें उन्होंने भारत भाग्य, भारत दुर्दैव, भारत, आलस्य फूट रोग मदिरा अन्धकार, शिक्षा, उद्योग शिल्प आदि प्रतीकों के सार्थक उपयोग द्वारा भारत की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर जनसामान्य को उससे अवगत कराने का प्रयास किया है । किन्तु 'भारत दुर्दशा', 'भारत दुर्दशा रूपक' तथा 'भारत जननी'

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'विषस्य विषमौषधम्' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, संपा० - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ३६७ ।

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, संपा० - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४७० ।

में जहाँ नाटककार का मुख्य उद्देश्य भारत की दीन हीन दशा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर भारतवासियों को अध:पतित भारत की उन्नति के लिये प्रेरित करना था, वहीं भारत सौभाग्य में अम्बिकादत्त व्यास ने एक विशेष उद्देश्य महारानी विक्टोरिया के जुबली महोत्सव पर लिखे जाने के कारण इसमें अंग्रेजी राज्य में होने वाली उन्नति का एकांगी चित्रण कर अंग्रेजी राज्य को भारत की उन्नति के लिये सौभाग्य पूर्ण माना है। अत: इसमें भावों की वह तीव्र व्यंजना तो नहीं दिखायी देती है, फिर भी उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के आलोक में भारतवासियों को आत्मोन्नति का जो प्रशस्त मार्ग दिखाने का प्रयास किया है वह उनकी प्रखर राष्ट्रीय चेतना की ही परिचायक है, जिस पर युगीन प्रभाववश राजभक्ति का भीना आवरण पड़ गया है।

कारण, यह समस्त नाटककार मूलत: एक सजग राष्ट्रप्रहरी तथा युग स्रष्टा साहित्यकार थे। अत: देश की उन्नति को ध्यान में रखते हुए एक ओर जहाँ उन्होंने भारत की वर्तमान हीनावस्था से क्षुब्ध होकर अपने नाटकों में विदेशी शासकों की षडयन्त्रपूर्ण नीतियों का रहस्योद्घाटन किया है वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य में हो रहे ज्ञान विज्ञान के समुचित विकास से प्रभावित होकर अंग्रेजी राज्य को भारत की उन्नति का एक उपयुक्त अवसर जानकर अज्ञानान्धकार में सोये भारतीयों को तमोनिद्रा से जगाकर उद्बोधन अथवा जागरण का संदेश भी दिया है। 'हाय, भारत भैया उठो। देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अंगरेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे।'[१] जो भारत के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से युग की एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी। अत: भारतेन्दु युगीन प्राय: समस्त नाटकों में ही उनका यह जागरणकालीन स्वर अत्यन्त मुखर हो गया है।

जन-जागरण के क्रम में भारत की वर्तमान हीनावस्था के साथ ही नाटककारों की दृष्टि अपने देश के उस पूर्व गौरव, जो कभी सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर आसीन था, पर भी थी जिसके स्मरण मात्र ने उन्हें अपनी स्थिति के प्रति अत्यन्त बेचैन कर दिया था, अत: उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र देश की उस पूर्व स्थिति का चित्रण कर वर्तमान के प्रति क्षोभ तो प्रकट किया ही साथ ही उसके पतन के मूल

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - भारत दुर्दशा ' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १,
सम्पा० - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४९६

कारणों का उद्घाटन कर भारतवासियों को उनके प्रति सचेत कर पुन: उस पूर्व गौरव को प्राप्त करने के लिये प्रेरित भी किया है । `भारत दुर्दशा` में `भारत दुर्दैव` की कल्पना जिसका आधा वेश मुसलमानी है तथा आधा क्रिस्तानी, अप्रत्यक्ष रूप से भारत की दुर्दशा के मूल कारण अंग्रेजों तथा मुसलमानों को ही संकेतित करता है । इन दोनों आक्रमणकारियों ने अपने स्वार्थ के वशीभूत हो भारत को दुख तथा विपन्नता के जिस अथाह सागर में डाल दिया था उसका बड़ा ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्र भारतेन्दु ने अपने इस नाटक में प्रस्तुत किया है ।

विदेशी आक्रमणकारियों के अत्याचारों के साथ ही यह नाटककार भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता, अज्ञानता, निरुद्यमता एवं भारतीयों की सन्तोषी प्रवृत्ति से भी परिचित थे, जो अपनी समग्रता में सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति में अवरोध स्वरूप उपस्थित थी । अत: उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र ही उन पर व्यंग्य प्रहार कर उनकी कटु आलोचना की है । उनके सामाजिक नाटकों का तो मुख्य ध्येय ही विकृत धर्म तथा उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक कुरीतियों का निराकरण कर भारतवासियों को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कराना था, किन्तु अपने राष्ट्रीयतापरक राजनीति प्रधान नाटकों में भी जहाँ अवसर मिला है उन्होंने भारतीयों की निरुद्यमता तथा सन्तोषी प्रवृत्ति, जिसका लाभ उठाकर विदेशी अपने स्वार्थों की पूर्ति निर्भयतापूर्वक कर रहे थे, को अपने व्यंग्य बाणों का निशाना बनाया है । जिसका उद्घाटन करते हुए `भारत दुर्दशा` में सत्यानाश फौजदार कहता है -- "महाराज फिर सन्तोष ने भी बड़ा काम किया । राजा प्रजा सब अपना चेला बना लिया । अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं । राज न रहा पेनशन ही सही । रोजगार न रहा सूद ही सही, वह भी नहीं तो घर ही का सही `सन्तोषं परमं सुखं` रोटी ही को सराह-सराह कर खाते हैं उद्यम की ओर देखते ही नहीं निरुद्यमता ने भी सन्तोष को बड़ी सहायता दी ।[1] भारतीयों की इसी कमजोरी तथा चारित्रिक दुर्बलता से निराश होकर `सज्जाद-सम्बुल` में नायक सज्जाद भारत के पतन के कारणों का उल्लेख करते हुए कहता है --

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - `भारत दुर्दशा` भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ क्रमश: ४७६, ४८४ ।

'जिहालत हठधर्मी और तअस्सुब की वजह से हम लोग इस बुरी हालत को पहुँचे गये हैं। अगर हम लोग महज खुदगरज और नफसपरस्त न होते तो यह हाल न होता। मुल्क की तरफ से बेपरवाई का मरज या खुदा कब दफा होगा ? इसका कौन इलाज हो ?'[1] जो राष्ट्र विकास के क्रम में तत्कालीन भारतीय समाज को उनकी बुराइयों तथा दुर्बलताओं से मुक्त कराने का एक सफल प्रयास था।

अंग्रेजों के राज्य में होने वाली वैज्ञानिक उन्नति तथा वैचारिक क्रान्तियों के परिणामस्वरूप जागरूक भारतीयों के हृदय में एक नवीन आशा का संचार हुआ था और उन्हें विश्वास हो रहा था कि भारत इस सुअवसर का लाभ उठाकर अज्ञानान्धकार के मोह से छूटकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होगा, किन्तु सामाजिकों में व्याप्त निरुद्यमता स्वार्थपरता एवं अज्ञानता के कारण भारतीयों की वही पूर्ववत् जड़ता को देखकर वह अत्यन्त निराश हुए। उनके हृदय का यही निराशावादी स्वर भारतेन्दु के निम्न शब्दों में व्यक्त है --

> निहचै भारत को अब नास।
> अंगरेजहुँ को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़
> स्वारथ पर विभिन्न मति भूले हिन्दू सब है मूढ।'[2]

इसी प्रकार भारत दुर्दशा में भारत भाग्य का यह कथन 'सच है जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा ?' तथा नाटक के अन्त में उसका छूरा भोंक कर आत्म हत्या कर लेना वस्तुत: भारतवासियों की अज्ञाता एवं मूढ़ता से क्षुब्ध देश के निर्माताओं की मनोदशा को ही संकेतित करता है। जिसके मूल में उनकी राष्ट्रीयता अथवा देशवत्सलता ही झलकती है।

भारतवासियों की इन आन्तरिक दुर्बलताओं के साथ ही अंग्रेज सरकार की अन्यायपूर्ण एवं दमनकारी नीतियाँ, जो भारत के धन बल एवं विद्या का नाशकर भारत की दुर्दशा में सक्रिय सहयोग प्रदान कर रही थी, भी तत्कालीन जागरूक तथा देशप्रेमी

----

१. केशवराम भट्ट - 'सज्जाद सम्बुल', पृष्ठ १०

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - भारत दुर्दशा' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ क्रमश: ४७६, ४८४।

नाटककारों की दृष्टि से ओझल न हो सकी थी । अत: जहाँ कहीं अवसर मिला है, उन्होंने उनकी कटु आलोचना तो की ही है साथ ही जन-सामान्य का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट कराने के लिये व्यंग्य का भी सहारा लिया है । अंग्रेजों के शासनकाल में देश में जो अव्यवस्था फैली हुई थी उसके यथार्थोद्घाटन की दृष्टि से भारतेन्दु का `अन्धेर नगरी` प्रहसन एक सशक्त रचना है । इसमें भारतेन्दु ने एक मूर्ख राजा के माध्यम से अंग्रेजी राज्य तथा उसके संचालक कर्मचारी वर्ग में व्याप्त स्वार्थपरता, लोभवृत्ति तथा शोषण वृत्ति का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है, जिसका यथार्थोद्घाटन करते हुए एक चूरन वाला अपनी चटपटी व्यंग्यपूर्ण भाषा में कहता है --

`हिन्दू चूरन इसका नाम । विलायत पूरन इसका काम - - -
चूरन साहिब लोग जो खाता । सारा हिन्द हजम कर जाता ।`

चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते ।`[1]

तत्कालीन शासन व्यवस्था की इन्हीं अन्यायपूर्ण नीतियों पर दु:ख व्यक्त करते हुए आगे गोवर्धनदास कहता है --

`नीच ऊँच सब एकहि ऐसे । जैसे भंडुर पंडित तैसे ।।
साँचे मारे मारे डोलें । छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलें ।।
साँच कहैं ते पनही खावें । झूठे बहुविधि पदवी पावें ।।`[2]

तत्कालीन समाज में व्याप्त प्रशासन की इन अन्यायपूर्ण नीतियों के साथ ही नाटककारों की दृष्टि अंग्रेजी साम्राज्य की एक विशेष देन कचहरियों तथा अदालतों की ओर भी गई, जो अपनी पक्षपातपूर्ण नीति के द्वारा गरीब भारतवासियों का शोषण कर उन्हें और अधिक विपन्न बना रही थी । अत: अंग्रेजी राज की आलोचना करते हुए सभी ने अपने नाटकों में उनकी निन्दा तथा अवहेलना ही की । कचहरियों में

----

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -`अन्धेर नगरी` भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ६६२

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र --`अन्धेर नगरी` भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १ सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ६७०

होने वाले अत्याचारों से भयभीत होकर 'भारत आरत' का एक मुक्त भोगी पात्र कहता है । 'हे भगवान ! यह सचमुच कचहरी है । ईश्वरी किसी को यहाँ तक न पहुँचावे ।'[1]

भारतेन्दु ने अपने 'भारत दुर्दशा' में तो इन अदालतों को मूलत: अंग्रेजों की साम्राज्यवादी आर्थिक नीति का ही परिणाम माना है, जिसकी व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति सत्यानाश फौजदार के निम्न शब्दों में इस प्रकार है 'फिर महाराज जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को मैंने बड़े बांके वीर भेजे । अपव्यय अदालत फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितिर बितर कर दी - - - धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली'[2]।

इन अदालतों में व्याप्त घूसखोरी के कारण समाज में न्याय की जो दुर्दशा थी उससे दुखी होकर भारतेन्दु अपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन में न्यायकर्ताओं की पक्षपातपूर्ण नीति तथा अज्ञानता पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं 'अरे दुष्ट ; यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम वहाँ के न्याय कर्ताओं की भाँति जंगल से पकड़ कर आये हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते ।'[3]

अंग्रेजों की इन साम्राज्यवादी शोषण नीतियों के उद्घाटन के क्रम में ही नाटककारों की दृष्टि तत्कालीन अर्थ व्यवस्था की ओर भी गयी, जिसका यथार्थ चित्रण उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र ही किया है। यथा --

अब नहीं यहाँ खाने भर को भी जुरता
नहिं सिर पर धोती, नहीं बदन पर कुरता ।[4]

----

१. खड्.ग बहादुर मल्ल -'भारत आरत', पृष्ठ ८

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,-'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ ४७६

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ ६३

४. उपाध्याय बदरीनारायण शर्मा चौधरी 'प्रेमघन', 'भारत सौभाग्य', पृष्ठ ६२

इन थोड़े से शब्दों में नाटककार ने तत्कालीन अर्थव्यवस्था का जो चित्र हमारे समक्ष उपस्थित किया है वह उनकी युग-सम्बद्धता अथवा यथार्थ चेतना को ही स्पष्ट करता है क्योंकि उस समय अंग्रेजों की शोषण नीति के परिणाम स्वरूप आ-जीविका के नष्ट होने तथा नित्यप्रति बढ़ती हुई मंहगाई के कारण एक तो भारतीय वैसे ही आर्थिक दृष्टि से निर्बल हो रहे थे उस पर अंग्रेजों की साम्राज्यवादी आर्थिक नीति के कारण भारतीयों पर लगने वाले टैक्सों ने भी भारत की अर्थ-व्यवस्था को मंझधार में डाल दिया था । अत: समस्त भारतवासियों को एक विषम आर्थिक स्थिति से गुजरना पड़ रहा था । समसामयिक परिवेश के प्रति भारतीयों की यही दुखद अनुभूति भारतेन्दु के निम्न शब्दों में साकार हुई है --

> `अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
> पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ।
> सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई,
> हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।'[1]

अपनी इस टैक्स नीति के साथ ही ब्रिटिश सरकार नित्य नये-नये कानून बनाकर भारतीयों का जो शोषण कर रही थी उसका भी यथार्थ चित्रण तत्कालीन नाटकों में सर्वत्र ही मिलता है । किन्तु काफी समय तक अंग्रेजों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण भारतवासी अंग्रेजों की षड्यन्त्रकारी नीतियों से भी परिचित हो चले थे, अत: धीरे-धीरे उनकी ये राष्ट्रवादी नीति बदलने लगी, जिसका व्यापक प्रभाव तत्कालीन नाटकों पर भी पड़ा और नाटककारों ने भारतेन्दु प्रवर्तित अपनी पूर्वनीति- सहनशीलता एवं राजभक्ति- का आश्रय छोड़कर अंग्रेज सरकार की तथाकथित सुधारवादी नीतियों का रहस्योद्घाटन कर तत्कालीन शासन व्यवस्था पर अपना आक्रोश व्यक्त करना प्रारम्भ किया । `भारत सौभाग्य' में `प्रेमघन' सरकार की इन्हीं शोषण नीतियों पर अपना रोष व्यक्त करते हुए कहते हैं -- `गवर्मेण्ट कहती है कि `हम रिआया की खैरख्वाही और वफादारी पर पूरा ऐतकाद करते हैं ? मगर क्या हथियार छीन लेना और फौजी आलाउहदों को न देना उसका सुबूत है ? - - - - अगर हम

~~कहते हैं कि-------~~

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र --`भारतदुर्दशा' भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग 1, पृष्ठ 47

कहते हैं कि आर्म्स एक्ट उठा दिया जाय तो क्या बुरा कहते हैं ।[१] जिसके मूल में नाटककार का मुख्य उद्देश्य समसामयिक वास्तविकताओं से जन-सामान्य को परिचित कराकर उनकी आँखों पर पड़े स्वार्थ एवं अज्ञानता के आवरण को हटाकर भारतवासियों में जन-जागृति अथवा चेतना का प्रसार करना था । किन्तु केशवराम भट्ट के नाटकों में भारतीयों का यह बढ़ता हुआ आक्रोश कुछ उग्र रूप धारण करता दिखायी देता है जहाँ वह अंग्रेजों को बुरा भला कहने के साथ ही उन्हें लात मारने से भी नहीं हिचकते ।[२] जो अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों की बढ़ती जागरूकता तथा आत्मसम्मान का ही द्योतक है । इसी प्रकार अपने `शमशाद सोसन` में उन्होंने कुछ विद्रोही कैदियों के स्वरों में, जहां वह कहते हैं --`अब इस मजिस्ट्रेट का जुल्म नहीं सहा जाता । खाइयाहों की जंजीर तोड़ के आजाद होवेंगे या मर जावेंगे । होवे कुछ अब बेड़ी नहीं पहनेंगे । भाइयों चले आओ पीठ न दिखाओ जिस-जिस ने पाजी अंगरेज की गालियाँ और लातें खाई है चले आओ - - - -`[३] अंग्रेज अधिकारियों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीयों के हृदय में पनप रही क्रान्तिकारी चेतना को ही स्वर देने का प्रयास किया है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने अपने नाटकों में तत्कालीन समाज अथवा राजनीति का जो चित्र खींचा है वह उनके अपने युग अथवा भोगे हुए यथार्थ की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है, जिसके चित्रण में नाटककार को विशेष सफलता मिली है ।

-o-

---

१. उपाध्याय बदरीनारायण शर्मा चौधरी `प्रेमघन` -`भारत सौभाग्य`-पृष्ठ १०६

२. केशवराम भट्ट - `सज्जाद सम्बुल`, पृष्ठ ४७

३. ,, - `शमशाद सोसन`, पृष्ठ ६२-६३

भाषा प्रयोग

भारतेन्दुयुगीन नाटकों के विषयगत अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु तथा युगीन नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना जन-जागरण के उद्देश्य से प्रेरित होकर की थी तथा इसके माध्यम से वह जन-मानस के कोने-कोने में समाज-सुधार अथवा देश-प्रेम का शंखनाद फूँक देना चाहते थे। अत: इसकी पूर्ति के लिये उन्होंने सामाजिकों की योग्यता एवं रुचि के अनुरूप, जनसामान्य में प्रचलित बोलचाल की साधारण हिन्दी भाषा— जो अपनी व्यापकता में सम्पूर्ण उत्तर भारत में किंचित परिवर्तन अथवा भिन्नता के साथ बोली जाती थी— को ही एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया। हिन्दी भाषा की व्यापकता एवं सरलता के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि 'हिन्दी के अक्षरों में सब तरह के शब्द लिखे जा सकते हैं जैसे के तैसे साफ पढ़े भी जा सकते हैं और ऐसे सरल कि गँवार दो महीने के परिश्रम में अच्छी तरह पढ़ ले सकता है।'[1] जिससे प्रेरित एवं प्रभावित होकर भारतेन्दु तथा अन्य समस्त नाटककारों ने सर्वसुलभ एवं बोधगम्य हिन्दी खड़ी बोली गद्य, जिसमें ब्रज, अरबी, फारसी तथा संस्कृत के प्रचलित शब्दों का अद्भुत सम्मिश्रण था, को ही नाट्य भाषा के रूप में स्वीकार किया।

यों तो भारतेन्दु के पूर्व ही, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मण सिंह, सदासुख लाल, लल्लू लाल तथा इंशा अल्ला खाँ के सद्प्रयत्नों से हिन्दी गद्य का प्रयोग साहित्य क्षेत्र में प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु उनकी परस्पर विरोधी दृष्टि- जहाँ एक ओर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द जैसे व्यक्ति उर्दू मिश्रित शैली के समर्थक थे तो दूसरी ओर राजा लक्ष्मण सिंह और स्वामी दयानन्द जैसे महानुभाव संस्कृत गर्भित शैली के पक्षपाती थे।[2] के कारण हिन्दी खड़ी बोली गद्य संस्कृत-उर्दू संघर्ष के बीच मंझधार में ही लटकी हुई थी जिसे भारतेन्दु ने अपनी समन्वयात्मक दृष्टि द्वारा उचित मार्ग-निर्देशन देकर एक व्यवस्थित एवं सुनिश्चित रूप दिया। हिन्दी गद्य के प्रति भारतेन्दु की इसी विवेकशीलता को लक्ष्य कर विद्वानों ने भारतेन्दु तथा उनकी रचनाओं को हिन्दी गद्य साहित्य का जन्मदाता माना है। उनका कहना था

---

१. बालकृष्ण भट्ट - 'हिन्दी प्रदीप' जिल्द २२, संख्या ५, पृष्ठ १६।

२. डॉ० शान्ति मलिक -'हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास', पृष्ठ ४४।

कि 'दलादली से पूर्ण हिन्दी उर्दू का जो संघर्ष उनके समय तक बढ़ता चला आया था, उसकी ओर उनका ध्यान पहले गया और उन्होंने अपने सक्रिय प्रयोगों से हिन्दी भाषा की रूपरेखा स्थिर की, साहित्य की विविध रचनाओं में स्वयं प्रयोग करके उसके स्वरूप का पूरा परिष्कार कर दिया।'[1] भारतेन्दु के कार्यों के प्रति अपने इन्हीं उदार विचारों को व्यक्त करते हुए बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है --'वर्तमान हिन्दी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इसका जन्मदाता कहने में भी अत्युक्ति न होगी।'[2] जो भारतेन्दु को हिन्दी गद्य भाषा के जनक-रूप में प्रतिष्ठित करता है।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी साहित्य में गद्य का जो स्वरूप प्रचलित था वह ब्रजभाषा युक्त, पूर्वी रूप से प्रभावित, जन-सामान्य में प्रचलित संस्कृत-निष्ठ शब्दावली एवं अरबी फारसी शब्द-प्रयोगों से युक्त था। किन्तु भारतेन्दु ने अपनी अलौकिक प्रतिभा एवं तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर हिन्दी भाषा को जो नवीन रूप दिया उसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य था और न ही अरबी फारसी का बहिष्कार वरन् तीनों के समुचित प्रयोग से उसमें ऐसा सौन्दर्य तथा निखार आ गया था कि हिन्दी प्रदेश का विशाल जन-समूह अनजाने ही उनकी ओर आकृष्टा हुआ। भारतेन्दुयुगीन भाषा की इन्हीं विशिष्टताओं से प्रभावित डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है --'आवश्यकता इस बात की थी कि गद्य में पद्य की भाँति साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि की जावे गद्य भी उतना ही सुथरा और स्पष्ट हो जितना पद्य उसमें भी पद्य जैसी सुरुचि और व्यंजना हो। इस प्रकार के गद्य का निर्माण भारतेन्दु की लेखनी से हुआ।'[3] जिसका जीता जागता स्वरूप स्वयं भारतेन्दु की रचनाएँ हैं जहाँ उन्होंने हिन्दी गद्य के प्रचलित रूप को ग्रहण कर यथासम्भव साहित्यिक एवं परिष्कृत रूप दिया। गद्य भाषा के इस नवीन प्रयोग में भारतेन्दु ने भाषा की जिस नीति को ग्रहण किया था उसका उद्घाटन करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है -'भारतेन्दु ने कोई नई भाषा नहीं चलाई उन्होंने प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया। - - यह भाषा नीति यह थी कि संस्कृत के तत्सम के मुकाबले में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा -'हिन्दी गद्य के युगनिर्माता', पृष्ठ ३

२. बाबू ब्रजरत्नदास - 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृष्ठ २१७

३. डॉ० रामकुमार वर्मा - 'साहित्य चिन्तन', पृष्ठ ८४

और बुनियादी शब्दभण्डार के लिए संस्कृत का सहारा लेना । दूसरी बात उनके पक्ष में यह थी कि उन्होंने ग्रामीण बोलियों का स्वभाव पहचानकर अपनी हिन्दी को गाँव के पढ़े-लिखे लोगों के लिए सुलभ बनाने की कोशिश की । तीसरी बात उनके पक्ष में नागरी लिपि थी ।'[१] जो अपनी संक्षिप्तता में भी भारतेन्दुयुगीन भाषा का एक निश्चित स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है ।

किन्तु जहाँ भारतेन्दु की नाट्यभाषा का प्रश्न है वे उसके प्रति विशेष रूप से सजग दिखाई देते हैं । एक सफल नाटककार के नाते वह यह भलीभाँति जानते थे कि नाटकीय कार्य व्यापार में भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा नाटककार अपने मनोभावों को उसकी समग्र सम्वेदनाओं के साथ जन-सामान्य तक पहुँचाने में समर्थ हो सकता है,अत: उन्होंने अपने नाटकों में सामाजिकों की रुचि तथा नाटक की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए भाषा की स्वाभाविकता एवं सरलता पर विशेष ध्यान दिया । यद्यपि यह सत्य है कि भारतेन्दु के समय तक नाट्य रचना के लिये भाषा का कोई निश्चित मानदण्ड स्वीकृत न हो सका था फिर भी,भरतमुनि की मान्यतानुसार कि 'नाटक की अपनी कोई निश्चित भाषा नहीं होती बुद्धिमान लोग लोक व्यवहार के अनुसार ही भाषा का विधान करते हैं ।'[२] भारतेन्दु ने अपनी नाट्य रचनाओं में भाषा का स्वतन्त्र मानदण्ड स्थापित कर अपने लोकव्यवहार का जो परिचय दिया वह उनकी तीक्ष्ण नाट्य प्रतिभा का ही परिचायक है जिसका उल्लेख उनके 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में सर्वत्र ही उपलब्ध है । नाट्यभाषा की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि 'ग्रन्थकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बातचीत भी विरचित हो । - - - - पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय हो नाटक का प्रधान अंग है ।'[३] जिसका पालन भारतेन्दुयुगीन समस्त नाटककारों ने तो किया ही साथ ही वह एक सफल नाटक की दृष्टि से आज तक अपनी अर्थवत्ता बनाये हुए है । नाट्यभाषा की इसी स्वाभाविकता एवं सरलता के समर्थन में तर्क देते हुए आज लक्ष्मीनारायणलाल

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा - 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृष्ठ ७८

२. आचार्य भरत -- 'नाट्यशास्त्र' ८।५८-५६

३ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नाटक' - सम्पादक दामोदरस्वरूप गुप्त,पृष्ठ २६

स्वीकार करते हैं कि 'नाटक की भाषा सीधी और सरल होती है जो तुरन्त अपने अर्थ के साथ दर्शक की समझ में आ जाए । नाटक उपन्यास या कविता की पुस्तक नहीं है कि उनकी व्याख्या के अर्थ समझने के लिये दर्शक रंगभवन में बैठकर नाटक के पृष्ठ उलटकर देख सके ।[१]

विषय तथा पात्र की इस चरित्रगत स्वाभाविकता को दृष्टि में रखकर ही भारतेन्दु ने अपने नाटकों में भाषा सम्बन्धी अनेक नवीन प्रयोग किये । नाट्य रचना करते समय उनका सर्वप्रथम प्रयोग तो यही रहा है कि उनका प्रत्येक नाटकीय चरित्र अपने ही वर्ग की बोली अथवा भाषा का प्रयोग करता है जिसको पढ़ते अथवा सुनते ही पात्र का सम्पूर्ण व्यक्तित्व दृष्टिपटल पर स्वयं ही अंकित हो जाता है । इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता भी थी कि 'वेश और वाणी दोनों ही पात्र की योग्यतानुसार होनी चाहिए । यदि भृत्यपात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद उसके हेतु अस्वाभाविक है वैसे ही पंडितों के संभाषण की भाँति विशेष संस्कृत गर्भित भाषा भी उसके लिये अस्वाभाविकी है ।[२] अत: स्पष्ट है कि पात्रानुकूल भाषागत विविधता भारतेन्दुयुगीन नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता थी जो पात्रों की जातिगत भिन्नता, प्रकृति, योग्यता एवं विषयानुकूल सर्वत्र परिवर्तित हुई है । और यही कारण है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में भाषा के कई रूप दिखाई देते हैं, उनके शिक्षित अथवा ब्राह्मण पात्र यदि तत्सम शब्दावली से युक्त शुद्ध एवं परिष्कृत संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रयोग करते हैं तो मुसलमान पात्र अरबी-फारसी से युक्त उर्दू भाषा का तथा ग्रामीण,अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित पात्र देशज एवं ग्रामीण शब्दों से युक्त ब्रज, अवधी,भोजपुरी, पूर्वी, मराठी, गुजराती इत्यादि स्थानीय बोलियों का । और इस प्रकार अपनी भाषा के द्वारा ही वह अपने वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर देते हैं ।

किन्तु इस भाषागत विविधता के साथ ही भारतेन्दुयुगीन नाटकों में भाषा सम्बन्धी एक विशेष प्रवृति दिखायी देती है वह यह कि नाटक में जहाँ कोई

---

१. लक्ष्मीनारायण लाल -- 'रंगमंच और नाटक की भूमिका', पृष्ठ ११६

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- 'नाटक'- सम्पादक दामोदरस्वरूप गुप्त, पृष्ठ ३४

अन्य प्रान्तीय अथवा विदेशी पात्र आता है तो वह अपने वर्ग अथवा जाति की विशिष्टताओं के साथ ही नाटक में अवतरित होता है अर्थात् उसकी भाषा उसके वर्ग के अनुरूप ही प्रयुक्त की जाती है जैसे अंग्रेज पात्र अंग्रेजी अथवा अंग्रेजी मिश्रित भाषा का प्रयोग करता है तो मुसलमान अरबी फारसी मिश्रित उर्दू का तथा बंगाली बंगला का। किन्तु इन हिन्दीतर भाषाओं की अभिव्यक्ति तत्कालीन नाटकों में प्राय: दो रूपों में हुई है। प्रथम, इन हिन्दीतर भाषाओं के शब्दों को ज्यों-का-त्यों उनके प्रकृत रूप में ग्रहण कर भाषा को यथासम्भव उनके अनुरूप बनाने का प्रयास किया गया है। भाषा प्रयोग की उक्त प्रवृत्ति उर्दू भाषा के प्रयोग में विशेष रूप से दिखाई देती है जहाँ अरबी फारसी के अधिकांश शब्द उनके शुद्ध रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं यथा -- नफ्सपरस्त, खुदगर्ज, अलबत्ता, तसद्दुक, खौफ, शगल, मयस्सर, नोश, आदाबअर्ज, गोया, मनहूस, निहायत इत्यादि। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी यथा स्थान किया गया है जैसे - स्कौलर, डिसलायल्टी, एक्ट, पालिसी, कावर्ड, रिफ्रेशमेन्ट इत्यादि। कहीं-कहीं तो अंग्रेजी सभ्यता से प्रभावित पात्र पूरा का पूरा वाक्य ही अंग्रेजी में बोल जाते हैं।[१] किन्तु अंग्रेजी के प्रयोग में भाषा-प्रयोग का दूसरा रूप ही अधिक प्रचलित था जहाँ पात्र से उसकी अपनी भाषा न बुलवाकर हिन्दी के शब्दों में ही व्याकरणिक अथवा उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कराकर भाषा को यथासंभव पात्र के अनुरूप बनाने का प्रयास किया गया है। बंगाली तथा अंग्रेज पात्रों के संवादों में भाषा का यह रूप सर्वाधिक दिखायी पड़ता है। 'भारत दुर्दशा', 'भारत आरत' 'भारत सौभाग्य' (प्रेमघन) 'सज्जाद सम्बुल', 'शमशाद सौसन' इत्यादि नाटकों में ऐसे संवाद भरे पड़े हैं। एक बंगाली तथा अंग्रेज पात्र के संवादों में भाषा का उक्त रूप द्रष्टव्य है :

'सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारत दुर्दैव हम लोगों का शिर पर आपड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि

---

१. यथा -- रसिक लाल -- हाँ रिफ्रेशमेंट (Refreshment) के लिए कुछ जरूर चाहिए। wait a little, I have brought some new bottles from Kilnes's this morning.'
-- बालकृष्णभट्ट - 'जैसा काम वैसा परिणाम', पहला पर्दा - भट्ट नाटकावली - सम्पादक धनंजय भट्ट।

हमारा बीज्जोबिल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकेगा, परन्तु जो शब लोग एक मत्त होगा। - - - - -[1] रो —यूक्लेगार्ड टुम को लाना होगा। सीडा माफिक से राजी ना होवे टो जिस माफिक हेमन लाल की जोरू को लाया टा, उस माफिक ले आओ। याड है ?[2]

यद्यपि यहाँ यह समस्त पात्र बोलते तो हिन्दी ही हैं किन्तु उनकी हिन्दी में क्रमश: बंगला तथा अंग्रेजी का स्पर्श है। अत: पात्र की भाषा मात्र से बंगाली तथा अंग्रेज व्यक्ति की प्रतिमूर्ति दृष्टि पटल पर अंकित हो जाती है। इसी भाँति मारवाड़ी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी इत्यादि भाषाओं के प्रयोग में भी भाषा का यह दूसरा रूप ही दर्शनीय है। यद्यपि भाषा का यह पात्रानुकूल प्रयोग नाटक की स्वाभाविकता को दृष्टि में रखकर ही किया गया था, किन्तु कहीं-कहीं नाटककार ने स्वाभाविकता की धुन में पात्रानुकूलता की अति भी कर दी है। भारतेन्दु का `प्रेमयोगिनी` नाटक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जहाँ भाषा को पात्रानुकूल बनाने के प्रयास में भारतेन्दु ने पूरा का पूरा गर्भाक ही मराठी भाषा में लिख दिया है जो नाटक को रोचक बनाने की अपेक्षा उसे अधिकाधिक बोझिल एवं नीरस बना देता है। किन्तु ऐसे अंश अपवाद स्वरूप ही हैं,अन्यथा उन्होंने सर्वत्र किंचित शब्द प्रयोग अथवा उच्चारण परिवर्तन के द्वारा ही प्रान्तीय अथवा विदेशी भाषाओं का सम्यक् प्रयोग किया है।

भाषा को पात्रानुकूल बनाने के लिये भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने भाषा सम्बन्धी एक और प्रयोग किया और वह था, पात्रों की प्रकृति एवं योग्यता के अनुकूल भाषा में परिवर्तन। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तत्कालीन नाटक है जहाँ मूर्ख अथवा सज्जन, लोभी एवं दुष्ट, ग्रामीण अथवा नागरिक, स्त्री अथवा पुरुष सभी अपनी प्रकृति के अनुकूल भाषा के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं, जो नाट्य व्यापार को गतिशीलता प्रदान करने के साथ ही पात्रों के सम्पूर्ण चरित्र अथवा व्यक्तित्व को उद्घाटित करने में भी पूर्णत: समर्थ हैं। पात्रानुकूल भाषागत विविधता की दृष्टि से भारतेन्दु की `अन्धेर नगरी` एक उत्कृष्ट रचना है जहाँ अन्धेर नगरी के चौपट्ट राजा के चरित्र का उद्घाटन उसकी भाषा स्वयमेव ही कर देती है यथा `क्यो बे बनिए !

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - `भारत दुर्दशा` - भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ ४८६

२. केशवराम भट्ट - `शमशाद सोसन`, पृष्ठ १४-१५

इसकी लरकी, नही बरकी क्यों दबकर मर गई ?"[१]

प्रस्तुत संवाद में `क्यो बे` शब्द जहाँ राजा के असभ्य एवं उजड्ड स्वभाव का परिचायक है वही लरकी एवं बरकी शब्द उसके विवेक एवं ज्ञान के भी परिचायक हैं। इसी प्रकार सेवक के `पान खाइए` कहने पर `सुपनखा आई है` सुनकर डर जाना उसके डरपोक स्वभाव को भी व्यक्त करता है। किन्तु एक ओर जहाँ राजा द्वारा प्रयुक्त संवाद में भाषा का यह अशिष्ट एवं अभद्र रूप मिलता है वहीं महन्त की भाषा में साधु सन्तों के चरित्रानुकूल विवेकपूर्ण भाषा के दर्शन होते हैं यथा --

`सेत सेत सब एकसे जहाँ कपूर कपास ।
ऐसे देस कुदेस में कबहुँ न कीजै बास ।`[२]

किन्तु गोवर्धनदास द्वारा प्रयुक्त भाषा सर्वत्र पंडितों के लोभी स्वभाव को ही व्यक्त करती है। उसके निम्न संवाद में `वाह ! वाह !! बड़ा आनन्द है। क्यों बच्चा मुझसे मसखरी तो नहीं करता ? शचमुच सब टके सेर ?`[३] प्रयुक्त `शचमुच` शब्द तो गोवर्धनदास की लोभी वृत्ति के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति पात्र भी अपनी भाषा से सर्वत्र ही पहिचान लिये जाते हैं। उनकी भाषा में प्रयुक्त गाली इत्यादि अशिष्ट शब्द उनकी प्रकृति को स्पष्ट करने में पूर्णत: समर्थ है।

उपर्युक्त भिन्न वर्गीय चरित्रों की भाँति स्त्रियों की भाषा का भी अपना एक विशेष लहजा है। इनकी भाषा पुरुषों की अपेक्षा लोचदार तथा कहावतों मुहावरों इत्यादि से युक्त है। बात-बात मे ताने मारना उनका स्वभाव है। साथ ही उनकी भाषा में सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण एक प्रकार का दर्द सा भरा हुआ है जो उनकी मन:स्थिति को चित्रित करने के साथ ही नाटककार की युग सम्पृक्तता की भी द्योतक है।

इसके साथ ही अशिक्षित, ग्रामीण अथवा निम्नमध्यवर्गीय पात्रों की

----

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - `अन्धेरनगरी`, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ ६६८।

२-३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - `अन्धेरनगरी` भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ क्रमश: ६६५, ६६४।

भाषा में उन्होंने अधिकतर ब्रजभाषा अथवा उनकी प्रादेशिक बोलियों का ही प्रयोग किया है।[1] किन्तु जहाँ तक शहरी शिक्षित पात्रों की भाषा का सम्बन्ध है वह मुख्यत: खड़ी बोली ही रही है। कहीं-कहीं तो यह खड़ी बोली शुद्ध एवं संस्कृतनिष्ठ रूप में प्रयुक्त हुई है। `प्रेमजोगिनी` में सुधाकर द्वारा वाराणसी की प्रशंसा में कथित संवाद उनकी इस संस्कृत निष्ठ भाषा का एक अच्छा उदाहरण है। कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे श्लोक ही संस्कृत में कहे गये हैं। किन्तु संस्कृत का यह प्रयोग अधिकांशत: उद्धरण अथवा कथनों की पुष्टि तक ही सीमित है। अत: इनके प्रयोग से भाषा कहीं भी दुरूह नहीं हुई है। वरन् संस्कृत शब्दों की व्यावहारिकता पर उन्होंने सर्वाधिक ध्यान दिया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है कि, `संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़कर ही करते थे। उनकी लिखावट में न `उड्डीयमान` और `अवसाद` ऐसे शब्द मिलते हैं, न `औदार्य्य` `सौकर्य्य` और `मौर्ख्य` ऐसे रूप।`[2] इस प्रकार सभी पात्रों की भाषा अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को लिये हुए थी जो अपने चरित्र के उद्घाटन के साथ ही सम्पूर्ण वर्ग का भी प्रतिनिधित्व करती है।

---

१. `सब्बाद सम्बुल` में भोजपुरी का एक उदाहरण दृष्टव्य है : `अरे खाँ साहेब तशरीफ ले ले हथिन, तनिक हुक्का भरके ले ले आव।` पृष्ठ २४

पूर्वी (बनारस के आस-पास की भाषा) का प्रयोग तो बहुत से नाटकों में हुआ है। `प्रेमयोगिनी` में काशी के मध्यवर्गीय पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते हैं।

माखनदास - हाल चौन है तोन आप जनते हौ, दिन दूना रात चौगुना। अबहीं कल्हौ हम ओ रास्ते रात के आवत रहे तौ तबला ठनकत रहा। बस रात दिन हा हा ठी ठी। बहुत भवा दुई चार कवित बनाय लिहिन बस होय चुका।

— भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ३२६

२. रामचन्द्रशुक्ल - `हिन्दी साहित्य का इतिहास`, पृष्ठ ४५२।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दुयुगीन नाटकों में विषय एवं भाव के अनुरूप भी भाषा में यथोचित परिवर्तन दिखाई देते हैं। और यही कारण है कि एक ओर जहाँ प्रेमपूर्ण प्रसंगों में उनकी भाषा कोमलकान्त पदावली से युक्त सरस एवं प्रवाहपूर्ण है, वहीं वीरतापूर्ण प्रसंगों अथवा आक्रोश प्रदर्शन के समय वह अपेक्षाकृत ओजपूर्ण एवं कर्कश हो गयी है। तथा शोक,क्षोभ,ग्लानि एवं पश्चाताप आदि मनोविकारों की स्थिति यथासम्भव भावुकतापूर्ण हो गयी है। किन्तु उनकी भाषा का सर्वाधिक मुखरित एवं सशक्त रूप जो उनके नाटकों में दिखायी देता है वह थी उसकी व्यंग्यात्मकता। वास्तव में यदि देखा जाय तो भारतेन्दु के भाषा का तो मूलाधार ही व्यंग्य था, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति विकृतियों के उद्घाटन के रूप में तत्कालीन प्राय: समस्त नाटकों में ही हुई है। भारतेन्दु की व्यंग्यपूर्ण भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है जो अपनी वाग्विदग्धता के द्वारा अंग्रेजों की शोषण नीति तथा अर्थ-व्यवस्था को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से व्यंजित कर देती है --`फिर महाराज जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितिर बितिर कर दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पच्छिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे,घूस और चन्दे के ऐसे बम के गोले चलाए कि `बम बोल गई बाबा की चारों दिसा` धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बनाबना कर मूंड लिया। एक तो खुद ही यह सब पंडिया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धाँय-धाँय गिनी गई, वर्णमाला कण्ठ कराई, बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।`[1]

इसके साथ ही उन्होंने अपने नाटकीय संवादों में कुछ ऐसे व्यंग्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया है जो भावों की सफल अभिव्यंजना के साथ-साथ हास्य की सृष्टि में भी सहायक हुए हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति` प्रहसन में विदूषक का `वेदान्ती अर्थात् बिना दाँत के` शब्द प्रयोग नाटककार की वाक्विदग्धता अथवा

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र --`भारत दुर्दशा`, भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४७६।

कथक् चातुर्य का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है जो नाटक को रोचक बनाने के साथ-साथ भावों की सम्प्रेषणीयता में भी खरा उतरता है । यद्यपि कहीं-कहीं हास्य तथा व्यंग्य का यह प्रयोग नाटक में जबरदस्ती ठूसा हुआ भी प्रतीत होता है, किन्तु नाटक के रचनात्मक धरातल पतनोन्मुख समाज तथा उसमें निवास करने वाले अशिक्षित पात्रों को नाटकीय व्यंग्य का आधार बनाने के कारण सर्वथा अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता है ।

पात्रानुकूल भाषा विविधता के अतिरिक्त भारतेन्दुयुगीन नाट्यभाषा की एक अन्यतम विशेषता उसका आकर्षक शब्दभण्डार अथवा शब्द-चयन है । खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भिक काल होने के कारण तत्कालीन गद्य शब्दभंडार की दृष्टि से अत्यन्त असमृद्ध था, जिसकी ओर भारतेन्दु का ध्यान सर्वप्रथम गया और उन्होंने अपने विस्तृत ज्ञान के आधार पर अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण कर हिन्दी खड़ी बोली गद्य को अधिकाधिक पुष्ट एवं समृद्धिशाली बनाने का प्रयास किया । और यही कारण है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में अंग्रेजी, संस्कृत तथा अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है । किन्तु नाटककारों की दृष्टि फिर भी भाषा की सरलता पर ही केन्द्रित थी अत: उनकी नाट्यभाषा में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी के शुद्ध अथवा तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव अथवा चलताऊ शब्दों का प्रयोग ही अधिक किया गया है । वास्तव में यदि देखा जाय तो भारतेन्दु की भाषा का प्राण तो उनकी तद्भव शब्दावली ही है, जिसका चुन-चुनकर उन्होंने अपने नाटकों में प्रयोग किया है यथा -- सिंगार, कपार, अच्छर, गारी, बिस, मरम, किरोध, संस्कीरित, डिमारिज (डेमेज) अंधरी मजिस्टर (आनरेरी मजिस्ट्रेट) क्रिस्तान, टिकस (टैक्स) निस्पिट्टर (इन्सपेक्टर) इत्यादि । इनके द्वारा उनकी भाषा में जो निखार, आकर्षण एवं लालित्य आया है उसने इनकी प्रतिभा को चार चाँद लगा दिये हैं । भारतेन्दु की भाषा की इस विशिष्टता को लक्ष्य करके ही डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है - 'भारतेन्दु की रीढ़ तद्भव शब्दावली है, उनकी शैली के मिठास का यही रहस्य है । बोलचाल के अरबी फारसी शब्दों का उन्होंने बहिष्कार नहीं किया लेकिन नये शब्द लेने के लिये उन्होंने संस्कृत का सहारा लिया ।'[१] जो तत्कालीन नाटकों पर पूर्णत: सत्य भी उतरता है और अपनी इस विशिष्टता के कारण ही भारतेन्दुयुगीन

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा - 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ', पृष्ठ ११६

नाटक जनसामान्य के काफी निकट तक पहुँच सके हैं तथा उनमें अपने युग का यथार्थ बोलता प्रतीत होता है ।

किन्तु उर्दू भाषा के प्रयोग में,अरबी-फारसी शब्दों की अधिकता के कारण कहीं-कहीं भाषा क्लिष्ट भी हो गयी है । `नीलदेवी`,`भारत-आरत`, `भारत सौभाग्य` (प्रेमघन), `दुखिनी बाला`, `शमशाद सौसन` तथा `सज्जाद सम्बुल` में अपेक्षाकृत क्लिष्ट उर्दू के ही दर्शन होते हैं । यथा : `गवर्मेण्ट कहती है हम रिआया की खैरख्वाही और वफादारी पर पूरा ऐतकाद करते हैं `मगर क्या हथियार छीन लेना और फौजी आलाउह्दो को न देना उसका सुबूत है ? - - - - जब हम देखते हैं कि हर साल हजारहा बीगह: जमीन की जराअत और सद्हा जानें इन दरिन्द: जानवरों से तलफ और तबाह होती है - - - - ।`[1] किन्तु उर्दू का यह प्रयोग मुसलमान पात्रों तक ही सीमित था अत: अस्वाभाविक नहीं लगता । इसके विपरीत उनके साधारण पात्र जहाँ कहीं भी उर्दू भाषा का प्रयोग करते हैं वह बोल-चाल की साधारण भाषा ही थी, जो जनसामान्य में प्रचलित होने अथवा सरकारी कामकाज की भाषा होने के कारण तत्कालीन नाटकों में अनायास ही प्रयुक्त हो गयी है ।

चूँकि भारतेन्दुयुगीन समस्त नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना देश की ग्रामीण एवं अशिक्षित जनता, जो अपनी अल्पज्ञता के कारण समाज की अन्धपरम्पराओं से चिपकी हुई थी,को शिक्षा देने हेतु ही की थी अत: उन्होंने अपने नाटकों में सामाजिकों की प्रकृति को समझते हुए जनसामान्य में प्रचलित लोकभाषा को ही अपने नाटकों का मूलाधार बनाया । जिसका एक रूप लिखने और पढ़ने की भाषा के अन्तर को समाप्त कर शब्दों के उच्चरित रूप को लिखने में ही दिखायी देता है जैसे सुनना नहीं सुन्ना । इसी प्रकार इस्का उस्का,सक्ता,जिस्को जान्ता,रिषी, रितु इत्यादि ।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने नाटकों को जनसामान्य के अधिकाधिक समीप ले जाने के लिये तत्कालीन समाज में प्रचलित देशज शब्दों यथा -- चोंकड़, चुखे,मनई, मंस ले, कुकुर, झाँ-झाँ, ब्यालू, निमोड़ा, धींगरा, बिलाईं, झमेला, फजीता, बंज (बैल), सपराए, नक्कटई, बनात,गंजी, महतारी इत्यादि-- का भी बड़ी कुशलता

---

1. बदरीनारायण शर्मा चौधरी, `प्रेमघन `- `भारत सौभाग्य`, पृष्ठ १०६ ।

से प्रयोग किया है जो अपनी सादगी तथा अर्थव्यंजकता के कारण नाटकीय पात्रों को उनके परिवेश से जोड़ देते हैं।

जनभाषा की इस महत्ता, जीवन्तता तथा सम्प्रेषणीयता से प्रभावित होकर ही भारतेन्दुयुगीन प्राय: समस्त नाटककार, यह मानते हुए भी कि 'अंक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है'[1] लोकजीवन में प्रचलित पद्यात्मकता के मोह से अपने को पूर्णत: मुक्त नहीं रख सके थे। फलत: गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी भारतेन्दु-युगीन नाट्यभाषा की एक प्रमुख विशेषता थी। यों तो गद्य के प्रयोग में भी तुकबन्दी के रूप में - उनकी इस पद्यात्मक रुचि के दर्शन यत्र-तत्र हो जाते हैं, किन्तु पद्य का मुख्य प्रयोग गीतों अथवा पद्य प्रयोगों के रूप में ही दिखायी देता है जिनका प्रयोग मुख्यत: 'नीरसता का परिहार कर रसोत्पादन करने, वातावरण निर्मित करने तथा पात्रों के मनोभावों और चरित्रगत विशेषताओं को प्रकट करने के लिए हुआ है।'[2] अत: वह अस्वाभाविक एवं अनावश्यक न होकर नाटकीय कार्यव्यापार में सहायक ही सिद्ध हुआ है। किन्तु कहीं-कहीं गीतों का अतिशय प्रयोग नाटक में अरुचिकर एवं अनावश्यक भी हो गया है। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में राधाकृष्णदास का 'दुखिनीबाला' एकमात्र ऐसी रचना है जो पद्य के प्रभाव से सर्वथा मुक्त पूर्णत: गद्य में ही लिखी गयी है। अन्यथा अधिकांश नाटकों में तो गीतों की संख्या १५-१६ तक पहुँच गयी है। किन्तु गीतों का प्रयोग मुख्यत: ब्रजभाषा में ही हुआ है, खड़ी बोली में गीतों का सर्वथा अभाव है।

इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने अपनी पात्रानुकूल भाषा तथा अद्भुत शब्द योजना के द्वारा भाषा को यथासम्भव स्वाभाविक बनाने का प्रयास तो किया ही है, भावों की प्रभावशाली अभिव्यंजना के लिए लोकप्रचलित कहावतों, मुहावरों, सूक्तियों तथा उद्धरणों आदि का भी समुचित प्रयोग किया है। कहीं-कहीं इन नाटक-कारों ने भाषा को अलंकृत एवं समृद्ध करने के लिए अलंकारों का भी प्रयोग किया है, किन्तु अलंकारों की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उनके उपमान प्राय: जन-जीवन से ही ग्रहण किये गये हैं जो नाटकीय सौन्दर्य को बढ़ाने के साथ ही नाट्य भाषा को जन-

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नाटक' सम्पादक - दामोदर स्वरूप गुप्त, पृष्ठ २६।

२ डॉ० शान्तिमलिक -- 'हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास', पृ० ५३।

जीवन के अति निकट ले आते हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं— चूल्हा सा मुँह, मुँह जैसे जरा चूल्हा, आँखें घुच्चू सी, जैसा जाड़े में कमल मुरझाय जाय तुम्हार मुँह सूख रहा है। भारतेन्दु के 'भारत जननी' तथा 'प्रेमयोगिनी' में तो अलंकारों की छटा दर्शनीय है। यद्यपि यहाँ पर अलंकारों का प्रयोग सायास है तथा शुद्ध संस्कृत निष्ठ भाषा का ही प्रयोग किया गया है किन्तु एक तो यह बहुत कम है और यदि है भी तो हिन्दी गद्य के शैशवकाल में भाषा का यह सुगठित रूप उनकी शब्द सामर्थ्य एवं कलात्मक रुचि को ही द्योतित करता है। जिसे उन्होंने अपने नाटकों में प्रयुक्त गीत, गजल, शेर शायरी दृष्टान्त तथा चुटकुलों इत्यादि के द्वारा यथासम्भव सरस एवं प्रभावशाली बना दिया है।

किन्तु एक ओर जहाँ इन नाटककारों ने अपने नाटकों को जनसामान्य के अधिकाधिक निकट लाने तथा लोकप्रिय बनाने के लिये भाषा सम्बन्धी अनेक नवीन एवं सार्थक प्रयोग किये हैं वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में अपनी अटूट आस्था के कारण वह प्राचीन नाट्य रूढ़ियों को पूर्णतः त्याग भी नहीं सके हैं। यद्यपि परिवर्तित परिस्थितियों में वे उनकी असमर्थता एवं असमीचीनता से भलीभाँति परिचित थे,[१] फिर भी उनके कुछ नाटकों में संस्कृत नाटकों के प्रभावस्वरूप प्रस्तावना, मंगलाचरण, भरत-वाक्य, आकाशभाषित तथा स्वगत कथन सदृश कतिपय नाट्य रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। किन्तु धीरे-धीरे स्वगत कथन को छोड़कर अन्य सभी नाट्य रूढ़ियों का प्रायः लोप होता गया। इन स्वगतों का प्रयोग भी उन्होंने यथासम्भव पात्रों के मनोभावों को अभिव्यक्त करने,वातावरण की सृष्टि करने तथा नाटकीय को विशिष्ट मोड़ देने के उद्देश्य से किया है अतः यह अधिकतर सार्थक एवं छोटे हैं। यद्यपि कहीं-कहीं मनोभावों की जटिलता के कारण यह अपेक्षाकृत विस्तृत भी हो गये हैं,किन्तु नाटककार ने उन्हें एकालापिता के दोष से बचाने के लिये इनमें दृश्यता तथा रसोत्पादन के संचार का यथा-संभव प्रयास भी किया है। 'भारतदुर्दशा' के छठे दृश्य में 'भारतभाग्य' का विस्तृत स्वगत कथन तथा 'नीलदेवी' में पागल का प्रलाप इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भाषा शैली के प्रति नाटककारों की इस अद्भुत समन्वयवादी दृष्टि के

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नाटक' सम्पादक दामोदर स्वरूप गुप्त, पृष्ठ १२।

अतिरिक्त तत्कालीन नाटकों में प्रयुक्त संवादों की भी अपनी एक विशिष्टता है । जन-भाषा की स्वाभाविकता तथा सरलता को दृष्टि में रखकर लिखे जाने के कारण यह प्राय: छोटे, सरस, प्रभावपूर्ण तथा नाटकीय गुणों से युक्त तो है ही अपनी संक्षिप्तता में सम्पूर्ण अर्थ को भी बड़ी चतुरता से व्यक्त कर देते हैं । 'प्रेमजोगिनी' का एक संवाद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है —

'अतरौ फुलेल केसर परसादी बीड़ा चाभो सबसे सेबकील्यो, ऊपर से ऊबात का सुख अलगे है ।'[1] इस छोटे से वाक्य में भारतेन्दु ने 'ऊबात' शब्द प्रयोग के द्वारा भारतीय समाज में फैले व्यभिचार तथा विलासिता का जिस सूक्ष्मता से उद्घाटन किया है वह उनकी तीक्ष्ण बुद्धि एवं प्रखर ज्ञान का ही परिचायक है । और सच पूछा जाय तो उनकी यह व्यंग्यात्मकता सूक्ष्मता तथा तीक्ष्णता ही भारतेन्दुयुगीन नाट्यभाषा की सबसे बड़ी शक्ति थी, जिसने जन-मानस के अन्तरतम को भेदकर सामाजिकों को अपने प्रति आकृष्ट करने के लिये एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

अत: स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी भारतेन्दुयुगीन प्राय: समस्त नाटककार कलात्मक दृष्टि से संस्कृत नाटकों की रूढ़ परम्पराओं की अपेक्षा नवीन सिद्धान्तों की ओर ही बढ़ रहे थे, जिनके प्रतिपालन ने अनजाने ही हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी परम्परा का सूत्रपात किया। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी नाटकों में प्रचलित यह नवीन परम्परा किसी यथार्थवादी कलान्दोलन की स्वीकृति की अपेक्षा उनके युग की आवश्यकता मात्र थी ।

भाषा सम्बन्धी इन नवीन प्रयोगों के साथ ही भारतेन्दुयुगीन नाट्य भाषा में कुछ दोष भी पाये जाते हैं जिनमें प्रथम है रचना सम्बन्धी दोष । वस्तुत: हिन्दी गद्य का शैशव काल होने के कारण इस समय नाटककारों की दृष्टि भाषा के संगठन की ओर उतनी गई ही नहीं जितनी उसकी बोधगम्यता पर। अत: उनकी भाषा में रचना-सम्बन्धी कतिपय दोष अनायास ही आ गये हैं यथा भेस लिया, दीवार बनाया, आज्ञा लिया, डर दिखाई गई आदि । कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण वाक्य रचना ही अत्यन्त शिथिल है जैसे - 'परन्तु इसके पूर्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'प्रेमजोगिनी' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पादक - ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ३२६ ।

जाननी कि हाकिम लोग भारत दुर्दैव की सैन्य से मिल तो नहीं जायेंगे ।[1] इसके साथ ही वाक्य रचना में ब्रज भाषा का भी व्यापक प्रभाव पाया जाता है यथा सैना, पहिरेंगे, लावैंगे, करैगा, डालैगा इत्यादि, जिसके कारण भाषा शुद्ध एवं परिनिष्ठित नहीं हो सकी है ।

इस रचना सम्बन्धी दोष के अतिरिक्त भारतेन्दुयुगीन नाट्यभाषा में जो दूसरा दोष दिखाई देता है वह है उसकी अश्लीलता, जो पारसी नाटकों के प्रभाव-स्वरूप उनके नाटकों में अनायास ही आ गया है । तत्कालीन नाटकों में प्रयुक्त छिनाल लुच्चा, हरामजादा, हरामी, चूतर, चूतिया इत्यादि शब्द उनके इस युगीन प्रभाव के ही द्योतक हैं जो कानों को बुरे लगने के साथ ही साहित्यिक सौन्दर्य में भी बाधक प्रतीत होते हैं, जिनकी उपेक्षा कर नाटककार अपनी भाषा को अधिकाधिक परिष्कृत बना सकता था । किन्तु सत्य तो यह है कि भावों की प्रभावशाली अभिव्यंजना की धुन में एक तो नाटककार का ध्यान भाषा के परिष्करण एवं कलात्मक सौन्दर्य के प्रति गया ही नहीं दूसरे जन-सामान्य को उसके यथार्थरूप में प्रस्तुत करने के कारण उनका सर्वथा परित्याग सम्भव भी न था, अत: उनकी भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित न हो सकी साथ ही उसमें कलात्मकता का अभाव भी पाया जाता है । किन्तु हिन्दी गद्य के शैशवकाल में भाषा की सामर्थ्य तथा प्रवाह शीलता को देखते हुए भारतेन्दुयुगीन नाटक-कारों का यह भाषागत दोष नगण्य एवं क्षम्य ही प्रतीत होता है ।

अत: भारतेन्दुयुगीन नाट्य भाषा के सम्बन्ध में निष्कर्षत: यहाँ यही कहा जा सकता है कि चूँकि यह समस्त नाटककार समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर नाट्य-रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए थे अत: उन्होंने अपने नाटकों में भाषागत कलात्मकता की अपेक्षा उसकी स्वाभाविकता तथा सरलता पर ही विशेष ध्यान दिया, जिसने उनके कथ्य को अधिकाधिक सजीव एवं हृदयग्राही बनाने के साथ ही नाटक को जनता के अत्यधिक निकट ला दिया । भारतेन्दुयुगीन नाट्यभाषा की इसी सामर्थ्य, व्यापकता तथा सरलता को लक्ष्य कर डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है - 'भारतेन्दु युग की यही सबसे बड़ी

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४८८ ।

खूबी है कि वह जनता का साहित्य है। उसकी भाषा न दरबारों की है न सरकारी अफसरों और कचहरी के मुहर्रिरों की। यह जनता की भाषा है। जिसमें अत्यधिक ग्राम सम्पर्क के चिन्ह भले ही हो, नागरिक बनाव सिंगार और टीपटाप का अभाव है।[1] जो अपने आप में भारतेन्दुयुगीन नाट्य भाषा की सबसे बड़ी विशेषता थी, जिसने उनके चरित्रों में संजीवनी शक्ति का संचार कर उन्हें एक जीवन्त रूप प्रदान किया।

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा - 'भारतेन्दु युग', पृष्ठ १६६

रंग-संयोजन

विषय तथा भाषागत परिवर्तनों के साथ ही भारतेन्दुयुगीन नाटकों की एक अन्यतम एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि उनका रंग संयोजन है। एक सफल नाटककार के साथ ही भारतेन्दु तथा युगीन समस्त नाटककार सफल अभिनेता भी थे नाटक तथा रंगमंच के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध तथा नाटक में अभिनय पक्ष की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए 'जब तक अभिनय न हो नाटक से क्या फल होगा ?'[१] उन्होंने अभिनेय नाटकों की रचना तो की ही साथ ही पारसी रंगमंचों के प्रति आकृष्ट जनता के समक्ष सुरुचिपूर्ण नाटकों का प्रदर्शन कर उन्हें मनोरंजन का एक नया साधन भी दिया। किन्तु समाज-सुधार एवं जन-जागरण की भावना से प्रेरित होने के कारण इनके द्वारा स्वीकृत रंगमंच प्रचलित रंगमंच से भिन्न अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता था जिसने सर्वसाधारण के मनोरंजन के साथ ही नाटककार के विचारों को जन-सामान्य तक पहुँचाने के लिये एक सशक्त माध्यम का कार्य किया।

यद्यपि हिन्दी नाटकों का प्रणयन तो पूर्व भारतेन्दु काल में ही प्रारम्भ हो चुका था किन्तु सामाजिकों की अपरिष्कृत रुचि तथा नाटककारों की कर्तव्यनिष्ठा एवं प्रयोगशीलता के अभाव में हिन्दी का साहित्यिक नाटक और मंच अपने शुद्ध साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित न हो पाया था।[२] और सम्पूर्ण उत्तरभारत में रंगमंच के नाम पर पारसी रंगमंचों का ही बोलबाला था, जो सामाजिकों की रुचि के नाम पर नाटक की मूल आत्मा का हनन कर नाटक को मात्र मनोरंजन एवं धनोपार्जन का साधन मान बैठे थे। फलतः इस समय प्रदर्शित नाटकों में नाटकीय गुणों की अपेक्षा सामाजिकों की रुचि के अनुरूप चमत्कार-प्रदर्शन, नाच-गाना, हंसी मजाक एवं नग्नता का ही प्राधान्य था। जिसकी प्रतिक्रिया[३] ने भारतेन्दुयुगीन नाटककारों को एक नये एवं सुसंस्कृत रंगमंच निर्माण की प्रेरणा दी।

---

१. पं० बदरीनारायण शर्मा चौधरी 'प्रेमघन' 'भारत सौभाग्य' उपक्रम
२. गोविन्द चातक - 'प्रसाद' नाट्य और रंगशिल्प' पृष्ठ २५५
३. भारतेन्दु का निम्नलिखित कथन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है : 'काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतली कमर बलखाय' यह गाने लगा, तो डा० थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। -भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाटक संपा० दामोदरगुप्त, पृ० ५६-५७

भारतेन्दुयुगीन सम्पूर्ण नाटक एवं रंगमंच चूंकि पारसी रंगमंचों की प्रतिक्रिया-स्वरूप जन्मा था अतः भारतेन्दुयुगीन रंगमंच को समझने के लिये पारसी रंगमंच का सम्यक्-ज्ञान भी अपेक्षित है। जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ उल्लेखनीय है। ये 'पारसी रंगमंच एक ओर नौटंकी और स्वाँग की अभिनय पद्धति से प्रभावित थे दूसरी ओर आँग्ल रंगमंच से।'[१] अतः इसके प्रदर्शन में दोनों ही पद्धतियों का मिश्रित रूप दिखायी देता है, किन्तु इन दोनों के समन्वय से इन पारसी नाटक कम्पनियों ने रंगशिल्प सम्बन्धी जो प्रयोग किये उनमें सुरुचिपूर्ण संस्कारों की अपेक्षा अश्लीलता एवं सस्तापन ही अधिक था। नाटक की प्रभावोत्पादकता बढ़ाने के लिये इन पारसी कम्पनियों ने जिन रंगमंचीय तत्वों पर विशेष बल दिया उनमें प्रमुख थे :

कृत्रिमता एवं चमत्कारप्रदर्शन
संगीत की प्रचुरता तथा
अश्लीलता

कृत्रिमता एवं चमत्कार प्रदर्शन -

व्यावसायिक वृत्ति से प्रेरित होने के कारण चमत्कार प्रदर्शन इन पारसी कम्पनियों का मुख्य ध्येय था जिसके द्वारा यह नाटक को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाते थे। किन्तु उनका यह चमत्कार कथावस्तु में न होकर उसके बाह्य रूप अर्थात् दृश्यों, संवादों अथवा वेशभूषा तक ही सीमित था जिसकी पुष्टि में श्रीकृष्णदास का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है --

'चमत्कार उन्हें नाटक के प्लाट, उसकी भाषा अथवा रस भावना के सम्बन्ध में अभीष्ट नहीं था। उनका अभिप्राय चमत्कार से दृश्य दृश्यान्तर, रंगमंच की ऊपरी चटक-मटक और वेषभूषा की नवीनता में ही सन्निहित रहता था।'[२] अतः स्पष्ट है कि पारसी रंगमंचों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू उनका आकर्षक दृश्य-विधान ही था, जो प्रायः सुसज्जित, विशाल किन्तु जटिल होता था तथा इसके सफल

---

१. गोविन्द चातक - प्रसाद : नाट्य और रंगशिल्प', पृष्ठ २५६
२ श्रीकृष्णदास - 'हमारी नाट्य परम्परा', पृष्ठ ६०८

प्रस्तुतिकरण के लिये अनेक साधन जुटाये जाते थे। पारसी रंगमंचों की इस जटिलता की ओर संकेत करते हुए गोविन्द चातक ने लिखा है, `पारसी रंगमंच बल्लियों,तख्तों और बाँसों से बनाया जाता था। वह चतुर्मुख होता था - - - - - - - दृश्यविधान के पर्दे मुख्य थे। एक के पीछे एक अनेक पर्दे मंच पर लगे रहते थे। ये पर्दे अपनी तड़क-भड़क के लिए प्रसिद्ध थे। सामान्य पर्दों के साथ कटे या टूटने वाले फोल्डिंग पर्दे विशेष रूप से उपयोग में लाये जाते थे। पर्दों पर नई सीन और सीनरी के साथ टेब्लो दृश्यों को भी विशेष महत्व दिया जाता था। रंगमंच पर विशेष दृश्यों की योजना से दर्शकों को चमत्कृत कर देना पारसी रंगमंच का प्रिय विषय था।`[1] साथ ही मंच निर्माण के मूल में उनकी दृष्टि यथार्थता की ओर झुकी हुई थी[2] अत: सीन सीनरियों का प्रयोग विशेषरूप से किया जाता था। कहीं-कहीं तो तपोवन और जंगल के दृश्यों के लिये भी यथार्थत: मंच सज्जा होती थी।[2] अत: अधिकांश पारसी रंगमंच व्यय एवं श्रमसाध्य थे।

जहाँ तक इनके अभिनय का सम्बन्ध है यह मुख्यत: वाचिक स्थूल एवं आंगिक ही था, इसमें व्यंजना की बहुत कम गुंजाइश थी। इनका मुख्य ध्येय जोर-जोर से चिल्लाकर अपने संवादों को प्रेक्षागृह की अन्तिम पंक्ति तक पहुँचाना था अत: `पारसी अभिनय में अभिनेता को केवल इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि सुग्गे की तरह अपना पार्ट रट ले और स्टेज पर आकर कुछ विशेष प्रकार से हाथ पैर फटकारे।`[4] साथ ही अभिनेताओं की ऊँची और सुरभुरी आवाज को महत्व देने के कारण उनकी वाणी में वह स्वाभाविक लोच भी न था जो नाटक को हृदयस्पर्शी बना सके। किन्तु तत्कालीन चमत्कारपूर्ण दृश्य-विधान की चकाचौंध में उनका यह दोष अप्रभावी ही रहा।

वाचिक अभिनय को महत्व देने के कारण चमत्कार-मूलक संवाद योजना इन पारसी रंगमंचों की अपनी एक विशिष्टता थी। अत: इनमें प्रयुक्त संवाद प्राय:

---

१. गोविन्द चातक : `प्रसाद : नाट्य और रंग शिल्प`, पृष्ठ २५६

२-३. डॉ० विश्वनाथ शर्मा - हिन्दी रंगमंच का उद्भव और विकास`,पृष्ठ १६७

४. वासुदेव नन्दन प्रसाद — `भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच` पृष्ठ २४१।

आलंकारिक, बड़े और आडम्बरपूर्ण होते थे। छोटी सी बात को भी बढ़ा चढ़ाकर कहने की परम्परा थी, साथ ही नाटकीय कथा को रोचक बनाने के लिए उद्देश्य से संवादों में स्वगत कथन, नेपथ्य कथन, आकाशभाषित, पद्यात्मक संवादों, गीतों तथा शेरो-शायरी का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता था।

इन चमत्कारमूलक संवादों के साथ ही पारसी रंगमंचों पर धारण की गयी वेशभूषा भी सामान्यतः बहुमूल्य, रेशमी तथा चमकदार होती थी जो अपनी जगमगाहट के कारण दर्शकों को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी, किन्तु इनके प्रयोग में पात्रानुकूलता का ध्यान अधिकांशतः नहीं रखा जाता था। नौकर से लेकर राजा महाराजा तक सभी बहुमूल्य वस्त्रों तथा आभूषणों को धारण करते थे और नाटक के आरम्भ से अन्त तक एक ही वस्त्र को पहने रहते थे। बीच-बीच में अवसर के अनुकूल वस्त्र बदलने की आवश्यकता तब नहीं समझी जाती थी।[१] साथ ही पात्रों को आकर्षक बनाने के लिये मुँह पर सुर्ख रंगों तथा अबरक इत्यादि अन्य सौन्दर्य प्रसाधनों का भी प्रयोग किया जाता था।

संगीत की प्रचुरता

पारसी रंगमंच की दूसरी महत्वपूर्ण विशिष्टता संगीतात्मकता अर्थात् संगीत-नृत्यगीत- की प्रचुरता थी, जिसका प्रयोग ये प्रायः प्रेक्षकों को प्रसन्न करने के लिये करते थे। अधिकांशतः पारसी रंगमंचों पर तो नाटककार की प्रतिभा इसी बात से आँकी जाती थी कि वह कितने और कैसे गाने देता है। वार्तालाप में कितनी शायरी है और नृत्य और 'टेब्लो' के कितने प्रसंग हैं।[२] यद्यपि संगीत की ये प्रेरणा उन्हें भारतीय लोक नाटकों से ही मिली थी किन्तु जनरुचि को जीतने के मोह में उन्होंने अपने नाटकों में संगीतात्मक प्रयोगों की अति ही कर दी, जो प्रायः घटिया स्तर के तथा दर्शकों की कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने में सहायक होते थे। अधिकतर पात्र तो स्थिति तथा अवसर की उपेक्षा कर भावावेश में आकर एक के बाद एक अनेक गीतों

---

१. वासुदेव नन्दनप्रसाद - 'भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच', पृष्ठ २५२

२. सर्वदानन्द - 'रंगमंच', पृष्ठ २६

को गाये चले जाते थे। पारसी रंगमंच पर प्रस्तुत इन गीतों के सम्बन्ध में श्रीकृष्णदास ने लिखा है, "यह तो गीतों के नाम पर मात्र तुकबंदियां थीं जो चलताऊ धुनों में फिट कर दी जाती थीं जो बाद में थियेट्रिकल तर्ज के नाम से ही प्रसिद्ध हुईं।"[1] अत: गीतों का प्रयोग होने पर भी उनमें प्राचीन गीतिकाव्यों का सा-माधुर्य नहीं था। तत्कालीन नाटकों की भाषा में सर्वत्र तुकबंदी का प्रयोग, अनुप्रासपूर्ण एवं आलंकारिक शब्दावली तथा साधारण बातचीत में भी अप्रयुक्त एवं कवित्वपूर्ण संवादों तथा शेरो-शायरी इत्यादि का प्रयोग उनकी इस संगीतात्मक रुचि के ही परिवर्तित एवं विकृत रूप थे।

अश्लीलता

अपने व्यावसायिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन कम्पनी के मालिकों ने चमत्कारपूर्ण दृश्यों तथा नृत्यगीतों के प्रयोग के साथ ही सामाजिकों की कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने तथा विकृत रुचि को तुष्ट करने के लिए अश्लीलतापूर्ण प्रसंगों का भी यथासम्भव प्रयोग किया। जो उनकी बोलचाल, गीत-योजना एवं हाव-भाव प्रदर्शन में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। स्त्रियों को भड़कीली पोशाकों में प्रस्तुत करना, बात-बात में हँसना, ऊटपटाँग और बेसिर पैर की बातें करना तथा गाली-गलौज के निम्न स्तरीय शब्दों का प्रयोग तत्कालीन नाटकों के अपरिहार्य तत्व थे, जिन्होंने सामाजिकों के मनोरंजन के साथ ही उनकी रुचि को और अधिक विकृत किया। इसके अतिरिक्त नाटकों में गाये जाने वाले घटिया अथवा निम्नस्तरीय गीत तथा नृत्यों में भद्दी भंगिमाओं का प्रदर्शन पारसी रंगमंच के कुछ निजी प्रयोग थे जो अपनी व्यापकता में सम्पूर्ण भारतीय समाज में अनैतिकता एवं कुरुचि को प्रश्रय देकर भारतीय संस्कृति के विनाश का कारण बने हुए थे। संयोग से इसी समय देश के कुछ प्रबुद्ध नाटककारों की दृष्टि पारसी रंगमंचों की इन कुप्रवृत्तियों की ओर आकृष्ट हुई और उन्होंने उनके प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर इन पारसी रंगमंचों का ही विरोध किया। समसामयिक पारसी रंगमंचों की इन्हीं अभारतीय एवं असंस्कृत प्रवृत्तियों पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए भट्ट जी लिखते हैं, "हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर जो दर्शकों की आशिकी-माशूकी-का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है। क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुआनी की झलक मन में

---

1. श्रीकृष्णदास - 'हमारी नाट्य परम्परा', पृष्ठ ६९०

आने पावे - - - - भविष्य में इसका परिणाम यही होने वाला है कि हमारी नई सृष्टि में आर्यता और हिन्दूपन का चिन्ह भी न बचा रहेगा । बोलचाल, रहन-सहन में अर्ध यवन तो हुई हैं अब 'पूरे आशिकतन यवन बन बैठेंगे ।'[1] जो अन्तत: हिन्दी रंगमंच के विकास का कारण बनी ।

किन्तु भारतेन्दुयुगीन प्रबुद्ध नाटककारों ने जहाँ एक ओर इन पारसी रंग-मंचों का विरोध किया वहीं दूसरी ओर सामाजिक आवश्यकता एवं जनरुचि तथा नाटक की प्रभावोत्पादकता को ध्यान में रखते हुए परिष्कृत नाटकों की रचना कर सामाजिकों को मनोरंजन एवं दिल्लगी का एक दूसरा नया साधन भी दिया । नाटक की अनन्त सम्भावनाओं के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि 'नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है -- दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी और तरह से नहीं ।'[2] और इस प्रकार नाटक जैसी यह उत्तम कला जो कस्बियों मीरासियों डूमों और पैसा बटोरने वाली मण्डलियों के हाथ में जा पड़ी थी[3]। भारतेन्दुयुगीन कुछ प्रबुद्ध नाटककारों के प्रयास से मनोरंजन के साथ-साथ जन-जागृति के सशक्त माध्यम रूप में स्वीकार की गयी । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि — 'नाटक से बढ़कर कोई ऐसा दूसरा उपाय नहीं जिसमें सर्वसाधारण को सामाजिक दशा का वर्तमान चित्र दिखाकर पूरा-पूरा सुधार किया जाए ।'[4] और यही कारण है कि नाट्य रचना के इस संक्रान्ति काल में देश की अधोगति तथा नाटक की प्रभोत्पादकता को लक्ष्य कर शिक्षा-प्रद एवं प्रेरणादायक नाटक ही अधिक लिखे गये, जिनका मुख्य उद्देश्य था सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सुधारकर राष्ट्रीय चेतना तथा जन-जागरण की भावना भरना तथा जनता की साहित्यिक रुचि को परिष्कृत कर उसे सुरुचि सम्पन्न बनाना । भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की नाटकों के प्रति इस अपूर्व निष्ठा, सक्रियता एवं युग सम्बद्धता को लक्ष्यकर ही सत्येन्द्र तनेजा ने भारतेन्दुयुगीन नाटकों को नवजागरण का एक प्रमुख अस्त्र स्वीकार किया है अत: लिखते हैं - 'इस युग के नाटककार के लिये नाटक एक ऐसा मंच बन गया था

---

१. बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप, भाग २५, संख्या ६-१२ के 'पारसी थियेटर' शीर्षक से उद्धृत ।

२. श्रीनिवासदास --'रणधीर प्रेममोहिनी' प्रस्तावना

३. बलवन्त गार्गी -- 'रंगमंच', पृष्ठ १८६

४. किशोरीलाल गोस्वामी -- 'नाट्यसंभव', प्रस्तावना, पृष्ठ २

जिसके माध्यम से मनोरंजन से कहीं बढ़कर परिवर्तन सुधार तथा नवजागरण लाया जा सके, इस तरह पुनरुत्थान के लक्ष्य अब नाटक के लक्ष्य हो गये ।[1] जो तत्कालीन नाटकों के उद्देश्य को ही स्पष्ट करता है ।

इस प्रकार भारतेन्दु तथा सहृदय सामाजिकों के प्रयत्न से नाटक के उद्देश्य में तो अन्तर आया ही साथ ही उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने प्रचलित नाट्य शैलियों— रामलीला, रासलीला, बंगला नाटक तथा पारसी नाटक — के रंगमंचीय गुणों को समन्वित कर नाट्य रचना सम्बन्धी एक नवीन मानदण्ड स्थापित किया, जिसने पारसी रंगमंचों की कृत्रिमता एवं चमत्कार प्रदर्शन की अपेक्षा स्वाभाविकता तथा सरलता पर विशेष ध्यान दिया । किन्तु जहाँ तक भारतेन्दुयुगीन नाटकों के रंग-संयोजन का सम्बन्ध है, चूँकि रंगमंच उनके लिये जनसामान्य तक पहुँचने का एक साधन मात्र था अत: उन्होंने जितना ध्यान अपने कथ्य पर दिया उतना उसकी साज-सज्जा पर नहीं और यही कारण है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों का सम्पूर्ण रंगमंचीय विधान पारसी रंगमंचों की चमत्कारिता के विपरीत स्वाभाविकता सरलता एवं यथार्थता की भूमि पर ही आधारित है,जिसका मुख्य उद्देश्य था अपने कथ्य को एक स्वाभाविक भावभूमि प्रदान करना जो उनके नाटकों के दृश्यविधान अभिनय एवं वेशभूषा के विश्लेषण से पूर्णत: स्पष्ट भी है ।

<u>दृश्यविधान</u>—

समाज सुधार की भावना से प्रेरित होने के कारण भारतेन्दुयुगीन ये नाटक अधिकांशत: सार्वजनिक स्थानों, मेलों तमाशों इत्यादि में दिखाये जाते थे । अत: इनमें दृश्यविधान को वह महत्त्व न दिया जा सका जो पारसी रंगमंचों को प्राप्त था । दृश्य-विधान इनके लिये स्थान-विशेष को संकेतित करने का एक माध्यम मात्र था जो यथा-शक्ति साधारण पर्दों तथा थोड़ी बहुत सहज उपलब्ध सामग्री एकत्रित कर शीघ्र ही तैयार कर लिया जाता था तथा आवश्यकतानुसार जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले भी जाया जा सकता था । भारतेन्दुयुगीन ऐसे ही सहज उपलब्ध रंगमंच की एक झलक गोपालराम गहमरी के निम्न कथन में देखी जा सकती है —

'बयालीस वर्ष पहले की बात है जब काशी के भारतेन्दु ने बलिया में

---

१. सत्येन्द्र तनेजा —'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच संपा० नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ ७८ ।

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र बनकर खेला था .... उस समय पर्दा और सीनों का अभाव नहीं था, लेकिन जो कुछ स्टेज उस समय बना था, बजाज के कपड़े तानकर जो काम भारतेन्दु ने कर दिखाया था उसकी महिमा यूरोपियन लेडियों तक ने गाई थी।'[1] जिससे स्पष्ट है कि रंगमंच का महत्व इनके लिये गौण था और यही कारण है कि इस युग की अधिकांश नाटककारों ने प्रचलित रंगमंचों की यथार्थ मंच-सज्जा को महत्व देने की अपेक्षा दृश्य का संकेत मात्र कर कार्य-व्यापार प्रारम्भ कर दिया है यथा —'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में — रक्त से रंगा हुआ राजभवन, पूजाघर, राजपथ, यमपुरी। 'प्रेमजोगिनी' में—मन्दिर का चौक, बुभुक्षित दीक्षित की बैठक। 'अन्धेर नगरी' में—बाह्य प्रान्त, बाजार, जंगल राजसभा, अरण्य, श्मशान तथा 'भारत दुर्दशा' में —किताबखाना, गम्भीर वन का मध्य भाग इत्यादि, जो प्राय: पर्दों पर अंकित कर दिये जाते थे। किन्तु जहाँ दृश्य-विधान में अपेक्षित सजीवता लानी चाही है वहाँ उन्होंने तत्सम्बन्धी वस्तुओं का उल्लेख भी यथास्थान कर दिया है। जैसे 'भारत दुर्दशा' में — श्मशान -- जहाँ टूटे-फूटे मन्दिर हैं तथा कौए स्यार आदि घूम रहे हैं तथा इधर-उधर अस्थियाँ पड़ी हैं। मैदान — जहाँ फौज के डेरे दिखाई पड़ते हैं। कमरा अंग्रेजी ढंग से सजा हुआ मेज कुरसी लगी हुई है। इसी प्रकार नीलदेवी में अमीर की मजलिस का एक दृश्य — अमीर गद्दी पर बैठा है। दो चार सेवक खड़े हैं। दो चार मुसाहिब बैठे हैं। सामने शराब के पियाले, सुराही, पानदान इतरदान रखा है, जो प्राय: सहज उपलब्ध ही होता था।

अत: स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों का दृश्य-विधान रंगसंयोजन की दृष्टि से काफी सरल था, दृश्यों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी जिससे उन्हें मंच पर प्रस्तुत करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी। हाँ, दृश्य-विधान सम्बन्धी एक दोष अवश्य खटकता है और वह है दृश्यों का अतिशीघ्र बदलना। किन्तु इसके मूल में जनरुचि एवं नवीनता का आग्रह ही विशेष था जिसे स्वीकार करते हुए भारतेन्दु ने स्वयं लिखा है, 'प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों को दिखलाना भी आवश्यक समझा

---

१. कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह -- 'हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा' पृष्ठ २३३।

गया है ।[1] अतः इसको भारतेन्दुयुगीन नाटकों का दोष न मानकर उनकी उपलब्धि ही मानना पड़ेगा । जिसके सम्यक् निर्वाह का पूर्ण प्रयत्न भी नाटककारों द्वारा स्वयं ही किया गया। किन्तु फिर भी कहीं-कहीं दृश्यों की संख्या अधिक होने तथा स्थान, काल एवं कार्य ऐक्य पर ध्यान न देने के कारण दृश्य-विधान कुछ जटिल एवं अस्वाभाविक भी हो गया है । बाबू तोताराम का `विवाह विडम्बन` इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । वस्तुतः यहाँ जिस कार्य को नाटककार छोटे से कार्य-व्यापार द्वारा प्रस्तुत कर सकता था वही कार्य उसने लगभग २०० पृष्ठों में पूर्ण किया । वर्णनात्मकता उसमें यहाँ तक है कि नाटक उबाऊ तथा नीरस हो गया है । इसके साथ ही पात्र किसी कार्य के लिये बाहर जाते हैं और तत्क्षण ही वह कार्य करके वापस आ जाते हैं, यहाँ तक कि इस बीच किसी से कुछ बात भी नहीं हो पाती, जो नाटकीय-व्यापार की दृष्टि से बहुत ही अस्वाभाविक लगता है । इसके विपरीत काशिनाथ खत्री ने तो अपने नाटक `ग्राम पाठशाला` तथा `निकृष्ट नौकरी` में दृश्यविधान की अवहेलनाकर नाटक की योजना ही कथात्मक शैली में की है जहाँ अंकों तथा दृश्य-विधान का कोई निर्देश देने की अपेक्षा इस एक वाक्य `यही सोचते-सोचते गाँव के समीप आ गया और एक किसान को खेत काटते हुए देखकर पूछने लगा ।`[2] के साथ ही दूसरा दृश्य बदल जाता है ।

अतः दृश्यविधान के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि रंगमंच इनके लिये साधन मात्र था तथा हिन्दी रंगमंच का प्रयोग काल होने के कारण कहीं-कहीं नाटक में यद्यपि दृश्यविधान सम्बन्धी कुछ दोष भी आ गये हैं किन्तु उनके नाट्य रचना सम्बन्धी महान् उद्देश्य को देखते हुए उनका यह दोष नगण्य ही था, साथ ही हिन्दी रंगमंच के उत्साही रंगकर्मियों ने अपनी रंग-प्रतिभा के आधार पर उन दोषों का निराकरण कर उन्हें यथासम्भव अभिनेय बना दिया था ।

अभिनय --

नाटक में स्वाभाविकता को प्रश्रय देने के कारण भारतेन्दुयुगीन इन नाटककारों ने अपने नाटकों में अभिनय तत्व पर विशेष ध्यान दिया । इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि भावसूचक चेष्टा और अंगविक्षेप नाटक खेलने वाले के प्रधान गुण हैं,

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र `नाटक` -- सम्पा० दामोदरस्वरूप गुप्त, पृष्ठ १०-११
२. काशिनाथ खत्री -- `ग्राम पाठशाला`, पृष्ठ ११

इनका अभ्यास विशेषकर होना चाहिये, क्योंकि इनके बिना अभिनय केवल चित्र-प्रदर्शन तुल्य ही रहता है ।'[१] किन्तु अभिनय के प्रति उनका यह आग्रह शारीरिक अभिनय के प्रति न होकर भावाभिनय के प्रति ही था । जिसका उल्लेख करते हुए भारतेन्दु ने स्वयं कहा है — 'नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिये ।'[२]

वस्तुत: ये नाटककार पारसी रंगमंच पर नाटकों के ऐसे प्रदर्शन देख चुके थे जहाँ पात्र तोते की भाँति रटे-रटाये संवादों को उच्च स्वर में समान भाव से बोल जाते थे, जो नाटक की मूल आत्मा का हनन कर नाटकों की स्वाभाविकता में भी बाधक थे । अत: भारतेन्दु ने अपने नाटकों में स्वाभाविकता को बनाये रखने के लिये अभिनय सम्बन्धी कुछ विशेष निर्देश दिए, जो पात्रों के चलने फिरने, बोलने देखने सभी के सम्बन्ध में पात्रों की स्वाभाविकता के ही समर्थक थे । संवादों की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में उनका कहना था कि -'शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय पात्रों को स्वर भी घटाना बढ़ाना उचित है ।'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है किन्तु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें ।'[३] इसी प्रकार दृष्टि-निक्षेप के सम्बन्ध में उनका कहना था कि 'यद्यपि परस्पर वार्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी किन्तु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेंगे । इस अवसर पर अभिनय चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखे किन्तु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं ।[४] जिनको व्यवहार में लाकर भारतेन्दु ने तत्कालीन नाटककारों एवं अभिनेताओं के समक्ष नाट्याभिनय का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया, जिसका अनुकरण कर नाटककारों ने अपने नाटकों को यथासम्भव

---

१. रायदेवी प्रसाद पूर्ण - चन्द्रकला भानुकुमार नाटक - प्रस्तावना, पृष्ठ १०

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -'नाटक' सम्पा० दामोदर स्वरूप गुप्त, पृष्ठ ३८

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'नाटक' , पृष्ठ ३७

४. वही ,, ,, , पृष्ठ ३७-३८

स्वाभाविकता प्रदान करने की चेष्टा की है । और यही कारण है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में ये अभिनय सम्बन्धी निर्देश सर्वत्र भरे पड़े हैं जो नाट्यवस्तु को स्वाभाविकता प्रदान करने के साथ ही नाटककार के मनोभावों को दर्शकों तक पहुँचाने में भी पूर्णत: समर्थ थे । उनके ये अभिनय संकेत पात्रों की स्थिति, हाव-भाव, कार्य-व्यापार तथा मनोभावों को तो संकेतित करते ही हैं साथ ही नाटक में रोचकता एवं गतिशीलता भी लाते हैं । कतिपय संकेत दृष्टव्य हैं --

'भारत जननी निद्रित सी बैठी है । भारत सन्तान इधर-उधर सो रहे हैं । भारतमाता के पास जाकर कई बेर जगाकर । रोती हुई भारत जननी की ठोढ़ी पर हाथ रखकर ।'[1] इसी प्रकार --'नाउन बैठी है मालती उसका पुरुष वेश बना रही है । मोंछा पर हाथ फेर हँसती है, पुरुष के समान चलती है, पास जा उसे पान खिला देती है, और प्रणयपूर्वक उसे शैय्या पर बैठाती है तत्पश्चात् आप भी बैठ जाती है ।'[2] अथवा 'आलस्य- मोटा आदमी जंभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आवेगा ।'[3]

इसके अतिरिक्त नाटककारों ने अभिनय को स्वाभाविक बनाने के लिये भावों के अनुरूप स्वरों के घटाने बढ़ाने तथा दृष्टि विक्षेप पर भी जोर दिया है । इस युग के अधिकांश नाटककार एक साहित्यकार के साथ-साथ अभिनेता भी थे अत: अभिनय की स्वाभाविकता की ओर उनकी दृष्टि सहज ही चली गई थी । उनके नाटकों में दिये गये वाणी तथा अभिनय दृष्टि सम्बन्धी निर्देश जैसे -- हँसकर, कुढ़कर, कृत्रिम रुदन के स्वर में, सोचकर, चकित हो, अचरज से, क्रोध से, स्वगत, गम्भीर और कठोर स्वर से, डरता और काँपता हुआ रोकर, चौंककर ऊँचे स्वर से, साधारण स्वर से चिल्लाकर, आँख मलकर, टेढ़ी दृष्टि से, क्रोध से देखकर, आँख से दूर जाने को इंगित करना इत्यादि प्रत्यक्षत: उनकी स्वाभाविक रंग-दृष्टि के ही परिचायक हैं, जो अभिनेताओं को अभिनय सम्बन्धी सही दिशा निर्देश देने के साथ ही अभिनय को अपेक्षित स्वाभाविकता प्रदान करने में भी सहायक हुए हैं ।

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -'भारत जननी' भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५०१-५०५ ।

२. बालकृष्ण भट्ट -- 'जैसा काम वैसा परिणाम' भट्टनाटकावली, सम्पा० धनंजयभट्ट, पृष्ठ ११६-१२१ ।

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र --'भारत दुर्दशा' भारतेन्दुग्रन्थावली भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४७६ ।

वेशभूषा—

भारतेन्दु युग के नाटककारों की यह स्वाभाविकता तथा सरलता दृश्य-सज्जा तथा अभिनय के साथ ही पात्रों की साज-सज्जा तथा वेशभूषा के सम्बन्ध में भी स्पष्ट दिखाई देती है। यद्यपि अभिनय को विशेष महत्व देने के कारण भारतेन्दुयुगीन नाटकों में वेशभूषा पर विशेष ध्यान तो नहीं दिया गया था फिर भी अभिनय की स्वाभाविकता को बनाये रखने के लिए उन्होंने वेशभूषा को साधन रूप में सर्वत्र ही स्वीकार किया है। वेशभूषा की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि 'वेश और वाणी दोनों ही पात्र की योग्यतानुसार होनी चाहिए।'[१] और इसकी उपादेयता को लक्ष्य करके ही उन्होंने अपने नाटक निबन्ध में एक वेशविधायक की आवश्यकता का अनुभव किया है। 'जो स्वभाव और अवस्था का विचार करके वेश-रचना कर दे।'[२]

वेशभूषा में पात्रानुकूलता का ध्यान रखने के कारण इनके नाटकों में निर्देशित वेशभूषा प्राय: आडम्बरहीन एवं सहज उपलब्ध ही थी, जो उनके नाटकों में दिये गये वेशभूषा सम्बन्धी निर्देशों से स्वत: स्पष्ट है यथा 'भारत जननी' में एक टूटे देवालय की सहन में एक मैली साड़ी पहने बाल खोले भारत जननी निद्रित सी बैठी हैं' इसी प्रकार 'प्रेमयोगिनी' में 'पुरोहित गले में माला पहिने टीका दिए उन्मत्त-सा आता है।' उनके प्रतीकात्मक नाटकों में जहाँ वेशभूषा का उपयोग मुख्यत: सांकेतिक रूप में हुआ है, वेशभूषा पात्रों के मनोभावों एवं चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन में भी सर्वथा स्वाभाविक एवं सार्थक सिद्ध हुई है। 'भारत दुर्दशा' में 'भारत की वेशभूषा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जहाँ नाटककार ने वेशभूषा सम्बन्धी छोटे से निर्देश — 'फटे कपड़े पहने, सिर पर अर्धकिरीट, हाथ में टेकने की छड़ी' मात्र से देश की गरीबी, विगत सत्ता तथा असहायता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करा दिया है। 'भारत दुर्दशा' की भाँति ही 'प्रेमघन' ने भी अपने 'भारत सौभाग्य' में पात्रों की वेशभूषा का सांकेतिक चित्रण किया है जो नाटककार की भावनाओं से सम्बद्ध होने के कारण अत्यन्त

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-'नाटक' संपा० दामोदरस्वरूप गुप्त, पृष्ठ ३४

२. वही ,, ,, पृष्ठ ३४

स्वाभाविक बन पड़ी है । साथ ही अपनी सरलता एवं सहज उपलब्धता के कारण नाटकों के मंचन में भी विशेष सहायक एवं प्रभावी सिद्ध हुई है ।

इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन नाटकों के रंगमंचीय विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नाट्य रचना करते समय रंगमंच की प्रभावोत्पादकता को दृष्टि में रखने के कारण इस युग के नाटकों में भाषा, अभिनय, वेशभूषा तथा दृश्य-विधान सभी दृष्टियों से रंग-संयोजन की पर्याप्त क्षमता तो थी ही, कुशल एवं उत्साही रंगकर्मियों ने उन्हें अपने अनुभव एवं अभिनय में ढालकर नाटकों की रंगक्षमता को अत्यधिक विश्वसनीय एवं प्रभावपूर्ण बना दिया । और यही कारण है कि पारसी रंगमंचों की आकर्षक प्रदर्शन पद्धति एवं लोकप्रियता के बावजूद भारतेन्दु युगीन यह नाटक थोड़े ही समय में सम्पूर्ण उत्तर भारत में मनोरंजन के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किये गये । जिनके सफल प्रदर्शन ने हिन्दी नाट्य-जगत में एक नये रंग आन्दोलन का सूत्रपात किया ।

किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना मूलत: पारसी रंगमंचों की प्रतिक्रियास्वरूप एक अव्यावसायिक एवं परिष्कृत रंगमंच की स्थापना के उद्देश्य से की थी तथा अपने नाटकों को यथासम्भव उनके दुष्प्रभावों से बचाने की चेष्टा भी की थी, किन्तु जनरुचि की अवहेलना के अभाव में वह पारसी रंगमंच की आकर्षक प्रदर्शन-पद्धति से अपने नाटकों को पूर्णत: मुक्त भी नहीं रख सके । वरन् सत्य तो यह है कि दर्शकों की दिल्लगी के प्रयास में पारसी रंगमंच की कतिपय विशेषताएँ तत्कालीन नाटकों में अनायास ही आ गयी थी । भारतेन्दुयुगीन नाटकों में निहित नृत्यगीत की अधिकता, अनावश्यक उछलकूद एवं हास्योत्पादक नाट्यस्थितियों की अवतारणा तथा लोकभाषा के आग्रह में प्रयुक्त निम्नस्तरीय शब्दों के मूल में पारसी रंगमंचों की चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन पद्धति ही क्रियाशील थी, जिसे वह चाहते हुए भी न छोड़ सके । उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि, 'इनके परदे और नाट्यालय के सजावट साज सुन्दर और सजीले, अभिनय के चारों गुणों से युक्त पात्र और उनकी समस्त प्रकार की बनक, हाव, भाव, कटाक्ष कहाँ तक गिनावें सभी अच्छा है केवल भाषा अच्छी तरह शुद्ध और साफ नहीं है ।'[१]

---

१. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' 'प्रेमघन सर्वस्व' सम्पा० - प्रभाकरेश्वरप्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ २६ ।

अत: इसमें तो कोई दो राय ही नहीं कि भारतेन्दुयुगीन नाटककार पारसी रंगमंच से प्रभावित थे किन्तु पारसी रंगमंच के गुणों के साथ-साथ वह उनके अवगुणों से भी परिचित थे, अत: उन्होंने अपने नाटकों में पारसी रंग रूढ़ियों को यथासम्भव परिष्कृत एवं संशोधित रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। फिर भी कुछ प्रभाव दृष्टव्य है :-

भारतेन्दुयुगीन नाटकों पर पारसी रंगमंच का सर्वाधिक प्रभाव पद्य तथा गीतों के प्रयोग में दिखाई देता है। फलत: भारतेन्दुयुगीन नाटकों में गीतो का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। किसी-किसी नाटक में तो गीतों की संख्या लगभग १४-१५ तक पहुँच गयी है। भारतेन्दु के ही `भारत दुर्दशा` तथा `भारत जननी` इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यद्यपि नाटककार ने गीतों को नाटकीय कथा से जोड़कर उन्हें यथासंभव स्वभाविक बनाने की चेष्टा की है फिर भी पारसी रंगमंच की थोड़ी बहुत छाप उन पर स्पष्ट दिखाई देती है, जो तत्कालीन नाटकों में कई रूपों में दृष्टिगत है - प्रथम, इनकी विषयवस्तु पारसी नाटकों के अनुरूप शृंगारिक तथा उत्तेजना को उद्दीप्त करने वाली है यथा `मदवा पीले जोबन बीत्यो जात।`[1] `हाँ मोसे सेजिया चढ़लि नहीं जाई हो`[2]। `सलोनी तेरी सुरत मेरे जिय माई, तन में मन में नैनन में रहि तेरी छबी समाई`[3]। दूसरा, पारसी नाटकों की भाँति गीतों को लयताल तथा ~~नाटककारों~~ के राग रागनियों में गाने की परम्परा, जिसका संकेत नाटककारों ने अधिकांशत: गीतों के प्रारम्भ में ही कर दिया है जैसे - `भारत दुर्दशा` में — राग काफी, धनाश्री का मेल ताल धमार राग काफी, राग लेती गौरी। इसी प्रकार `नीलदेवी` में झिंझौटी जल्द तिताला, गजल, राग कलिंगड़ा, बिहाग ठुमरी, तिताला तथा `भारत जननी` में -- परज कलिंगड़ा, राग बसन्त, होली, राग चैती, सोरठ, मलार भैरव ताल इकताला, ठुमरी। तीसरा गीतों में शृंगारिक भावनाओं को प्रश्रय देने के कारण अश्लील शब्दावली का प्रयोग यथा —

` हा गरवा लगावै गिरधारी हो, देखो लाज सरम सब का की
छोड़े घट निपट निलज मुख चूमे बारी - बारी।`[4]

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-`भारत दुर्दशा` भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, संपा० - ब्रजरत्नदास, पृ० ४८३

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-`नीलदेवी` ,, ,, ,, पृष्ठ ५४३

३ केशवराम भट्ट - `सज्जाद सम्बुल` पृष्ठ १८

४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-`नीलदेवी` `भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, सम्पा० ब्रजरत्नदास, पृ०५

जो तत्कालीन नाटकों की साहित्यिकता अथवा गरिमा को खण्डित करती है । चौथा, पारसी नाटकों के अनुकरण पर गजल तथा शेरोशायरी का विशेष प्रयोग । इस प्रकार गीतों के प्रयोग में तो पारसी रंगमंच का प्रभाव दृष्टिगत है ही उनकी तुकबन्दी,चुटकुलेबाजी, दृष्टान्त, कहावतों मुहावरों तथा पद्यमय संवादों के प्रयोग में भी पारसी रंगमंच की संगीतात्मक प्रवृत्ति के ही दर्शन होते हैं,वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में तो नाटककार ने पद्यात्मक प्रयोगों की अति ही करदी है । `प्रेमजोगिनी` के दूसरे गर्भांक में दलाल गंगापुत्र,भड़ेरिया और झूरीसिंह के संवादों में भी नाटककार पद्यात्मकता ही दर्शनीय है ।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों की इस पद्यात्मकता को पारसी रंगमंच का प्रभाव स्वीकार करते हुए डॉ० वेदपाल खन्ना ने स्पष्ट लिखा है, `यह स्पष्ट रूप से पारसी रंगमंचीय नाटकों के प्रभाव का फल है । रंगमंचीय नाटकों के पद्य की भाँति इन नाटकों के पद्य भी अधिकतर व्यर्थ, भद्दे और अनाटकीय हैं । इनमें संस्कृत के पद्यों जैसे कवित्वगुण-भावात्मकता तथा प्रभाव नहीं है ।[1] किन्तु सत्य तो यह है कि एक तो ऐसे स्थल बहुत कम है और जो है वह उन पर युग का प्रभाव मात्र था,जिससे सर्वथा मुक्त हो पाना प्रत्येक नाटककार के लिये सम्भव न था अत: मात्र इस आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाटकों की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता ।

पारसी रंगमंच का दूसरा प्रभाव जो भारतेन्दुयुगीन नाटकों में दिखाई देता है वह है लोकभाषा के आग्रह में अपेक्षाकृत अश्लील एवं निम्नस्तरीय शब्दों का प्रयोग । तत्कालीन नाटकों में प्रयुक्त -- कुतिया, हरामजादा, हरामजादी, छिनाल, लुच्चा, लुच्चिन, हरामी के पिल्ले, दाढ़ीजार, भंडुये, चूतर, सुअर, कुत्ती, हगना मूतना इत्यादि कुछ ऐसे ही अशिष्ट शब्द हैं,जिनका बेधड़क प्रयोग पारसी रंगमंचों पर किया जाता था ।

भाषा प्रयोग के साथ पारसी रंगमंच की यह अश्लीलता उनके नाटकीय प्रदर्शन में भी यदा-कदा दिखाई देती है । `भारतदुर्दशा` में निर्लज्जता की वेषभूषा-- `जाँघिया, सिर खुला ऊँची चोली दुपट्टा ऐसा गिरता पड़ता कि अंग खुले ` के कथन में पारसी रंगमंच की आकर्षक प्रदर्शन भावना ही दृष्टिगत होती है । यद्यपि इसके प्रदर्शन

---

१. डॉ० वेदपाल खन्ना `विमल ` - `हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन `, पृष्ठ १०८

द्वारा नाटककार ने अपनी भावनाओं को पूर्णतः साकार करने का ही प्रयास किया है किन्तु फिर भी एक सभ्य एवं सुरुचिपूर्ण जन-समूह के समक्ष उस समय नारी को (भले ही वह पुरुष ही क्यों न हो) इस रूप में प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य था । इसी प्रकार सज्जाद सम्बुल में पीरू का अनावश्यक उछलना, रंगमंच पर बन्दर का नाचना तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में राजा एवं मन्त्री का एक दूसरे के सिर पर धौल मार कर ताल देकर नाचना तथा पुरोहित के सिर और पैर को पकड़कर नाचना, नाचते नाचते-गिरकर अचेत हो जाना तथा बीच में जूतर फेर के बैठने में पारसी रंगमंच की अनावश्यक उछलकूद कौतूहलता अथवा अश्लीलता की प्रवृत्ति के ही दर्शन होते हैं ।

इस प्रकार यद्यपि पारसी रंगमंच का विरोध करते हुए भी उसकी कतिपय विशेषताएँ भारतेन्दुयुगीन नाटकों में आ गयी है किन्तु यह उनपर युगीन प्रभाव मात्र था । इससे नाटक की आत्मा में कोई अन्तर नहीं आया है । पारसी रंगमंच की कतिपय विशेषताओं को ग्रहण करते हुए भी नाटक अपने उद्देश्य या जीवन को यथार्थरूप में प्रस्तुत करने तथा सामाजिकों की रुचि को परिष्कृत कर उन्हें युग यथार्थ के प्रति जागरूक करने में पूर्णतः सफल हैं । और यही कारण है कि पारसी रंगमंच से बहुत कुछ समानता रखते हुए भी विद्वानों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को पारसी रंगमंच का अनुवर्ती न मानकर प्रतिक्रिया ही माना है । उनका कहना था कि, 'हिन्दी रंगमंच का जो भी इतिहास है वह पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया का इतिहास है ।'[1] जिसने हिन्दी रंगमंच के विकास के लिये परवर्ती नाटककारों को एक सुदृढ़ आधार दिया ।

निष्कर्ष -

भारतेन्दुयुगीन नाटकों के सर्वांगीण विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त हम अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पारसी रंगमंचों की प्रतिक्रियास्वरूप भारतेन्दु तथा सहयोगी नाटककारों ने प्रचलित नाट्य रूढ़ियों को संशोधित कर हिन्दी नाट्य-जगत् में प्रचलित ऐतिहासिक, पौराणिक एवं प्रेम-प्रधान विषयों की अपेक्षा समसामयिक विषयों अथवा सन्दर्भों यथा समाज में फैली धर्मान्धता, दुःखद नारीजीवन, सामाजिक

---

१. बच्चन सिंह - 'हिन्दी नाटक', पृष्ठ २३०

विसंगतियों एवं भ्रष्टाचार, अंग्रेज सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों तथा उनसे बेखबर भारतीयों की अज्ञानता, अशिक्षा, अकर्मण्यता तथा राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उनकी निष्क्रियता अथवा उदासीनता आदि को ग्रहण कर सामाजिक नाटकों की जिस नवीन परम्परा को जन्म दिया वह रंगमंचीय स्वाभाविकता एवं सरलता के साथ ही युगीन जीवन सन्दर्भों एवं समकालीन चरित्रों को उनके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में तो पूर्णत: समर्थ हैं ही, साथ ही अपने इन नाटकों में उन्होंने नाटकीय चरित्रों के माध्यम से समाज के शोषित, उपेक्षित अथवा पीड़ितवर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति तथा उच्च वर्गों के प्रति आलोचना एवं आक्रोश का भाव व्यक्त कर युग के जिस जीवन्त यथार्थ के दर्शन कराये हैं वह उनकी यथार्थपरक दृष्टि का ही परिणाम है,जिसने युग जीवन से अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी नाटकों की आधारशिला रखी ।

किन्तु जहाँ एक सिद्धान्त रूप में इस युग के नाटकों को यथार्थवादी स्वीकार किये जाने का प्रश्न है तो उनमें निहित पद्यों की अधिकता, चरित्र चित्रण का अभाव, भावातिशयता, विषयगत गम्भीरता एवं गहनता का अभाव, वस्तु विकास में संकलनत्रय की अवहेलना तथा नाट्य शिल्प पर पड़े संस्कृत नाट्य-विधान के प्रभाव को लक्ष्य कर उन्हें यथार्थवादी नाटकों की श्रेणी में परिगणित नहीं किया जाता है । जबकि ध्यान से देखा जाय तो यह उन पर युगीन प्रभावमात्र था, जिससे भारतेन्दु युगीन समस्त नाटककार अपने परवर्ती नाटकों में क्रमश: मुक्त होते दिखाई देते हैं । तत्कालीन नाटकों में प्रयुक्त नांदी, सूत्रधार, नटी, मंगलाचरण भरतवाक्य, प्रस्तावना इत्यादि का क्रमश: लोप उनकी इस यथार्थोन्मुखी दृष्टि के ही परिचायक हैं । किन्तु पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ ही भारतीय साहित्य सिद्धान्तों से भलीभाँति परिचित होने के कारण, वह इसके लिए विशेष आग्रहशील नहीं थे अत: उन्होंने अपने नाटकों में पाश्चात्य सिद्धान्तों का अन्धानुकरण करने की अपेक्षा अपनी समन्वयात्मकबुद्धि के आलोक में प्राचीन तथा नवीन एवं भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों में समन्वय कर नाट्य-रचना सम्बन्धी कुछ नवीन सिद्धान्त बनाये । साथ ही भारतेन्दु का यथार्थ पाश्चात्य विचारधारा से भिन्न भारतीय परिस्थितियों से उत्पन्न उनका अपना मौलिक यथार्थ था, जिसका मुख्य उद्देश्य अपने समसामयिक यथार्थ को उद्घाटित कर जन-सामान्य को उद्बुद्ध करना था, किसी वाद के चक्कर में पड़कर सिद्धान्तों में उलझना नहीं । अत: एक सिद्धान्त रूप में भारतेन्दु युगीन नाटकों को यथार्थवादी नाटकों की संज्ञा भले ही न दी जा सके किन्तु

यह निर्विवाद सत्य है, कि हिन्दी नाटक के शैशवकाल में, जबकि नाट्य विषय के रूप में सर्वत्र ऐतिहासिक, पौराणिक एवं प्रेमप्रधान प्रसंगों का ही प्राधान्य था, उसे इतिहास तथा पुराण की अपेक्षा यथार्थ जीवन से जोड़कर, जो कि यथार्थवादी नाटकों की एक मूलभूत आवश्यकता एवं विशेषता मानी जाती है -- एक सर्वथा नवीन रूप देना मूलत: उनकी यथार्थपरक दृष्टि का ही परिणाम है,जो अन्तत: उन्हें हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी नाटकों के अधिष्ठाता के रूप में प्रतिष्ठित करती है। किन्तु भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् उचित निर्देशन के अभाव में उनकी यह सुविकसित यथार्थोन्मुखी नाट्य-परम्परा साहित्यिकता से विमुख हो व्यावसायिकता की ओर प्रवृत्त हुई और उसमें पुन: समसामयिक समस्याओं की अपेक्षा पौराणिक ऐतिहासिक एवं प्रेमप्रधान कथानकों को ही ग्रहण किया गया। साथ ही मौलिक नाटकों के अभाव में अनुवादों का भी प्रचलन हुआ। और इस प्रकार भारतेन्दु युगीन यथार्थवादी नाटकों की यह धारा कुछ दिनों तक विलुप्त सी रही, किन्तु सन् १६०० में महावीर प्रसाद द्विवेदी के अथक प्रयत्नों द्वारा इसका पुन: उद्धार हुआ।

-0-

अध्याय ४

द्विवेदी - प्रसाद युग

<u>द्विवेदी- प्रसाद युग</u> (सन् १६०० से १६३० ई० तक)

भारतेन्दु के पश्चात् उचित निर्देशन के अभाव में भारतेन्दु प्रवर्तित जो नाट्यधारा विश्रृंखलित हो व्यावसायिकता की ओर मुड चली थी, २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक रुचि एवं आलोचनात्मक प्रतिभा द्वारा उसका पुन: संस्कार हुआ । यद्यपि उन्होंने नाट्य रचना के क्षेत्र में स्वयं कोई रचनात्मक कदम तो नहीं उठाया, किन्तु नाट्य साहित्य की ह्रासोन्मुख परिस्थितियों में अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा द्वारा समकालीन साहित्यकारों मुख्यत: नाटककारों का मार्ग निर्देशन कर नाट्य साहित्य का जो परिष्कार किया वह सर्वथा उल्लेखनीय है, जिसके आलोक में जयशंकर प्रसाद प्रभृति अनेक नाटककारों ने शुद्ध साहित्यिक नाटकों की रचना कर हिन्दी नाट्य जगत में नाट्य रचना सम्बन्धी एक नये युग एवं नयी धारा का सूत्रपात किया ।

इस प्रकार हिन्दी नाटक को एक स्तरीय रूप प्रदान करने एवं उसके विकास में महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान तो सराहनीय है ही, जिन्होंने भाषा के स्तरीय प्रयोग से हिन्दी के प्रचलित नाटक को एक साहित्यिक रूप दिया, व्यावसायिक उद्देश्य से नाटक लिखने वाले आगा हश्र काश्मीरी तथा राधेश्याम कथावाचक के प्रयत्न भी सराहनीय हैं । यद्यपि इन्होंने अपने नाटक मूलत: व्यावसायिक कम्पनियों के लिये ही लिखे थे, किन्तु वह इन व्यवसायी नाटक मंडलियों की प्रचलित प्रदर्शन पद्धति से पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं थे, अत: उन्होंने अपने नाटकों में नाट्य-रचना सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये । सर्वप्रथम तो उन्होंने उसकी भाषा तथा शैली में परिवर्तन किया, कॉमिक का रंग बदलकर उसे घोल भण्ड से हटाकर हास्य और व्यंग्य भरी भाषा तक उठाया, गानों की शैली बदली, बादशाह और दरबार के कथानक छोड़ सामाजिक तथा पारिवारिक विषय अपनाये । उनके अन्तिम दौर के नाटक तो गम्भीर परिष्कृत और सामाजिक संदेशवाहक हैं।[१] जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी नाट्य जगत पर भी पड़ा और नाटक के स्तर में अपेक्षाकृत परिवर्तन आया ।

---

१. `दिनमान` २०-२६ अप्रैल १६८० के बीच अरधारी लिखित
`आगाहश्र : अविस्मरणीय रंगपुरुष` शीर्षक से उद्धृत, पृष्ठ ४१

इन व्यवसायी नाटक मंडलियों के साथ ही २० वीं शताब्दी तक आते कुछ अव्यवसायी नाटक मंडलियाँ भी प्रकाश में आ रही थी, जिनके माध्यम से कुछ सुरुचि-सम्पन्नों ने लोकहित को दृष्टि में रखकर भारतेन्दु के अनुकरण पर सुधारवादी नाटक लिखकर नाटक साहित्य को अश्लीलता के गर्त से निकालने का प्रयत्न किया । और इस प्रकार हिन्दी नाटक का विकास जो कुछ समय के लिये अवरुद्ध हो गया था, पुनः शृंखलाबद्ध हुआ ।

किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि २० वीं श० के प्रारम्भ में महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक परिष्कार तथा अव्यावसायिक नाटक मंडलियों के अल्प प्रयास से हिन्दी नाट्य जगत में अपेक्षित सुधार तो अवश्य हुए, किन्तु नाट्य रचना में वह गतिशीलता एवं सक्रियता न आ सकी जो भारतेन्दु युगीन नाटकों में दिखायी देती है । इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ही थे, जिनके परिष्कृत विचारों ने नाट्य रचना को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा संयमित एवं नियन्त्रित ही अधिक किया । नाट्य रचना के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि 'नाटक लिखने का जिन्हें अत्यल्प भी ज्ञान नहीं, उन्होंने भी हिन्दी में नाटक लिखने की कृपा की है..... नाटक लिखना सबका काम नहीं.... नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है ।'[1] इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यकारों की अनायास यशस्वी बन जाने की चाह ने उन्हें नाटक की अपेक्षा अन्य साहित्यिक विधाओं की ओर मोड़ दिया ।[2] और नाट्य रचना के क्षेत्र में बहुत कम नाटककार ही आगे बढ़े । जो नाटककार इस समय प्रकाश में आये उनमें प्रमुख थे— बद्रीनाथ भट्ट, जयशंकर प्रसाद, मिश्र बन्धु, प्रेमचन्द्र, सुदर्शन, जी० पी० श्रीवास्तव, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द तथा गोविन्द वल्लभ पन्त ।

इन सभी नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना द्वारा हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध तो अवश्य किया, किन्तु स्तरीय नाटकों की धुन में इस युग विशेष में मौलिक नाटकों की अपेक्षा अनुवादों का ही जोर रहा तथा जो मौलिक नाटक लिखे गये

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी — 'नाट्यशास्त्र', पृष्ठ ५७

२. डॉ० उदयभानु सिंह — 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृष्ठ ३१०

उनमें भी मुख्यत: ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं को ही नाट्य रूप में प्रस्तुत किया गया । फलत: युग- यथार्थ के प्रति नाटककारों की वह जागरूकता एवं सक्रियता जो भारतेन्दु युगीन नाटकों की अपनी प्रमुख विशेषता थी, इस काल विशेष में कोई मौलिक उपलब्धि न पा सकी । फिर भी सामाजिक यथार्थ अथवा यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के समावेश की दृष्टि से कतिपय नाटक एवं प्रहसन उल्लेखनीय है, जिन्होंने युग-जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर सामाजिकों को अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति सचेत करते हुए भारतेन्दु प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्य परम्परा को अक्षुण्ण रखा ।

द्विवेदीयुगीन सामाजिक नाटकों में अभिव्यक्त समसामयिक यथार्थ

यद्यपि नाट्य विकास की दृष्टि से ये नाटक एवं प्रहसन विशेष उल्लेखनीय तो नहीं हैं फिर भी अपनी तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि का परिचय देते हुए इन्होंने सामाजिक समस्याओं के यथार्थोद्घाटन द्वारा भारतेन्दु प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्य परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए सामाजिक विकास में जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, वह सर्वथा उल्लेखनीय है । इन नाटककारों तथा प्रहसनकारों में मिश्रबन्धु, प्रेमचन्द, घनानन्द बहुगुणा, बद्रीनाथ भट्ट, जी० पी० श्रीवास्तव तथा सुदर्शन प्रमुख हैं । यद्यपि इनमें से मिश्रबन्धु, प्रेमचन्द तथा बहुगुणा ने तो एकाध नाटक लिखकर ही नाट्य जगत से मुँह मोड़ लिया, किन्तु बद्रीनाथ भट्ट, जी० पी० श्रीवास्तव तथा सुदर्शन अपने नाटकों एवं प्रहसनों के माध्यम से इस काल के अन्त तक अबाधगति से नाट्य रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त रहे । सच पूछा जाय तो इस काल विशेष में सामाजिक समस्याओं के उद्घाटन की दृष्टि से नाटकों की अपेक्षा प्रहसनों की रचना ही अधिक हुई, जिनके माध्यम से इन प्रहसनकारों ने मध्यवर्गीय समाज विशेषकर समाज के खोखले आदर्शों एवं मान्यताओं, समाज सेवी नेताओं, सुधारकों तथा अन्य प्रतिष्ठित एवं शिक्षित पदाधिकारियों की स्वार्थ भावना, ढोंगी ब्राह्मणों एवं पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त नवयुवकों तथा नवयुवतियों को अपने व्यंग्य बाणों का आधार बनाकर तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए सामाजिक कुरीतियों में अनुरक्त भारतीयों को उनसे मुक्त होने के लिए प्रेरित किया । अत: हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के समावेश की दृष्टि से इन प्रहसनों का अपना विशेष महत्व है । वेदपाल खन्ना ने तो इन प्रहसनों की यथार्थ सम्पृक्ति को लक्ष्यकर इन्हें परवर्ती यथार्थवादी

समस्या नाटकों की पृष्ठभूमि के रूप में ही स्वीकार किया है । इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि 'इन प्रहसनों ने कुछ हद तक अगले काल (१६३२-४८ ई०) के यथार्थवादी नाटकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया, आगामी काल के समस्या नाटकों के लिए जनता को तैयार कर दिया । अन्यथा उन समस्या नाटकों में उलझाई तथा सुलझाई गई समस्याओं के एकदम नाटकों में उपस्थित किए जाने पर जनता चकित एवं क्षुब्ध हो उठती ।'[१] इस कथन में कहाँ तक सत्यता है यह तो अध्ययन के उपरान्त ही पता चलेगा, फिर भी इतना तो निश्चित है कि नाटक को युग जीवन से जोड़ने तथा भारतेन्दुयुगीन यथार्थवादी परम्परा को बनाये रखने में इनका अपना विशिष्ट योगदान है । अत: इनका सम्यक् विश्लेषण अपेक्षित है ।

भारतेन्दु युग की भाँति ही द्विवेदी युगीन सामाजिक जीवन भी धार्मिक अव्यवस्था, वैवाहिक असंगतियों, छुआछूत तथा वर्णवैषम्य, जमींदारों एवं महाजनों की शोषण नीति, कचहरियों तथा अदालतों की अन्याय एवं पक्षपातपूर्ण धाँधलेबाजी तथा घूसखोरी सदृश अनेक विध समस्याओं से घिरा हुआ था । समाज सुधार के क्रम में नाटककारों की दृष्टि समाज की इन समसामयिक समस्याओं की ओर गयी और उन्होंने अपने नाटकों में इन समसामयिक समस्याओं के भले बुरे चित्र प्रस्तुत कर युगयथार्थ को चित्रित करने तथा सामाजिकों को उनसे मुक्त होने के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सुझाव दिये । इस क्रम में युग के जिन यथार्थ सन्दर्भों को अभिव्यक्ति प्रदान की गई उनमें प्रमुख थी धर्मान्धता, वैवाहिक असंगति और नारी-जागरण, सामाजिक अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार तथा पाश्चात्य सभ्यता एवं नवीन शिक्षा, जिन्होंने अपनी व्यापकता में सम्पूर्ण भारतीय समाज को प्रभावित कर रखा था ।

धर्मान्धता—

यों तो भारतेन्दुयुग में भी समाज सुधार के क्रम में नाटकारों की दृष्टि समाज की इस असंगत रूढ़ि की ओर गयी थी और उन्होंने सामाजिकों की धर्मान्ध प्रवृत्ति पर व्यंग्य प्रहार करते हुए उन्हें उनके प्रति सचेत करने का प्रयास किया था,

---

१. डॉ वेदपाल खन्ना — 'हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन', पृष्ठ १६१ ।

किन्तु आर्य समाज की धार्मिक-नैतिक चेतना से अनुप्राणित होने के कारण इस युग में नाटककारों ने रूढ़िवादी धर्म तथा धर्म के ठेकेदारों के प्रति आलोचनात्मक रुख अपना कर सामाजिकों की धार्मिक रूढ़िवादिता तथा बाह्याडम्बरों का विरोध कर एक व्यापक मानव धर्म की प्रतिष्ठा का प्रयास किया । जो युगीन परिस्थितियों को देखते हुए नाटककार का एक महत्वपूर्ण प्रयास था । जिसकी एक झलक घनानन्द बहुगुणा के 'समाज' नाटक में दृष्टव्य है, जहाँ नाटककार ने छुआछूत की समसामयिक समस्या को उठाकर समाज की रूढ़िवादी धर्मान्धता तथा धर्माधिकारियों की अधर्म-नीति एवं स्वार्थी मनोवृत्ति का भंडाफोड़ कर जाति-पाति के संकीर्ण बन्धनों की निरर्थकता सिद्ध कर एक व्यापक मानव धर्म का समर्थन किया । इसी को स्पष्ट करते हुए नाटक का एक सुधारक चरित्र विशुद्धानन्द कहता है -- 'नहीं महाशय, ईश्वर की दृष्टि में सब समान हैं । समानता ही ईश्वरीय नियम है । अछूतों को अछूत और पतितों को पतित बनाने वाले हम हैं, न कि ईश्वर । उस पतित-पावन को तो दीन-दुखी ही प्यारे हैं । हम अछूतों को अपना कर दलितों को सहारा देकर कुछ दया का काम नहीं करते, वरन् अपने समाज के पूर्व अत्याचारों का प्रायश्चित करते हैं ।'[1]

तत्कालीन समाज में व्याप्त धर्म की इन्हीं रूढ़िवादी मान्यताओं का खण्डन करते हुए नाटक का नायक ज्ञान-प्रकाश अपने रूढ़िवादी धर्मान्ध पिता को ब्राह्मण भोजन की अपेक्षा पददलितों की सेवा के समर्थन से तर्क देते हुए कहता है -- '...... परन्तु अगर पिताजी उन मोटे ताजे ब्राह्मण नामधारी भिखमंगों को भोजन न कराकर दीन अनाथों की सेवा किया करें, तो अवश्य पुण्य के भागी बनें । जरा देखो तो सही, एक ओर वे श्रमजीवी मनुष्य हैं जो दिन भर परिश्रम करने पर भी सन्ध्या के भरपेट रूखा-सूखा भोजन भी नहीं पाते'..... और दूसरी ओर वे मनुष्य हैं जिनको बिना हाथ पैर हिलाए ही नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन मिलते रहते हैं, खाते-खाते जिनके पेट फूल गए हैं, जिनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है भोजन पचाना और समय नष्ट करना । अब तुम्हीं बताओ किसकी सेवा करने में अधिक पुण्य है ?'[2] अछूतों तथा दलितों के प्रति इस उदार दृष्टिकोण को अपनाने के मूल में नाटककार

---

१. घनानन्द बहुगुणा -- 'समाज', पृष्ठ ३
२. वही, " , पृष्ठ ७

की युगीन मानवतावादी चेतना ही कार्यरत थी जो ब्राह्मणों की स्वार्थी प्रवृत्ति से संत्रस्त हो युग की एक महत्वपूर्ण विचारधारा के रूप में सामने आयी । किन्तु आर्य समाज की धार्मिक नैतिक चेतना से प्रभावित होने के कारण नाटक के समस्त चरित्र धर्म-प्रतिनिधि के रूप में उभरे हैं तथा रूढ़िवादी धर्मान्ध चरित्र अन्तत: अपनी रूढ़िवादी धारणाओं से ऊपर उठकर अपनी भूल पर पश्चाताप करते हैं । छुआछूत अथवा अछूतोद्धार की इसी समस्या को लेकर शिवरामदास ने `बलिदान` नाटक में धर्म के ठेकेदारों के व्यभिचारी जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर सामाजिकों को समाज में फैली धार्मिक अव्यवस्था के प्रति जागरूक करने का प्रयास किया है ।

वस्तुत: नाटककार की दृष्टि में, तत्कालीन समाज में व्याप्त इन समस्त सामाजिक रूढ़ियों का एकमात्र कारण रूढ़िवादी धर्म ही था, जो धर्म के नाम पर जाति-पाँति की चौड़ी खाई खोदकर मनुष्य को मनुष्य से अलग कर रहा था । अत: उनका संवेदनशील मन इन सामाजिक विकृतियों के प्रति निश्चेष्ट न रह सका और उन्होंने अपने नाटकों में इस युग यथार्थ को उसकी समस्त विद्रूपताओं के साथ निरावरण करने का प्रयास किया । प्रेमचन्द का `प्रेम की वेदी` नाटक उनकी इस सूक्ष्म संवेदनशीलता का ही यथार्थ प्रस्तुतिकरण है । जिसमें उन्होंने धर्म की विकृतावस्था से पीड़ित नायिका `जेनी` के माध्यम से समाज में फैले हुए रूढ़िवादी धर्म तथा धार्मिक संकीर्णता की असमीचीनता पर दु:ख एवं आक्रोश व्यक्त करते हुए सामाजिकों का ध्यान युग की एक गम्भीर समस्या की ओर आकृष्ट किया है, अत: धार्मिक रूढ़िवादिता के दुष्परिणामों पर व्यंग्य करते हुए वह कहती है -- क्या धर्म इसीलिए आया है कि आदमियों की अलग-अलग टोलियाँ बनाकर उनमें भेदभाव भर दे ?.... धर्म तो प्रेम का सन्देश लेकर आता है और काटता है आदमियों का गला । वह मनुष्य के बीच ऐसी दीवार खड़ी कर देता है जिसे पार नहीं किया जा सकता है .... हमारे जितने धर्म हैं सभी बिगड़े हुए समाज को सुधारने की तदबीरें हैं, लेकिन धर्मों पर खुदा की कुछ ऐसी मार है कि वह आते तो हैं सुधार के लिए लेकिन उलटे और बिगाड़ कर जाते हैं ।..... मैं कहती हूँ यह धर्म का प्रभाव है जिसने हमारे मन को संकीर्ण बना डाला है ।[१] जो सामाजिक अव्यवस्था को देखते हुए नाटककार का एक स्तुत्य प्रयास

---

१. प्रेमचन्द -- `प्रेम की वेदी`, पृष्ठ ४४-४५

था तथा सामाजिकों को अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति पर सोचने के लिये विवश करता है ।

वैवाहिक असंगति और नारी जागरण—

धार्मिक अव्यवस्था तथा वर्ग विषमता के साथ ही इस युग की दूसरी प्रमुख समस्या वैवाहिक असंगति थी, जो समाज की रूढ़िवादी मान्यताओं के कारण सामाजिकों के लिए एक विषम समस्या बनी हुई थी । किन्तु इससे सर्वाधिक पीड़ित यदि कोई वर्ग था तो वह था नारी वर्ग, जिसे समाज की रूढ़िवादी मान्यताओं तथा सामाजिक प्रतिबन्धों ने विवाह के नाम पर परतन्त्रता के बन्धनों में जकड़ रखा था । किन्तु नवजागरण के आलोक में ज्ञान-विज्ञान के विकास, शिक्षा के प्रचार तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावस्वरूप नारी का ध्यान अपनी इस विषम स्थिति की ओर आकृष्ट हुआ और उसने अपनी शक्ति को पहचान कर अपने अधिकारों की रक्षा तथा आत्म-सम्मान की प्रतिष्ठा के लिए समाज में व्याप्त इन रूढ़ियों, अन्यायों तथा अत्याचारों के विरुद्ध एक सक्रिय संघर्ष छेड़ दिया ।

यद्यपि नारी के इस स्वातन्त्र्य संघर्ष का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हो गया था किन्तु उस समय वह वैचारिक एवं मानसिक स्तर पर ही था । सामाजिक बन्धनों में जकड़ी हुई नारी उस समय तक अपने अधिकारों तथा समाज की निरर्थक रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति सजग तो हो गई थी । किन्तु उनसे प्रत्यक्ष बदला लेने अथवा उनका विरोध करने की शक्ति उनमें नहीं थी । अत: अपनी दुर्दशा से क्षुब्ध वह सदैव अपने मन में ही घुटती अथवा कुढ़ती रहती थी । किन्तु समय के उत्तरोत्तर विकास के साथ उसका यह आन्तरिक विक्षोभ सक्रिय संघर्ष का रूप धारण कर सामाजिक विद्रोह अथवा क्रान्ति के रूप में परिवर्तित हुआ और अपने जीवन से असन्तुष्ट एवं निराश वही भारतीय अबला नारी इस युग में आकर कभी पुरुष जाति की स्वार्थी प्रवृत्ति पर अपना आक्रोश व्यक्त करती है तो कभी समाज की रूढ़िवादी मान्यताओं का विरोध कर नारी-स्वातन्त्र्य अथवा धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देती है —"पुरुष कितना ही दुराचारी हो, स्त्री जबान नहीं हिला सकती । उसका धर्म है, पुरुष को अपना खुदा समझे । मैं यह नहीं बरदाश्त कर

सकती ।"[1] जिसे युगीन मानवतावादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन प्राय: समस्त नाटककारों ने ही अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

नारी जाति की इसी युगीन जागरण कालीन चेतना से प्रभावित होकर मुंशी प्रेमचन्द ने 'प्रेम की वेदी' नाटक लिखा । इसमें उन्होंने सामाजिक बन्धनों से संत्रस्त एक जागरूक नारी की करुण कथा का चित्रण कर तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों तथा आडम्बरों की निरर्थकता सिद्ध कर एक व्यापक मानव धर्म तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया है । अपने स्वतन्त्र विचारों का परिचय देते हुए नाटक की नायिका 'जेनी' तत्कालीन समाज में प्रचलित वैवाहिक पद्धति, जो अपनी रूढ़िवादिता के कारण समाज के लिए अभिशाप स्वरूप सिद्ध हो रही थी, का विरोध करते हुए कहती है --"विवाह मेरी दृष्टि में आत्मिक सम्बन्ध है उसे रस्म के बन्धन में जकड़ना आवश्यक ही नहीं, पाप समझती हूँ । दिल का मिलना ही विवाह है । रस्म के बन्धन से स्त्री-पुरुष को बाँध देना तो वैसा ही है, जैसे दो पशु एक रस्सी में जोत दिये गये हों । जिस बन्धन का आधार समाज या धर्म का भय है वह कभी सुखकर नहीं हो सकता । सुख का मूल स्वच्छंदता है बन्धन नहीं ।"[2] यद्यपि युगीन अन्य सामाजिक नारियों के अनुरूप उसके हृदय में भी प्रेम और धर्म के बीच एक द्वन्द्व बराबर बना रहता है किन्तु अन्तत: वह अपनी भूल पर पश्चाताप कर धार्मिक संकीर्णता एवं रूढ़िवादिता को तिलांजलि देकर आडम्बरपूर्ण धर्म को प्रेम की पवित्र वेदी पर अर्पण कर देती है । उसका यह कथन --" आज मैं इन सारे ढकोसलों को, इन सारे बनावटी बन्धनों को प्रेम की वेदी पर अर्पण करती हूँ... खुदा का धर्म प्रेम है और मैं इसी धर्म को स्वीकार करती हूँ -- मेरे लिए आल्टर और हवन-कुंड में कोई अन्तर नहीं रहा ।"[3] युगीन वैवाहिक असंगतियों के प्रति तत्कालीन नारी की जागरूकता को ही उद्घाटित करता है ।

वैवाहिक बन्धनों के प्रति नारी की यही जागरूकता 'समाज' नाटक की सरला में भी दिखाई देती है । विवाह के सम्बन्ध में धार्मिक अथवा सामाजिक

---

१. प्रेमचन्द -- 'प्रेम की वेदी', पृष्ठ ५
२. वही -- वही , पृष्ठ ३६
३. वही -- ,, , पृष्ठ ४६

प्रतिबन्धों की अवहेलना कर धर्मान्ध सामाजिकों को उनकी धर्मान्धता अथवा रूढ़िवादिता के प्रति सचेत करते हुए वह कहती है --"हम लड़कियों को तुम लोग जबरदस्ती दुष्ट दुराचारियों के गले मढ़ देती हो, और फिर यह चाहती हो कि हम उनसे प्रेम करें । ऐसी देवियाँ सतयुग में रहा करती होंगी । अब तो कोई भी ऐसी नहीं दिखाई देती ? तुम लोग जिससे चाहो जबरदस्ती हमारा ब्याह कर सकती हो यह तुम्हारे हाथ की बात है । परन्तु जबरदस्ती प्रेम कराना, यह असम्भव है -- प्रेम तो हृदय का हृदय से विवाह करना है । तुम लोग शरीर को ही ब्याह सकती हो, हृदय को नहीं । हृदय स्वतन्त्र है । वह ऊँच-नीच या जाति-पाँति को क्या जाने ।"[1] जो प्रत्यक्षत: वैवाहिक असंगतियों से खिन्न नारी वर्ग के अन्तर्मन में उपजे आक्रोश का ही प्रतिफल है । यद्यपि द्विवेदी युगीन इन नाटकों में भी नारी अपने भारतीय संस्कारों के कारण आदर्शवादी मान्यताओं का पूर्णत: अतिक्रमण तो नहीं कर पायी है फिर भी उसके आत्म-सम्मान की रक्षा तथा अस्तित्व की सुरक्षा के लिये उन्होंने नाटककार ने उसके जो तर्क दिलवाए हैं अथवा समाज की अन्ध-परम्पराओं के प्रति जो आक्रोश व्यक्त किया है,वह नाटककार की गहन सामाजिक सन्दर्भता अथवा यथार्थवादी दृष्टि के ही परिचायक हैं और सच पूछा जाय तो उनकी समस्या निरूपण की इस व्यंग्यात्मक एवं आलोचनात्मक शैली का विकास ही परवर्ती समस्या नाटकों में दिखायी देता है ।

सामाजिक अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार--

भारतीय समाज में व्याप्त इन सामाजिक रूढ़ियों तथा विसंगतियों के साथ ही तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त अव्यवस्था एवं प्रशासनिक अधिकारों के प्रति सामाजिकों की बढ़ती हुई पदलिप्सा सदृश कुछ अन्य समसामयिक समस्याएँ,जिन्होंने सामाजिक जीवन को अत्यन्त विषम बना दिया था, भी साहित्यकारों की दृष्टि में उभर रही थी जिन्हें अपनी लेखनी का विषय बनाकर नाटककारों ने तत्कालीन सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

तत्कालीन सामाजिक जीवन के यथार्थोद्घाटन की दृष्टि से मिश्रबन्धुओं

---

१. घनानन्द बहुगुणा -- 'समाज', पृष्ठ १३७-१३८

का 'नैत्रोन्मीलन' एक सशक्त यथार्थवादी रचना है । इसमें नाटककार ने युगीन सुधारवादी नाटकों की परम्परा से हटकर तत्कालीन अदालतों तथा कचहरियों में व्याप्त घूसखोरी, शोषण तथा अन्यायपूर्ण धाँधलेबाजियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन सामाजिकों की स्वार्थी मनोवृत्ति को ही चित्रित किया है । अपने स्वार्थ के वशीभूत हो ये किस प्रकार झूठ को सच और सच को झूठ बनाते थे इसकी एक झलक वकील जगदम्बा सहाय तथा गजराज के निम्न संवाद में दृष्टव्य है :

जगदम्बा सहाय -- कुछ कमरखें भी तोड़ी गयीं या नहीं ?

गजराज -- असिल तो इह है कि फलू एकू नाईं टूटा

जगदम्बा सहाय -- अजी तुमसे असिल कौन पूछता है ? थानेदार साहब के यहाँ क्या बयान हुए ?

गजराज -- हुवा तो पंडित जी ! बस है, इहु कहा रहँ कि झावा भरि फल तोरि धरे रहँ तौन अमीर अली कुँवा में फेकवाय दिहिन ।[1]

किन्तु मिश्र जी ने इस सामाजिक अव्यवस्था के लिये किसी एक व्यक्ति को दोषी न मानते हुए इसे समय का प्रभाव ही स्वीकार किया है जो व्यक्तिवादी विचारणा के विकास में व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित कर उसे अधिकाधिक स्वार्थी बना रहा था । इसी को स्पष्ट करते हुए मधुकर अपने पिता से कहता है --'पिता जी आपका कथन तो यथार्थ ही है, पर आजकल ऐसा समय उपस्थित हुआ है कि निरा सच ही बोलने से अदालतों में काम नहीं चल सकता ।'[2] जो नाटककार की तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि के साथ ही तत्कालीन सामाजिक अव्यवस्था की ओर भी संकेत करता है ।

तत्कालीन सामाजिकों का यही युगीन यथार्थ जी० पी० श्रीवास्तव के 'उलटफेर' प्रहसन में एक व्यंग्य रूप में अभिव्यक्त हुआ है । इसमें उन्होंने मुकदमेबाजी में अनुरक्त भारतीयों की दुर्दशा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर तत्कालीन सामाजिकों की

---

१. मिश्रबन्धु -- 'नैत्रोन्मीलन', पृष्ठ ४४

२. मिश्रबन्धु -- 'नेत्रोन्मीलन', पृष्ठ ८

दुर्दशा का यथार्थचित्र प्रस्तुत कर तत्कालीन सामाजिकों की अज्ञानता, स्वार्थी एवं झगड़ालू प्रवृत्ति को ही उद्घाटित करने का प्रयास किया है। उनकी इसी अज्ञानता पर दुःख व्यक्त करते हुए नाटककार कहता है --"यहाँ तो हमारे देशी भाइयों को मुकदमेबाजी का ऐसा चस्का पड़ा हुआ है कि दौलत रहे या न रहे मगर मुकदमेबाजी का सिलसिला हमेशा जारी रहे। बेबात की लड़ाई लड़ेंगे और उसमें एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये बेईमानी दगाबाजी, झूठ जाल और फरेब की सारी कार्रवाइयाँ कर डालेंगे और इस तरह से बरबादी और दुश्मनी की नयी-नयी बुनियादें डालते जायेंगे। यह अक्लि के अन्धे और गाँठ के पूरे अपनी ही बेवकूफी से हर जगह मुँह जाते हैं।"[1] जिसके मूल में नाटककार का एकमात्र उद्देश्य सामाजिकों को उनकी कमजोरियों से अवगत कराते हुए उन्हें आत्मोन्नति के लिये प्रेरित करना था।

सामाजिकों को उनकी इन्हीं कमजोरियों से परिचित कराने के उद्देश्य से प्रेमचन्द ने अपने 'संग्राम' नाटक में तत्कालीन समाज में व्याप्त घूसखोरी, शोषण तथा अन्यायों का चित्रण करते हुए ग्रामीणों की आभूषण-प्रियता, प्रदर्शन भावना तथा उधार लेने की प्रवृत्ति का उद्घाटन कर ग्रामीण किसानों की संकुचित मानसिकता अथवा अदूरदर्शिता को भी चित्रित किया है जो नाटककार की दृष्टि में ग्रामीणों की दुर्दशा का एक महत्वपूर्ण कारण थी। इसी को व्यक्त करते हुए महाजन कंचन सिंह कहता है --"किसान ने खेत में पौधे लहराते हुए देखे और उसके पेट में चूहे कूदने लगे, नहीं तो ऋण लेकर बरसी करने या गहने बनवाने का क्या काम, इतना सब्र नहीं होता कि अनाज घर में आ जाये तो यह मंसूबे बाँधे। मुझसे रुपये का सूद दोगे, लिखाई दोगे, नजराना मुनीम जी की दस्तूरी दोगे। दस के आठ लेकर घर जाओगे, लेकिन यह नहीं होता कि महीने दो महीने रुक जायँ तुम्हें तो इस घड़ी रुपये की धुन है कितना ही समझाऊँ, ऊँच-नीच सुझाऊँ मगर कभी न मानोगे। रुपये न दूँ तो मन में गालियाँ दोगे और किसी दूसरे महाजन की चिरौरी करोगे।"[2] महाजन के इन शब्दों में प्रेमचन्द की अपने युग एवं सामाजिक जीवन के प्रति खिन्नता अथवा अथवा उससे मुक्ति की भावना ही झलकती है, जो एक सजग नाटककार की यथार्थ-सम्पृक्ति अथवा युगबोध को ही अभिव्यक्ति करती है।

---

१. जी० पी० श्रीवास्तव --'उलटफेर', पृष्ठ २
२. प्रेमचन्द --'संग्राम', पृष्ठ २१

सामाजिक जीवन में व्याप्त इन असंगतियों के साथ ही नाटककार की तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि राजनीतिक जीवन में व्याप्त अव्यवस्था की ओर भी आकृष्ट हुई थी, जिसका यथार्थोद्घाटन करते हुए वह अपने `संग्राम` नाटक में लिखते हैं -`प्रजा अपने प्रतिनिधि कितनी ही सावधानी से क्यों न चुने पर अन्त में सत्ता गिने गिनाये आदमियों के हाथों में ही चली जाती है। सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था ही ऐसी दूषित है कि जनता का अधिकांश मुट्ठी भर आदमियों के वशवर्ती हो गया है। ....यह व्यवस्था सर्वथा अपवादमय, विनष्टकारी और अत्याचारपूर्ण है। आदर्श-व्यवस्था यह है कि सबके अधिकार बराबर हो, कोई जमींदार बनकर, कोई महाजन बनकर जनता पर रोब न जमा सके। यह ऊँच-नीच का घृणित भेद उठ जाय। इस सबल निबल संग्राम में जनता की दशा बिगड़ती चली जाती है।`[1] जो प्रत्यक्षत: असहयोग आन्दोलन के दौरान अपने अधिकारों के प्रति सजग भारतीयों के हृदय में उठ रही सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना का ही यथार्थ प्रत्यक्षीकरण है।

भारतीय जनता की यही जागरूकता प्रसाद के `कामना` नाटक में भी मुखर हुई है। जहाँ उन्होंने लालसा, कामना, विलास, विवेक आदि पात्रों के माध्यम से अंग्रेजी राज्य में होने वाली देश की सामाजिक तथा राजनैतिक गतिविधियों का रूपकात्मक चित्र प्रस्तुत कर आधुनिक विलासमयी सभ्यता के प्रति भारतीयों के विद्रोह को प्रदर्शित कर भारतीयों की जागरूकता का परिचय दिया है। ऐश्वर्य और सभ्यता के दुष्परिणामों को देखकर कामना का मुकुट उतार देना वस्तुत: भारतीयों की जागृति का ही प्रतीक है, जो देश के राष्ट्रप्रेमी नेताओं के नेतृत्व में पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ने के लिये सन्नद्ध थीं किन्तु इसमें भावुकता का पुट अधिक है।

किन्तु युगीन राजनैतिक चेतना के कारण जहाँ एक ओर जनता अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रही थी वहीं दूसरी ओर स्वराज्य पार्टी की धूम के कारण देश में चुनावों का भी बोल बाला था। प्रशासन की ऊपरी चमक-दमक तथा विशेषाधिकारों को देखकर जन-सामान्य में चुनावों के प्रति जो आकर्षण बढ़ रहा

---

१. प्रेमचन्द -- `संग्राम`, पृष्ठ ७६

था उसका व्यंग्यपूर्ण उद्घाटन बद्रीनाथ भट्ट तथा बी० पी० श्रीवास्तव ने अपने प्रहसनों में किया है। उनका `चुंगी की उम्मीदवारी` तथा `कुरसी मैन` इस दृष्टि से उल्लेखनीय प्रहसन है। अपने इन प्रहसनों में उन्होंने उम्मीदवारों की खुशामदपरस्ती तथा चाटुकारिता का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत कर उनका अच्छा खासा मजाक तो उड़ाया ही है साथ ही जन-सामान्य की दृष्टि में मेम्बरी के तात्कालिक उद्देश्यों को भी झलकाने का प्रयास किया है। जनसामान्य की दृष्टि में मेम्बरी के प्रति जो धारणा थी उसको व्यक्त करते हुए एक उम्मीदवार स्वयं कहता है --`और मेम्बरी तो वह चीज है कि इसकी बदौलत इज्जत क्या रुतबा ओहदा, अख्तियारात और आनरेरी मजिस्ट्रेटी सब कुछ मिल सकती है। और तारीफ यह कि बिना किसी किस्म की काबिलियत हासिल किए हुए।`[1] और यही कारण है कि चुनावों के प्रति लोगों में विशेष आकर्षण था। इन चुनावों को जीतने के लिए उम्मीदवारों द्वारा जिन अनुचित साधनों अथवा राजनीतिक हथकण्डों का उपयोग किया जा रहा था उनका रहस्योद्घाटन भी इन प्रहसनकारों ने अपने प्रहसनों में किया है।`कुरसीमैन` प्रहसन में एक उम्मीदवार झपसटनाथ का वोट की आशा में धोबी की गठरी उठाकर चलना तथा सड़क पर झाड़ू लगाना इत्यादि हास्यात्मक प्रसंगों की अवतारणा कर प्रहसनकार ने उम्मीदवारों की चापलूसी की सीमा को ही दर्शाया है। यद्यपि नाटककार की एकांगी दृष्टि तथा दर्शकों को हँसाने के क्रम में यह चित्रण कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हो गया है,किन्तु यह सत्य है कि चुनावों को जीतने के लिए बहुत से उम्मीदवार अपनी मान-मर्यादा को भूलकर बुरे से बुरा कार्य करने में भी नहीं हिचकते थे।

उम्मीदवारों की इस खुशामदपरस्ती तथा चाटुकारिता के साथ ही प्रशासनिक जीवन में व्याप्त दुर्व्यवस्था भी उनकी दृष्टि से ओझल न थी।`चुंगी की उम्मेदवारी` में भट्ट जी ने चुंगी में होने वाले चुनावों तथा उनके उम्मीदवारों का व्यंग्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर अप्रत्यक्ष रूप से सरकारी विभागों में व्याप्त अराजकता, वहाँ के लोभी घूसखोर अफसरों तथा पुलिस कर्मचारियों के अनीतिपूर्ण व्यवहार एवं शोषणनीतियों का यथार्थ चित्रण किया है तो `आनरेरी मजिस्ट्रेट` में सुदर्शन ने

---

१. [illegible] १, बी०पी०श्रीवास्तव- `कुरसीमैन`,पृष्ठ ६७।

एक अनपढ़ व्यक्ति को मजिस्ट्रेट बनाकर कचहरियों में होने वाले अन्यायों का यथार्थोद्घाटन किया है । वस्तुत: तत्कालीन कचहरियों में जो धाँधलेबाजी एवं अव्यवस्था थी उसका एक बहुत बड़ा कारण उम्मीदवारों की अज्ञानता थी, जिसकी एक झलक 'मंगूशाह' के निम्न कथन में देखी जा सकती है --'मुकदमे आवेंगे किसी को कैद कर दिया, किसी को छोड़ दिया। ~~किसी-पर-न-लगाया-।~~ दरखास्तें पेश होंगी, किसी पर अंगूठा लगा दिया किसी पर न लगाया । यही तो कचहरी है ।'[1] जो बावजूद अतिशयोक्ति के नाटककार की तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि को ही संकेतित करता है ।

तत्कालीन कचहरियों में व्याप्त न्याय की इसी दुर्व्यवस्था को व्यक्त करते हुए 'संग्राम' नाटक का एक ग्रामीण किसान कहता है —

'कह तो दिया चार आने की छूट हुई भी तो बरसों लग जायेंगे । पहले पटवारी कागद बनायेगा । उसको पूजो, तब कानूगो जाँच करेगा उसको पूजो, तब तहसीलदार नजरसानी करेगा, उसको पूजो तब डिप्टी के सामने कागज पेस होगा, उसको पूजो, वहाँ से तब बड़े साहब के इजलास में जायेगा वहाँ अहलमद और अरदली और नाजिर सभी को पूजना पड़ेगा । बड़े साहब कमसनर को रपोट देंगे वहाँ भी कुछ न कुछ पूजा करनी पड़ेगी । इस तरह मनजूरी होते-होते एक जुग बीत जायेगा ।'[2] जिसके मूल में नाटककार की गहन सामाजिक सन्दर्भता अथवा यथार्थ अन्वेषी दृष्टि ही क्रियाशील थी ।

पाश्चात्य संस्कृति एवं नवीन शिक्षा—

तत्कालीन सामाजिक एवं प्रशासनिक जीवन में व्याप्त इन विसंगतियों के यथार्थोद्घाटन के साथ ही नाटककारों का ध्यान पाश्चात्य संस्कृति में पोषित उन नवशिक्षितों पर भी गया था जो अपने झूठे दंभ तथा भारतीय संस्कृति की उपेक्षा के कारण परिस्थितियों से सामंजस्य के अभाव में सम्पूर्ण समाज के लिए एक समस्या

---

१. सुदर्शन - 'आनरेरी मजिस्ट्रेट', पृष्ठ ४५

२. प्रेमचन्द - 'संग्राम', पृष्ठ ४६

बने हुए थे । समाज सुधार के क्रम में नाटककारों ने उन्हें भी अपने व्यंग्य बाणों का निशाना बनाया । बद्रीनाथ भट्ट कृत `मिस अमेरिकन` तथा जी० पी० श्रीवास्तव कृत `नोक झोंक` `दुमदार आदमी` तथा `उलटफेर` पाश्चात्य सभ्यता में पोषित कुछ ऐसे ही नवशिक्षितों पर व्यंग्य है । `मिस अमेरिकन` में जहाँ प्रहसनकार ने एक अमेरिकन युवती के माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता का मजाक उड़ाया है वहीं जी० पी० श्रीवास्तव ने अपने `नोकझोंक` प्रहसन में एक ग्रेजुएट के दाम्पत्य जीवन की करुणकथा का व्यंग्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर समाज के उन नवशिक्षितों,जो अपनी शिक्षा के झूठे दंभ के कारण अपने को समाज से विशिष्ट समझने लगे थे, को यह बताने का प्रयास किया है कि केवल ग्रेजुएट होना ही शिक्षा की कसौटी नहीं है अत: एक शिक्षित बदहवास राय के यह कहने पर कि `मैं ? मैं प्यार करता बशर्ते अगर वह पढ़ी होती` नाटक का एक शिक्षित वरन् जागरूक चरित्र रसिकलाल व्यंग्य करते हुए कहता है -- `क्या कहना है । अगर प्यार करने की आपकी यही शर्त है तो बेहतर है कि आप इस स्त्री को नीलाम करके किसी आलिम फाज़िल बुड्ढे खब्बीस मौलाना से या किसी दकियानूसी पुस्तकालय से अपनी निस्बत जोड़िये ।`[१]

इसी प्रकार `दुमदार आदमी` में वकील भिपोड़ शंख का अपनी दुम की प्रशंसा में कहा गया निम्न कथन `अरे यह तो बड़े काम की चीज है अगर यह न होती तो हम भी तुम्हारी तरह मामूली आदमी होते .... जब कभी हम ऐसे बड़े आदमियों को ओहदा और अख्तियारात मिलते हैं तो इस दुम में बिच्छू की तरह एक डंक निकल आता है, जो सिवाय नुकसान के फायदा के फायदा पहुँचाना तो जानता ही नहीं ।`[१] तत्कालीन नव-शिक्षितों की उस स्वार्थी मनोवृत्ति पर व्यंग्य है,जो शिक्षा के अहंकार के कारण दूसरों को नुकसान पहुँचाने में ही अपना बड़प्पन समझ रहे थे ।

किन्तु अपने `उलटफेर` प्रहसन में उन्होंने पैसे की लालच में वकालत की ओर भागने वाले शिक्षितों की स्वार्थी मनोवृत्ति पर दु:ख प्रकट कर उन्हें देश की उन्नति के लिये अन्य क्षेत्रों में बढ़ने का सुझाव भी दिया है ।

---

१. जी० पी० श्रीवास्तव -- `नोक झोंक`, पृष्ठ ४०

ऐतिहासिक - पौराणिक नाटकों में अभिव्यक्त यथार्थ दृष्टि

यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के विश्लेषण की दृष्टि से यद्यपि ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों का अध्ययन यहाँ पर अनभीप्सित एवं अनावश्यक ही प्रतीत होता है किन्तु ऐतिहासिक पौराणिक नाटक, जिनकी चरम परिणति प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में दिखायी देती है, में अभिव्यक्त समकालीन यथार्थ के प्रति नाटककार की तीव्र उत्कण्ठा को देखकर हमारी दृष्टि स्वत: ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाती है। लेकिन उनके अध्ययन के उपरान्त दोनों के अभिव्यक्तिकरण में जो मूलभूत अन्तर नजर आया उसे विषय की स्पष्टता के लिये हमने यहाँ कुछ निष्कर्षात्मक तथ्यों के रूप में उद्‌घाटित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि यह सत्य है कि इस युग के अधिकांश ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों का मूलाधार भी द्विवेदी युगीन सामाजिक नाटककारों की भाँति युगीन पतनोन्मुख सामाजिक यथार्थ ही था, जिसके उद्धार की कामना से प्रेरित एवं प्रभावित होकर उन्होंने अपने नाटकों में युगीन समसामयिक समस्याओं— राष्ट्रीय चेतना एवं जन-जागरण धार्मिक एवं साम्प्रदायिक एकता तथा नारी-जागरण सदृश सामाजिक समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। किन्तु नाटककार की दृष्टिगत भिन्नता के कारण दोनों के निरूपण में नितान्त भिन्नता है। द्विवेदी युगीन सामाजिक नाटककारों ने जहाँ सामाजिक पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित होकर समसामयिक समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में उनके यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है, वहीं प्रसाद इत्यादि अन्य ऐतिहासिक नाटककारों ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित होकर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के आश्रय में युगीन समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत न कर परोक्ष रूप में अर्थात् इतिहास अथवा प्राचीन कथाओं में अनुस्यूत करके ही प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि 'साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है किन्तु इतना ही अलं नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का-जो सर्वोत्तम है -- अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है इसलिए हमको साहित्य

में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए ।[1] जो प्रत्यक्षत: उन पर पड़े स्वच्छन्दतावादी विचारों का ही प्रभाव था, और यही कारण है कि समसामयिक यथार्थ पर दृष्टि केन्द्रित होते हुए भी उन्होंने अपने नाटकों में समकालीन समस्याओं पर प्रत्यक्ष प्रहार करने की अपेक्षा इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में झाँककर उनका एक आदर्शवादी समाधान खोजने का प्रयास किया है । इस सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि 'हमें हमारी गिरी दशा से उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें मुझे सन्देह है ।'[2] अत: उनकी दृष्टि समसामयिक समस्याओं के विवेचन विश्लेषण की अपेक्षा इतिहास चित्रण तथा आदर्शों को प्रस्तुत करने में ही अधिक रमी है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनके जन-प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं जहाँ वह प्राचीन भारतीय संस्कृति के गरिमामय उज्ज्वल चित्रों में अपने युग की समस्याओं को प्रतिबिम्बित कर मानव मात्र को उनके प्रति जागरूक करने की अपेक्षा उनके निवारणार्थ निश्छल प्रेम, त्याग, तपस्या सहानुभूति, ममत्व, तथा देशप्रेम का पावन संदेश देकर एक उच्चादर्श प्रस्तुत करते हैं । जो उनके नाटकों में आगत समस्याओं के विश्लेषण से स्वत: स्पष्ट है ।

जहाँ तक उनके नाटकों में आगत राष्ट्रीय चेतना एवं जन-जागरण की युग सन्दर्भता का प्रश्न है, यह सत्य है कि उन्होंने अपने नाटकों में ब्राह्मण बौद्ध, आर्य-नाग, मालव-मागध आदि में व्याप्त जातीय संघर्ष के माध्यम से युगीन हिन्दू मुस्लिम संघर्ष एवं व्यापक राष्ट्रीय चेतना जो तत्कालीन राजनीतिक जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या थी, को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है किन्तु उनका आदर्शवादी भावुक हृदय उनके नाटकों पर सर्वत्र ही छाया रहता है। और यही कारण है कि युग की ज्वलन्त समस्या को उठाकर भी वह अपने नाटकों में समस्या को कोई ठोस यथार्थवादी एवं सुनिश्चित मार्ग देने की अपेक्षा अन्तत: हृदय परिवर्तन, पश्चाताप, क्षमा तथा वैवाहिक सम्बन्धों के प्रतिस्थापन द्वारा समस्त विद्रोहों का शमन कर विश्व में लोकमंगल एवं लोक-कल्याण की भावना का विस्तार करते दिखाई देते हैं, जो निश्चयत: उनके हृदय पर पड़े गांधी-वादी दर्शन का प्रभाव था । अत: उनके समस्त नाटकों की चरम परिणति राष्ट्रीय

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ११६-११७

२. वही , 'विशाख', पृष्ठ २०

एकता एवं विश्वमैत्री का आदर्श प्रस्तुत करने में ही निहित है,उनमें पात्रों को झकझोर देने की क्षमता कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती । साथ ही एक रोमैंटिक नाटककार होने के नाते कहीं-कहीं तो वह पूर्णत: भावनाओं में ही बह जाते हैं । जनमेजय का नागयज्ञ में विश्वशान्ति के समर्थक महर्षि-व्यास की यह भविष्यवाणी-- `इन्हीं महात्मा ब्राह्मणों की विशुद्ध ज्ञानधारा से यह पृथ्वी अनन्त काल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोक में कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा । सब लोग सुखपूर्वक रहेंगे ।...विश्वात्मा का उत्थान हो । प्रत्येक हृतन्त्री में पवित्र पुण्य के सामगान की मीड़ लहरा उठे ।`[१] तो निश्चयत: युग जीवन से अलग एक दूसरे लोक की ही सृष्टि करती है।और सच पूछा जाय तो उनका यह अति आदर्शवादी समाधान ही उनके नाटकों को यथार्थ जगत से विमुख कर कल्पना लोक की वस्तु बना देता है,जहाँ पाठक एवं दर्शक वर्ग समसामयिक यथार्थ को भूलकर सुखद भविष्य के काल्पनिक संसार में खो जाते हैं ।

समस्या के ग्रहण में उनका यही आदर्शवादी रूप नारी विषयक समस्या के सन्दर्भ में भी दिखाई देता है । यद्यपि उन्होंने युगीन मानवतावादी विचारों के परिप्रेक्ष्य में सर्वत्र नारी स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है तथा उनकी समस्त नारियाँ अपने सीमित दायरे को छोड़कर राजनीति के विशाल प्राँगण में उतरी है,जो कि उनके युग का यथार्थ सत्य भी था किन्तु नारी की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी उन्हें उसका आदर्शवादी रूप ही मान्य था।जिसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने अजातशत्रु में लिखा भी है `तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण । कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति । पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है -- जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं ।....क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा[२] अत: स्पष्ट है कि उन्होंने उसे एक सीमा तक ही स्वतन्त्रता दी है । जो मूलत: उन पर युगीन छायावादी विचारों का ही प्रभाव था । और यही कारण है कि अपने

---

१. जयशंकर प्रसाद - `जनमेजय का नागयज्ञ`, पृष्ठ ६७

२. जयशंकर प्रसाद -`अजातशत्रु`, पृष्ठ ११६

अधिकारों, अस्तित्व तथा स्वातन्त्र्य के प्रति चिन्तित, जागरूक दृढ़प्रतिज्ञ एवं कृतसंकल्प होते हुए भी उनकी नारियाँ आदर्शवादी मान्यताओं से कहीं भी ऊपर नहीं उठ पाई है और जहाँ कहीं उठी हैं वहाँ प्रसाद ने उन्हें सर्वत्र पराजित ही दिखाया है। प्रसाद की मनसा, मागन्धी, शक्तिमती छलना इत्यादि ऐसी ही जागरूक नारियाँ हैं जो अन्तत: पराजित होकर अपनी भूल अर्थात् अनधिकार चेष्टा पर पश्चाताप करती हैं। इसके साथ ही इन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिये उन्होंने सर्वत्र ऐसी नारियों का आदर्श प्रस्तुत किया है जो स्वयं तो अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर रहती ही है, अपने सदाचरण एवं नि:स्वार्थ सेवा के द्वारा औरों को भी अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करती है। प्रसाद की मल्लिका उनकी आदर्शवादी नारियों का उत्कृष्टतम उदाहरण है जो अपने आदर्श चरित्र एवं उदात्त विचारों के द्वारा सम्पूर्ण समाज के हृदय पर विजय प्राप्त कर उनमें अपूर्व साहस शक्ति एवं एकता का संचार कर उन्हें पथभ्रष्ट होने से बचाती है। और इनको अतिशय महत्व देने के कारण ही वह समसामयिक अन्य नारी समस्याओं को अपने नाटकों में स्थान नहीं दे पाये हैं।

समसामयिक समस्याओं के यथार्थोद्घाटन की दृष्टि से उनका एकमात्र नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' ही उल्लेखनीय है जहाँ उन्होंने ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से युगीन सामाजिक बन्धनों से बंधी एवं पुरुष वर्ग की उपेक्षा से संत्रस्त भारतीय नारी का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है, जो परिस्थितियों के संघात से अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जीवन के समस्त संघर्षों का डटकर मुकाबला करती है किन्तु यहाँ भी वह अपने ऐतिहासिक मोह का संवरण नहीं कर पाये हैं। यद्यपि अपने इस नाटक में उन्होंने नारी की मुक्ति के सन्दर्भ में तलाक (मोक्ष) एवं पुनर्विवाह (पुनर्लग्न) जैसे समसामयिक प्रश्नों को उठाकर अपनी नवीन यथार्थोन्मुखी दृष्टि का परिचय भी दिया है, किन्तु धर्मशास्त्र के प्रमाण को स्वीकार कर वह अपने समाधान को पूर्णत: यथार्थवादी एवं युगानुरूप नहीं बना सके हैं। कारण, वही रूढ़िवादी धर्म जो एक तरफ नारी की इच्छा के विरुद्ध धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की पैशाचिक परीक्षा लेता है उसी अविवेकी अस्त्र द्वारा नारी के उद्धार की कामना करना तत्कालीन वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी परिस्थितियों में निराधार एवं हास्यास्पद ही जान पड़ता है। किन्तु फिर भी उन्होंने रूढ़िवादी धर्म तथा धार्मिक कर्मकाण्डों की निरर्थकता प्रतिपादित करते हुए मन्दाकिनी तथा ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से नारी

की सुरक्षा में जो तर्क दिलवाए हैं वह युग जीवन के अत्यधिक निकट है तथा अपनी तर्कपूर्ण पद्धति के कारण नाटक को यथार्थवादी नाटकों के समीप ले आते हैं।

और सम्भवत: उनके नाटकों में अभिव्यक्त समस्या के इस रूप को लक्ष्य करके ही कुछ विद्वानों ने प्रसाद के नाटकों को यथार्थवादी शैली के समस्या नाटकों का एक रूप माना है।[1] किन्तु सत्य तो यह है कि जीवन के यथार्थ के प्रति दृष्टि निबद्ध होते हुए भी विषय प्रतिपादन की दृष्टि से प्रसादयुगीन यह ऐतिहासिक पौराणिक नाटक यथार्थवादी नाटकों की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के ही पोषक रहे हैं। उनके नाटकों में चित्रित उनका काम्य आदर्शवादी भावलोक, भावुक पात्रों की भावावेश में आत्महत्या तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनका धैर्य धारण करना उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का ही पोषण करती है। इसके साथ ही उनके नाटकों में समसामयिक विसंगतियों पर तीक्ष्ण प्रहार की अपेक्षा चिन्तन मनन एवं भावन का भाव ही अधिक मुखर हुआ है, जो समसामयिक अनेकविध समस्याओं से घिरे मानव को सर्वथा मान्य नहीं था। अत: इनके विषय में विद्वज्जनों की मान्यता थी कि वे पाठकों को किसी मोहक लोक में ले जाकर धरातल की समस्याओं से पराङ्मुख तो कर सकते हैं, किन्तु उन समस्याओं के प्रति जागरूक करते हुए चेतना को झकझोर देने की क्षमता उनमें नहीं है।[2] अथवा `प्रसाद के साहित्य में सांस्कृतिक राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उत्थानमूलक अभिव्यक्तियाँ तो प्रचुर मात्रा में मिलेंगी, पर प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवाद के प्रति उनकी रुझान कभी नहीं रही।'[3] प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए डा० बच्चन त्रिपाठी ने भी लिखा है, `प्रसाद

----

१. (क) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, `हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव', पृष्ठ २५७
   (ख) डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', पृष्ठ २१५
   (ग) कमलिनी मेहता -- `नाटक और यथार्थवाद', पृष्ठ २२८

२. मान्धाता ओझा - `हिन्दी समस्या नाटक', पृष्ठ ३२-३३

३. डॉ० बच्चन सिंह — `आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास',
पृष्ठ २८२।

ने अपने नाटकों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का परिपाक, राष्ट्रीयता का चरम उत्कर्ष और सांस्कृतिक गरिमा का समुज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया, पर युग जीवन तथा जन-जीवन के विविध पक्षों के सूक्ष्म स्तरों का जैसा कौशलपूर्ण उद्घाटन भारतेन्दु ने किया था वैसा न हो सका। तात्पर्य यह कि प्रसाद में उत्कर्ष और उदीप्ति तो रही पर विषय और विधान की व्याप्ति तथा विविधता का अभाव रहा।[१] किन्तु इसके मूल में उनकी दार्शनिक चिन्तना, स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक भावधारा तथा पुनरुत्थान की प्रेरणा में निहित सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की चेतना ही क्रियाशील थी, जिसके कारण वह समसामयिक समस्याओं के प्रति उतने सचेष्ट नहीं दिखाई देते जितने ऐतिहासिक सन्दर्भों के प्रति। इसका एक अन्य कारण उनका भावुक कवि हृदय भी था जो उन्हें पूर्णत: यथार्थ में नहीं रमने देता और वह यथार्थ को ग्रहण करके भी वह अक्सर भावुकता में ही खोये रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनके नाटकों में ऐतिहासिक कथा प्रमुख तथा युगीन समसामयिक यथार्थ दबा हुआ एवं गौण प्रतीत होता है। समसामयिक समस्याओं के प्रति प्रसाद की इस भिन्न दृष्टि के कारणों का उल्लेख करते हुए बच्चन सिंह ने लिखा है - 'क्लासिकल कलाकार जहाँ बुद्धि और तर्क का अधिक भरोसा रखता है वहाँ रोमैंटिक साहित्यकार हृदय की पुकार और अन्तर्मन के विश्वासों (Faith) का। यही कारण है कि पात्रों में अपने देश जाति गौरव तथा आत्माभिमान के लिए अपने को लय कर देने की एक तीखी चाह दिखाई पड़ती है। उनमें बुद्धि का आग्रह कम और आत्मा की तड़प कहीं अधिक परिलक्षित होती है।'[२] जो उनके नाटकों को यथार्थवादी नाटकों की सीमा के अन्तर्गत नहीं आने देता।

इस प्रकार विषय प्रतिपादन की दृष्टि से तो प्रसादयुगीन यह नाटक नाटकों की यथार्थवादी धारा के विपरीत पड़ते ही हैं, भाषा प्रयोग एवं रंग संयोजन की दृष्टि से भी इन्हें यथार्थवादी नाटकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। जिनका सम्यक् विश्लेषण 'भाषा प्रयोग' एवं 'रंगसंयोजन' शीर्षक के अन्तर्गत यथास्थान किया गया है।

---

१. डॉ० बच्चन त्रिपाठी, 'हिन्दी नाटक और लक्ष्मी नारायण मिश्र', पृष्ठ ५६

२. बच्चन सिंह, 'हिन्दी नाटक', पृष्ठ ६५

भाषा-प्रयोग

यद्यपि भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के प्रयास से हिन्दी खड़ी बोली गद्य १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी । किन्तु हिन्दी गद्य का शैशव काल होने के कारण नाटककारों का ध्यान भाषा के व्याकरणिक नियमों की ओर न जा सका था । अत: उनका शब्द विन्यास तथा वाक्य संगठन व्याकरणिक दोषों से युक्त, शिथिल, अव्यवस्थित एवं असंगठित ही था, जिसे २०वीं शताब्दी में महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक प्रतिभा एवं युगीन सांस्कृतिक तथा पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों ने व्याकरणिक नियमों में आबद्धकर एक निश्चित रूपाकार प्रदान किया ।

द्विवेदी जी मूलत: एक आलोचक थे । अत: उनका सारा ध्यान साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने की अपेक्षा साहित्यगत परिष्कार की ओर ही रहा । जिसे उन्होंने अपनी एकमात्र पत्रिका 'सरस्वती' के माध्यम से पूरा किया । 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने छपने के लिये आयी हुई रचनाओं की व्याकरणिक और भाषागत अशुद्धियों को संकेतित कर लेखकों को उनके प्रति आकृष्ट तो किया ही साथ ही उनकी अशुद्धियों को शुद्ध कर भाषा का एक निश्चित मानदण्ड भी स्थापित किया । फलत: लेखकों का ध्यान भाषा की व्याकरणगत त्रुटियों की ओर भी गया और उन्होंने उसमें अपेक्षित सुधारकर भाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत किया । भाषा विकास के प्रति द्विवेदी जी की इसी लगन एवं जागरूकता को लक्ष्य कर शुक्लजी ने लिखा है, 'यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्य, समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया । यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊट पटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती । उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया ।'[१] जो हिन्दी भाषा के विकास में द्विवेदी जी के मौलिक प्रदेय का सूचक है ।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५२८

महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संचालित इस हिन्दी भाषा-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में बंगला नाटक, जो अनुवादों के माध्यम से हिन्दी नाटकों को प्रभावित कर रहे थे, का भी विशेष महत्व रहा है। जिसकी परिमार्जित एवं सुन्दर पदविन्यास परम्परा को ग्रहण कर नाटककारों ने हिन्दी भाषा को और अधिक पुष्ट एवं समृद्ध बनाने का प्रयास किया। किन्तु आर्य समाज की उपदेशात्मक नीति तथा अनुभूति की क्षीणता के कारण द्विवेदी युगीन नाट्यभाषा में वह कलात्मक सजीवता एवं व्यंजनात्मक क्षमता न आ सकी जो भारतेन्दु के नाटकों में दिखायी देती है।

इस प्रकार द्विवेदी युगीन नाटकों में भाषा के जिस रूप के दर्शन होते हैं वह पूर्व की अपेक्षा व्याकरणिक रूप से शुद्ध एवं परिष्कृत भाषा थी। जिसमें जन-सामान्य में प्रचलित बोलचाल की साधारण भाषा की सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता को दृष्टि में रखकर देशज शब्दों प्रचलित कहावतों तथा मुहावरों का भी समुचित प्रयोग किया गया था। इस तथ्य को उद्घाटित करने वाला एक उदाहरण दृष्टव्य है -- 'कुछ कहा नहीं जाता। जमाने की हवा ही बदल गई। मर्द जनाने हो गए। औरतें मर्दानी हो गयीं। लड़के सयाने हो गए। सयाने नादान बच्चे हो गए। जवानों में बुढ़ापा आ गया। बूढ़ों में नये सिरे से नौजवानी समा गई। पचास बरस वाले तेरह बरस की कुमारियों की ताक में हैं बीस बरस के जेण्टिलमैन तीस बरस की विधवाओं की खोज में हैं। खूब सूरत लड़कियाँ बूढ़ों से नहीं बचने पातीं। इनके लिये न टीपन का झगड़ा न ग्रह का बखेड़ा। झट मंगनी पट ब्याह। बस लड़की खूबसूरत और लायक हो। मगर नौजवानों के लिये सौ-सौ मुसीबतें। पण्डितों का विचार, ग्रह का मिलान - - -- - दहेज का झंझट कहाँ तक कहें। जब से यह नकली दाँत और खिजाब निकले है न जाने कितने बूढ़ों के घर आबाद हो गये और नौजवानों की मिट्टी पलीद हो गई।'[1]

वस्तुत: नाटककारों द्वारा प्रयुक्त इस व्यावहारिक भाषा-प्रयोग के मूल में उनकी यथार्थवादी दृष्टि ही कार्यरत थी। भारतेन्दु युगीन नाटककारों की भाँति द्विवेदी युगीन नाटककारों का मुख्य उद्देश्य भी तत्कालीन समाज में प्रचलित रूढ़ियों, अन्धपरम्पराओं तथा सामाजिक एवं राजनैतिक विकृतियों के उद्घाटन द्वारा सामाजिकों

---

१. जी० पी० श्रीवास्तव - 'गड़बड़झाला', पृष्ठ २३

को सचेत कर सामाजिक उन्नति एवं देशोद्धार के लिये प्रेरित करना था । साथ ही अपने पात्रों का चयन भी उन्होंने समाज के विस्तृत जन-समुदाय में से किया था । अत: अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह भारतेन्दु की भाँति ही सामाजिकों की प्रकृति एवं मानसिक योग्यता के अनुरूप भाषा की सरलता एवं स्वाभाविकता की ओर ही आकृष्ट हुए । वह इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि देश की सामान्य एवं अशिक्षित जनता तक अपने संदेशों को पहुँचाने के लिए तत्सम शब्दावली से युक्त अलंकृत भाषा कभी भी उतनी प्रभावशाली नहीं हो सकती जितनी कि जनसामान्य में प्रचलित बोलचाल की भाषा । इसीलिए अपने अधिकांश नाटकों में वह जनसामान्य में प्रचलित देशी बोलियों-- मुख्यत: ब्रज तथा अवधी इत्यादि के प्रति भी आकर्षित दिखाई देते हैं । जिसे गाँवों की साधारण जनता भी आसानी से समझ सकती थी । अत: तत्कालीन नाटकों एवं प्रहसनों में उनका खूब प्रयोग किया गया है । कहीं-कहीं तो वह बिलकुल ही गाँवों की ठेठ बोली का प्रयोग कर बैठे हैं । यथा -- `जाव: अइस जो हम देबै लागी तो एको मुकदमा हम लड़ न पाई । का रुपया नाही रहा, यू बात नाही रही । रुपया उई साइत सैार रहा । वुई राखे रहेन ई टैंट मां, बीस रहा ई टेट मां, अउर बचिस रहा पाछे ।`[1]

इसके साथ ही जनसामान्य में प्रचलित अरबी-फारसी के सामान्य शब्दों का प्रयोग भी तत्कालीन नाटकों में अनायास ही हो गया है । अधिकांश नाटकों की तो भाषा ही उर्दू मिश्रित हिन्दी है । `नेत्रोन्मीलन` में तो उर्दू की यह छटा सर्वत्र दर्शनीय है यथा `इस मुकद्दमें में दो अदालतों ने सायल के ख़िलाफ़ मुत्तफिक राय से जुर्म साबित पाया है और यह राय वाक़याती तज्वीज़ है । इसकी सिदाक़त में छ: गवाहों की मज़बूत शहादत मौजूद है ।.....`[2]

यद्यपि अरबी-फारसी के क्लिष्ट शब्दों के कारण कहीं-कहीं भाषा दुरूह अथवा बोझिल भी हो गयी है किन्तु एक तो ऐसे स्थल बहुत कम हैं दूसरे मुसलमान पात्रों तथा कचहरियों के यथार्थोद्घाटन के कारण उर्दू भाषा का यह प्रयोग सर्वथा अस्वाभाविक भी प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में उर्दू ही सरकारी काम-

---

१. श्री बी० पी० श्रीवास्तव - `उलट फेर`, पृष्ठ २४

२. मिश्रबन्धु - `नेत्रोन्मीलन`, पृष्ठ १३८

काज की भाषा थी । अत: इसके माध्यम से नाटककार ने यथार्थ के अधिकाधिक समीप आने का प्रयास किया । किन्तु जहाँ उनके शिक्षित नाटकीय चरित्र शुद्ध एवं परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करते हैं वहाँ भी वह जनसामान्य से बहुत दूर नहीं हुए हैं यथा 'संग्राम' नाटक में सबल सिंह का निम्न संवाद--'सम्पत्ति ही पाप का मूल है, इसी से कुवासनायें जागृत होती हैं, इसी से दुर्व्यसनों की सृष्टि होती है । गरीब आदमी अगर पाप करता है तो क्षुधा की तृप्ति के लिये । धनी पुरुष पाप करता है अपनी कुवृत्तियों और कुवासनाओं की पूर्ति के लिये । मैं इसी व्याधि का मारा हुआ हूँ ।'[1]

अत: स्पष्ट है कि शुद्ध भाषा प्रयोग से उनका तात्पर्य मूलत: शुद्ध शब्द-प्रयोग तथा व्याकरणिक शुद्धता ही रहा है । तद्भव शब्दों अथवा शब्दों के विकृत रूपों का प्रयोग यथासम्भव नहीं किया है । वाक्य भी प्राय: छोटे तथा अनलंकृत ही हैं अत: शुद्ध होकर भी भाषा जन-सामान्य के निकट ही रही है । उसमें दुरूहता कहीं नहीं है ।

भाषा के इस परिनिष्ठित प्रयोग के साथ ही द्विवेदी युगीन नाट्य भाषा पर पारसी रंगमंचीय शैली- जो जनता के मनोरंजन के उद्देश्य से अनेक हास्यात्मक वरन् अस्वाभाविक एवं उत्तेजक प्रसंगों की अवतारणा कर जन-सामान्य को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी—का भी प्रभाव पड़ा । फलत: द्विवेदी युगीन प्रहसनों तथा नाटकों में हास्यात्मक प्रसंगों, गीतों, पद्यात्मक संवादों एवं पद्यप्रयोगों का भी बाहुल्य हुआ । जिसने जनसामान्य की रुचि को ध्यान में रखकर नाटकों को आकर्षक, मनोरंजक, एवं प्रभावशाली तो बनाया, किन्तु पारसी रंगमंचों की अश्लीलता, अस्वाभाविकता एवं अयथार्थता से अपने को न बचा सके ।

जहाँ तक उनके गीतों का प्रश्न है गीत संख्या में बहुत अधिक नहीं हैं, किन्तु उनकी रचना के मूल में पारसी रंगमंच की प्रेरणा ही कार्यरत थी । जो कहीं उसकी अश्लील शब्दावली में तो कहीं जगत की निस्सारता अथवा भगवद्भजन के रूप में सर्वत्र ही दृष्टिगत होती है । इसीलिए द्विवेदी युगीन नाटकों में प्रयुक्त गीत मनोरंजन अथवा भक्ति प्रदर्शन के अतिरिक्त नाटकों को कोई भावगम्भीरता अथवा अर्थ सम्प्रेषण की

---

१. प्रेमचन्द - 'संग्राम', पृष्ठ २५६

क्षमता न दे सके । जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों में तो पारसी रंगमंचों की यह अश्लीलता सर्वत्र ही दिखाई देती है --

'छलकी घतियां करो न बनियां
लागी छतिया मोरी
हाय दइया मसकी चोलिया फाड़ो
बइयां टूटी चूड़ियां ।'[1]

पद्यात्मक संवादों अथवा पद्य प्रयोगों में तो नाटककार पूर्णत: पारसी नाटकों की तुकबन्दी पर उतर आये हैं । अत: स्थान-स्थान पर पात्रों के मुख से तुकबन्दी अथवा पद्यमय भाषा का प्रयोग कराया गया है यथा--'मूर्ख सभ्यता सीख नहीं तो मांगता फिरेगा जनम भर भीख । इतना बड़ा हो गया-- लड़कपन छछोरपन छोड़ ; संजीदगी से नाता जोड़ । गंवार । अपना चरित्र सुधार नहीं तो जनम भर फिरेगा यों ही बेकार ।'[2] यद्यपि नाटकों की रोचकता की दृष्टि से भाषा का यह पद्यमय प्रयोग तत्कालीन परिस्थितियों में नाटकों की एक अनिवार्य विशेषता बन गया था किन्तु अधिकांशत:,वह नाटकों में जबरदस्ती ठूंसे हुए ही है और भाषा की स्वाभाविकता को नष्टकर उसे कृत्रिम तथा अयथार्थ बना देते हैं ।

इसी प्रकार 'नेत्रोन्मीलन' के तृतीय अंक के पाँचवे दृश्य में तो पद्यों की भरमार ही हो गयी है जो कथा प्रसंग की दृष्टि से भी अनावश्यक प्रतीत होता है । यही बात इस काल के नाटकों में प्रयुक्त हास्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । यद्यपि इस काल के प्रहसनों में हास्य का समुचित प्रयोग हुआ है,किन्तु पारसी रंगमंचों की हास्यात्मक प्रवृत्ति की अतिशयता के कारण द्विवेदी युगीन नाटकों में भारतेन्दु सदृश शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य के दर्शन नहीं होते । भट्ट जी को छोड़कर प्राय: सभी का हास्य शब्दों तथा घटनाओं तक ही सीमित है । अत: बेतुके एवं अशिष्ट वार्तालाप, हास्योत्पादक एवं अश्लील कार्य-व्यापार तथा अतिनाटकीय प्रसंग अथवा दृश्य ही उनके हास्य की सीमा थे । जो थोड़ी सी देर के लिये दर्शकों को हँसाकर उनका मनोरंजन तो जरूर करते थे किन्तु अर्थ की गम्भीरता तथा चरित्रों एवं स्वाभाविक कथा-विकास के अभाव में वह दर्शकों एवं पाठकों पर कोई स्थायी प्रभाव न डाल सके । कहीं-कहीं तो पात्रों के बेढब नामों द्वारा भी प्रहसनकारों ने हास्य सृष्टि का प्रयास किया है यथा -- निपोड़शंख मनहूसलाल, कमबख्तलाल, धोती प्रसाद, बिगड़े दिल,बदहवास,

साधारण भाषा से ही प्रभावित दिखाई देते हैं किन्तु उनकी भाषा की प्रमुख विशेषता उसका भाषा सौष्ठव अथवा अलंकृत शब्द-विधान ही था, जिसका प्रारम्भ उनके 'अजातशत्रु' नाटक से होता है। अत: उनकी प्रारम्भिक कृतियों में न तो विचारों की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि थी, न काव्यात्मकता तथा कलात्मकता का विशेष आग्रह। इसके विपरीत उनमें स्वाभाविकता, सरलता तथा रोचकता के आग्रह में भारतेन्दु प्रवर्तित-हास्य-व्यंग्य समन्वित पात्रानुकूल भाषा के ही दर्शन होते हैं। जिसमें एक ओर खड़ी बोली, ब्रज, उर्दू अथवा संस्कृत शब्दों का मिला जुला रूप दिखायी देता है तो दूसरी ओर कहावतों, मुहावरों, तुकबन्दियों, पद्य-प्रयोगों तथा गीतों के प्रयोग में पारसी रंगमंचों की पद्यात्मक प्रवृत्ति। अत: भाषा जनसामान्य के काफी निकट रही है —

'क्या! क्या! क्या! तेरे पितृ पितामहों की भूमि थी? अरे मूर्ख, भूमि किसकी हुई है? यदि तेरे बाप दादों की थी तो मेरे भी लकड़दादा, नकड़दादा या किसी खपड़दादा की रही होगी। क्या तू इस पर बल फिर कर अपना अधिकार जमाना चाहता है? निकल जा यहाँ से चला जा... ।'[1]

किन्तु प्रसाद का नाटककार हृदय अपने इस भाषा-प्रयोग से पूर्णत: संतुष्ट नहीं था अत: उन्होंने यथार्थ के आग्रह में भाषा की सरलता को महत्व देने वाली विविध भाषा प्रयोग नीति की कृत्रिमता तथा निरर्थकता सिद्ध कर अपने परवर्ती नाटकों में संस्कृत की तत्सम शब्दावली, अलंकृत शब्द विधान, चित्रोपम अलंकारों, प्रतीकों तथा बिम्बों से युक्त अलंकृत एवं परिनिष्ठित भाषा को ही अपने नाटकों का मूलाधार बनाया। भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि 'पात्रों के भावों विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए। किन्तु इसके लिये भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।'[2]

---

१. जयशंकर प्रसाद - 'विशाख', पृष्ठ ११

२. वही - 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ११६

जिसका पूर्ण प्रतिपालन उन्होंने अपने नाटकों में किया । अत: उनकी समस्त प्रौढ़ रचनाओं में ऐतिहासिक विषयवस्तु के अनुरूप प्राचीन राजदरबारों में प्रयुक्त अभिजात्य वर्गीय संस्कृत निष्ठ भाषा का ही प्रयोग किया गया है,जो उनके नाटकों को यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों से बिल्कुल ही काट देती है ।

रंग-संयोजन —

द्विवेदी युगीन सामाजिक नाटकों के विषयगत अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की भाँति द्विवेदीयुगीन नाटककारों का मुख्य उद्देश्य भी नाटक के माध्यम से देश तथा समाज का सुधार करना था।अत: जीवन सन्दर्भों के ग्रहण एवं भाषा प्रयोग की भाँति रंगसंयोजन में भी द्विवेदी युगीन यह नाटककार भारतेन्दु परम्परा के अनुवर्ती रहे हैं । रंगमंच की उपादेयता के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि 'आदमियों को भी बुराइयों को दूर करने और उनकी अच्छाइयों को चमकाने के लिये यह स्टेज ही शान है । देवी हो या देवता हो, राजा महाराजा या शाहनशाह हो हर देश में हजारों वर्षों से जबसे नाटक की उत्पत्ति हुई है बराबर स्टेज रुपी शान पर चढ़ाकर उनकी खूबियाँ चमकायी जाती है ।[१] फलत: उन्होंने नाट्य रचना के साथ ही उनके रंग-संयोजन पर भी विशेष ध्यान दिया । किन्तु हिन्दी रंगमंच की समृद्ध परम्परा के अभाव में इस युग के समस्त नाटककारों को पारसी रंगमंचों का ही सहारा लेना पड़ा ।

यद्यपि २० वीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक प्रयासों ने हिन्दी नाट्य साहित्य,जो भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् समर्थ नाटककारों एवं सक्षम अभिनेताओं के अभाव में पारसी रंगमंचों की ओर मुड़ गया था, को पुन: गति एवं नवीन दिशा प्रदान करने का प्रयास किया,किन्तु अपनी मौलिक एवं सर्जनात्मक प्रतिभा के अभाव में उनका यह नाट्य-प्रयास 'नाट्यशास्त्र' की रचना तक ही सीमित रहा । इसके माध्यम से उन्होंने नाटककारों को नाट्य-भाषा तथा नाट्य-रचना सम्बन्धी कतिपय निर्देश तो अवश्य दिये किन्तु उससे आगे बढ़कर, रंगमंचीय दृष्टि से, वह हिन्दी नाट्य साहित्य को कोई महत्वपूर्ण योगदान न दे सके । फिर भी माधव शुक्ल तथा

---

१. बी० पी० श्रीवास्तव - 'उलटफेर', पृष्ठ ४

पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे कतिपय सदाम एवं कर्तव्यनिष्ठ अभिनेताओं के व्यक्तिगत प्रयत्नों से हिन्दी का अव्यावसायिक रंगमंच इलाहाबाद तथा काशी आदि स्थानों में छुटपुट रूप से अवश्य चलता रहा लेकिन कुछ ही समय पश्चात् जनता के अपेक्षित सहयोग के अभाव,नाट्य मण्डलियों के पारस्परिक वैमनस्य तथा सरकार के नाट्य विरोधी अधिनियम से निराश होकर उन्हें अपना यह अव्यावसायिक रंग आन्दोलन अतिशीघ्र समाप्त कर देना पड़ा और इस प्रकार एक बार पुन: सम्पूर्ण नाट्य-जगत पर पारसी रंगमंचों का ही अधिकार हो गया । जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पड़ा । फलत: तत्कालीन प्राय: समस्त नाटकों में पारसी रंगमंचों पर प्रयुक्त गीतों, पद्यात्मक संवादों, क्रिया-व्यापारों तथा चमत्कार प्रदर्शनों का खुलकर प्रयोग किया गया । जो हिन्दी रंगमंच की विघटनात्मक परिस्थितियों में नाटकों को प्रभावशाली बनाने तथा जनसामान्य को अपने प्रति आकृष्ट करने का एक सस्ता साधन था । द्विवेदी युगीन प्रहसनों में तो इन पारसी रंगमंचों का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है ।

पद्यात्मक संवादों की प्रचुरता तो द्विवेदीयुगीन प्राय: समस्त नाटकों में ही पाई जाती है । जहाँ तक गीतों का प्रश्न है गीत यद्यपि बहुत अधिक नहीं है लेकिन उनकी अश्लील शब्दावली, समय-असमय का विचार किये बिना गीत गाने की प्रवृत्ति तथा समवेत स्वरों में गाये जाने वाले गीतों के प्रयोग में पारसी रंगत ही दृष्टिगत होती है । इसके अतिरिक्त भावानुभूति की अपेक्षा कार्य-व्यापारों की अधिकता यथा पति-पत्नी में आपस में हाथापाई होना, सब औरतों का मिलकर दरोगा को मारना, पत्नी को मनाने के लिए उसके पैरों पर गिरना, पुरुष का नारी रूप धारण करना इत्यादि हास्यात्मक प्रसंगों की अवतारणा तथा गोले का दगना और परदे का फटकर रंगमहल बन जाना इत्यादि रोमांचकारी दृश्यों की अवतारणा के मूल में पारसी रंगमंचों की हास्यात्मक प्रवृत्ति तथा चमत्कार-प्रदर्शन की भावना ही निहित थी । जिसने नाटक को आकर्षक बनाने के साथ-साथ उन्हें पारसी रंगमंचों के अधिकाधिक समीप ला दिया । यद्यपि अपने इन रंगमंचीय प्रयोगों से उन्होंने नाटकों को अभिनेय बनाने का पूर्ण प्रयास किया, किन्तु उनमें निहित अश्लीलता, अनावश्यक उछल-कूद तथा भाव-गम्भीरता के अभाव में द्विवेदी युगीन इन प्रहसनों को मंचन की दृष्टि से वह महत्त्व न मिल सका जो भारतेन्दुयुगीन प्रहसनों को प्राप्त था ।

यधपि पारसी रंगशैली से प्रभावित इन प्रहसनों के साथ ही `संग्राम` तथा `नेत्रोन्मीलन` इत्यादि साहित्यिक नाटकों की परम्परा भी चल रही थी किन्तु वह भी अपनी विस्तृत दृश्य योजना तथा पात्र-बहुलता के कारण हिन्दी रंगमंच को कोई महत्वपूर्ण योगदान न दे सके। वस्तुत: रंगमंचीयिता अथवा रंग-संयोजन की दृष्टि से द्विवेदी युगीन नाटकों का सबसे बड़ा दोष तो उनकी दृश्य-योजना ही थी, जहाँ नाटककार ने रंगमंच की सीमाओं का अतिक्रमण कर एक-एक अंक में सात-सात,आठ-आठ दृश्यों की योजना की है। इस युग के तो अधिकांश नाटकों में दृश्यों की संख्या १० के ऊपर है। प्रेमचन्द ने तो अपने `संग्राम` नाटक में अति ही कर दी है। इसमें उन्होंने ५ अंकों में ३६ दृश्यों की योजना की है, जिन्हें अतिशीघ्र मंच पर प्रस्तुत करना सम्भव न था और यदि उन्हें किसी तरह प्रस्तुत किया भी जाता तो उनकी दृश्य योजना नाटक को रोचक बनाने की अपेक्षा उसकी गतिशीलता में व्यवधान हीं उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त उनके नाटकीय पात्र भी रंगमंच की सीमाओं की उपेक्षा कर एक ही दृश्य में एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते जाते दिखाये गये हैं। `नेत्रोन्मीलन` में प्रथम अंक के चौथे दृश्य में नाटककार ने सरकारी थाने के दृश्य में एक ही रंगमंचीय पटल पर तीन-तीन दृश्यों की परिकल्पना की है। इसी प्रकार `प्रेम की वेदी` एकांकी में प्रेमचन्द ने भी नाटकीय पात्रों को एक ही दृश्य में एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते दिखाया है, जिसे नाटक में यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना सम्भव न था।

वस्तुत: उनकी इस असंयोजित दृश्य-योजना का सबसे बड़ा कारण तत्कालीन समाज में प्रचलित सिनेमा तथा उपन्यासों का आविर्भाव ही था। जिनकी विस्तृत रंगभूमि ने नाटककारों को भी नाट्य-रचना के लिए विस्तृत आयाम दिया फलत: नाटक अपने माध्यम से रंगमंच की सीमाओं तथा नाट्यान्वितियों की उपेक्षा कर बहुदृश्यीय हो गया। `संग्राम` में खून आत्महत्याओं एवं अन्य कपोलकल्पित घटनाओं की इतनी प्रचुरता है कि नाटक,नाटक न रहकर जासूसी उपन्यास सा बनकर रह गया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन नाटकों में कुछ ऐसे दृश्य भी आये हैं जिन्हें यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की अपेक्षा नेपथ्य अथवा संवादों द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता था। यथा -- `नेत्रोन्मीलन` में त्रिवेणी स्नान का दृश्य, रेलवे प्लेटफार्म पर गाड़ी आने का दृश्य तथा `समाज` में नदी में कूदने का दृश्य इत्यादि। किन्तु यथार्थ रंगदृष्टि के अभाव में नाटककारों का ध्यान रंगमंच की इस असमर्थता की ओर गया ही नहीं

और ऐसे ही अयथार्थ एवं अनभिनेय दृश्यों की सर्जना कर उन्होंने नाटक को धीरे-धीरे रंगमंच से दूर कर दिया।

रंग-संयोजन की दृष्टि से द्विवेदी युगीन नाटकों का दूसरा दोष उनकी पात्र बहुलता तथा संवादात्मक भाषा थी, जो प्रहसनों को छोड़कर तत्कालीन प्राय: समस्त नाटकों में ही पाया जाता है। `नेत्रोन्मीलन` में तो पात्रों की संख्या ६० के करीब पहुँच गयी है। जिसके कारण रंगमंच पर पात्रों की भीड़ तो लग ही जाती है उनका चारित्रिक विकास भी नहीं हो पाता, जो नाटक की रोचकता में एक व्यवधान ही था। इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थितियों में इतने अधिक पात्रों को एकत्रित करना भी एक विषम समस्या थी। अत: समाजोद्धार के महत्वपूर्ण कार्य से प्रेरित होने पर भी एक सुस्पष्ट रंगदृष्टि के अभाव में यह नाटक मंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत न हो सके। और जहाँ तक उनकी भाषा का प्रश्न है यद्यपि वह नाटकीय दृष्टि से सरल एवं स्वाभाविक थी, किन्तु उनके लम्बे संवादों तथा स्वगत कथनों के कारण नाटक की अभिनेयता में बाधा पड़ी है। प्रेमचन्द के नाटकों में तो भाषा का यह दोष उनके उपन्यासकार होने के कारण अनायास ही आ गया है। अत: उनके संवाद प्राय: लम्बे ही हैं इसके अतिरिक्त एक ही बात को काफी विस्तार से कहने तथा तर्क देकर समझाने के कारण उनकी भाषा में पुनरुक्ति दोष भी आ गया है, जो उनके नाटकीयता को समाप्त कर नाटक में उपन्यास का भ्रम उत्पन्न करा देते हैं। नाटकों की अनभिनेयता की ज दृष्टि से इनके नाटकों में एक कमी और खटकती है, वह है उनकी विवरणात्मक भाषा। और यही कारण है कि एक दो स्थलों पर जहाँ पात्र नौकर इत्यादि को बुलाते हैं वहाँ नाटककार ने संवादात्मक भाषा का प्रयोग न कर केवल इतना ही लिख दिया है कि `महाराज को पुकारता है` `चम्पा को बुलाती है`। वस्तुत: कहीं-कहीं प्रेमचन्द यह भूल जाते हैं कि वह उपन्यास लिख रहे हैं अथवा नाटक, क्योंकि नाटक में जो भी संवाद होता है उसे पात्र स्वयं बोलते हैं। इसके विपरीत उन्होंने अपने नाटकों में उपन्यासों की विवरणात्मक भाषा का प्रयोग किया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इस युग के अधिकांश नाटककारों की दृष्टि उनकी अभिनयात्मकता पर ही रही, किन्तु एक सफल रंगदृष्टि

के अभाव में वह हिन्दी रंगमंच के विकास में कोई महत्वपूर्ण योगदान न दे सके। परिणामत: हिन्दी रंगमंच का ह्रास तो हुआ ही, साथ ही रंगमंच के ह्रास के कारण हिन्दी नाटक भी जनसामान्य से दूर होने लगा। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रसाद रचित ऐतिहासिक नाटक है।

वस्तुत: रंगसंयोजन की दृष्टि से प्रसादयुगीन इन ऐतिहासिक नाटकों को यथार्थवादी नाटकों की परम्परा से पृथक् करने का सर्वाधिक दायित्व यदि किसी पर है तो वह है उनके जटिल दृश्य विधान अथवा अव्यवस्थित कथा संगठन पर, जो इतिहास के विस्तृत इतिवृत्त को अपनाने के कारण उनके नाटकों में अनायास ही आ गया है। इसके कारण नाट्य कथा में बिखराव तो आया ही है दृश्यों का भी बाहुल्य है। यों तो उनके समस्त ऐतिहासिक नाटक (ध्रुवस्वामिनी को छोड़कर) इस रंगमंचीय दोष से ग्रसित हैं, किन्तु उसका सर्वाधिक जटिल रूप उनके 'अजातशत्रु' 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा राज्यश्री नाटकों में दिखायी देता है जहाँ उन्होंने एक दो वर्षों की ही नहीं वरन् क्रमश: लगभग ७, ११, २५ तथा ४२ वर्षों की कालावधि को अपनी नाट्य कथा में पिरोया है और इस विस्तृत कथा व्यापार तथा देशकाल भिन्नता के कारण उनके नाटकों का क्रिया-व्यापार भी कथावस्तु के अनुरूप विविध स्थलों पर घटित हुआ, जिसे यथार्थ रूप में रंगमंच पर संयोजित करना दुष्कर प्रतीत होता है। चन्द्रगुप्त नाटक के सन्दर्भ में उनकी इस असफलता के कारणों का उल्लेख करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा भी है कि, 'श्री जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अभिनय में यही कठिनाई पड़ती है कि नाटककार ने एक अन्वेषक की भाँति छोटी से छोटी घटना को भी बहुत बड़ा महत्व दे दिया है और चार अंकों में फैली हुई कथा धूमकेतु की भाँति क्षितिज के छोर को छूने लगती है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य और सिंहरण के कार्यकलाप एक इतिवृत्त की भाँति अंकित है जिसका सम्बन्ध रंगमंच की अपेक्षा इतिहास से अधिक है।'[१]

किन्तु ध्यान से यदि देखा जाय तो उनकी इस असफलता के मूल में उनकी व्यापक रंगदृष्टि ही क्रियाशील थी, जो उनकी समन्वयवादी भावना के कारण एक ओर संस्कृत रंगमंच से प्रभावित थी तो दूसरी ओर पाश्चात्य रंगमंच से। संस्कृत रंगमंच से

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा - 'साहित्य चिन्तन', पृष्ठ १३५

प्रभावित होने के कारण उन्होंने सर्वत्र अपने नाटकों में संस्कृत रंगमंच पर व्यवहृत ऐसे कल्पनापूर्ण दृश्यों की योजना की है 'जहाँ दर्शक जितना देखते हैं उससे अधिक उसमें व्यंजित होता है।'[1] प्रसाद के नाटकों में प्रस्तुत नेपथ्य योजना उनकी इस कल्पनाश्रित रंगयोजना की ही प्रतीक है जहाँ नाट्य व्यापार नेपथ्य में ही घटित हो जाते हैं यथा नेपथ्य में गान, नेपथ्य में रणवाद्य, नेपथ्य में कोलाहल इत्यादि। इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर उन्होंने बहुत से ऐसे दृश्यों की योजना भी की है जो यथार्थ मंच पर घटित होने की अपेक्षा संवादों के माध्यम से ही पाठकों तथा दर्शकों के मस्तिष्क में वातावरण एवं प्रभाव की सृष्टि कर देते हैं यथा --

'महाराज भागिए। महादेवी, हटिए। वह देखिए आग की लपट इधर चली आ रही है। नयी रानी के महल में आग लग गई है।'[2]

और इस प्रकार दृश्यों का महत्व गौण होने के कारण उन्हें यथार्थवादी मंच पर प्रस्तुत करने का प्रश्न ही नहीं उठता ? सम्भवत: उनकी इस दृश्य योजना को लक्ष्य करके ही गोविन्द चातक ने लिखा है -- 'वे दर्शक के मानस पटल पर रंगमंच का विस्तार करने के पक्षपाती थे।'[3] जो अन्तत: उनके नाटकों को किसी यथार्थ रंगमंच से जोड़ने की अपेक्षा पाठ्य नाटकों के गुणों से युक्त कर देते हैं।

यद्यपि संस्कृत रंगमंच के साथ ही उनकी दृष्टि पाश्चात्य रंगमंच के माध्यम से पारसी रंगमंच पर भी थी, जिसके प्रभाव स्वरूप उन्होंने अपने नाटकों में भव्य, आकर्षक एवं कौशलपूर्ण दृश्यों की अवतारणा भी की किन्तु वह अपने भारतीय संस्कारों तथा अहंवादी विचारों के कारण उसे कोई महत्व देने के पक्ष में नहीं थे अत: उन्होंने पारसी रंगमंचों की कृत्रिमता एवं अश्लीलता के साथ-साथ पाश्चात्य रंगमंच पर अभिनीत उनकी यथार्थवादी शैली का भी विरोध किया। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि 'हिन्दी के कुछ अकालपक्व आलोचक, जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है,

---

१. हेनरी डब्ल्यू० वेल्स-- 'दि क्लैसिकल ड्रामा आव इंडिया', पृष्ठ ६६-११४ उद्धृत गोविन्द चातक कृत 'प्रसाद' नाट्य और रंगशिल्प', पृष्ठ २७०।

२. जयशंकर प्रसाद-- 'अजातशत्रु' पृष्ठ ५८

३. गोविन्द चातक-- प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प', पृष्ठ २७०

सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद । युग के पीछे हम चलने का स्वाँग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों में यथार्थवाद अभिनीत होते देखना चाहते हैं ।.... युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सेनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है ।[1] जिसने समय की माँग की उपेक्षा के कारण उनके नाटकों को ही जन-जीवन से विच्छिन्न कर दिया, जो यथार्थवादी नाटकों की मूलभूत आवश्यकता था ।

किन्तु अन्तत: प्रसाद ने अपनी इस भूल को पहचाना, और यही कारण है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में उनका समस्त मौलिक चिन्तन भारतीय रंग रूढ़ियों के विपरीत यथार्थवादी नाट्यकला — जिसे उन्होंने 'इब्सेनिज्म का भूत' और 'वास्तविकता का भ्रम' कहकर नकार दिया था -- के समक्ष नतमस्तक दिखाई देता है । वस्तुत: 'ध्रुव-स्वामिनी' नाटक की रचना तो उन्होंने पूर्णत: यथार्थवादी रंगमंच को दृष्टि में रखकर ही की थी। अत: यहाँ पात्र, अंक, दृश्य, कथा विस्तार तथा संवाद सभी कुछ यथार्थवादी रंगमंच के अनुरूप है । साथ ही उसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा समय, स्थान और कार्य की अन्वितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है । जहाँ युद्ध का दृश्य है वहाँ भी वह दो सेनाओं के बीच न होकर शकराज तथा चन्द्रगुप्त के बीच ही दिखाया गया है जो नाटक की यथार्थ प्रस्तुति में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता । किन्तु बावजूद इस रंगमंचीय स्वाभाविकता के वह अपने नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों को पूर्णत: स्वीकृति नहीं दे सके हैं, जिसके समर्थन में मान्धाता ओझा का निम्न कथन उद्धरणीय है —

'समस्या निरूपण में तर्क और बुद्धि का प्रश्रय लेते हुए तथा रंग-निर्देशों में समस्या नाटक सुलभ यथार्थवादी चित्रण की विशेषताओं का परिचय देते हुए भी प्रस्तुत नाटक के नाट्य शिल्प में नवीन यथार्थवादी रंगमंच विशिष्ट वह स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हुआ है जो आधुनिक अर्थ में समस्या नाटक का ज्ञापक है तथा जिसे सम्प्रति बुद्धि-वादी प्रेक्षक चित्रण की स्वाभाविकता की कसौटी मानता है । आधुनिक बुद्धिवादी प्रेक्षक क्रिया-व्यापार में जिस रंगमंचीय यथार्थवाद और स्वाभाविकता की अपेक्षा

---

१. जयशंकर प्रसाद --'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १०

रखता है, 'ध्रुव स्वामिनी' के नाट्य विधान में वह सुलभ नहीं है ।[1]

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि यद्यपि यह सर्वमान्य एवं निर्विवाद है कि प्रसाद ने अपने नाटकों में युग-यथार्थ को अपनाया है किन्तु भारतीय संस्कृति में गहन आस्था, ऐतिहासिकता के निर्वाह, साहित्यिक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति तथा आदर्शवादी भावुक कविहृदय आदि विशिष्टताओं के कारण उनके नाटकों में यथार्थ की यह पकड़ काफी ढीली ही रही है । उनमें यथार्थवादी चिन्तन तार्किकता एवं बौद्धिकता, जो यथार्थवादी नाटकों की एक महत्वपूर्ण विशेषता मानी गयी है, का प्राय: अभाव ही है । और यही कारण है कि प्रसाद तथा उनके अनुकरण पर लिखे गये समस्त ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों को इस अध्ययन के अन्तर्गत कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है, जो उनकी अवमूल्यना नहीं, वरन् विषय सीमा की विवशता मात्र है ।

निष्कर्ष

द्विवेदी एवं प्रसादयुगीन सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों के सम्यक् विश्लेषण से हम अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यद्यपि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इस युग के समस्त नाटककारों ने भारतेन्दु की भाँति ही युगयथार्थ एवं युगीन जीवन सन्दर्भों को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है, किन्तु भिन्न जीवन दृष्टि से प्रेरित होने के कारण प्रसाद परम्परा के समस्त ऐतिहासिक नाटककार जहाँ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के आश्रय में समसामयिक समस्याओं से प्रत्यक्ष संघर्ष की अपेक्षा अतीत के सुन्दर स्वप्नों में ही सोये रहे हैं, वहीं द्विवेदी युगीन सामाजिक नाटककार भारतेन्दु परम्परा में पोषित यथार्थवादी सामाजिक नाटकों की रचना में प्रवृत्त होकर भी आर्यसमाज की नैतिक मान्यताओं के कारण आदर्शवाद की सीमा से बहुत ऊपर नहीं उठ पाये हैं । उनके नाटकों के अन्त प्राय: आदर्शवादी ही हैं जिनमें उपदेशात्मकता की झलक सर्वत्र दिखाई देती है । अत: उनमें यथार्थ के प्रति भारतेन्दु जैसी सजगता एवं सूक्ष्मता के दर्शन तो नहीं ही होते हैं साथ ही नाटक के प्रति नाटककार की गहन आस्था एवं व्यावहारिक रंगदृष्टि के अभाव में उनमें कलात्मकता

---

१. मान्धाता ओझा -- 'हिन्दी समस्या नाटक', पृष्ठ ६८

का भी अभाव दिखाई देता है। किन्तु विषयों के चयन एवं उनके प्रस्तुतीकरण में नाटककार ने खण्डन-मण्डन एवं तर्कपूर्ण पद्धति को अपनाकर समसामयिक समस्याओं के प्रति सामाजिकों के मन में जिन नवीन एवं क्रान्तिकारी विचारों को स्वर देने का प्रयास किया है वह उनकी यथार्थोन्मुखी दृष्टि का ही परिणाम है। समाज विकास क्रम में जिसकी उपादेयता को जानकर परवर्ती नाटककारों ने प्रसादयुगीन ऐतिहासिक नाटकों की समृद्ध परम्परा के बावजूद हिन्दी नाट्य-जगत में यथार्थवादी नाटकों को जन्म दिया, जिसका पूर्ण विकास नवीन विचारों के आलोक में प्रसादोत्तरकाल में रचित समस्या नाटकों के रूप में हुआ।

-0-

अध्याय ५

प्रसादोत्तर युग

प्रसादोत्तर युग (सन् १६३० से १६४७ ई०) तक)

प्रसाद के आगमन एवं उनके भावुकतापूर्ण ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नाटकों के प्रवर्तन से भारतेन्दु युगीन सामाजिक अथवा यथार्थपरक नाटकों की जो परम्परा कालगति के प्रभाव से असमय ही विलुप्त हो चली थी, युग की परिवर्तित परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं से उद्भूत प्रगतिशील विचारधारा— जो पीड़ित मानवता के उद्धार का बीड़ा उठाकर सम्पूर्ण भारतीय जीवन तथा साहित्य में व्याप्त पतनोन्मुख आदर्शों के प्रति एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में प्रवेश कर रही थी— ने प्रसादोत्तर काल में उसे पुन: गति एवं नवीन दिशा दी। भारतीय जीवन में इस परिवर्तित दृष्टिकोण के उद्गम का एक महत्वपूर्ण कारण पाश्चात्य जीवन एवं जगत में उद्भूत सर्वतोन्मुखी—वैज्ञानिक, वैचारिक, सामाजिक एवं औद्योगिक क्रान्ति थी, जिसने अपनी व्यापकता में सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया।

वस्तुत: बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में पाश्चात्य विचारक फ्रॉयड, डार्विन तथा मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों द्वारा सम्पूर्ण यूरोप में समाज की जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं, रूढ़ियों एवं आस्थाओं के विपरीत जिस नवीन बुद्धि-वादी वैज्ञानिक दृष्टि तथा प्रगतिशील चिन्तन धारा का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा था, उसने परम्परा से चली आती हुई रोमांटिक दृष्टि तथा रूढ़िवादी आदर्श मानसिकता को झकझोर कर विगत की वस्तु बना दिया। जिसका व्यापक प्रभाव तत्कालीन जीवन तथा जगत के अनेक व्यापारों के साथ साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य जगत में तो प्रचलित रोमांटिक धारा के विपरीत एक क्रान्तिकारी कदम उठाया गया, जिसने शोचनीय राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति में आदर्श के परिप्रेक्ष्य में रोमांटिक प्रवृत्ति से व्यक्ति की समस्याओं को सुलझाने के प्रयास को व्यर्थ एवं अव्यावहारिक समझकर वैज्ञानिक समाधानों की आवश्यकता को महसूस किया। नाट्य जगत में जो सर्वप्रथम इब्सन के नाटकों में एक निश्चित मापदण्ड के रूप में दृष्टिगत हुआ। समस्याओं का यह समाधान जीवन के यथार्थ को अपनाये बिना सम्भव न था, अत: इब्सन ने अपने नाटकों में प्रचलित साहित्यिक मानदण्डों की अवहेलना कर सामयिक स्थिति से उद्भूत समस्याओं- व्यक्ति स्वातन्त्र्य, नारी जीवन, मानवता की मुक्ति

और उसके सहज विकास की समस्या को उठाकर समसामयिक सामाजिक जीवन को ही अपने प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार किया जो तत्कालीन परिस्थितियों में एक सर्वथा नवीन प्रयोग था। इब्सन कृत 'डाल्स हाउस', 'पिलर्स आफ सोसायटी', 'घोस्ट्स', 'एन एनिमी आफ दी पीपुल' तथा 'वाइल्ड डक' इत्यादि नाटक उनके इस नवीन दृष्टिकोण के सफल उदाहरण हैं जहाँ उन्होंने नैतिकता एवं सामाजिक न्याय के आधार पर टिकी सड़ी गली सामाजिक मान्यताओं की अनुपयोगिता एवं असमीचीनता सिद्ध कर समाज को नई दिशा में सोचने के लिये विवश किया, साथ ही उन व्यवधानों को भी जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न किया जो अपनी रूढ़िवादिता के कारण मानव जाति के उत्थान में बाधक बनी हुई थी।

इस प्रकार इब्सन के इन सामाजिक नाटकों के माध्यम से नाट्य जगत में प्रचलित रोमांटिक भावना के विपरीत एक नवीन यथार्थवादी परम्परा का सूत्रपात हुआ, जो उनके सहयोगी बर्नार्ड शॉ तथा गाल्सवर्दी के प्रयत्नों से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई पाश्चात्य साहित्य में ही नहीं, विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में यथार्थ के प्रति एक विशिष्ट-बौद्धिक एवं तर्कसम्मत- रुझान के रूप में दृष्टिगत हुई, जिसको स्वीकार करते हुए बुद्धिवादी नाटककार मिश्र जी ने भी लिखा है --"रोमांटिक लेखकों ने यूरोप में शब्दों के सपने में जीवन की सचाई की ओर से आँखें बन्द कर भावनामय भ्रमवाद या मिथ्यावाद का प्रचार किया था। साहित्य और कला के नाम पर सम्भव और असम्भव सब कुछ एक कर डाला था। इसके प्रति विद्रोह की भावना उठी। इब्सन के नाटकों में सबसे पहले जिन्दगी की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या शुरू हुई और उसके बाद बुद्धिवादी लेखकों की नामावली बढ़ने लगी- बाहरी उपकरणों का उपहास कर भीतरी प्रवृत्तियों की चर्चा चली। साहित्य और जीवन के बीच में जो खाई थी उसे भर कर 'जीवन के स्वर' में साहित्य का निर्माण होने लगा।"[1] धीरे-धीरे नाट्य साहित्य में यथार्थ के प्रति जन-सामान्य की यह रुझान इतनी अधिक क्रियाशील हुई कि युगीन समस्याओं से सम्बन्धित समस्या नाटकों की एक अलग परम्परा ही चल पड़ी। जिसके अनुसार समसामयिक जीवन की किसी समस्या विशेष को बुद्धि के धरातल पर स्वीकार कर उसका समर्थन अथवा असमर्थन यथार्थवादी शैली में ही किया जाता था। यों तो हिन्दी

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'मुक्ति का रहस्य' में 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' शीर्षक से, पृष्ठ १५।

साहित्य में यथार्थ के प्रति यह सहज एवं स्वाभाविक रुझान भरतेन्दु युग से ही साहित्य की समस्त विधाओं में क्रियाशील थी किन्तु युग-जीवन एवं युग-यथार्थ से प्रेरित होकर साहित्य की यह नवीन यथार्थवादी परम्परा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों के माध्यम से जिस कलान्दोलन के रूप में हिन्दी साहित्य में प्रविष्ट हुई, वह मूलत: इब्सन तथा शॉ के अनुकरण पर पाश्चात्य साहित्य की ही देन है जो पाश्चात्य अन्धानुकरण की अपेक्षा नाटककार की तीक्ष्ण सजग एवं युग व्यापी दृष्टि का परिणाम थी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि हर-युग का साहित्यकार अपने युग के प्रवाह से प्रेरित एवं संचालित होता है। अत: हिन्दी साहित्य भी इस युगीन मानसिकता एवं जीवन दृष्टि--जो व्यापक रूप में बौद्धिक क्रान्ति अथवा प्रगतिशील आन्दोलन के रूप में पश्चिम से आयातित होकर स्वप्नलोक में विचरते मानव को युग-यथार्थ के प्रति आकृष्ट कर रही थी- से अप्रभावित न रह सका और सर्वत्र पाश्चात्य साहित्य की भाँति युग-यथार्थ से प्रेरित होकर यथार्थवादी सामाजिक नाटकों की रचना की गई। जिसके प्रथम प्रणेता लक्ष्मी नारायण मिश्र माने जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में रचित उनके सामाजिक नाटकों की तो मूल प्रेरणा ही युगीन मानसिकता एवं बुद्धिवादी तथा वैचारिक चेतना थी, जिसने भारत की समान सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में प्रसाद युगीन आदर्शवादी एवं स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की अस्तित्व-हीनता तथा निरर्थकता को जानकर सामाजिक जीवन एवं जीवन की समसामयिक समस्याओं को यथार्थ के धरातल पर ही बुद्धि एवं विवेक के द्वारा सुलझाने का प्रयास किया। यद्यपि अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में वह स्वयं प्रसाद की भावुकतापूर्ण प्रवृत्ति से प्रेरित एवं प्रभावित थे किन्तु पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के उपरान्त वह स्वयं उसकी अनुपयोगिता समझकर यथार्थवादी सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट दिखाई देते हैं। इस सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि "छायावाद के नाम से जो चीज आज दिन बाजार में चल रही है उसका अधिकांश वासना का नग्न विलास है।" अथवा "जीवन में जो कुछ चिरंतन है उसका अनुभव कर हमारे लेखक और कवि किसी ऐसे जीवन का निर्माण कर रहे हैं जो अपने प्रभात से लेकर अपनी सन्ध्या तक निरन्तर मिथ्या है। कल्पना की सफलता वहीं तक है जहाँ तक कि यह जीवन के चिरन्तन सत्य तक पहुँच सकती है, किन्तु वह कल्पना जो मनुष्य को जीवन के सत्य से हटाकर उसे निरन्तर भ्रम और मिथ्या की ओर ले चले, स्तुत्य नहीं हो सकती।"[1] जो उन पर नवोद्भूत प्रगतिशील एवं बुद्धिवादी

---

१. 'विशाल भारत' मार्च १६२६ 'हमारे साहित्य में निन्दनीय' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत।

दृष्टि का प्रभाव था । और अपने इन्हीं यथार्थपरक विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने प्रसाद की ऐतिहासिक नाट्यधारा को युगीन सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ने का प्रयास किया। जिसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने `संन्यासी` नाटक की भूमिका में लिखा भी है "जिसे जीवन की कल्पना करनी है - जीवन का निर्माण करना है - जीवन की अभिव्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ता । व्यक्ति के जीवन पर देश और काल की समस्याओं का प्रभाव पड़ता है । जिन सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के भीतर हमारी आत्मा आज छटपटा रही है,यदि हम चाहें भी तो उनका समावेश इतिहास के महान् चरित्रों में नहीं करा सकते । इस कारण हारकर हमें सामाजिक चरित्रों को कल्पना करनी पड़ेगी, मैंने यही किया है । चन्द्रगुप्त और अशोक, बोनापार्ट और कैसर के दिन चले गये । अब उस रोशनी की जरूरत नहीं,जो आँखों को चकाचौंध पैदाकर किसी ओर देखने नहीं देती । जरूरत है उस रोशनी की जिसका कि सहारा लेकर हम कुछ दूर आगे बढ़ सकें ।"[१] उनका सम्पूर्ण नाट्य साहित्य उनके इस परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रमाण है,जिसने आगे चलकर उन्हें यथार्थ दृष्टि के प्रणेता एवं व्याख्याता के रूप में प्रतिष्ठित किया । इनके पश्चात् ही उदय-शंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, पृथ्वीनाथ शर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, बेचन शर्मा उग्र आदि सामाजिक नाटककारों की एक लम्बी शृंखला नाट्य-जगत में अवतीर्ण हुई,जिसने युगीन सामाजिक समस्याओं को अपना प्रतिपाद्य बनाकर, समस्याओं का यथा-सम्भव बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया ।

यद्यपि इन सामाजिक नाटकों के साथ ही हरिकृष्ण प्रेमी,जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, सेठगोविन्ददास, डा० रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क,लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा बेचन शर्मा उग्र के ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सांस्कृतिक नाटकों के रूप में प्रसाद की ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाट्य परम्परा भी अक्षुण्ण रही, किन्तु प्रगतिशीलता के इस दौर में इन ऐतिहासिक नाटकों का स्वर अपेक्षाकृत काफी मन्द होता चला गया । अधिकांश नाटककार तो ऐतिहासिक नाटकों को छोड़कर पूर्णतः सामाजिक क्षेत्र में ही उतर आये हैं । साथ ही जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गये उनमें भी प्रसाद जैसी भावुकता,

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र `संन्यासी` `अपने आलोचक मित्र से` शीर्षक, पृष्ठ २ ।

दार्शनिकता एवं ऐतिहासिक दृष्टि का सर्वथा अभाव था । हरिकृष्ण प्रेमी जो इस युग में प्रसाद परम्परा के एकमात्र वाहक माने जाते हैं वह भी अपने साम्यवादी,समाजवादी एवं मानवतावादी विचारों के कारण प्रसाद की आदर्शवादिता एवं भावप्रवणता की अपेक्षा युगीन सामाजिक एवं बुद्धिवादी चेतना से प्रभावित दिखाई देते हैं,वरन् सत्य तो यह है कि अपने इन ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से वह प्रसाद की ऐतिहासिक धारा को युगानुकूल मोड़ने के लिये प्रयत्नशील दिखाई देते हैं । जिसकी चरम परिणति उनके सामाजिक नाटक हैं ।`बन्धन` की भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है `इतिहास का मोह मुझे अब भी है,किन्तु समाज मुझसे दूर नहीं है । मैंने बहुत बड़ा मोल देकर समाज का जो चित्र देखा है वह पाठकों के सामने नहीं ला पाया हूँ । इतिहास में मैं अपने आपको पूर्ण रूप से नहीं दे सकता था । समाज का चित्र खींचते समय मुझे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है । सामाजिक नाटकों में मैं अधिक स्पष्ट रूप से आ सकूँगा, इसका मुझे विश्वास है ।`[१] जो उन पर पड़े युगीन प्रगतिवादी यथार्थ चेतना के प्रभाव को ही द्योतित करता है । युगीन मानसिकता का यही युगान्तरकारी प्रभाव पन्त, निराला आदि अन्य साहित्यकारों में भी दिखाई देता है और यही कारण है कि उनकी परवर्ती रचनाएँ -- युगान्त, युगवाणी,ग्राम्या तथा कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला और नये पत्ते -- छायावादी युग की कल्पनाशीलता एवं भावुकता के विपरीत युग-यथार्थ की प्रगतिशील सामाजिक चेतना को ही ग्रहण करती दिखाई देती है ।

यों तो हिन्दी साहित्य में यह प्रगतिशील सामाजिक चेतना सन् १९१७ में घटित रूसी समाजवादी क्रान्ति के परिणामस्वरूप स्वच्छन्दतावादी युग में ही, प्रसाद के समकालीन लेखक मुंशी प्रेमचन्द के कथा साहित्य में एक निश्चित रूपाकार प्राप्त कर चुकी थी, किन्तु एक प्रखर वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टि के अभाव में उनका समस्त यथार्थवादी चिन्तन आदर्शात्मकता एवं सुधारवाद से ओत-प्रोत था । उनके चरित्र भी भारतीय आदर्शों की रक्षा करते हुए क्रान्ति की अपेक्षा राजनीतिक समझौतावादियों की भाँति पुरानी व्यवस्था में ही सुधार एवं परिष्कार के समर्थक थे, जो उन पर युगीन गान्धीवादी आदर्शों का प्रभाव था । किन्तु धीरे-धीरे देश के बढ़ते हुए साम्राज्यवादी

---

१. `हरिकृष्ण प्रेमी` `बन्धन` `झाँकी` शीर्षक पृष्ठ ५ ।

सामन्तवादी एवं पूँजीवादी शोषण में उन्हें अपने ये गान्धीवादी आदर्श ढहते हुए प्रतीत हुए और उन्होंने अपने सिद्धान्तों एवं विचारों का मूल्यांकन एवं पुन: परीक्षण किया। उनका 'गोदान' उनके इस परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष उदाहरण है जहाँ उनके चरित्र आदर्श के पुतले न रहकर यथार्थ की सजीव प्रतिमा के रूप में उपस्थित हुए हैं। उपन्यास का नायक होरी एक ऐसा ही यथार्थ चरित्र है जो युग सत्य से परिचित होकर आदर्शों में विश्वास न कर अकेले ही जीवन से संघर्ष करता हुआ अपनी जीवनलीला समाप्त कर देता है। इस प्रकार युग-सन्दर्भों के बदलने पर नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना हुई और साहित्य ने भी युगानुरूप नया रूप धारण किया। प्रेमचन्द्रोत्तर अथवा प्रसादोत्तर युग का सम्पूर्ण साहित्य युग सन्दर्भों के परिवर्तन का एक ऐसा प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से साहित्य एक नवीन मोड़ लेता है। इस समय तक आकर युगीन शोषण से संत्रस्त बुद्धिवादी समाज यह अनुभव करने लगा था कि पुरातन आदर्श वर्तमान जीवन की दशा सुधारने में समर्थ नहीं है, किन्तु दूसरी ओर उसके प्राचीन संस्कार उसे उनसे पूर्णत: मुक्त भी नहीं होने दे रहे थे। अत: नये और पुराने में एक संघर्ष छिड़ा हुआ था, जिसका बौद्धिक विश्लेषण ही इस युग के साहित्यकारों का मुख्य उद्देश्य रहा है। साहित्य की इसी युगीन आवश्यकता को स्वर देते हुए बुद्धिवादी नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने एक स्थान पर लिखा है --'सभ्यता की जटिलता के साथ-साथ मनुष्य का जीवन भी जटिल होता जा रहा है। समाज और साहित्य में, धर्म और सदाचार में उखाड़ने और बैठाने की क्रिया चल रही है। मनुष्य रूढ़ियों के अन्धकार से निकलकर विवेक के प्रकाश में आ रहा है। लोग समझ रहे हैं कि बीते जमाने में धर्म और सदाचार के नाम पर अधर्म और दुराचार हो गए थे। इसलिये यह युग बुद्धिवाद की वकालत करता है।'[१]

इस प्रकार प्रसादोत्तर काल में लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों के माध्यम से हिन्दी साहित्य में जिस नवीन प्रगतिशील बुद्धिवादी सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ वह मूलत: उस पूर्व प्रचलित प्रेमचन्द्रयुगीन सामाजिकता से भिन्न पाश्चात्य नाटककार इब्सन तथा शॉ की साहित्यिक उपलब्धियों का ही

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'मुक्ति का रहस्य' भूमिका, पृष्ठ १३।

परिणाम है, जिसने इब्सन की ही भाँति प्रतिविरोधी धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं, शोषक चरित्रों तथा सामाजिक रूढ़ियों एवं मान्यताओं के विरुद्ध व्यापक बौद्धिक क्रान्ति का आह्वान कर मानव मुक्ति के द्वार को सदा के लिये खोल दिया । जिसे मार्क्स तथा एंगेल्स की क्रान्तिकारी दार्शनिक भौतिकवादी तथा समाजवादी चिन्तना, जो १९३०-३१ के आस-पास राष्ट्रवादी नेताओं तथा बुद्धिजीवियों के संगठित प्रयास से प्रगतिवादी आन्दोलन के रूप में भारतीय जीवन तथा साहित्य में सक्रिय हो रही थी, ने विशेष रूप से प्रभावित किया । और इसके क्रमशः विकास और व्याप्ति ने ही देश के सामाजिक और बौद्धिक जीवन को यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़ाकर भारतीय साहित्य में यथार्थवादी परम्परा को पुष्ट करने का प्रयास किया । जो हिन्दी साहित्य को प्रगतिवाद की एक महान् उपलब्धि थी ।

अतः स्पष्ट है कि यथार्थवादी कलान्दोलन के रूप में अभिव्यक्तिकरण की इस नवीन वैज्ञानिक प्रणाली का सूत्रपात सन् ३० के करीब प्रगतिवादी आन्दोलन के क्रियाशील होने पर हुआ, जिसने छायावादी युग की आत्म चिन्तना एवं काल्पनिकता के विपरीत सामाजिक जीवन एवं युग-यथार्थ को महत्व देते हुए प्रसादयुगीन आत्मोन्मुखी साहित्य को वस्तून्मुखी बनाया । इस प्रकार साहित्य जगत में सामाजिक एवं यथार्थ जीवन सन्दर्भों के ग्रहण का बाहुल्य तो हुआ ही उसकी उपादेयता को समझते हुए इसके समुचित प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से, एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में १९३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना भी की गई । जिसने भारत की संक्रान्तिकालीन परिस्थितियों में दिग्भ्रमित साहित्यकारों को उनके दायित्व के प्रति सचेत कर उन्हें अपने युग से जुड़ने तथा जीवन की समस्याओं को यथार्थ रूप में प्रकाशित करने का संदेश दिया । संघ के इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए सन् १९३५ के घोषणा पत्र में कहा गया था कि --'हमारा नया साहित्य वास्तव और प्राकृतिक को छोड़कर अवास्तव और आध्यात्मिक की ओर जा रहा है । जमीन का आश्रय छोड़ कल्पना का आश्रय खोज रहा है । इस कारण उसकी रचना शैली बंधे नियम के भयानक जाल में फँस गई है । उसकी भावधारा शून्य और विकारग्रस्त हो रही है । हमारा समाज जो नया रूप धारण कर रहा है, उसको साहित्य में प्रतिबिंबित करना, और वैज्ञानिक युक्तिवाद को साहित्य में प्रतिष्ठा करना, प्रगतिशील चिन्ताधारा को वेगवती करना-- यही

हमारे लेखकों का कर्तव्य है ।[1] जिससे यथार्थवादी आन्दोलन को एक विशेष सम्बल प्राप्त हुआ और युगीन सामाजिक समस्याओं के प्रति छिटपुट रूप से क्रियाशील साहित्यकार अब संगठित रूप में एकजुट होकर साम्राज्य विरोधी सामन्त-विरोधी साहित्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए । जिसे देश में उठते हुए दलित किसान एवं मजदूर वर्ग के सामाजिक आन्दोलनों ने और अधिक व्यापक एवं गतिशील बनाया । फलत: सम्पूर्ण भारतीय जीवन में व्यक्ति स्वातन्त्र्य, सामाजिक क्रान्ति, वर्ग संघर्ष तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता का स्वर प्रमुख हो उठा और साहित्यकारों की प्रखर दृष्टि से अनुप्राणित होता हुआ तत्कालीन साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य बना ।

यों तो प्रसाद का सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य भी युगीन राष्ट्रीय जागरण एवं स्वातन्त्र्य प्रेम की भावना से ओतप्रोत दिखाई देता है किन्तु प्रसादोत्तर काल में राष्ट्रीय जागरण का वह प्रसादयुगीन आदर्शवादी स्वर, जिसे प्रसाद ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिप्रेक्ष्य में अपने नाटकों का मूलाधार बनाया था युगदृष्टि के बदलने पर अपने अस्तित्व की अर्थहीनता को जानकर सामाजिक एवं यथार्थ जीवन से जुड़ गया । फलत: प्रसादोत्तर कालीन अधिकांश नाटककारों ने ऐतिहासिक एवं आदर्श चरित्रों की अपेक्षा युग-जीवन के सामान्य चरित्रों एवं उनके जीवन की समस्याओं, जिनके कारण हमारा देश अवनति की ओर बढ़ रहा था, को चित्रित कर अपनी-अपनी राष्ट्रीय भावना का पोषण किया । इस सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि 'आज हमें मात्र सान्त्वना नहीं चाहिये, हमें आलोचना की भी आज काफी आवश्यकता है । आज हम एक परिवर्तन काल से गुजर रहे हैं और अपने अतीत का गुणगान करने के बदले हमारे लिए आवश्यक है, कि हम अपने भविष्य की चिन्ता करें । समाज की कुरीतियों को दूर करके उसे स्वस्थ बनाते हुए उन्नति के पथ पर ले जाएँ ।[2] परिणाम यह हुआ कि इस युग में ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा समसामयिक जीवन पर आधारित नाटक ही अधिक लिखे गये । जिनका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है --'ऐसे नाटकों का उद्देश्य होता है समाज अधिकतर जैसा है वैसा ही सामने रखना, उसके भीतर की नाना विषमताओं से उत्पन्न प्रश्नों का

----

१. डॉ० हीरेन्द्र मुखर्जी 'नया साहित्य' सितम्बर १९५१

२. उपेन्द्रनाथ अश्क, 'स्वर्ग की झलक' भूमिका, पृष्ठ ख

जीता जागता रूप खड़ा करना तथा यदि सम्भव हो तो समाधान के स्वरूप का भी आभास देना ।'[1] जो सर्वप्रथम लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में एक निश्चित रूपाकार प्राप्त करता है । मिश्र जी का तो सम्पूर्ण प्रयास ही अपने युग को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना था जिसकी घोषणा करते हुए उन्होंने कहा भी था --'मैं जिस वातावरण में हूँ वह मेरे हृदय और मेरी आत्मा के अनुकूल नहीं है । मैंने जो अनुभव किया है देखा है उसे इस नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ । यथार्थ ज्यों का त्यों ईमानदारी के साथ ।'[2] यद्यपि मिश्र जी से पूर्व भारतेन्दु युगीन नाटकों में भी नाटककार युग-यथार्थ के प्रति सच्चाई अथवा ईमानदारी के प्रति सचेष्ट रहे हैं । और उन्होंने भी समसामयिक समस्याओं को आधार बनाकर कतिपय समस्यात्मक नाटकों की रचना की किन्तु फिर भी दोनों के उद्देश्य में एक मूलभूत अन्तर था, वह यह कि भारतेन्दु युगिन नाटककार ने जहाँ जीवन सत्य को उसकी सम्पूर्ण वास्तविकता में चित्रित कर उनका आदर्शपरक समाधान प्रस्तुत किया है अथवा उनसे बचने के उपाय बताये हैं वही प्रसादोत्तरकालीन इन बुद्धिवादी नाटककारों ने उन समस्याओं के भीतर तक प्रवेश कर तथा उनके कारणों को खोजकर सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । स्वयं मिश्र जी के शब्दों मे, 'सचाई जो है, जिस रूप में है, उसे तो वह स्वीकार कर लेता है, लेकिन उस पर कितने बेठन चढ़े हैं-- उसे कितने कपड़े और गहने पहनाये गये हैं - वह कितनी जंजीरों से बाँधी गयी है, इन बातों को वह स्वीकार नहीं करता ।'[3] और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति में उन्होंने समाज में व्याप्त मिथ्या धर्म, नैतिकता, सदाचार, शिक्षा, नियम, कानून तथा सभ्यता इत्यादि बेठनों अर्थात् आवरणों का भण्डाफोड़ कर युग यथार्थ को निष्पक्ष दृष्टि से देखने का प्रयास किया है । वस्तुत: इनकी आड़ में समाज में जो दुष्कर्म हो रहे थे उनका उद्घाटन ही इन नाटककारों का मुख्य उद्देश्य रहा है । 'राक्षस का मन्दिर' नाटक में उन्होंने देश के कामुक एवं स्वार्थी समाज सुधारकों के व्यक्तित्व उद्घाटन के इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा भी है --'जिनके सदाचार का स्वरूप सड़क पर दूसरे तरह का और कमरे में दूसरे तरह का है, यह नाटक मैंने उन्हीं की मुक्ति के लिए

---

१. रामचन्द्र शुक्ल -'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५५५

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'सन्यासी' 'अपने आलोचक मित्र से' शीर्षक, पृष्ठ ५

३. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'मुक्ति का रहस्य', 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' शीर्षक, पृष्ठ ३ ।

लिखा है ।[1] जो प्रत्यक्षतः उन पर पाश्चात्य साहित्य में प्रतिफलित वैज्ञानिक बुद्धिवाद का ही प्रभाव था । इसके साथ ही इस समय जो समस्या नाटक लिखे जा रहे थे उनमें मनोविश्लेषण की प्रधानता थी,जो मूलतः पाश्चात्य विचारक फ्रॉयड की मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों का ही परिणाम था ।

अतः स्पष्ट है कि युग-जीवन एवं युग-यथार्थ से प्रेरित एवं प्रभावित होते हुए भी प्रसादोत्तरकालीन ये नाटक अपने बुद्धिवादी प्रदेय में पाश्चात्य साहित्य की ही देन है । तत्कालीन नाटकों का रचना विधान, समस्या का स्वरूप एवं प्रस्तुतिकरण तथा चरित्रों का स्वाभाविक विकास इत्यादि सभी कुछ उनके पाश्चात्य प्रभाव को ही संकेतित करते हैं,किन्तु यह भी सत्य है कि उनके नाटक पाश्चात्य नाटकों के अन्धानुकरण मात्र नहीं थे । समस्या निरूपण के सम्बन्ध में अपने ऊपर लगे पाश्चात्य प्रभाव के आरोप को नकारते हुए उन्होंने कहा भी है कि बरनर्ड शॉ का अनुकरण भारत में सम्भव नहीं । बरनर्ड शॉ की सूखी विवेक और तर्क की प्रणाली आध्यात्मिक अनुभूति को समझने में सफल न हो सकी । पश्चिम और पूर्व के जीवन में अन्तर है ।[2] जो मूलतः उन पर पड़े भारतीय चिन्तन एवं आदर्शों का ही प्रभाव था और यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों में जो समाधान दिये हैं वह भी पाश्चात्य बुद्धिवादियों की अपेक्षा भारतीय आदर्शों के ही अधिक निकट है । चिरन्तन नारीत्व के प्रश्न को लेकर विधवा विवाह का विरोध करना, शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा मानसिक वरण को श्रेयस्कर मानना तथा जीवन में आये प्रथम पुरुष को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर देना इत्यादि के मूल में उनके भारतीय आदर्श एवं संस्कार ही क्रियाशील प्रतीत होते हैं जो प्रतिपाद्य में समानता रखते हुए भी उन्हें पाश्चात्य बुद्धिवादियों की श्रेणी से अलग ही रखते हैं । इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता से उत्पन्न असंगतियों के चित्रण का उद्देश्य भी भारतीय संस्कृति अथवा आदर्शों का समर्थन करना ही था । किन्तु इसका आशय यह भी नहीं कि वह भारतीय रूढ़ियों के समर्थक थे वरन् सत्य तो यह है कि बौद्धिक चेतना के उत्कर्ष के कारण समस्या समाधान के सम्बन्ध में उनके अपने निश्चित मत एवं सिद्धान्त थे जिनका उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है --`हमारे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का आधार अन्धविश्वास या परम्परागत रूढ़ियों का निर्वाह न होकर हमारी

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `राक्षस का मन्दिर`, भूमिका पृष्ठ ५-६
२. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `सन्यासी` `अपने आलोचक मित्र से` शीर्षक पृष्ठ १

आत्मा की अनुभूति की अभिव्यक्ति होनी चाहिये ।[१] अत: स्पष्ट है कि पाश्चात्य जीवन एवं जगत से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने पाश्चात्य विचारों को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह भारतीय संस्कारों एवं मान्यताओं के सहायक होकर आये हैं । और अन्तत: अपने इन नवीन विचारों की अभिव्यक्ति ही उनके नाटकों का मुख्य उद्देश्य रहा है । मिश्र जी के नाटकों के प्रतिपाद्य की इसी द्विविधात्मक स्थिति को लक्ष्यकर डा० बच्चन त्रिपाठी ने लिखा है --'तत्कालीन साहित्य के स्वच्छन्दतावादी वातावरण में बुरी तरह घिरे होने पर भी मिश्र जी ने यथार्थवादी नाटकों के प्रति जो रुचि दिखाई, उसकी प्रेरणा 'शा' के नाटकों से मिली, परन्तु उन्होंने इब्सन या शा के प्रतिपाद्य का अनुकरण नहीं किया, उनके विचारों की चोरी नहीं की अथवा पश्चिम की नई सामाजिक रीतियों को अपनाने की अपील नहीं की बल्कि पश्चिमी विचारकों के मतों की युगानुरूपता, उनके सिद्धान्तों की सामाजिक उपादेयता तथा उनकी स्थापनाओं का सामयिक औचित्य सराहते हुए अपने स्वतन्त्र भावों विचारों एवं रचना तत्वों के बंधान में युग सत्य एवं जीवन सत्य को बाँधने की चेष्टा की है ।[२] और मूलत: संक्रान्तिकाल की यह द्विविधात्मकता ही प्रसादोत्तर कालीन यथार्थवादी नाटकों की प्रमुख विशेषता बनी, जिसे युग यथार्थ की संघर्षशील परिस्थितियों के सानिध्य में प्राय: समस्त नाटककारों ने एक सन्तुलित एवं आधारभूत दृष्टि के रूप में स्वीकार किया।

किन्तु यहाँ एक बात दृष्टव्य है कि प्रगतिशीलता के उस दौर में जबकि अधिकांश भारतीय साहित्यकार नवागत मार्क्सीय अर्थात् प्रगतिवादी समाजवादी चेतना से प्रेरित एवं प्रभावित होकर तत्कालीन साहित्य मुख्यत: कविता तथा कहानी में ज्वलन्त समसामयिक सामाजिक समस्याओं -- वर्ग संघर्ष, जातीय एवं राष्ट्रीय एकता को उठाकर भारत में फैले साम्राज्यवाद, सामन्तवाद एवं पूँजीवाद की अमानवीयताओं के प्रति अपने हृदगत असन्तोष को व्यक्त करने में संघर्षरत थे वहीं इन यथार्थवादी नाटककारों, जिनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रमुख थे, ने फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त से प्रभावित होकर, जनसामान्य की उपेक्षा कर उच्च मध्यवर्ग के व्यक्तिमन की कुंठाओं

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र --'मुक्ति का रहस्य' 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' शीर्षक पृष्ठ २ ।

२. डॉ० बच्चन त्रिपाठी -'हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र' पृष्ठ २४६-५०।

एवं काम चेष्टाओं को ही अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया, जो यद्यपि नाटककार पर पाश्चात्य प्रभाव था किन्तु ध्यान से यदि देखा जाय, तो इसका मूल कारण भी उनका संक्रान्ति कालीन युग यथार्थ ही था। वस्तुत: जहाँ मनुष्य एक ओर वैज्ञानिकता, बौद्धिकता एवं जागरण की दिशा में अग्रसर होकर नवीन मूल्यों के प्रति सजग हो रहा था वहीं दूसरी ओर परम्परागत मूल्यों से भी वह सर्वथा मुक्त न हो सका था वरन् नवीन का समर्थन करते हुए भी प्राचीन आदर्शों एवं मूल्यों के प्रति लोगों के मन में आस्था एवं मोह का भाव था, जिसने मानव जीवन को अत्यन्त विषमय एवं विश्रृंखल कर दिया था। युग जीवन के इस द्विविधापूर्ण संक्रान्तिकालीन यथार्थ से क्षुब्ध होकर ही उन्होंने अपने नाटकों में उपरोक्त स्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर समसामयिक समस्याओं का बुद्धिवादी समाधान खोजने का प्रयास किया है। युगीन समस्याओं के सम्बन्ध में स्वयं मिश्र जी की धारणा थी कि 'संसार की समस्याएँ ... जिनके लिए आज इतना शोर मचा हुआ है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकती – वे पैदा हुई है बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धिवाद से ही मिलेगा।'[1] अत: तत्कालीन अधिकांश नाटकों में समस्या का यह बुद्धिवादी चिन्तन एवं समाधान ही प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकृत हुआ है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण नाट्य विधा की अपनी सीमाएँ ही थीं। कारण, काव्य, कहानी, उपन्यास की रचना करते समय साहित्यकार के समक्ष केवल विचार ही प्रधान होता था जिसे वह अपने विचारानुकूल मनमाना रूप अथवा विस्तार दे सकता था, किन्तु दृश्यत्व से सम्बन्ध रखने के कारण नाटककार के समक्ष प्रस्तुतिकरण का एक ऐसा बन्धन था जिसका अतिक्रमण नाटक के लिए सम्भव न था, साथ ही तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में सरकार के प्रति उग्रतापूर्ण क्रान्तिकारी विचारों का प्रस्तुतिकरण एक दुष्कर कार्य भी था। अत: अधिकांश नाटककारों ने अपने बुद्धिवाद का प्रयोग मुख्यत: वैयक्तिक समस्याओं के विश्लेषण तक ही सीमित रखा। और चूँकि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान एवं शिक्षा से प्रभावित होने के कारण बुद्धि का यह व्यापार सामान्य जन-जीवन की अपेक्षा पढ़े लिखे लोगों में ही अधिक सक्रिय था अत: प्रसादोत्तर कालीन इन यथार्थवादी नाटककारों ने सामान्य भारतीयों की अपेक्षा कुछ पढ़े लिखे तथा अपने को प्रगतिशील कहलाने वाले उच्च मध्यवर्गीयों के समस्यानुकूल जीवन को ही अपने नाटकों का प्रतिपाद्य

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र — सिन्दूर की होली ; पृष्ठ ४६

बनाया और यही कारण है कि युग यथार्थ से प्रेरित होते हुए भी उनमें वह गतिशीलता एवं सक्रियता जो प्रगतिशीलता के नाम पर तत्कालीन साहित्य की प्रमुख विशेषता थी, का सर्वथा अभाव रहा है ।

बौद्धिकता को प्रश्रय देने के कारण इन यथार्थवादी नाटककारों ने समाज की जिन समस्याओं को अपने नाटकों में प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार किया उनमें प्रमुख थीं नारी अथवा सैक्स, जो सामाजिकों की बौद्धिक क्रियाशीलता के कारण स्वयं उनके तथा समसामयिक सामाजिक जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण समस्या बन गई थी । वस्तुत: उच्चमध्यवर्ग में जहाँ एक ओर धनाधिक्य के कारण भोगविलास का बाहुल्य था तथा नारी पुरुषों के उपभोग का साधन मानी जाती थी वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा तथा प्रगतिशील विचारों के प्रभाव स्वरूप नारी भी जागरण की स्थिति में आ रही थी । पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के प्रभाव में उसे अपने सामाजिक आदर्श अरुचिकर एवं अमान्य प्रतीत हुए और उसने उनके विरुद्ध एक व्यापक संघर्ष छेड़ दिया । प्रगतिशीलता के इस दौर में सर्वप्रथम नाटककारों की दृष्टि नारी की इस विकासोन्मुखी स्थिति की ओर गयी और सभी ने युग-युग से परतन्त्र नारी के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए नारी की इस विवादग्रस्त स्थिति को ही अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया । हिन्दी साहित्य जगत में यथार्थवादी नाटकों के प्रणेता मिश्र जी के नाटकों का तो मुख्य प्रतिपाद्य ही नारी जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का एक प्रयास है, जिसमें कहीं प्रेम और विवाह का द्वन्द्व है तो कहीं स्त्री-पुरुष की चिरन्तन कामवासना का अंकन और कहीं वैवाहिक विषमता का चित्रण । यद्यपि इस मूल व्यक्तिगत समस्या के अतिरिक्त वर्तमान जीवन की अन्य समसामयिक समस्याएँ यथा आधुनिक शिक्षा, तत्कालीन राजनीतिक जीवन एवं गाँधीवाद, अछूतोद्धार, खादी प्रेम, चुनाव, न्याय और कानून की अव्यवस्था तथा मिथ्या समाज सुधार की ओट में पनपती सामाजिकों की स्वार्थ नीति भी उनके दृष्टिका में आयी, मानव मात्र की सामाजिक स्वतन्त्रता के क्रम में जिसका यथार्थोद्घाटन उन्होंने अपने नाटकों में यथास्थान किया है किन्तु समस्या के मूल तक पहुँचने के लिये नाटककार हृदय का यह आक्रोश मुख्यत: वैयक्तिक स्तर पर ही अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें बुद्धिवाद के प्रभावस्वरूप तर्क वितर्क एवं चिन्तन का ही अतिरेक दिखाई देता है ।

मिश्र जी के साथ ही युगीन बुद्धिवादी चेतना से प्रभावित होकर

उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठगोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, पृथ्वीनाथ शर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, वृन्दावनलाल वर्मा, बेचन शर्मा उग्र प्रभृति कतिपय अन्य नाटककार भी नाट्य क्षेत्र में प्रवृत्त हुए और उन्होंने भी मिश्र जी की भाँति समसामयिक जीवन की व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं को अपने प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार कर यथार्थवादी नाटकों की रचना की किन्तु उनकी विशेष रुझान व्यक्तिगत समस्याओं की अपेक्षा सामाजिक समस्याओं के प्रति ही रही है साथ ही उनमें सेक्स का वह अतिरेक भी नहीं दिखाई देता जो मिश्र जी के नाटकों की मूल विशेषता थी । वरन् ध्यान से यदि देखा जाए तो थोड़े से नाटकों को छोड़कर उनकी नाट्य रचना का अधिकांश तत्कालीन राजनीति अथवा सामाजिक जीवन से ही प्रतिबद्ध है जो कहीं हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को लेकर साम्प्रदायिक एकता के रूप में अभिव्यक्त हुआ है तो कहीं देश की आन्तरिक सामाजिक एवं राजनैतिक अव्यवस्था और कहीं पारिवारिक विघटन के रूप में। और वस्तुत: नाटकों आगत समस्या के इस बाह्य रूप ~~और वस्तुत: नाटकों~~ तथा समस्या विश्लेषण के सन्दर्भ में नाटककार की व्यक्तिगत रुझान को देखकर ही प्रस्तुत अध्याय में नाटकों का अध्ययन भी प्राय: दो रूपों में किया गया है —

१. व्यक्तिगत समस्याश्रयी नाटक ।

२. सामाजिक समस्याश्रयी नाटक ।

१. व्यक्ति समस्याश्रयी नाटक

यद्यपि इस वर्ग के अन्तर्गत आगत नाटकों की समस्याएँ भी अपने मूल रूप में समाज की ही समस्याएँ हैं तथा उनकी उत्पत्ति का कारण भी अन्य सामाजिक समस्याओं की भाँति ही तत्कालीन समाज की युगीन रूढ़िवादी एवं प्रगतिवादी मान्यताओं का द्वन्द्व ही है, किन्तु उनका विश्लेषण नाटककार ने नितान्त सीमित दायरे में किया है साथ ही उसमें सामाजिक यथार्थ की अपेक्षा व्यक्ति यथार्थ का चित्रण ही प्रमुख है, जिसमें नारी जीवन अथवा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ही प्राधान्य है । यद्यपि दाम्पत्य जीवन की विषमताओं का उद्घाटन करते हुए नाटककार ने समाज की कतिपय पूर्व प्रचलित समस्याओं यथा वृद्ध विवाह, बाल विवाह, विधवा विवाह आदि पर भी अपनी दृष्टि डाली है । किन्तु

इनमें पात्रों की सामाजिक सन्दर्भता अथवा बाह्यपरिवेश की अपेक्षा उनके व्यक्तिमन का विश्लेषण ही प्रमुख है। अपनी समस्याओं से अभिभूत ये बुद्धिवादी चरित्र अपने आप में इतने अधिक खोये रहते हैं कि सामाजिक जीवन से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं जुड़ पाता अतः सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हुए भी उनमें आगत समस्याएँ सम्पूर्ण समाज की समस्याएँ प्रतीत नहीं होती । और यही कारण है कि सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हुए भी उनमें अभिव्यक्त नाटककार की वैयक्तिक रुझान को देखते हुए, इन नाटकों को सामाजिक समस्याश्रयी नाटकों से भिन्न एक अलग वर्ग में ही रखा गया है ।

यों तो व्यक्ति-यथार्थ को चित्रित करने के उद्देश्य से उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशंकर भट्ट तथा सेठ गोविन्ददास इत्यादि अनेक नाटककारों ने वैयक्तिक समस्याओं को अपनी लेखनी का विषय बनाया, किन्तु इस वर्ग के प्रमुख नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ही माने जाते हैं । मिश्र जी के नाटकों का तो मुख्य प्रतिपाद्य ही मानव मन की गुत्थियाँ, जो पाश्चात्य रोमैन्टिक प्रेम तथा भारतीय वैवाहिक पद्धति की द्वन्द्वात्मकता के कारण शिक्षित तथा आधुनिक कहलाने वाले सामाजिकों के जीवन में एक विषम समस्या का रूप धारण कर रही थी, को सुलझाने का एक प्रयास है । जिसकी पूर्ति के लिये उन्होंने समाज के तथाकथित सुशिक्षित सभ्य एवं धनी मानी व्यक्तियों, जिनके जीवन में बुद्धि का व्यापार अपेक्षाकृत अधिक क्रियाशील था, के संघर्षपूर्ण जीवन तथा उनमें अवस्थित मानवीय दुर्बलताओं को ही अपने नाटकों का मूलाधार बनाया । किन्तु नारी जागरण की स्थिति में उनके नाटकों का मुख्य आकर्षण अथवा केन्द्रीभूत समस्या नारी ही रही है जिसे किसी विदेशी ने नहीं वरन् अपने देश के स्वजनों ने ही अनेकों नियम, कानून एवं मर्यादा की बेड़ियों में जकड़ रखा था । किन्तु पाश्चात्य संस्कृति एवं ज्ञान विज्ञान के प्रभाव स्वरूप भारतीय जीवन में विचारों का जो द्वन्द्व उठ रहा था, उसने परम्परा से पोषित रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताओं एवं आस्थाओं के विरुद्ध विद्रोह तो किया ही साथ ही व्यक्तिवादी एवं मानवतावादी विचारों से प्रेरित होकर भारतीय नारी को सजग कर पाश्चात्य के अनुकरण पर उसे एक स्वतन्त्र समाज निर्मित करने की प्रेरणा भी दी । जिसका व्यापक प्रभाव जीवन के अन्य व्यापारों के साथ ही प्रेम और विवाह जैसी सामाजिक मान्यताओं पर पड़ा और सम्पूर्ण भारतीय जीवन में परम्परागत वैवाहिक मान्यताओं के विरोध स्वरूप उन्मुक्त प्रेम तथा प्रेम-विवाह का प्रचलन हुआ । सत्य

तो यह है कि पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव स्वरूप भारतीय नारी समाज में जो नवीन विचार उत्पन्न हो रहे थे, उन्होंने अपने विरोधी संस्कारों के कारण नारी जीवन को व्यवस्थित करने की अपेक्षा उसे जटिल एवं संघर्षमय ही अधिक बनाया। फलत: सम्पूर्ण शिक्षित समाज में स्वतन्त्रता एवं समानता के नाम पर सामाजिक जीवन से असामंजस्य की एक नयी समस्या उत्पन्न हुई, जिसने अपनी विस्तृति में सम्पूर्ण भारतीय जीवन को प्रभावित किया। युग जीवन एवं युग-यथार्थ का चित्रण करते हुए नाटककारों की दृष्टि नारी जीवन की इस असामंजस्यपूर्ण स्थिति की ओर भी गयी और उन्होंने उसका बौद्धिक समाधान ही अपने इन व्यक्ति समस्याश्रयी नाटकों में देने का प्रयास किया है।

इस प्रकार यथार्थवादी-जीवन सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से प्रसादोत्तर-कालीन इन व्यक्ति समस्याश्रयी नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम तथा विवाह के सम्बन्ध में नवागत प्रगतिशील विचारों की द्वन्द्वात्मक स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर दाम्पत्य जीवन में व्याप्त गुत्थियों को सुलझाना तथा उनका बुद्धिवादी एवं व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करना था, जो तत्कालीन प्राय: समस्त नाटकों में कहीं सामाजिकों की यौन समस्या के रूप में चित्रित हुआ है तो कहीं वैवाहिक जीवन में व्याप्त विषमताओं एवं असंगतियों के रूप में।

यौन समस्या

यौन समस्या अथवा काम भावना को विषय बनाकर लिखने वाले नाटककारों में मिश्र जी का स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि नाट्य रचना करते समय मिश्र जी की दृष्टि समाज की कतिपय अन्य समसामयिक समस्याओं की ओर भी गयी थी, जिसका चित्रण उन्होंने यथास्थान किया है। किन्तु उनके नाटकों की प्रमुख समस्या यौन समस्या ही रही है, जो नारी-स्वातन्त्र्य एवं समानाधिकारों के समर्थन में युग की एक महत्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर रही थी। जिसके समाधान स्वरूप उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में आधुनिक नारी-जीवन में व्याप्त स्वच्छन्द प्रेम एवं वैवाहिक जीवन की द्वन्द्वात्मक स्थिति को ही उठाया है। फलत: उनके नाटकों में आगत समस्त नारी चरित्र प्रेम तथा विवाह के द्वन्द्व में घिरे हुए दिखाई देते हैं। `संन्यासी` की मालती तथा किरणमयी, `राक्षस का मन्दिर` की अश्गरी तथा ललिता, `मुक्ति

का रहस्य ` की आशादेवी, `सिन्दूर की होली ` की चन्द्रकला तथा मनोरमा `राजयोग` की चम्पा तथा `आधी रात` की माया देवी इत्यादि ऐसी ही प्रेम-पीड़ित नारियाँ हैं जो अपने स्वतन्त्र विचारों के बावजूद अन्तत: इस द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पातीं । और यही कारण है कि उनकी ये नारियाँ कहीं प्रेम से अतृप्त रहकर विवाह की ओर बढ़ती है तो कहीं विवाह करके भी अपने प्रेमी को भूल नहीं पाती, वरन् प्रेमी को अपना आराध्य मानकर उसे दूसरे जन्म में पाने की कामना करती है ।

यद्यपि यहाँ मिश्र जी ने अपने बुद्धिवादी विचारों से प्रभावित होकर प्रेम को सर्वथा स्वाभाविक माना है तथा उसे सामाजिक मान्यता भी दी है, "उसमें बुराई कहाँ है । प्रेम वकील से राय लेकर...... जज से अधिकारपत्र लेकर तो किया नहीं जाता । जो बात स्वत: स्वभाव है प्रकृति है .....वह तो चरित्र का गुण है अवगुण नहीं ।[१] किन्तु वह रोमांटिक प्रेम के सदा विरोधी रहे हैं । अत: उनकी नारियाँ प्रेम के नाम पर जीवन भर बैठकर आँसू नहीं बहाती वरन् परिस्थितियों से ठोकर खाकर वह अपने लिये एक मार्ग निर्मित करती हुई दिखाई देती है । `सन्यासी` में मालती का यह कथन `जिसे प्रेम करे उसके आगे झुक जाना - बिल्कुल मर जाना- उसकी एक-एक बात पर अपने को न्योछावर कर देना, रोमांटिक प्रेम होता है । हम लोग प्रेम नहीं करेंगे विवाह करेंगे — समझदारी के साथ एक दूसरे का ख्याल करेंगे ।[२] उनकी रोमांस विरोधी भावना को ही व्यक्त करता है । इसी प्रकार अपने `मुक्ति का रहस्य` में उन्होंने आशादेवी और उमाशंकर के प्रेम के माध्यम से आदर्शवादी प्रेम एवं रोमांटिक प्रेम की अव्यावहारिकता सिद्ध करते हुए आदर्श और रोमांटिकता पर यथार्थ की विजय दिखायी है । बुद्धिवादी होने के कारण उनका विश्वास था कि रोमांटिकता यथार्थ-जीवन में स्वीकार्य नहीं है अत: मनुष्य को सदैव यथार्थ स्थिति में ही रहना चाहिये । और यही कारण है कि उनके अधिकांश चरित्र इस रोमांटिक प्रेम की एकांगिता को समझते हुए व्यावहारिक जीवन की ओर झुकते हैं । मालती

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -`सिन्दूर की होली ` , पृष्ठ ६५

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `सन्यासी `, पृष्ठ १४६-१५०

विश्वकान्त को छोड़कर प्रोफेसर रमाशंकर के साथ विवाह करती है तो किरणमयी अपने प्रेमी मुरलीधर के प्रेम को अन्तर्मन में छुपाये हुए अपने वृद्ध पति के साथ समझौता करती है। इसी प्रकार चन्द्रकला अपने मरणासन्न प्रेमी रजनीकान्त से विवाह कर आजीवन वैधव्य को स्वीकार करती है तथा आशा अपने प्रेमी उमाशंकर को छोड़कर डा० त्रिभुवन से विवाह करती है।

इस प्रकार प्रेम और विवाह सदृश हृदय के द्वन्द्व को बुद्धि द्वारा सुलझाने का प्रयास कर उन्होंने युग की एक महत्वपूर्ण समस्या को उठाया तो अवश्य है, किन्तु प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में उनके ये विचार भारतीय जीवन की अपेक्षा इब्सन के प्रेम सिद्धान्त, 'विवाह करना है तो प्रेम मत करो और प्रेम करना है तो प्रेमी से अलग रहो।'[1] से ही प्रभावित दिखाई देते हैं। अत: प्रेम और विवाह उनके लिये एक ही वस्तु के दो पहलू अथवा क्रमिक सोपान न होकर दो अलग-अलग चीजें थी। प्रेम को उन्होंने आत्मा का धर्म माना है तो विवाह अथवा भोग को शरीर का। जो भारतीय आदर्श एवं संस्कृति के सर्वथा विपरीत है। भारतीय आदर्श के अनुसार तो जिससे एकबार प्रेम हो गया वही उसका आराध्य होकर रह जाता था तथा उसके अतिरिक्त अन्य किसी के विषय में सोचना भी पाप समझा जाता था। किन्तु मिश्र जी के नाटकों में प्रेम और विवाह का आश्रय कोई एक व्यक्ति न होकर दो अलग-अलग व्यक्ति है और यही कारण है कि उनके समस्त नारी चरित्र प्रेम किसी से करते हैं तो विवाह किसी और से। अपने इन्हीं विचारों को व्यक्त करते हुए मालती कहती है -- "विश्वकान्त प्रेम करने की चीज है..... विवाह करने की नहीं।"[2] प्रेम और विवाह का यही द्वन्द्वात्मक रूप 'सिन्दूर की होली' की बाल विधवा मनोरमा के शब्दों में भी सुनायी पड़ता है -- "मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी।"[3] प्रेम

---

१. If you want to marry' says Ibsen' don't be in love, if you love, part - Nicoll World Drama, P- 526.

उद्धृत बच्चन सिंह कृत 'हिन्दी नाटक', पृष्ठ १४७।

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र --'सन्यासी', पृष्ठ १४८

३. लक्ष्मीनारायण मिश्र --'सिन्दूर की होली', पृष्ठ १४५

और विवाह की इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति से प्रभावित हो `मुक्ति का रहस्य` की आशा देवी अपने प्रेमी एवं आराध्य उमाशंकर को अगले जन्म के लिये स्वीकार कर डाक्टर से विवाह कर लेती है ।

इस प्रकार रोमांस के विपरीत विवाह को स्वीकार कर उन्होंने जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण तो अवश्य अपनाया है किन्तु उनकी यह व्यावहारिकता शॉ तथा इब्सन के नारी पात्रों की भाँति सर्वथा स्वाभाविक न होकर विवशता अथवा परिस्थितियों से टकराहट का ही परिणाम है । अत: वैवाहिक जीवन से उनका यह समझौता नितान्त खोखले धरातल पर ही हुआ है । `सन्यासी` में मालती अपने विवाह की विवशता ज्ञापित करते हुए कहती है --`जब प्यास के मारे प्राण निकलने लगता है,..... यह नहीं सूझता कि पानी में हैजे के कीटाणु तो नहीं है ? पीना ही पड़ता है ।....[1] इसी प्रकार दीनानाथ अपनी पत्नी किरणमयी के समझौते को स्वीकार कर कहता है `....... तुम यहीं रहो- मेरे साथ लेकिन मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं— सब कुछ भूल जाओ । मैं भी भूल जाऊँगा । समझना किसी वेटिंग रूप में दो आदमी ठहरे हैं — कभी-कभी मन बहलाने के लिये यों ही बातें कर लिया करते हैं— बस यही- इससे अधिक नहीं ।[2] जो प्रत्यक्षत: मिश्र जी पर पड़े पाश्चात्य विचारों, जहाँ विवाह से पूर्व प्रेम तथा रोमांस एक साधारण सी बात थी, का ही प्रभाव था किन्तु भारतीय परिस्थितियों में उसे सर्वथा स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । कारण, विवाह के पूर्व चलने वाले स्वच्छन्द प्रेम एवं रोमांस के कारण व्यावहारिक जीवन में जो समस्या पाश्चात्य देशों में उत्पन्न हो रही थी भारतीय समाज उससे अभी बहुत पीछे था । यद्यपि पाश्चात्य प्रभावस्वरूप भारतीय समाज में भी प्रेम अथवा विवाह की समस्या उत्पन्न हो रही थी किन्तु उसका स्वरूप पाश्चात्य देशों की भाँति इतना उच्छृंखल अथवा जटिल न था । यहाँ तो अधिकांश नारियाँ समाज भय के कारण अपने प्रेम को अन्तर्मन में छिपाये वैवाहिक जीवन को स्वीकार कर अपने प्रेमी को भूलने का प्रयत्न करती थी । और यदि उनमें साहस होता था, वह अपने निश्चय पर दृढ़ होती थी तो सामाजिक रूढ़ियों का विरोध कर अपने प्रेम को विवाह में परिणत भी कर दिखाती थी और यदि किसी कारणवश वह अपने प्रेम में

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सन्यासी`, पृष्ठ १६०
२. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सन्यासी`, पृष्ठ ६४

असफल होती थी तो प्रिय के वियोग में आत्म हत्या कर अपनी जीवन-लीला ही समाप्त कर देती थी । इस प्रकार प्रेम को महत्व देते हुए भी वह नैतिकता तथा एक-निष्ठता जो भारतीय संस्कृति की जान है, से सर्वथा मुक्त भी नहीं हो सकी थी । अत: उनके जीवन का समझौता मिश्र जी की नारियों की भाँति `...... मैं तो बहुत जल्दी ऊब जाती हूँ । लेकिन कहीं रहना तो पड़ेगा इसलिये तुम्हारे साथ ही रहना ठीक है । समाज उँगली भी उठा नहीं सकेगा । हमारी और तुम्हारी इसी में भलाई है ।`[1] सामाजिकता के इतने खोखले धरातल पर सम्भव ही न था । मिश्र जी के नाटकों में आगत समस्या की इसी अस्वाभाविकता को लक्ष्यकर डा० वेदपाल खन्ना का अभिमत है, `मिश्र जी ने इन समस्याओं तथा जटिलताओं को हमारे जीवन में उनके प्रतिदिन घटित होने से प्रभावित होकर अपने नाटकों में ग्रहण नहीं किया वरन् उन्होंने ये समस्याएँ सीधी पश्चिम के यथार्थवादी नाटककारों से ली हैं और तब उनको अपने देश के थोड़े से पाश्चात्य जीवन के लोगों के चरित्र में अंकित कर दिया है ।`[2] जो युगीन मानसिकता को देखते हुए काफी कुछ सत्य प्रतीत होता है । वस्तुत: यदि समस्या का समाधान इतनी आसानी से हो जाये, जितनी आसानी से मिश्र जी के नाटकों में हुआ है --`अब इसी में किसी तरह निभाना चाहिये । तुम भी समझदार बनो और मैं भी समझदार बनूं । तुम मेरा विश्वास करो -- मैं तुम्हारा विश्वास करूँ । हम दोनों मिलकर रहें । दोनों एक दूसरे के लिये त्याग करें ।`[3] तब तो समस्या का कोई प्रश्न ही नहीं है । यह समाधान तो वहीं सम्भव है जहाँ नारी का कुछ अस्तित्व है, उसकी कुछ सत्ता है । भारतीय समाज में जहाँ अभी भी नारी पुरुष की अधिकारिणी समझी जाती है, उसकी सम्पत्ति समझती जाती है पुरुष यह किसी प्रकार सहन नहीं कर सकता कि स्त्री उसके पास रहकर मन से किसी और की आराधना करे । अत: भारतीय नारी की समस्या इससे सुलझती प्रतीत नहीं होती ।

इसी प्रकार सामाजिक जीवन में व्याप्त काम-तुष्टि के समाधान स्वरूप वह

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सन्यासी`, पृष्ठ ८६

२. डॉ० वेदपाल खन्ना `विमल` --`हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन`, पृष्ठ २५२

३. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सन्यासी`, पृष्ठ ६०

डा० त्रिभुवन जैसे यथार्थजीवी पात्रों के माध्यम से `पुरुष कोई भी हो पुरुष है, स्त्री कोई भी हो स्त्री है।`[1] सदृश अतियथार्थवादी अथवा रोमांस विरोधी तर्क दिलवा कर अपने बुद्धिवादी मस्तिष्क अथवा बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा भले ही कर ले, किन्तु वास्तविकता यह है कि अपने भारतीय संस्कारों के कारण वे स्वयं इसे पूर्ण स्वीकृति नहीं दे सके हैं, जिसका स्पष्ट प्रमाण उनके नाटकों में आगत समस्याओं का आदर्शवादी समाधान है। और यही कारण है कि `मुक्ति का रहस्य` की नायिका आशादेवी अपने जीवन में आये प्रथम पुरुष डाक्टर को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानकर `तुम मेरे लिये पहले पुरुष हो -- यह सच है। अब तुम मेरे लिये अन्तिम पुरुष भी रहो।`[2] भारतीय आदर्शों की रक्षा करती है। इसी प्रकार `सिन्दूर की होली` में चन्द्रकला तथा मनोरमा भी अपने पति की स्मृति में आजीवन वैधव्य को स्वीकार कर भारतीय आदर्शों की रक्षा करती प्रतीत होती है। वस्तुत: यदि जीवन में पुरुष और स्त्री की सत्ता का ही महत्व है, एक पुरुष का स्थान दूसरा ले सकता है तो प्रथम पुरुष और अन्तिम पुरुष का प्रश्न ही क्या ? किन्तु उनकी इस द्विविधात्मकता का मूल कारण भारतीय आदर्श एवं पाश्चात्य विचारों का द्वन्द्व ही था, जिसके सफल सामंजस्य के अभाव में वह विचारों के दलदल में इस बुरी तरह उलझ गये थे कि समस्याओं के प्रति कोई एक निश्चित मत एवं दृष्टि नहीं अपना सके। और यही उनके नाटकों की सबसे बड़ी कमजोरी है। इसके साथ ही मिश्र जी के तथाकथित नाटकों में एक कमी जो सबसे अधिक खटकती है वह है उनकी भावुकता। यद्यपि बुद्धिवाद से प्रभावित होकर उन्होंने भावुकता एवं रोमांस का सर्वत्र ही विरोध किया है किन्तु अपने भावुक हृदय, जो साहित्य-रचना के प्रारम्भ से ही कल्पनामय काव्य की रंगीनियों में खोया हुआ था, से वह पूर्णत: मुक्त भी नहीं हो सके हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो उनका प्रत्येक पात्र जीवन के यथार्थ का वहन करते हुए भी भावुकता एवं रोमांस से प्रभावित है। `सिन्दूर की होली` में चन्द्रकला का रजनीकान्त के चित्र को देखकर प्रेमपाश में बंधना तथा मरणासन्न प्रेमी के हाथ से माँग में सिन्दूर भरवाना, `राक्षस का मन्दिर` में ललिता का आत्म-सम्मान के वशीभूत होकर अपने प्रेमी रघुनाथ को ठुकरा देना तथा

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `मुक्ति का रहस्य`, पृष्ठ ८३

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `मुक्ति का रहस्य`, पृष्ठ १३६

'मुक्ति का रहस्य' में प्रेम की वशीभूत आशा का अपने प्रेमी उमाशंकर की पत्नी को जहर दे देना नारी सुलभ भावावेश के ही उदाहरण है। इसी प्रकार मालती के इन शब्दों में "मेरे शरीर की मुक्ति तो तुमसे मिल गई लेकिन मेरी आत्मा ? कौन जाने ...."[1] आत्म सन्तुष्टि की चाह नारी सुलभ भावुकता ही बोल रही है।

इस प्रकार अपनी मान्यतानुसार[2] हृदय के द्वन्द्व को बुद्धि द्वारा सुलझाने पर भी वह हृदय की पुकार को ठुकरा नहीं सके हैं। जो उनके नाटकों में कहीं भारतीय आदर्शों की रक्षा के रूप में तो कहीं पश्चिमी भावुकता के रूप में सर्वत्र ही विद्यमान है। स्पष्ट है कि उन्होंने अपने समय की समस्याओं को बुद्धिवादी ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है किन्तु वह उन समस्याओं का बुद्धिवादी हल प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। उन्होंने अपने नाटकों में प्रेम अथवा विवाह की जो समस्या उठायी है वह अपने स्वरूप में तो यथार्थ है किन्तु उनके समस्त समाधान अन्त तक पहुँचते-पहुँचते या तो नितान्त आदर्शपरक हो गये हैं या रोमांटिकता से प्रभावित हैं। अत: दोनों ही यथार्थ जीवन में सर्वमान्य एवं सर्वग्राह्य नहीं कहे जा सकते। मिश्र जी के नाटकों की इसी द्विविधात्मकता को लक्ष्यकर उनके नाटकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि "वस्तुत: बुद्धिवाद के चक्कर में भारतीय आदर्श और पश्चिमी भावनाओं की चक्की के दो पाटों के मध्य फँसकर नाटककार पात्रों की सृष्टि तो कर बैठा पर उन्हें यथार्थता के स्वाभाविक धरातल पर न उतार सका। इसीलिए उसके पात्र-कल्पनालोक के वासी सदृश्य दिखते हैं उनके भाव, विचार और क्रियाओं का साधारण व्यक्तियों से सामंजस्य नहीं मिलता।"[3] जिसे किसी भी प्रकार नकारा नहीं जा सकता।

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'सन्यासी', पृष्ठ १६५

२. "संसार की समस्याएँ... जिनके लिए आज इतना शोर मचा हुआ है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकती -- वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धिवाद से ही मिलेगा।"
-लक्ष्मीनारायण मिश्र -- सिन्दूर की होली,' पृष्ठ ४१।

३. डॉ० कमलिनी मेहता -- 'नाटक और यथार्थवाद', पृष्ठ २५३

मिश्र जी के पश्चात् व्यक्तिमन की समस्याओं को विषय बनाकर नाटक लिखने वालों में पृथ्वीनाथ शर्मा का नाम उल्लेखनीय है । मिश्र जी की भाँति ही शर्मा जी के नाटकों का मूल स्वर भी समकालीन समाज में व्याप्त यौन समस्या का उद्घाटन था । पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप उच्चशिक्षा प्राप्त नवयुवतियों के विचारों में प्रेम अथवा विवाह के प्रश्न को लेकर जो द्वन्द्व उठ रहा था उसका द्वन्द्वात्मक एवं यथार्थ चित्र ही उन्होंने अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है । उनके प्रथम नाटक `दुविधा' की नायिका सुधा उच्चशिक्षा प्राप्त एक ऐसी ही द्वन्द्वयुक्त नारी है जो अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण शिक्षा समाप्त कर जीवन के एक ऐसे दोराहे पर आ खड़ी है जहाँ पहुंच कर उसके लिये यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वह स्वतन्त्र प्रेम का वरण कर आजीवन कल्पना की स्वप्निल रंगीनियों में सोयी रहे अथवा वैवाहिक जीवन की एकान्त निष्ठा को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान ले ? और यही उसके जीवन की सबसे बड़ी समस्या थी । यद्यपि अपने जीवन के प्रारम्भ में वह पाश्चात्य जगत के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त प्रेम से ही प्रभावित होती है किन्तु बहुत जल्दी ही उससे ऊबकर तथा यथार्थ से सामंजस्य न कर पाने के कारण वह अन्तत: विवाह की ओर मुकती है । लेकिन अपने विचारों के कारण वहाँ भी उसे सफलता नहीं मिलती । किन्तु फिर भी सुधा के जीवन की अनिश्चयपूर्ण मन:स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर नाटककार ने पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित रोमांटिक एवं स्वच्छन्द प्रेम की अयथार्थता सिद्ध कर दिग्भ्रमित भारतीय नारियों के समक्ष वैवाहिक जीवन के वरण के रूप में एक समाधान रखा है जो भारतीय आदर्शों के भी अनुरूप है ।

प्रेम और विवाह की इसी द्विविधात्मक मन:स्थिति को लक्ष्य कर शर्मा जी ने `साध' नामक एक और नाटक की रचना की । यद्यपि इसकी नायिका भी पाश्चात्य संस्कारों में पली उच्च शिक्षा प्राप्त एक आधुनिक नारी है,जो स्वच्छन्द विचारों को मान्यता देने के कारण विवाह को बन्धन तथा बच्चे पैदा करने का साधन मानकर विवाह से ही घृणा करती है —`यह सम्भव नहीं । ज्यों ही विवाह हो जायगा, मेरे ऊपर तुम्हारे स्वामित्व की मुहर लग जायेगी । फिर न चाहते हुए भी तुम मेरे गले में रस्सी डालकर मुझे इधर-उधर प्रदर्शित करते फिरोगे ।...... इसके बाद तुम्हारे हृदय में अनन्त वर्षों से छिपी हुई अपने प्रतिरूप की अपने उत्तराधिकारी की लालसा जागृत होगी । फिर उस लालसा को पूरा करने के लिए मुझे धड़ाधड़

बच्चे पैदा करने होंगे । (जरा काँप कर) न, मुझ से इस जंजाल में न फँसा जायगा ।[1] किन्तु बालक मनोहर के माध्यम से नाटककार ने उसके विचारों में जो परिवर्तन दिखाया है वह नितान्त काल्पनिक अथवा भावुकतापूर्ण न होकर नारी मनोविज्ञान पर आधारित है । जिसकी एक झलक रामेश्वरी (कुमुद की माँ)तथा कुमुद के निम्न संवाद में दृष्टव्य है -- `हाँ तुम्हारा बच्चा । कुमुद, विश्वास मानो, इस असार मायामय संसार में बच्चे ही यथार्थ है, सत्य और सुन्दर है । इसलिए बेटी, इस झूठी चमक वाली सभ्यता के मोह में फँसकर बच्चों से विमुख न हो ।[2]

और इस प्रकार अपने इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने पाश्चात्य सभ्यता के प्रमाणस्वरूप पारिवारिक दायित्व को बन्धन मानने वाली नारियों की नारी सुलभ आकांक्षा को उभार कर उन्हें वैवाहिक जीवन की जिस यथार्थता के प्रति आकृष्ट कराया है वह भारतीय संस्कारों तथा यथार्थ जीवन के अत्यन्त निकट है । यहाँ पर नाटककार का यह भी विचार प्रतीत होता है कि पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव स्वरूप नारी भले ही किसी सिद्धान्त पर अड़ी रहे किन्तु परिपक्व अवस्था में पहुँचने पर वह अपनी भूल को समझकर अपने सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करती है । अत: स्वच्छन्द प्रेम के नाम पर आज भारतीय नारी समाज में सामाजिक दायित्व के प्रति जो उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो रहा है वह उचित नहीं है और वस्तुत: यही आज की एक बहुत बड़ी समस्या है जो उसे कभी शान्त एवं सुखी नहीं रहने देती ।

प्रेम और विवाह की इसी व्यक्तिगत समस्या को उठाकर उपेन्द्रनाथ अश्क ने `भँवर` नाटक की रचना की । इसकी मूल समस्या यौन भावना की तुष्टि के अभाव में उत्पन्न मानसिक ग्रन्थियों एवं कुंठाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है । नाटक की नायिका प्रतिमा प्रगतिशील नारियों की भाँति पाश्चात्य के प्रभाव में विवाह को बन्धन मानने वाली स्वच्छन्द नारी है जो अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद कर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती है । किन्तु परिस्थितियों से सामंजस्य के अभाव में उसकी यह स्वच्छन्दता बुद्धिवाद का रूप धारण करती है जो उसे सांसारिक जीवन से विरक्त कर

---

१. पृथ्वीनाथ शर्मा -- `साध `, पृष्ठ ५
२. वही -- ,, , पृष्ठ ५६

देती है, किन्तु सांसारिक जीवन से उसकी यह विरक्ति स्वयं उसके लिये ही एक बोझ, एक समस्या बन गयी है। जिसका उद्घाटन करते हुए वह कहती है -- '- - - - - न जाने कभी-कभी मन कैसा हो जाता है । चाहती हूँ अपनी इस सारी बौद्धिकता को उठाकर एक ओर रख दूँ और साधारण लोगों की भाँति हँस खेल सकूँ । पर दूसरे ही क्षण प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है ।'[1]

इस प्रकार प्रतिभा के अन्तर्मन में झाँककर, उसके जीवन की रिक्तता, ऊब और घुटन इत्यादि का चित्रण कर नाटककार ने बुद्धिवादिनी नारियों की मानसिक उलझन एवं कुंठाओं का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन तो प्रस्तुत किया ही है साथ ही अतिबौद्धिकता एवं रूमानी प्रवृत्तियों के प्रवाह में जीवन से भागने वालों को जीवन के यथार्थ में ही रहने का संदेश दिया है । पवित्र प्रेम के नाम पर जीवन की यथार्थता को ठुकराने वाली प्रतिभा के जीवन की मानसिक ऊहापोह का विश्लेषण करते हुए नाटक का एक यथार्थजीवी पात्र हरदत्त कहता है --'किन्तु तुम रूमान पसन्द भी हो और बुद्धिवादी भी । रूमान पसन्दों की भाँति तुम जीवन से, जीवन की दैनिकता से डरती भी हो और उस असन्तोष को भी प्रकट करती हो जो बुद्धिवादियों का विशेष गुण है । देखो प्रतिमा नन्हीं नन्हीं खुशियों से दूर न भागो । इन्हीं में जीवन को ढूंढो । इन्हीं से तुम्हें शान्ति मिलेगी ।'[2] जो अपने आप में समस्या का यथार्थवादी समाधान है । यद्यपि अपने जीवन से ऊबकर वह परिस्थितियों से समझौता तो नहीं करती है किन्तु अपने प्रेम को अपनी महत्वाकांक्षा समझ वह अपनी भूल पर मन ही मन पश्चाताप अवश्य करती है --'प्रत्येक व्यक्ति अपने आवरण के भीतर मात्र बच्चा है । क्या अपने खोल के भीतर मैं भी मात्र बच्ची हूँ -- बच्ची- जो चाँद को चाहती है और खिलौने से जिसे सान्त्वना नहीं मिलती । (फिर दीर्घ निश्वास लेती है) किन्तु चाँद बहुत ऊँचा है -- बहुत दूर है -- नीलाम - नीलाम - उफ़ !'[3] वस्तुत: अपने जीवन के सत्य को पहचान लेना ही जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ है, जिसके चित्रण में नाटककार पूर्ण सफल हुआ है । अत: हम कह सकते हैं कि रोमांटिक होते हुए भी नाटक का अन्त यथार्थवादी धरातल पर ही हुआ है ।

---

१. उपेन्द्र नाथ अश्क - 'भँवर' आदिमार्ग, पृष्ठ १२८
२. वही - ,, , पृष्ठ १५३
३. वही - ,, , पृष्ठ १५६

प्रेम और विवाह की इसी व्यक्तिगत समस्या को विषय बनाकर सेठ गोविन्ददास ने `पतित सुमन` तथा `प्रेम या पाप` नाटक की रचना की ।`पतित सुमन` में विश्वनाथ और सुमन एक ही पिता, किन्तु दो पृथक्-पृथक् नारियों की सन्तान हैं जो परस्पर प्रेम में निबद्ध होकर विवाह की ओर बढ़ते हैं किन्तु तभी उन्हें पता चलता है कि वह दोनों भाई-बहन हैं । अत: उनका विवाह नहीं होता और दोनों दुखमय जीवन व्यतीत करते हैं । अपने इस नाटक में नाटककार ने एक प्रेमी युगल की असफलता के माध्यम से समाज की अमानवीयता तथा नैतिक मानदण्डों पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। जिसका स्पष्टीकरण करते हुए सुमन कहती है --`और हमारे यहाँ भी तो स्वयंभू मनु और सद्रूपा रानी, दोनों की उत्पत्ति भगवान ब्रह्मा से ही मानी जाती है । < < < स्वयम्भू और सद्रूपा का विवाह हो सकता था, पर हमारा नहीं । वह पाप न था और यह पाप है ।`[1]

वस्तुत: आज जब कि समाज में अनैतिकता का बाहुल्य है ऐसी स्थिति में उसे रोकने के लिये किसी व्यक्ति के पापों का प्रायश्चित उसके बच्चों से लेना कहाँ तक उचित है ? यही नाटककार का द्वन्द्व अथवा युग सम्पृक्तता है, जिसके समाधान के लिये वह सचेष्ट भी रहे हैं। किन्तु नाटक के अन्त में सुमन की मृत्यु को दिखाकर नाटककार अपने को अपने आदर्शवादी विचारों से ऊपर नहीं उठा पाये हैं ।

इसी प्रकार अपने `प्रेम या पाप` नाटक में उन्होंने कला के नाम पर इधर उधर भटकने वाली रूपगर्विता एवं वासना-लोलुप आधुनिका कीर्ति के जीवन की करुण कथा को प्रस्तुत कर कला के नाम पर होने वाले व्यभिचारों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है । साथ ही उसके जीवन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के माध्यम से सौन्दर्य-विलास को प्रेम समझने वाली नारियों के समक्ष प्रेम का एक आदर्श भी प्रस्तुत किया है ।

यद्यपि अपने इन दोनों ही नाटकों में नाटककार ने युग की समसामयिक समस्याओं का स्पर्श किया है, किन्तु उनके आदर्शवादी विचारों के कारण दोनों का स्वरूप अन्तत: नैतिकतापरक एवं आदर्शवादी ही रहा है जो उन्हें एक आदर्शवादी नाटककार से ऊपर नहीं उठने देता है ।

----

१. सेठ गोविन्ददास `पतित सुमन`, पृष्ठ १४३ ।

स्पष्ट है कि इस युग के अधिकांश व्यक्तिगत नाटकों की मूल समस्या प्रेम और विवाह के द्वन्द्वात्मक रूप को चित्रित कर तत्कालीन समाज में उत्पन्न समस्याओं एवं स्थितियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना था । तथापि समसामयिक जीवन की कुछ अन्य समस्याएँ यथा असन्तुलित दाम्पत्य जीवन, आर्थिक वैषम्य तथा मानसिक संघर्ष भी इनके दृष्टिपथ में आयी, जिनका वैयाक्तिक विश्लेषण तत्कालीन नाटकों में प्रस्तुत किया गया है ।

असन्तुलित अथवा विषम दाम्पत्य जीवन

असन्तुलित दाम्पत्य जीवन तथा वैवाहिक जीवन में व्याप्त संघर्षों को लेकर चलने वाले नाटकों में उदय शंकर भट्ट का `कमला` एक महत्वपूर्ण नाटक है । यद्यपि इसमें उन्होंने समाज की कतिपय अन्य समस्याओं को भी उठाया है किन्तु इसकी मूल समस्या नारी स्वातन्त्र्य अथवा विषमय वैवाहिक जीवन ही है, जो दो संस्कृतियों के परस्पर संघात से युग की एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में सामने आ रही थी । वस्तुत: एक ओर तो नारी पाश्चात्य जीवन एवं प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होकर नारी स्वातन्त्र्य एवं समानाधिकारों के लिये संघर्षरत थी किन्तु दूसरी ओर पुरुष समाज भी रूढ़िवादी सामन्तीय संस्कारों से चिपका हुआ अपने अधिकारों की रक्षा के लिये दत्तचित्त था । अत: दोनों के बीच एक वैचारिक संघर्ष एवं द्वन्द्व छिड़ा हुआ था, जो आगे चलकर दाम्पत्य जीवन के असन्तुलन एवं विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण बना। इसकी सशक्त अभिव्यक्ति `कमला` नाटक में कमला तथा देवनारायण के चरित्र में दिखायी देती है ।

कमला मध्यवर्गीय समाज की एक शिक्षित एवं प्रगतिशील महिला है, जो प्रगतिशीलता के इस दौर में सम्पूर्ण मानवता एवं नारी स्वातन्त्र्य की समर्थक है किन्तु भाग्यवश उसका विवाह एक वृद्ध जमींदार देवनारायण से हो जाता है । देवनारायण सामन्तीय संस्कारों का एक रूढ़िवादी चरित्र है । युग के प्रगतिशील विचारों से उसे चिढ़ सी है, उसकी दृष्टि में स्त्री विलास की सामग्री है तथा उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है । अत: वह पत्नी के स्वतन्त्र विचारों एवं आचरण का विरोध करता है । नाटक के प्रारम्भ में ही वह पत्नी के अनाथालय जाने की बात सुनकर चिल्ला उठता है -- `मुझे यह बिल्कुल नापसन्द है । आज इस युग में औरत नाक

में नकेल डालकर रखने की चीज होती जा रही है। - - - - -'[1] पति के इन्हीं संकुचित विचारों के कारण उसका दाम्पत्य जीवन अत्यन्त दुखप्रद हो गया था। किन्तु फिर भी वह पति की गलत बातों के आगे झुकती नहीं वरन् अपने विचारों पर दृढ़ रहती है अतः पति के मना करने पर भी वह अपनी सखी उमा के अवैध पुत्र शशि कुमार को शरण देती है और अन्ततः उसकी रक्षा के लिये गृहत्याग कर आत्म-हत्या करती है जो तत्कालीन नारी की प्रगतिशीलता एवं स्वतन्त्र विचारों के ही द्योतक हैं। उसके यही युगीन क्रान्तिकारी विचार कमला के निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट है -- 'भाड़ में जाय ऐसा रोब। मैं अब तक बहुत दबी, आखिर दबने की भी कोई हद होती है। दूसरे की भी जान है। मैंने भी दुनियाँ देखी है। मैं भी कुछ पढ़ी लिखी हूँ।'[2] इस प्रकार नाटककार ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि तत्कालीन समाज में विषम वैवाहिक जीवन का एक बहुत बड़ा कारण अनमेल विवाह सम्बन्ध था, जो विचारों के परस्पर-सामंजस्य के अभाव में असफल दाम्पत्य एवं पारिवारिक विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण बन रहा था।

अनमेल विवाह से उत्पन्न विषमता की यह झलक 'सन्यासी' के किरणमयी तथा दीनानाथ के वैवाहिक जीवन में भी दिखायी देती है। जिसे स्पष्ट करते हुए किरणमयी कहती है -- 'मेरी तबीयत तुम्हारे साथ कैसे लग सकेगी -- तुम्हीं सोचो मैं तुम्हे देखती हूँ तो पिताजी याद पड़ते हैं।[3] x x x मैं सोचती तो हूँ -- लेकिन मैं केलाने में नहीं रह सकती।......'

विचारों का यही परस्पर द्वन्द्व मिश्र जी के 'राजयोग' नाटक में भी दिखाई देता है किन्तु अपने इस नाटक में उन्होंने चम्पा तथा शत्रुसूदन के माध्यम से दाम्पत्य जीवन के संघर्ष को प्रस्तुत कर समकालीन समाज में नारियों के प्रति पुरुषों के संकुचित विचारों को ही प्रकट किया है। समाज में नारियों की जो स्थिति थी उसे स्पष्ट करते हुए चम्पा कहती है --'जब से यह सृष्टि है स्त्री की रक्षा भी कभी

---

१. उदयशंकर भट्ट 'कमला' पृष्ठ ५
२. वही ,पृष्ठ १६।
३. लक्ष्मीनारायण मिश्र --'संन्यासी' , पृष्ठ ८६।

नहीं हुई । जब तक जूता नया रहता है, चमक निकलती रहती है, तबीयत चाहती है उसी को देखा करें । दिन में दो चार बार साफ करने की ज़रूरत रहती है । लेकिन बस महीना दो महीना - ---- उसके बाद कुछ दिन और पैरों से इधर-उधर कर पहन लेना और उसके बाद - - - - यही हालत स्त्री की है ।.....'[1]

किन्तु शिक्षा के प्रभाव से नारी के विचारों में धीरे धीरे परिवर्तन आ रहा था । वह जड़ न रहकर अब चेतनशील हो रही थी । चम्पा का व्यक्तित्व उसके इस परिवर्तित रूप का परिचायक है अत: प्राचीन नारियों की भाँति पुरुषों के अत्याचारों के आगे वह झुकती नहीं वरन् उसका प्रतिरोध करते हुए कहती है -- 'सैकड़ों - हजारों वर्षों के बाद नारी की जीभ अब खुलना चाहती है स्त्री शिक्षा और साथ- ही साथ उसके अधिकार--पर्वत फोड़कर नदी बाहर निकली है -- समतल भूमि में वह रोकी नहीं जा सकती । अब तो स्त्री तर्क करेगी, प्रतिवाद करेगी और ज़रूरत पड़ेगी तो युद्ध करेगी । वह तो अब समझना चाहती है -- अपने को,दूसरों को, जगत को और इसीलिए वह पुरुष के साथ परीक्षा दे रही है । नहीं तो फिर ऐसी क्या ? ज्वालामुखी भड़क उठा है । उसके हृदय की आग अब दबाई नहीं जा सकती ।'[1] इस प्रकार युग-युग से दलित एवं पीड़ित नारी के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट कर नाटककार ने नारी शिक्षा तथा स्त्री स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है,नारी को समाज में प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास किया है । जो तत्कालीन नारी समाज की एक बहुत बड़ी आवश्यकता थी ।

साथ ही यह बताने का प्रयास भी किया है कि सन्देह और अविश्वास पर टिकी दाम्पत्य की इमारत बहुत दिनों तक खड़ी नहीं रह सकती । सुखी दाम्पत्य के लिये आवश्यक है कि उसका निर्माण प्रेम और विश्वास की आधार भूमि पर किया जाय । क्योंकि आज वह स्थिति आ गयी है जब स्त्री आज्ञा एवं अधिकार से नहीं वरन प्रेम और विश्वास के द्वारा ही पति के आधीन हो सकती है । इस प्रकार नारी के प्रति सहानुभूति व्यक्त कर नाटककार ने समस्या का युगानुकूल समाधान देने का प्रयास किया है ।

असन्तुलित दाम्पत्य की इसी वैयक्तिक समस्या को आधार बनाकर उपेन्द्रनाथ

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'राजयोग', पृष्ठ ७४ ।

अश्क ने `कैद` और `उड़ान` सदृश सामाजिक नाटकों की रचना की । अपने इन नाटकों में अश्क जी ने समाज की वर्तमान विकृत अवस्था से क्षुब्ध भारतीय नारियों के हृदगत असन्तोष एवं मानसिक कुण्ठाओं का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर युग-युग से चली आ रही नारी जीवन की समस्याओं के प्रति अपनी सहानुभूति तो व्यक्त की ही है साथ ही प्रेम अथवा विवाह के सम्बन्ध में परम्परित रूढ़िवादी आदर्शों की अर्थहीनता को जानकर पुरुषों की अन्ध श्रद्धाभक्ति के स्थान पर नारी स्वातन्त्र्य अथवा जागरण की युगीन क्रान्तिकारी चेतना का सन्देश भी दिया है । यही कारण है कि `कैद` में अप्पी के रूप में जो नारी परतन्त्र असहाय एवं सामाजिक रूढ़ियों से संत्रस्त दिखाई देती है -- `मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है, जैसे यह अलनूर मेरा काला-पानी है और मैं यहाँ आजीवन कैद कर दी गयी हूँ ।...... अपनी कैद का यह एहसास हजार गुना होकर मेरी नस-नस में जाग उठता है ।......`[1] वही उड़ान में स्वतन्त्र तथा पुरुष समाज की अधिकार लोलुपता, वासनात्मकता एवं भावुकता का विरोध करते हुए अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए संघर्षरत दिखाई देती है । रूढ़िवादी भारतीय नारियों की संकुचित दृष्टि के विपरीत अपनी शक्ति एवं साहस का परिचय देते हुए वह कहती है --`वह असहाय अबला स्त्री मैं नहीं, जिसे मदन चाहता है और जो हर समय पुरुष के सहारे की आशा बाँधे दासी की तरह खड़ी रहती है । वह बीमार हिरनी भी मैं नहीं, जिसे तुम लोग गोद में भरकर मनमानी करना चाहते हो ।- - - - मैं देवी भी नहीं, जो केवल अपने आसन पर बैठी रहे । (मदन, शंकर और रमेश की ओर बारी-बारी से देखते हुए) तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुम मे से किसी को भी जरूरत नहीं ।` ( बन्दूक फेंककर तेजी से पगडण्डी पर उतर जाती है ।[2] इस प्रकार अपने इस नाटक में अश्क जी ने माया के माध्यम से नारी के परम्परित रूप की उपेक्षा कर संगिनी रूप में नारी के जिस नवीन रूप की कल्पना की है वह प्रगतिवाद के समर्थन में उनके युग की ही पुकार थी । सामाजिक रूढ़ियों के प्रति अनास्था का यही भाव`कैद` में अप्पी के प्रति प्राणनाथ की मौन भावुकता के रूप में चित्रित हुआ

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क - `कैद `, पृष्ठ ७२

२. वही - `उड़ान `, पृष्ठ १५२

है जो अप्पी के असन्तुष्ट जीवन पर पश्चाताप करते हुए कहता है --`कभी-कभी सोचा करता हूँ अप्पी, पिछले आठ वर्षों से मैं लगातार सोचता चला आया हूँ, यदि मैं तुम्हारी बहन की मृत्यु के बाद दिल्ली न गया होता तो तुम्हारी हँसी खुशी का सोता भी यों न सूख जाता और मेरे जीवन की पहाड़ी पर भी यों धुंधलके न छा जाते ।`[1]

स्पष्ट है कि अपने इन दोनों नाटकों में अश्क मूलत: नारी समस्या से ही अभिभूत है, जो प्रगतिशील आन्दोलन के दौर में युग की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में नाटककारों की लेखनी को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी । जहाँ तक पात्रों की यथार्थता का सम्बन्ध है `उड़ान` के पात्रों[2] को छोड़कर अश्क के सभी पात्र अपने युग के ही जीवन्त प्रतिरूप है । दिलीप तथा अप्पी के रूप में अश्क ने समाज के उन ढुलमुल चारित्रों का चित्र प्रस्तुत किया है जो चाह कर भी सामयिक रूढ़ियों के प्रति विरोध का भाव प्रस्तुत करने में एक झिझक का अनुभव करते हैं । लेकिन प्राणनाथ के रूप में उन्होंने पुरुष के जिस विलक्षण चरित्र को प्रस्तुत किया है वह पति का टाइप न होकर उनके मानवतावादी विचारों का ही प्रतिरूप है जो वैवाहिक असंगति के गूढ रहस्य को जानकर अपने किये पर पश्चाताप कर[3] स्वीकार करता है -- `- - - - तुम यहाँ न आती तो कभी बीमार न पड़ती ।`

प्रेम और विवाह की इन व्यक्तिगत समस्याओं के अतिरिक्त सेठ गोविन्ददास ने मानव जीवन की कतिपय अन्य व्यक्तिगत समस्याओं को भी अपना प्रतिपाद्य बनाया जिनमें मुख्य है आर्थिक विषमता तथा मानसिक संघर्ष ।

---

१. उपेन्द्र नाथ `अश्क` - `कैद`, पृष्ठ ४४ ।

२. `रहे उड़ान के पात्र तो वे यथार्थ जीवन के पात्र न होकर `पुरुष` की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं.... और इन तीनों के चरित्र को अश्क ने शंकर रमेश और मदन में बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है ।`

- धर्मवीर भारती `कैद और उड़ान` व्याख्या, पृ० २६

३. उपेन्द्र नाथ `अश्क` - कैद`, पृष्ठ ४५ ।

आर्थिक वैषम्य

देश की विषम आर्थिक समस्या को लेकर व्यक्ति के मन में जो द्वन्द्व उठ रहा था उसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण सेठ गोविन्ददास ने अपने `गरीबी या अमीरी` नाटक में प्रस्तुत किया है । वस्तुत: आज अनैतिकता के बाहुल्य से देश में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि सच्चरित्र जीवन भर संघर्षों से सामना करते हुए दु:ख भोगता है तथा जो दूसरों को दुख देता है वह सुखी होता है । अत: आज प्रत्येक सामाजिक के समक्ष यह एक समस्या उठ खड़ी हुई है कि वह जीवन निर्वाह के लिये किस मार्ग को चुने । सीधे सच्चे मार्ग पर चलकर गरीबी का दुख भोगे ? अथवा पाप की कमाई इस समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त कर सुखी जीवन व्यतीत करे ? यही नाटक के नायक विद्याभूषण की समस्या है और सम्पूर्ण नाटक में वह जीवन के इसी संघर्ष में उलझा रहता है ; यहाँ तक कि वह अपनी पत्नी को भी इसीलिये छोड़ देता है कि उसके द्वारा स्वीकृत धन उसके पिता लक्ष्मीदास के पाप की कमाई थी । किन्तु अपने जीवन की विषमताओं से संत्रस्त होकर वह अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि किसी सिद्धान्त पर अड़े रहना आज के जीवन में व्यावहारिक नहीं । अत: नाटक के अन्त में अपनी पत्नी के सर्वस्वदान पर वह कहता है --`तुमने इस सम्पत्ति का सर्वस्वदान कर - - - -जीवन की सबसे बड़ी भूल की । वे सारे आदर्श और सिद्धान्त गलत थे - - - इस दान के कारण सरस्वती ( पुत्र ) - - - - सरस्वती का जीवन बर्बाद हो जायेगा ।`[1] यद्यपि जीवन की विषमताओं को देखते हुए यह सर्वथा सत्य प्रतीत होता है किन्तु इसमें नाटककार विद्याभूषण के चरित्र के माध्यम से प्रारम्भ में त्याग, सेवा, संयम सदृश जिन उच्चादर्शों को लेकर चला था उसका यह विपरीत आचारण युगीन समस्त आन्दोलनों के मूलाधार त्याग सेवा आदि की महत्ता को संदिग्ध बना देता है । यद्यपि अचला के सर्वस्व दान के माध्यम से नाटककार ने श्रम एवं गरीबी के वातावरण को अमीरी से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है । किन्तु यह नाटककार पर युगीन आदर्शवादी सिद्धान्तों का ही प्रभाव था, जो जीवन की यथार्थ समस्या को उठाकर भी नाटक को आदर्शवाद की ओर मोड़ देता है ।

---

१. सेठ गोविन्ददास - `गरीबी या अमीरी`, पृष्ठ १५६

अर्थ युग की इसी विषम समस्या को विषय बनाकर सेठ जी ने `महत्व किसे ?` नामक एक और नाटक की रचना की । अपने इस नाटक में नाटककार ने एक त्यागी देशभक्त एवं गाँधीवादी चरित्र कर्मचन्द्र के जीवन के उतार चढ़ावों का चित्रण कर सार्वजनिक जीवन के मिथ्या आचारों पर करारा व्यंग्य तो किया ही है साथ ही जीवन में धन के महत्व को भी प्रतिपादित किया है । वस्तुत: आज के सार्वजनिक जीवन में लोग उसी को महत्व देते हैं जो धन-धान्य से पूर्ण हो, निर्धन व्यक्ति चाहे वह कितना ही ईमानदार एवं परोपकारी क्यों न हो, सामाजिक जीवन में उसका कोई महत्व नहीं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नाटक का नायक कर्मचन्द्र है, जिसकी एक झलक सत्यभामा तथा नत्थूलाल के निम्न संवाद में द्रष्टव्य है --

नत्थूलाल -- हमारे श्रीमान जी सन् २१ में जब कांग्रेस में शामिल हुए थे तब उनका महत्व इसीलिए हुआ कि वे बहुत बड़े धन-कुबेर थे । सन् २६ में जब उनके नेतृत्व की दुन्दुभी बजी तब भी इसीलिए कि उन्होंने धन पानी के मानिन्द बहाया । और आज फिर जो उनका महत्व बढ़ा है वह इसलिए कि उनके घर में फिर से लक्ष्मी छप्पर फाड़कर आ गयी ।

सत्यभामा --हाँ बीच में जब वे देश सेवा के सबब से ही निर्धन हो गये थे,कर्जदार हो गये थे, तब दुनिया में ऐसा कोई नीच से नीच पाप नहीं था जो उनपर न लादा गया हो - -- - -।[१]

किन्तु यथार्थ जीवन में धन के महत्व को मानते हुए भी उन्होंने अपने इस नाटक में `गरीबी या अमीरी` नाटक की भाँति उसका द्वन्द्वात्म रूप ही प्रस्तुत किया है । यही कारण है कि उनका एक पात्र (सत्यभामा) यदि सम्पन्नता अथवा धन को महत्व देता है तो दूसरा पात्र (कर्मचन्द्र) निर्धनता को । और अपने इसी आदर्श के कारण कर्मचन्द्र प्रान्तीय असेम्बली के चुनाव में खड़ा नहीं होता वरन् महात्मा गाँधी का अनुयायी होकर नि:स्वार्थ सेवा में ही रत रहता है । जो एक आदर्शवादी व्यक्ति ही कर सकता है । उसके जीवन की इस आदर्शवादिता एवं त्याग भावना से दुखी होकर ही सत्यभामा जो एक यथार्थवादी चरित्र है तथा जीवन की यथार्थ स्थितियों से परिचित है कर्मचन्द्र से कहती है -- `आप स्वप्न के स्वर्ग में रहने वाले देवता हो

---

१. सेठ गोविन्ददास -- `महत्व किसे ?`, पृष्ठ ८०

सकते हो, लेकिन मैं तो इसी मृत्यु लोक में रहने वाली मानती हूँ। और मेरा तो यही मत है कि स्वप्न के लिए जीवन की बाजी लगाना कोई बुद्धिमानी नहीं। आप पार्थिवता से सूक्ष्मता, मस्तिष्क से हृदय, शरीर से आत्मा के अधिक निकट हैं, परन्तु यह न भूलिए कि हम इस पार्थिव संसार में निवास करते हैं। हमारे आधिभौतिक शरीर हैं। मैं फिर कहती हूँ सोचिए, देखिए पहचानिये कि इस दुनिया में महत्व... है महत्व - - - - - -है महत्व किसे ?[1] इस प्रकार यद्यपि उन्होंने अपने इस नाटक में संघर्ष की परिणति जीवन के यथार्थ में ही स्वीकार की है, किन्तु फिर भी उनके नाटक पर सर्वत्र युगीन आदर्शवादी विचारों की ही छाया है जो नाटक को अन्तत: आदर्शवादी बना देते हैं।

मानसिक संघर्ष

यों तो व्यक्तिगत नाटकों का मूल आधार ही किसी समस्या-विशेष के सम्बन्ध में व्यक्ति का मानसिक द्वन्द्व है। जो कहीं प्रेम और विवाह के रूप में, कहीं आध्यात्म अथवा भौतिक जगत के रूप में और कहीं त्याग और ग्रहण के रूप में सर्वत्र ही विद्यमान है। किन्तु इनमें समस्या विशेष महत्वपूर्ण रही है। पात्र समस्या के सन्दर्भ में अपने-अपने स्वतन्त्र विचार एवं तर्क देते हैं, समस्या का निरूपण अपनी प्रकृति के अनुसार देते हैं। किन्तु इन संघर्ष प्रधान नाटकों में मनुष्य का मानसिक द्वन्द्व ही एक समस्या के रूप में सामने आया है। वस्तुत: इन नाटकों में कोई समस्या प्रधान न होकर मनुष्य का मानसिक द्वन्द्व ही प्रमुख है जो घटनाओं के घात प्रतिघात से एक मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में सामने आया है। और नाटककार अन्त तक ऊहापोह में ही उलझा रहता है। इस दृष्टि से गोविन्ददास के `सन्तोष कहाँ?' तथा- `सुख किसमें' नाटक उल्लेखनीय है।

`सन्तोष कहाँ?' नाटक का कथानक ही यह है कि नायक मनसाराम असन्तुलित मन:स्थिति का एक महत्वाकाँक्षी पात्र है जो आदि से अन्त तक सन्तोष प्राप्ति के लिये भटकता रहता है किन्तु जीवन के विविध पहलुओं को पार करके भी

---

१. सेठगोविन्ददास - `महत्व किसे?', पृष्ठ ६८।

वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि आखिर सन्तोष है कहाँ ? 'सन्तोष कहाँ ?' की भाँति ही 'सुख किसमें' नाटक में भी नाटककार ने एक महत्वाकांक्षी की मानसिक ऊहापोह का ही चित्रण किया है । जो व्यापार में घाटा खाकर सर्वत्र सुख के लिये भटकता रहता है । किन्तु 'सन्तोष कहाँ ?' की समस्या जहाँ भौतिक जगत से सम्बन्धित होने के कारण मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थवादी प्रतीत होती है वहीं सुख किसमें ' नाटक में नाटककार का रुझान आध्यात्म अथवा दार्शनिकता की ओर दिखाई देता है । जो नाटककार पर उनके आदर्शवादी दार्शनिक विचारों का ही प्रभाव था, जिनसे वह अन्तत: मुक्त नहीं हो सके हैं ।

सामाजिक समस्याश्रयी नाटक :

इन वैयक्तिक समस्याश्रयी नाटकों के अतिरिक्त जो भी नाटक लिखे गये हैं उनमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज की समस्या ही प्रमुख है । जो अपनी सम्पूर्णता में देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक स्थितियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन समस्त सामाजिक समस्याश्रयी नाटकों को तीन भागों में विभाजित किया गया है --

१- सामाजिक समस्याश्रयी नाटक ।
२- आर्थिक समस्याश्रयी नाटक ।
३- राजनीतिक समस्याश्रयी नाटक ।

किन्तु इनके प्रतिपादन के लिये नाटककारों ने कहीं समसामयिक समस्या नाटकों की यथार्थवादी विश्लेषणात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली का सहारा लिया है तो कहीं प्रसाद की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक नाट्य परम्परा का । यद्यपि प्रसाद के नाटकों के माध्यम से हिन्दी नाट्य साहित्य में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक नाटकों की एक अलग परम्परा ही चल पड़ी थी किन्तु युग के प्रवाह में प्रसादोत्तर काल में रचित इन ऐतिहासिक नाटकों का मुख्य सन्दर्भ अव्यवस्थित राजनीति तथा सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना ही रहा है । अत: समाज सन्दर्भता की दृष्टि से इन ऐतिहासिक नाटकों में आगत समस्याओं का विश्लेषण भी सामाजिक समस्याश्रयी नाटकों के अन्तर्गत ही यथास्थान कर दिया गया है ।

१-सामाजिक समस्याश्रयी नाटक -

इस वर्ग के अन्तर्गत जो नाटक रचे गये हैं उनका मुख्य प्रतिपाद्य समसामयिक जीवन में व्याप्त सामाजिक विषमताओं से ही सम्बद्ध है यथा आधुनिक शिक्षा, नारी जागरण, समाज में व्याप्त अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार सुधारकों की स्वार्थ नीति तथा सामाजिक कुरीतियाँ, जिनमें मुख्य हैं बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, वृद्ध-विवाह, वेश्यागमन, छुआछूत तथा मदिरापान।

आधुनिक शिक्षा

यह सत्य है कि इस समय तक समाज में शिक्षा का समुचित प्रचार एवं प्रसार हो चुका था तथा सामाजिकों ने शिक्षा के महत्व को जानकर पुरुषों के साथ-साथ स्त्री शिक्षा पर भी जोर दिया था। किन्तु शिक्षा के महत्व के साथ-साथ वह आधुनिक शिक्षा, जो पाश्चात्य देशों से एक अंध प्रवृत्ति के रूप में भारतीय सामाजिक जीवन में प्रवेश कर रही थी, के दुष्परिणामों से भी परिचित हो रहे थे। अत: शिक्षा के इन दुष्परिणामों को युग की एक गम्भीर समस्या के रूप में स्वीकार कर, नाटककारों ने अपने नाटकों में उनका इतस्तत: उद्घाटन भी किया है। `अश्क` का `स्वर्ग की झलक` आधुनिक शिक्षा के दुष्परिणामों को लक्ष्य कर लिखा गया एक महत्वपूर्ण नाटक है। इसमें नाटककार ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त नारियों के वैवाहिक जीवन की व्यंग्यपूर्ण झाँकी प्रस्तुत कर आधुनिक शिक्षा द्वारा प्रदत्त अहितकर प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया है। नाटक में आगत श्रीमती राजेन्द्र और श्रीमती अशोक तत्कालीन समाज की उन शिक्षित नारियों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं जो शिक्षा के झूठे दंभ में अपने पारिवारिक दायित्व को भूलकर बाह्य प्रदर्शन में विश्वास करती हैं तथा अपना बाहर संवारने के बोझ में अपना घर बिगाड़ देती हैं। तत्कालीन शिक्षित नारियों की इसी मनोवृत्ति, जो शिक्षा के नाम पर अपने व्यक्तिगत सुखों को महत्व देकर अपने दाम्पत्य जीवन को अत्यन्त विषम बना रही थी, पर दु:ख व्यक्त करते हुए अश्क जी का नाटकीय चरित्र राजेन्द्र कहता है --`मैं सोचता हूँ, शिक्षा का जो घातक प्रभाव हमारे यहाँ की स्त्रियों पर पड़ रहा है, वह उन्हें किधर ले जायेगा और उनके साथ-साथ हम गरीबों को भी। चाहिये तो यह कि ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक शिक्षित होता जाय वह अधिक संस्कृत, अधिक सौम्य, अधिक

गम्भीर - - -- -- --- ।[1]

इस प्रकार नाटक के कथानक से यह ज्ञात होता है कि सम्भवत: यह नाटक आधुनिक शिक्षा एवं शिक्षित नारियों के विरोध-स्वरूप लिखा गया है । परन्तु वास्तविकता यह है कि यह नाटक शिक्षा अथवा शिक्षित नारी के विरुद्ध न होकर शिक्षा की दोषपूर्ण प्रणाली के विरुद्ध है । जिसके समर्थन में गिरधारी लाल की पत्नी (भाभी) का निम्न कथन दृष्टव्य है -- `किन्तु सब शिक्षित लड़कियाँ बुरी और अशिक्षित अच्छी नहीं होती ।...... और मैं कहती हूँ कम पढ़ी लिखी लड़कियों से डरना चाहिये, जो लड़की अधिक पढ़ जाती है, जीवन की वास्तविकता उसके सामने खुल जाती है । वह जीवन को और भी गहरी नजर से देखना सीख जाती है । बाह्य संसार का उसे अधिक पता हो जाता है, समय आने पर वह जीवन के युद्ध में पति पर बोझ न बनकर, उसके साथ सब विपत्तियों से जूझ सकती है । और यह `न तीतर न बटेर` किस्म की लड़कियाँ थोड़ा पढ़कर ही अपने आपको बहुत कुछ समझने लगती हैं ।[2] जो प्रत्यक्षत: शिक्षा के प्रति उनके व्यापक दृष्टिकोण के ही परिचायक हैं । अत: इसमें उन्होंने शिक्षा का समर्थन तो किया है किन्तु शिक्षा के नाम पर भारतीय संस्कृति की उपेक्षा उन्हें मान्य न थी । शिक्षा के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि `अधिक पढ़ लिखकर आदमी और भी सीधा सादा जीवन व्यतीत करना सीखे, जितना भरे उतना ही भारी होताजाय ।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक का उद्देश्य नारी शिक्षा के विरुद्ध न होकर उस मनोवृत्ति के विरुद्ध है जो पाश्चात्य शिक्षा के अनुकरण पर आज साधारण पढ़ी लिखी लड़कियों के जीवन की एक विषम समस्या बनती जा रही थी। आज की प्रत्येक पढ़ी-लिखी लड़की चाहती है कि उसे सुसम्पन्न पति मिले । विवाह के पूर्व वह जिस स्वर्ग की कल्पनाएँ करती है, जीवन की जटिलताओं के कारण यथार्थ

---

१. उपेन्द्रनाथ `अश्क` - `स्वर्ग की झलक`, पृष्ठ ५१-५२ ।

२. वही ,, - ,, , पृष्ठ ७४ ।

३. वही ,, - ,, , पृष्ठ ६४ ।

जीवन में जब उन्हें वह नहीं मिल पाता तो वह परिस्थितियों से सामंजस्य के अभाव में दाम्पत्य जीवन के साथ ही सामाजिक जीवन को विश्रृंखल कर देती है । अत: नाटककार ने इस नाटक के माध्यम से शिक्षा के जिस महत् उद्देश्य को सामने रखना चाहा है वह है जीवन से सामंजस्य तथा सन्तुलन की दृष्टि । इसी को स्पष्ट करते हुए अश्क जी ने लिखा है । `------- चाहिये यह कि जहाँ शिक्षा पाकर नारी स्वाभिमान,आत्मविश्वास, व्यापक ज्ञान तथा समाज सेवा की भावनायें पाये, वहाँ अपना सन्तुलन भी न खोये तभी समाज में व्यवस्था कायम रह सकेगी ।`[१] जो दाम्पत्य जीवन में उद्भूत युगीन समस्याओं का एक व्यावहारिक समाधान है । शिक्षा के इसी मर्यादित रूप को महत्व देते हुए मिश्र जी ने भी स्वीकार किया है कि `मनुष्य को जिस चीज की जरूरत है वह शिक्षा नहीं संस्कार है ।`[२] अत: स्पष्ट है कि इस युग में शिक्षा के दुष्परिणामों को समझकर शिक्षा के साथ ही संस्कारों पर विशेष ध्यान दिया गया ।

शिक्षित आधुनिक नारियों के साथ ही अश्क जी ने अपने इस नाटक में समाज के शिक्षित कहलाने वाले उस युवा वर्ग पर भी व्यंग्य किया है जो थोड़ा सा पढ़ लिख जाने पर आधुनिकता का झूठा दंभ भरने लगते हैं और अपने सामाजिक दायित्व की उपेक्षा कर आधुनिका एवं शिक्षिता पत्नी के मोह में भटकते रहते हैं । नाटक का नायक रघु इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । किन्तु व्यावहारिक जीवन में उसकी निस्सारता को समझ वह अन्तत: अपनी अल्पज्ञता पर पश्चाताप कर कम पढ़ी लड़की से ही विवाह करने को तैयार हो जाता है । अपने इस परिवर्तित दृष्टिकोण के विषय में तर्क देता हुआ वह कहता है -- `देखिए भाई साहब, इस वातावरण में पली, इतनी पढ़ी लिखी लड़की से शादी करने के लिए पुराने संस्कारों को सर्वथा त्याग देना पड़ता है और दुर्भाग्य से मैं ऐसा नहीं कर सका । जिस स्वर्ग की वे झलक देखती है, वह हमसे भिन्न है ।`[३] और वास्तव में इसको समझने में ही मनुष्य तथा समाज का

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क - `स्वर्ग की झलक`, भूमिका पृष्ठ १०

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `सन्यासी`, पृष्ठ १२

३. उपेन्द्र नाथ अश्क - `स्वर्ग की झलक`, पृष्ठ ६६ -६७

कल्याण है/कारण, मनुष्य आज संक्रान्ति की ऐसी अवस्था में जी रहा है जहाँ वह आधुनिक बनकर भी आधुनिक नहीं बन पा रहा है। रूढ़िवादिता उसकी नसों में भरी हुई है जिसने उसके जीवन को अत्यन्त विशृंखल कर दिया है। रघु के माध्यम से नाटककार अपने इस युग-यथार्थ को चित्रित करने में पूर्ण सफल हुआ है।

आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न समाज की इन्हीं विषमताओं का उद्घाटन लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में भी यत्र-तत्र दिखायी देता है। यद्यपि बुद्धिवाद के समर्थन में मिश्र जी सर्वत्र आधुनिक शिक्षा तथा स्वतन्त्रता के समर्थक होकर आये हैं किन्तु उसके दुष्परिणामों से परिचित होकर वह उसे पूर्ण स्वीकृति भी नहीं दे सके हैं। अत: जगह जगह पर उन्होंने आधुनिक शिक्षा के दुष्परिणामों की कटु आलोचना भी की है। 'राजयोग' नाटक में शिक्षा के फलस्वरूप नारियों में उत्पन्न दुराग्रहों की निन्दा करते हुए नरेन्द्र चम्पा से कहता है --'तुम्हारी शिक्षा ने तुम्हारे मन में एक प्रकार का दुराग्रह, दुस्साहस पैदा कर दिया है। - - - - पुरुषों के आश्रय में स्त्रियों का रहना तुम्हारी समझ में उनकी अयोग्यता है, लेकिन प्रकृति बदली नहीं जा सकती। नारी सुधार और नारी समस्या के नाम पर स्त्री पुरुष नहीं बनाई जा सकती।'[1] किन्तु 'आधीरात' में तो मिश्र जी ने पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कारों में पली भारतीय नारी के जीवन की असफलता को चित्रित कर आधुनिक शिक्षा के प्रति अपनी अरुचि सी प्रकट की है। आधुनिक शिक्षा की इसी विकृत प्रणाली से अभिशप्त मायादेवी तत्कालीन शिक्षा के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए कहती है --'इस स्वतन्त्र युग के स्वतन्त्र वायुमण्डल में मनुष्य के सभी बन्धन टूट गए। बन्धन टूट जाने पर पशु जैसी मनमानी करने लगता है, मनुष्य भी वही कर रहा है। और उसी का नाम है शिक्षा सभ्यता और स्वतन्त्रता।'[2] यह ठीक है कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावस्वरूप सामाजिकों में अनैतिकता एवं उच्छृंखलता का प्रादुर्भाव हो रहा था, किन्तु ऐसा नहीं था कि वह सर्वथा अनुपयोगी ही हो। उसमें यदि कुछ अवगुण थे तो कुछ गुण भी थे। अत: शिक्षा का पूर्णत: विरोध कर भूत प्रेतादि रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के समर्थन में तर्क देना तथा उनके प्रति अपनी आस्था को प्रदर्शित करना एक प्रगतिशील एवं बुद्धिवादी नाटककार के लिये तत्कालीन परिस्थितियों में अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है।

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'राजयोग', पृष्ठ १६०
२. वही ,, 'आधीरात', पृष्ठ ७६

मिश्र जी के प्रथम समस्या नाटक `संन्यासी` का तो मूल कथानक ही भारतीय जीवन में प्रसरित आधुनिक शिक्षा के दुष्परिणामों का परिणाम है। किन्तु यहाँ वह शिक्षा के विरोधी न होकर उसकी प्रणाली के ही विरोधी रहे हैं। इसी को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नाटक की भूमिका में मिश्र जी ने अपने आलोचकों की आलोचनाओं का जवाब देते हुए कहा था --`मेरे इस नाटक का पहला पेज पढ़कर तुमने कहा था `इस नाटक में आधुनिक शिक्षा का विरोध हुआ है।` विरोध किसे कहते हैं यह तो मैं नहीं जानता किन्तु हाँ, शिक्षा की इस रीति को मैं पसन्द नहीं करता। यह व्यक्तित्व का नाश कर मनुष्य को मशीन बना देती है - - - - - शिक्षा की इस प्रणाली में अच्छे और बुरे मस्तिष्क वाले सभी एक साथ जोत दिये जाते हैं -- नतीजा अच्छा नहीं होता। संस्कार और चरित्र बल किसे कहते हैं, इसका पता इस शिक्षा में नहीं चलता। - - - - - पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श, पश्चिमी जीवन हमारे रक्त में विषैले कीटाणु की तरह प्रवेश कर हमें अशान्त बना रहे हैं -- हम समझते हैं विकास हो रहा है।[1] किन्तु इस नाटक में नाटककार की दृष्टि शिक्षा की इन कमजोरियों के साथ ही तत्कालीन शिक्षा के एक अन्य पहलू की ओर भी आकृष्ट हुई और वह थी लड़के-लड़कियों के साथ पढ़ने से उत्पन्न सामाजिक समस्या। इसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा था --`इस शिक्षा में जो सबसे बढ़कर बुराई है वह अब आई है और वह है लड़के-लड़कियों का साथ पढ़ना। यह रीति पश्चिम से आई है। किन्तु अपने साथ वह सहिष्णुता न ला सकी जो पश्चिम में इसका मूल तत्व है।[2] इस प्रकार अपने इस नाटक में मिश्र जी ने विद्यार्थी जीवन में साथ पढ़ने वाले मालती तथा विश्वकान्त नामक दो प्रेमियों के जीवन की करुण कथा को प्रस्तुत कर भारतीयों की अपरिपक्व एवं संकुचित मानसिकता का उद्घाटन तो किया ही है साथ ही पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों की दृष्टि में और अधिक उदार एवं व्यापक बनाने का प्रयास भी किया है। वस्तुत: आज सामाजिकों की यह बहुत बड़ी समस्या है कि हम पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के अन्धानुकरण में उसके बाह्य रूप को तो ग्रहण कर लेते हैं किन्तु हमारी मानसिकता एवं आधारभूमि भारतीय ही रहती है। अत: संस्कारों की भिन्नता के कारण आधुनिक शिक्षा जीवन को सफल एवं उन्नत

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `संन्यासी`, पृ० ६-१०

२. ,, ,, - ,, , पृ० ११

बनाने की अपेक्षा अधिकाधिक जटिल एवं संघर्षमय ही बनाती जा रही है । किन्तु अपने चिन्तन के आधार पर इसका एक व्यावहारिक समाधान नाटककार ने अपने इस नाटक में प्रस्तुत किया है जिसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है `- - - - - शिक्षालयों का नियमन मार्शल ला से नहीं स्पिरिचुअल अथवा कल्चरल ला से होना चाहिये ।`[1] वस्तुत: आज की परिवर्तनशील परिस्थितियों में नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन आना भी आवश्यक है ।

नारी जागरण

पाश्चात्य शिक्षा तथा सुधारवादी आन्दोलनों के परिणामस्वरूप भारतीय नारी में जागरण की जो क्रान्तिकारी भावना जन्म ले रही थी, युग की प्रगतिशील बौद्धिक क्रियाशीलता ने उसे युग की एक अनिवार्य आवश्यकता समझ सक्रिय आन्दोलन का रूप प्रदान किया । जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य में सर्वत्र ही दृष्टव्य है । इस युग के नाटकों में प्रस्तुत प्रेम अथवा विवाह के द्वन्द्वात्मक रूप का तो मूल आधार ही नारी जागरण था, जिसका बौद्धिक विश्लेषण वैयक्तिक समस्याश्रयी नाटकों के सन्दर्भ में किया भी जा चुका है । किन्तु सामाजिक नाटकों में नारी की यह जागरूकता मुख्यत: पददलित नारी की आर्थिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता तथा समानाधिकारों की रक्षा के लिये संघर्षरत दिखाई देती है ।

नारी जागरण की इसी युगीन चेतना से प्रभावित होकर उपेन्द्रनाथ अश्क ने `कैद` और `उड़ान`, उदयशंकर भट्ट ने `कमला`, `विद्रोहिणी अम्बा`, वृन्दावनलाल वर्मा ने `मंगलसूत्र तथा गोविन्द वल्लभ पन्त ने `सुहाग बिन्दी ` इत्यादि महत्वपूर्ण नाटकों की रचना की । किन्तु `कैद ` और `उड़ान`, तथा `कमला ` में जहाँ नाटककार ने असन्तुलित दाम्पत्य की समस्या को उठाकर वैवाहिक जीवन को विषम बनाने वाली सामाजिक रूढ़ियों तथा पुरुषों की असमन्यता पर अपना आक्रोश व्यक्त किया है, वहीं `मंगलसूत्र` में नाटककार ने नारी स्वातन्त्र्य की समस्या को उठाकर पुरुषों की अनधिकृत नियन्त्रण चेष्टा तथा झूठे आश्वासनों की निन्दा कर नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता पर जोर दिया है । जिसके समर्थन में नाटक की एक

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `सन्यासी`, पृष्ठ ११

जागरूक नारी तत्कालीन आर्थिक अव्यवस्था पर असन्तोष व्यक्त करते हुए कहती है -- 'स्त्री को पुरुष के बराबर पद मिलना चाहिये । समाचार पत्रों, अधिवेशनों और पुस्तकों में तो यह पद मिलता रहता है, परन्तु कानून और देश की योजनाओं में स्थिति नहीं के बराबर है । समाज हित की आड़ में जो कर्कशता फैली हुई है उसका कारण वर्तमान आर्थिक अव्यवस्था है । स्त्री को आर्थिक स्वावलम्बन दीजिये तो वह समाज का बहुत अधिक हित कर सकेगी ।'[1] नारी के इस व्यक्तित्व निर्माण में युग की समसामयिक जागरणकालीन चेतना का ही प्रभाव था । 'विद्रोहिणीअम्बा' में तो नारी का यह हृदगत असन्तोष विद्रोह का रूप धारण कर पुरुष समाज के लिये एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत हुआ है । यद्यपि नाटक का मूल कथानक एक पौराणिक कथा पर आधारित है किन्तु इसकी नायिका 'अम्बा' आधुनिक जागृत नारी की ही प्रतीक है जो अपनी शक्ति के बल पर नारी जाति के प्रति किये गये अत्याचारों के लिये तत्पर है । अत: पुरुष जाति द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर वह चिल्ला उठती है 'स्त्रियों का मानापमान क्या ? पुरुष समाज की इतनी धृष्टता । स्त्रियों की काई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नहीं, सदा से स्त्रियों का अपमान किया है ।'[2] पुरुष जाति के अन्यायों के प्रति नारी हृदय की इस प्रतिशोधाग्नि को प्रज्वलित करने के साथ ही नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में नारी को परतन्त्र बनाने वाली हिन्दू विवाह पद्धति की रूढ़िगत मान्यताओं तथा विधवा विवाह समस्या पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया है जहाँ 'एकबार स्त्री को पुरुष के आधीन हो जाने पर अपने आपको भूल जाना होता है ।'[3]

नारी की इसी जागरूकता का परिचय देते हुए गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'सुहाग बिन्दी' में एक निरस्कृत- वरन् सती नारी के माध्यम से समाज में प्रचलित बहुविवाह की रूढ़िगत मान्यता पर व्यंग्य किया है । पुरुष समाज की विलासी-

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा -- 'मंगलसूत्र' पृष्ठ ४१

२. उदयशंकर भट्ट -- 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ७६-७७

३. उदयशंकर भट्ट -- 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ५४

प्रवृत्ति के कारण समाज में नारी की जो दुर्दशा थी उस पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए गोविन्द वल्लम पन्त की `रेवा` कहती है -- `कठोर पुरुष जाति ? पहली स्त्री के अशौच के दिन पूरे होते ही तुम दूसरा विवाह कर मुझे ले आए। कल मैं मर जाऊँगी, तो परसों तुम फिर विवाह कर लोगे, और मेरी शेष स्मृति भी इसी प्रकार तुम्हारे अकरुण पैरों के नीचे मसल डाली जायेगी स्वार्थी संसार।[१] जो अप्रत्यक्ष रूप से पुरुष समाज में प्रचलित बहुविवाह की दूषित मानसिकता पर एक करारा व्यंग्य है।

प्रेम, विवाह और परिवार की इन जटिल सामाजिक समस्याओं के साथ ही तत्कालीन समाज की कतिपय अन्य समसामयिक समस्याएँ यथा सामाजिक कुरीतियाँ, सुधारकों की स्वार्थ नीति तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार भी नाटककारों की लेखनी का प्रतिपाद्य बनी। जो अपनी सम्पूर्णता में युग-जीवन का एक यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है।

सामाजिक कुरीतियाँ

बौद्धिक दृष्टि के संघात से इस समय सामाजिकों में जागृति अथवा सुधार की जो क्रान्तिकारी भावना जन्म ले रही थी ; युग-जीवन की स्थूलताओं के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने के साथ ही उसने सामाजिक जीवन में व्याप्त अनैतिकताओं एवं कुरीतियों का खण्डन भी किया। जो तत्कालीन नाटकों में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, दहेज-प्रथा, अस्पृश्यता, मदिरापान तथा वेश्याओं के विषम सामाजिक जीवन के मूलोच्छेदन के रूप में सर्वत्र ही दृष्टव्य है। यों तो हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु काल से ही युग की इन सामाजिक विकृतियों के प्रति खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति क्रियाशील थी, किन्तु समस्या के प्रतिपादन की दृष्टि से दोनों के स्वरूप में एक मूलभूत अन्तर है वह यह कि जहाँ भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन नाटककारों का दृष्टिकोण समस्या के प्रति नैतिकतापरक एवं उपदेशात्मक था वहीं प्रसादोत्तरकालीन इन तथाकथित बुद्धिवादी एवं प्रगतिशील नाटककारों ने युग की सामाजिक विकृतियों के प्रति एक बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया। अत: इनके

---

१. गोविन्द वल्लम पन्त, `सुहाग बिन्दी`, पृष्ठ ३८

नाटकों में उपदेशात्मकता की जगह तर्क एवं विवेक की प्रधानता है जो समानाधिकारों की रक्षा के लिये संघर्षशील दलित वर्गों की जागरूकता के रूप में सर्वत्र ही प्रतिध्वनित हुई है । हरिकृष्ण प्रेमी के `विषपान` नाटक में वेश्याओं की अध: पतित स्थिति के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए एक जागरूक वेश्या केसरबाई कहती है -- `एक वेश्या अनेक व्यक्तियों से प्रेम का खेल खेलती है और एक राजा अनेक रानियाँ रखता । क्या दोनों समान नहीं हैं ? समाज क्यों राजा का आदर करता है -- क्यों वेश्या का अपमान करता है और क्यों उससे घृणा करता है ? महाराज जगत सिंह-- आप लोग यही चाहते हैं कि पाप पर्दे के पीछे पनपता रहे - - - - जो एक बार भूल से या परिस्थितियों के दबाव से कुपथ पर चला गया उसकी सन्तान भी उसी रास्ते पर जाय । यही आज के समाज का विधान है । जब तक उसी रास्ते को छोड़कर आने वाले को समाज में समान स्थान नहीं मिलेगा वह सत्पथ पर कैसे आयेगा ?[1] अपने इसी नाटक में प्रेमी ने असवर्णों की जागरूकता को स्वर देते हुए दासी पुत्र बनानदास के शब्दों में कहलवाया है --`वे हमारी मजबूरी इसी में समझते हैं कि हम बेगैरत होकर समाज के अत्याचार चुपचाप सह लें । ये लम्बी-लम्बी तीखी-तीखी तलवारें,बड़ी-बड़ी तराजुएँ और पैनी पैनी लेखनियाँ लेकर हम लोगों को अपना दास बनाए रखें । नहीं राधा इस जन्मगत जातीय अभिमान को मिट्टी में मिलाना ही चाहिए ।[2] जो नाटककार पर युगीन क्रान्तिकारी प्रगतिशील सामाजिक चेतना का ही प्रभाव था ।

युग जीवन की इन सामाजिक विकृतियों के साथ ही नाटककार की दृष्टि अनमेल-विवाह और विधवा-विवाह निषेध सदृश सामाजिक रूढ़ियों की ओर भी गयी और सभी ने नारी उद्धार के नाम पर नारी के पक्ष में ही अपना अभिमत प्रस्तुत किया है । अनमेल-विवाह की असंगत रूढ़ि के उद्घाटन की दृष्टि से लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत `सन्यासी` तथा उदय शंकर भट्ट का `विद्रोहिणी अम्बा` उल्लेखनीय नाटक है । इसमें नाटककार ने वृद्ध विवाह की असमीचीनताओं से संत्रस्त नारी के विरोध भाव को ही व्यंजित किया है जो `विद्रोहिणी अम्बा` की जागरूक नारी अम्बा में विद्रोह

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी - `विषपान`, पृष्ठ ८०
२. हरिकृष्ण प्रेमी - `विषपान`, पृष्ठ ३६

की सीमा तक पहुँच गया है जिसका उद्घाटन करते हुए वह कहती है -- `किन्तु यह तो अन्याय है पिता जी - - - - हाँ मैं सब सुन रही थी । बुराई को सदा दूर करते रहना चाहिये । इन बूढ़ों को कुमारियों से विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है ।'[1] लेकिन `सन्यासी' में नारी का यह विद्रोह समस्या के प्रति बौद्धिक एवं व्यावहारिक मीमांसा तक ही सीमित रहा है, जो नाटक की एक बुद्धिवादी नारी किरणमयी के शब्दों में स्पष्ट है -- `मेरी तबियत तुम्हारे साथ कैसे लग सकेगी --- तुम्हीं सोचो मैं तुम्हे देखती हूँ तो पिताजी याद पड़ते हैं ।'[2] यद्यपि यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है किन्तु नाटककार ने समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है --`हम लोगों का नाता स्वाभाविक नहीं, बनावटी है । इसे बनावटी रूप में ही निभाना होगा ।'[3] रूढ़ि विध्वंसक होते हुए भी, भारतीय सामाजिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल नहीं कहा जा सकता ।

किन्तु भारतीय समाज की दूसरी रूढ़ि विधवा-विवाह के सम्बन्ध में मिश्र जी पूर्णत: परम्परावादी एवं रूढ़िवादी के रूप में ही सामने आये हैं । यद्यपि इनसे पूर्व के सभी नाटककारों ने विधवा-विवाह का समर्थन कर पुनर्विवाह पर जोर दिया था किन्तु सामाजिकों की विलासी प्रवृत्ति से उत्पन्न समस्याओं ने मिश्र जी को इसके विपरीत सोचने के लिये विवश किया । जिसका जीवन्त प्रतिरूप मिश्र जी का `सिन्दूर की होली' नाटक है । इसमें नाटककार ने नारी सुधार के नाम पर समाज में चल रहे विधवा-विवाह आन्दोलन को पुरुषों की चाल बताकर विधवा-विवाह का निषेध ही किया है । उनका विश्वास था कि आज समाज में विधवा-विवाह का जो आन्दोलन चल रहा है उससे नारी समस्या हल न होकर और बढ़ेगी ही । विधवाओं की इसी दयनीय स्थिति के विषय में तर्क करते हुए बाल विधवा मनोरमा कहती है --`विधवा विवाह हो रहा है - - - - लेकिन वैधव्य कहाँ मिट रहा है ? समाज इस आग को बुझा नहीं सकता इसलिए उसे अपने कन्धे से उठाकर अपनी नींव में रख रहा है । - - - वैधव्य तो मिटेगा नहीं - - -- -- - तलाक का आगमन होगा । अभी तक तो केवल वैधव्य की समस्या थी - - - -- - - अब तलाक की समस्या भी आ रही है ।'[4] यद्यपि

---

१. उदयशंकर भट्ट -- `विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ५०-५१

२-३. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सन्यासी', पृष्ठ ८६

४. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सिन्दूर की होली', पृष्ठ ११२

यह नाटककार के युग का यथार्थ था किन्तु समाज सुधार की तत्कालीन परिस्थितियों में नाटककार ने विधवा-विवाह का विरोध कर वैधव्य का जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह सामाजिकों को आश्चर्य में डालने वाला विषय अवश्य था। विधवा-विवाह की समस्या के विषय में बुद्धिवादी मिश्र जी की इस नवीन उद्भावना को लक्ष्य कर ही मान्धाता ओझा का कथन है कि - 'नाटककार वैधव्य के प्रति परम्परावादी विचार को केवल व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से देखता है सेक्स की मर्यादावादी दृष्टि से नहीं देखता है।'[1] जो वैधव्य का समर्थन करने वाली मनोरमा के इस कथन 'मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती, लेकिन प्रेमी बना लूँगी।'[2] से पूर्णतः सत्य भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार नाटक के अन्त में मरणासन्न रजनीकान्त के हाथों से चन्द्रकला की माँग में सिन्दूर भरवाकर भी मिश्र जी ने अपने इसी उद्देश्य की पुष्टि की है। किन्तु सत्य तो यह है कि वैधव्य का समर्थन करने पर भी उनके नारी पात्र अपने शिक्षा तथा संस्कारों के कारण दो भिन्न जीवन दृष्टियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। शिक्षित चन्द्रकला जहाँ मनोरमा के समाजानुमोदित वैधव्य को रूढ़ियों का विधवापन बताकर अपने वैधव्य को श्रेष्ठ प्रतिपादित करती है वहीं मनोरमा चन्द्रकला के वैधव्य को चिर नवीन एवं भावुकता का परिणाम बताती है। विचारों का यह द्वन्द्व अन्त तक अनिर्णयात्मक रूप से चलता रहता है और प्रेक्षक यह निर्णय नहीं कर पाता कि रूढ़िवादिता तथा भावुकता के बीच वह किसका समर्थन करे। इस प्रकार विधवा-विवाह की समस्या को उठाकर भी मिश्र जी भावुकता एवं आदर्शों के चक्कर में पड़कर रूढ़िपालन के अतिरिक्त समस्या का कोई निश्चित एवं तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं। जो एक प्रगतिशील एवं बुद्धिवादी नाटककार की प्रगतिशीलता को संदिग्ध बना देता है।

---

१. मान्धाता ओझा -- 'हिन्दी समस्या नाटक', पृष्ठ २०४

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'सिन्दूर की होली', पृष्ठ 69

सामाजिक जीवन में व्याप्त अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार

यों तो तत्कालीन प्राय: समस्त नाटकों में ही युग का यह यथार्थ किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त हुआ है, कहीं राजनैतिक हथकण्डों के रूप में तो कहीं आर्थिक शोषण के रूप में । किन्तु सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण की दृष्टि से लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत 'सिन्दूर की होली' एक महत्वपूर्ण रचना है । इसमें नाटककार ने समृद्धशालियों के निरंकुश व्यवहार, घूसखोरी, आधुनिक शिक्षा, स्त्री-स्वातन्त्र्य, अव्यवस्थित न्याय प्रणाली तथा सरकारी अस्पतालों की दुर्दशा का अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है । यद्यपि अपने अन्य नाटकों की भाँति ही इस नाटक में भी मिश्र जी ने नारी समस्या को अपना प्रतिपाद्य बनाया है किन्तु नाटक की मूल समस्या अधिकारी वर्ग द्वारा घूस लेने की प्रवृत्ति ही है, जिसकी आड़ में बेईमानी, धोखेबाजी तथा हत्या जैसे अनेकों अमानुषिक कर्म पनप रहे थे । नायिका चन्द्रकला का पिता डिप्टी मुरारीलाल इसका जीवन्त प्रतिरूप है जो ५० हजार रुपये घूस में लेकर दो पट्टीदारों के झगड़े का उचित न्याय नहीं करता और इसका परिणाम होता है निरपराध रजनीकान्त की हत्या । यद्यपि मिश्र जी ने घूस लेने की प्रवृत्ति को एक सामाजिक अपराध माना है, जिसका प्रायश्चित उन्होंने नाटक के अन्त में चन्द्रकला के समर्पण 'मेरे सिर पर यह सिन्दूर उस पचास हजार का प्रायश्चित है ।'[१] द्वारा कराया भी है, किन्तु इसके लिये उन्होंने व्यक्ति की अपेक्षा अन्यायपूर्ण शासनव्यवस्था तथा न्याय-प्रणाली को ही दोषी ठहराया है जहाँ सारा खेल गवाहों का है तथा जिन्हें पैसे के बल पर खरीदा जा सकता है । कानून की इसी विडम्बना की ओर संकेत करते हुए डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल स्वयं स्वीकार करता है -- संसार में भलाई-बुराई का भाव अब नहीं है । आज इसने (भगवन्तसिंह ने दस हजार दिया है, दस-दस रुपये देकर वह गवाहों को बिगाड़ देता है । एक हजार भी नहीं खर्च होता और यह छूट जाता है । आजकल का कानून ही ऐसा है । इसमें सजा उसको नहीं दी जाती जो कि अपराध करता है...... सजा तो केवल उसको होती है जो अपराध छिपाना नहीं जानता । बस... यही कानून

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'सिन्दूर की होली', पृष्ठ १७०

है । ...... हमलोग मनुष्य और उसके अधिकार की रक्षा के लिये कुर्सी पर नहीं बैठते ...... हम लोगों का तो काम है केवल कानून की रक्षा करना । यही बुराई है और इसीलिये यह सब हो रहा है ।[1] और वास्तव में यही युग-जीवन का यथार्थ भी है । क्योंकि आज के जमाने में जो आदमी कानूनी दाँव पेच जानता है अथवा पैसा खर्च कर सकता है वह अनेकों कुकर्म करके भी किसी न किसी प्रकार बच ही निकलता है । और नेक एवं ईमानदार आदमी अपने सद्कर्मों का प्रायश्चित दण्ड भोगकर करता है । न्याय की इसी हृदयहीनता एवं दुर्लभता पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए `छाया` नाटक का रजनीकान्त कहता है --`आजकल का न्याय है पूँजीपतियों,राजा-महाराजाओं और सम्राटों की संपत्ति और शक्ति की रक्षा करने का साधन । ..... आजकल का न्याय शरीफों को बदमाश बनाने का शिकंजा है । ज्योत्सना ! उसी शिकंजे में प्रकाश को कसा जा रहा है ।`[2] स्पष्ट है कि समाज सुधार के लिये व्यक्ति में सुधार करने के पहले कानून में सुधार आवश्यक है । उपर्युक्त दोनों नाटकों का मुख्य उद्देश्य कानून में सुधार ही है जो समय को देखते हुए न्यायसंगत एवं नाटककार की युगसम्पृक्तता तथा विवेकशीलता का परिचायक है ।

सुधारकों की स्वार्थनीति अथवा पाखण्ड

प्रशासनिक जीवन में व्याप्त इन सामाजिक विकृतियों के उद्घाटन के साथ ही नाटककार ने समाज-सुधार के नाम पर लोगों को ठगने वाले उन ढोंगी एवं पाखण्डी समाज सुधारकों को भी अपनी लेखनी का प्रतिपाद्य बनाया है जो व्यावसायिक वृत्ति से प्रेरित होकर समाज सुधार को मात्र स्वार्थ-पूर्ति का साधन बनाये हुए थे । `राक्षस का मन्दिर` का मुनीश्वर एक ऐसा ही स्वार्थी एवं पाखण्डी चरित्र है । नारी सुधार के नाम पर वह जिस वेश्या सुधार आश्रम की स्थापना करता है उसके मूल में उसकी विलासी प्रवृत्ति ही कार्यरत थी । जिसकी एक झलक अशगरी के निम्न शब्दों में दृष्टव्य है —

मुझे सुधार नहीं करना है ? मुनीश्वर जी आप दुनिया को धोखा दे रहे हैं -- नहीं तो आप वेश्या सुधार आश्रम में क्या करेंगे -- मुझे मालूम है । आप

----

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `सिन्दूर की होली` , पृष्ठ ३५

२. हरिकृष्ण प्रेमी -- `छाया` , पृष्ठ ६६-७०

सुधार करने के लिये बनाये नहीं गये थे। आप तो बनाये गये थे दुनिया को ठगने के लिये। आप अपना काम करते चलिये। सुधार के बहाने जिनको फँसाकर आप अपने आश्रम में रखेंगे उनमें कोई न कोई आपके मतलब की मिल जायेगी।'[1]

यहाँ मुनीश्वर के माध्यम से नाटककार का यह व्यंग्य प्रहार समाज के उस विस्तृत सुधारक वर्ग पर था जो समाज सुधार एवं सेवा के नाम पर लोगों को धोखे में रखकर अपने स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न था। सुधारकों के इसी स्वार्थी चरित्र पर दुख व्यक्त करते हुए रघुनाथ आगे कहता है --'सेवा नहीं...... लालसा और उपभोग - वासना और विकार मुनीश्वर। आज की दुनिया में तुम्हारे ऐसे सेवक बहुत हैं - इसीलिये इसकी यह दशा है -- यह रोज गिरती चली जा रही है -- रोज तुम लोग अपनी लम्बी चौड़ी रिपोर्ट निकालते हो -- स्कीम बनाते हो -- आन्दोलन करते हो -- यह सब दुनिया की भलाई के लिये नहीं बुराई के लिये हो रहा है। - - - - लेकिन संसार को सत्य से क्या मतलब। कौन कितना धोखा दे सकता है -- सेवा और योग्यता का यही सर्टिफिकेट है।[2] वस्तुत: इस समय संसार में सुधारवाद के नाम पर सुधारकों का एक ऐसा दम्भी समुदाय उत्पन्न हो रहा था। जिसकी इतिकर्त्तव्यता उसके व्याख्यानों अथवा भाषणों तक ही सीमित थी। सुधारकों की इसी झूठी आदर्शवादिता एवं पाखण्डों का उद्घाटन करते हुए वह आगे फिर कहता है--'उनका सिद्धान्त और आदर्श शब्दों और वाक्यों का है ....सत्य का नहीं। वे व्याख्यान तैयार करते हैं, रटते हैं, और बोलते हैं अपने हृदय से नहीं पूछते वह क्या कह रहा है? सिद्धान्त और आदर्श की जहाँ बात पड़ती है --वहाँ एक साँस में -- बुद्ध, ईसा, कन्फूसियस, सुकरात और टालसटाय गान्धी या लेनिन का नाम ले जाते हैं। यह नहीं देखते उनकी जिन्दगी क्या थी और इनकी जिन्दगी क्या है। मुनीश्वर[3] आज सुधारक बना है। और कल ..... खैर....... यही दुनिया की गति है।'

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'राक्षस का मन्दिर', पृष्ठ ७५

२. ,, ,, -- 'राक्षस का मन्दिर', पृष्ठ ९८-९९

३. ,, ,, -- 'राक्षस का मन्दिर', पृष्ठ ११३

समाज सुधारकों अथवा सिद्धान्त वादियों का यही युगीन यथार्थ सेठ गोविन्ददास के 'त्याग या ग्रहण?' में समाजवादी नीतिराज तथा विमला के अस्थिर व्यक्तित्व के माध्यम से भी व्यक्त हुआ है। जो पहले तो जवानी के जोश में नारी स्वाधीनता, वैवाहिक स्वच्छन्दता तथा समाजवाद के ग्रहण सिद्धान्त का समर्थन करते हैं किन्तु सामाजिक जीवन में उन्हें व्यावहारिक रूप न दे पाने पर अपने आदर्शों एवं सिद्धान्तों से ही विमुख हो जाते हैं। वस्तुत: इसके मूल में सुधारकों की भावुकता अथवा स्वार्थपूर्ति की प्रवृत्ति ही कार्यरत थी और यही कारण है कि समाजवाद के ग्रहण सिद्धान्त की दुहाई देते हुए, वह उसके परिणामों को सोचे बिना ही इतने आगे बढ़ जाते हैं, जहाँ पहुँचकर वापस लौटना उनके लिये मुश्किल होता है। अपनी इसी गल्ती पर पश्चाताप करते हुए नीतिराज कहता है --'विमला, हम लोगों ने इस तरह एक दूसरे के साथ रहकर जो गल्ती की है, वह जीवन की सबसे बड़ी भूल है, यह सिर्फ मेरा दिल ही नहीं कहता, पर दिमाग भी कहता है। कुछ बड़े सिद्धान्तों में, जो वर्तमान परिस्थिति में व्यवहार में नहीं लाये जा सकते विश्वास कर लेने, और जवानी के नशे में रहने के कारण हम लोगों ने अपने को बर्बाद कर डाला। हम किसी मशरफ़ के नहीं रह गये।'[१] इस प्रकार नाटककार ने सुधारकों के झूठे आदर्शों एवं सिद्धान्तों का पर्दाफाश तो किया ही है साथ ही गाँधीवादी त्याग और समाजवादी ग्रहण के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का बौद्धिक विश्लेषण कर, भारतीय परिस्थितियों में गाँधीवादी त्याग की महत्ता को भी प्रतिपादित किया है। जो नाटककार पर पड़े गान्धीवाद का ही प्रभाव है।

---

१. सेठ गोविन्ददास -- 'त्याग या ग्रहण ?' पृष्ठ ८६

आर्थिक समस्याश्रयी नाटक

प्रगति चेतना के इस बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में नाटककारों की तीक्ष्ण एवं आलोचनात्मक दृष्टि युग की रूढ़िबद्ध सामाजिक मान्यताओं के साथ देश में बढ़ती हुई आर्थिक विषमताओं की ओर भी आकृष्ट हुई । यों तो अंग्रेजों के आगमन काल से ही उनकी षड्यन्त्रकारी व्यापारिक तथा साम्राज्यवादी नीतियों के परिणाम स्वरूप भारतीय पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग करों तथा हरजाने के रूप में विदेशों को जा रहा था और आर्थिक व्यवस्था दिन पर दिन जटिल एवं संघर्षमय होती जा रही थी, किन्तु इस युग तक आते-आते ब्रिटिश साम्राज्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शोषणकारी आर्थिक नीतियों ने भारतीय समाज व्यवस्था में जमींदारों एवं पूँजीपतियों के एक नवीन शोषक वर्ग को जन्म दिया । जिसने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने ही भाइयों का गला काटना प्रारम्भ कर दिया । परिणाम स्वरूप समाज में आर्थिक समस्या को लेकर वर्ग भेद अथवा वर्ग वैषम्य की एक नवीन समस्या उत्पन्न हुई, जिसने सम्पूर्ण भारतीय समाज को शोषक और शोषित दो भागों में विभाजित कर वर्ग-संघर्ष की युगान्तरकारी भावना को जन्म दिया । फलत: सर्वत्र हिंसा, शोषण तथा क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी और सामाजिक व्यवस्था में एक उथल-पुथल मच गयी ।

यद्यपि राष्ट्रीय नेताओं की शान्तिपूर्ण नीति के कारण समस्या के विरुद्ध कोई सक्रिय कदम तो नहीं उठाया गया किन्तु साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के इस दोहरे शोषण-चक्र में देश की सामान्य जनता मुख्यत: सर्वहारा वर्ग जिस बुरी तरह पिस रहा था, उसकी अन्तर्व्यथा ने समकालीन बुद्धिवादियों को अपनी ओर आकृष्ट अवश्य किया और आर्थिक समस्या के प्रति बुद्धिवादियों का यह बौद्धिक उन्मेष ही तत्कालीन आर्थिक समस्याश्रयी नाटकों का प्रमुख प्रतिपाद्य बना, जिसके माध्यम से उन्होंने अर्थ-व्यवस्था के प्रचलित मानदण्डों की उपेक्षा कर वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न किया जो भारतीय जन मानस पर पूँजीवाद के विरोध स्वरूप रूस में उपजे मार्क्स के समाजवादी अथवा साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव था ।

प्रसादोत्तरकालीन इन आर्थिक समस्याश्रयी नाटकों में युग का यह आर्थिक संघर्ष मुख्यत: दो रूपों में चित्रित हुआ है । एक तो शोषक और शोषित के बीच

उभरते वर्ग-संघर्ष के रूप में; जिसका समाधान प्राय: समस्त नाटककारों ने वर्गहीन समाज की स्थापना द्वारा दिया है तथा दूसरा रूप था आर्थिक संदर्भों के संघात से उद्भूत नवीन जीवन- मूल्य अथवा सांस्कृतिक क्षेत्र में होने वाले नवीन परिवर्तन। यद्यपि स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की सक्रियता के कारण इस युग के नाटकों में आर्थिक समस्या को वह महत्व तो न मिल सका जो स्वातन्त्र्योत्तर युग में मिला, फिर भी हरिकृष्ण `प्रेमी`, सेठ गोविन्ददास तथा उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में युग का यह यथार्थ एक सामाजिक विडम्बना के रूप में चित्रित हुआ है। यों तो हरिकृष्ण प्रेमी का सम्पूर्ण ऐतिहासिक नाट्य साहित्य मूलत: भारत की अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थितियों में सांस्कृतिक एवं जातीय एकता के प्रतिस्थापन का ही एक महत्वपूर्ण प्रयास था किन्तु अपने सामाजिक नाटकों में वह अर्थयुग की समसामयिक समस्याओं से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। उनके सामाजिक नाटकों `बन्धन` तथा `छाया` का तो मुख्य प्रतिपाद्य ही श्रम और पूँजी के तत्कालीन संघर्ष को चित्रित कर वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयास है। जो राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से युग की एक महत्वपूर्ण समस्या थी।

वर्ग संघर्ष

श्रम और पूँजी के असन्तुलित विभाजन के कारण तत्कालीन समाज में शोषक और शोषितों के बीच वर्ग-संघर्ष अथवा आर्थिक वैषम्य की जो नवीन समस्या उत्पन्न हो रही थी, उसके उद्घाटन की दृष्टि से हरिकृष्ण प्रेमी कृत `बन्धन`, `छाया` तथा गोविन्ददास कृत `हिंसा या अहिंसा` तथा `प्रकाश` महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। `बन्धन` में नाटककार ने मिल-मालिक और मजदूर वर्ग के बीच उभरते आर्थिक संघर्ष को ही अपने नाटकीय कथा का मूलाधार बनाया है। नाटक का शोषक चरित्र खजांचीराम एक धनी पूँजीपति तथा एक मिल का संचालक है। अपने स्वार्थ के वशीभूत हो, वह मजदूरों पर अत्याचार करता है, उनकी माँगों की उपेक्षा करता है अत: सर्वत्र एक संघर्ष का वातावरण बन जाता है। किन्तु `प्रकाश` सदृश क्रान्तिकारी एवं समाजवादी व्यक्तित्व की अवतारणा कर नाटककार ने दोनों वर्गों के बीच पुन: एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराने की चेष्टा की है। युगीन साम्यवादी विचारों से प्रभावित होने के कारण वह स्वयं पूँजीवाद का विरोधी

था अत: कहता है --पूँजीवाद ही पूँजीवाद को खावेगा, मालती । हम धनी लोग अपनी जलाई हुई आग में स्वयं जलेंगे । हमारी तृष्णा राक्षसी की तरह मुँह फाड़े हमे खाने दौड़ रही है । यूरोप की छाती पर जो बम फट रहे हैं, उनकी आवाज तुम नहीं सुन पाती हो ? अशान्ति हमारे दरवाजे पर खड़ी है ।[1] देश में उभरते इन युगीन विचारों की अर्थवत्ता को समझकर ही नाटक के अन्त में पूँजीपति खजांचीराम अपनी गल्ती पर पश्चाताप करते हुए कहता है -- 'नहीं बेटा, आज मेरी खुशी का ठिकाना नहीं है । ...... मैं न जान पाया कि जो देने में सुख है वह संचय में नहीं । मैं आज सब कुछ दे डालना चाहता हूँ । ...... लक्ष्मी को हमने कैद करना चाहा लेकिन वह हमारी कैद में खुश नहीं है । वह मुक्त होना चाहती है । जब तक वह मुक्त न होगी संसार में मारकाट हिंसा बनी रहेगी ।.... मोहन बाबू ने मुझे नया जन्म दिया है ।[2] और अन्त में मोहन तथा मालती के विवाह ~~का~~ सम्बन्ध द्वारा विरोध का अन्त होता है ।

शोषक और शोषितों का यही आर्थिक संघर्ष सेठ गोविन्ददास के 'हिंसा या अहिंसा' नाटक में एक वर्ग-युद्ध अथवा सशक्त क्रान्ति का रूप लेता है । किन्तु इसमें नाटककार ने वर्गयुद्ध की चरमपरिणति दिखाकर इस बात की ओर संकेत किया है कि मिल-मालिकों और मजदूरों के संघर्ष को प्रेमपूर्ण समझौते से ही हल किया जा सकता है क्योंकि संघर्ष से तनाव बढ़ता है और समस्या सुलझने की अपेक्षा अधिकाधिक जटिल ही हो जाती है । वर्ग-संघर्ष के मूल कारण- धन के असन्तुलित विभाजन - का उद्घाटन करते हुए माधवदास, जो पुराने ढंग का मिल मालिक है, आधुनिक पूँजीपतियों को उनकी स्वार्थी मनोवृत्ति के प्रति सचेत करते हुए कहता है -- 'जब एक ही रोजगार का रुपया किसी एक फिरके के पास बहुत ज्यादा और दूसरे फिरके के पास बहुत कम आने लगता है, तब उपद्रव हुए बिना नहीं रह सकता । बाँट-बाँट कर ही खाया जा सकता है । किसी भूखे को सामने भूखा बिठाकर खुद पेट नहीं भरा जा सकता । आदमी में जितनी अधिक आदमियत होगी, वह जितना अधिक

---

१. हरिकृष्णप्रेमी - 'बन्धन', पृष्ठ ६२

२. ,, ,, - 'बन्धन', पृष्ठ ६४

उदार होगा, उतनी ही कामयाब रोजगारी ।[१] किन्तु प्रेमी के `छाया` नाटक में शोषक और शोषितों का यह युगीन संघर्ष प्रकाशकों तथा साहित्यकारों के संघर्ष रूप में चित्रित हुआ है । प्रकाशकों की शोषण नीति का उद्घाटन करते हुए कवि प्रकाश कहता है --`भोली हो माया । वे तो चाहते हैं, मैं उनका आश्रित बना रहूँ । इतनी रोटियाँ वे मुझको देते रहें- जिनसे मेरी साँस चलती रहे, लेकिन खूब न बढ़े, ताकि वे संसार से कह सकें कि उन्होंने प्रकाश जैसे महान कवि और नाटककार को जीवित रखने का उपकार किया है ।[२] प्रकाशकों तथा सम्पादकों के इसी स्वार्थी चरित्र पर व्यंग्य करते हुए गोविन्ददास का एक नाटकीय चरित्र नैस्ट फील्ड कहता है --`तुम जानती हो आजकल की ऐडीटोरियल पेन काली स्याही से न लिखकर चाँदी की सफेदी से लिखती है । जहाँ रुपया दिया कि कुछ भी लिखवा लो या कुछ लिखा जाता हो तो बन्द करा लो ।[३]

इस प्रकार शोषक और शोषित के बीच फैली आर्थिक वैषम्य की चौड़ी खाई को पाटकर, मानवता के आधार पर स्थापित वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न ही उनके इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य था । और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेठ जी ने अपने `गरीबी या अमीरी` नाटक में पूँजीपतियों द्वारा सम्पत्ति को जनहित के लिए ट्रस्ट करवाने का आदर्श प्रस्तुत किया है । यथा `काम तो सारे मजदूर मिलकर करते हैं । फिर मिल की सारी आमदनी सबको बराबर क्यों नहीं बाँटते ।[४] साम्यवाद का यही युगव्यापी प्रभाव `कमला` नाटक में किसानों की जागरूकता के रूप में दिखायी देता है जो स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के जोर पकड़ने पर युग की एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में सामने आ रहा था । इसके परिणामों से भयभीत होकर देवनारायण, जो कि एक रूढ़िवादी जमींदार

---

१. सेठ गोविन्ददास - `हिंसा या अहिंसा` पृष्ठ 103-104

२. हरिकृष्ण प्रेमी - `छाया`, पृष्ठ १७

३. सेठ गोविन्ददास - `प्रकाश` पृष्ठ ५०

४. हरिकृष्ण प्रेमी - `बन्धन` पृष्ठ ५५

है, कहता है -- 'इन किसानों के मारे तो आजकल आराम से बैठना भी दूभर हो गया है। कांग्रेस ने इन्हें सिर चढ़ा रखा है। अब तो यह साम्यवाद क्या चल रहा है हवा ही बिगड़ती जा रही है। न कोई कहने वाला है न सुनने वाला।'[1]

किन्तु इस युग में जहाँ एक ओर पूँजीपतियों तथा शोषकों का स्वार्थ, शोषण एवं अत्याचार पाशविकता की सीमा को छू रहा था वहीं दूसरी ओर शोषित वर्ग भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहा था। इसकी एक झलक सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' नाटक में दृष्टव्य है जहाँ नाटक का एक राष्ट्रवादी नवयुवक प्रकाश पूँजीपतियों एवं समाज के शोषक चरित्रों की अमानवीयता के प्रति शोषितों को जागरूक करते हुए कहता है --'अब वह समय चला गया जब ये धनी, ये समाज के भूषण, ये समाज के स्तम्भ, हम लोगों को इस प्रकार रख सकें। मुट्ठी भर लोगों की धन की थैली, चाँदी सोने के निर्जीव टुकड़े एवं इने गिने व्यक्तियों की बुद्धि तथा विद्या का थोथा घमण्ड, देश के करोड़ों निर्धनों और अपठितों की मनुष्यता को कुचल रखने में असमर्थ है।- - - - - फिर महाशयों! इस धन को उत्पन्न करने वाले कौन हैं? किसान। परमेश्वर द्वारा दिये गये निर्धन और धनवान के समान शरीर के रक्त को किसान पसीने में बहाता है। उसके भूखे और नंगे रहते हुए उनका उत्पन्न किया हुआ सारा धन इन धनवानों की तिजोरियों में आता है।'[2] जो प्रत्यक्षतः देश में उभर रहे साम्यवादी विचारों का ही प्रभाव था। शोषितों का यही युगीन यथार्थ सेठ जी के 'हिंसा या अहिंसा' नाटक में एक सामाजिक क्रान्ति का संदेश लेकर आता है जिसका उद्घाटन करते हुए एक नवयुवक त्रिलोचनपाल कहता है --'मजदूरों के दर्द में आज आवाज़ आ गयी है। जब उनकी खामोशी का हाल सुनने को कोई नहीं मिला तो आज उनकी वेदना सप्तऋषि के स्वर बनकर, पृथ्वी और आकाश के कोने-कोने से बोलने लगी है। अब वे अपनी मेहनत अपनी ताकत से कमाई हुई एक पाई भी किसी को देने के लिए तैयार नहीं। अब उनकी आँखें खुल गयी हैं। अब वे भुलावे में नहीं रखे जा सकते।'[3]

---

१. उदयशंकर भट्ट -- 'कमला', पृष्ठ ४
२. सेठ गोविन्ददास -- 'प्रकाश', पृष्ठ ११
३. सेठ गोविन्ददास -- 'हिंसा या अहिंसा' पृष्ठ ७६

सामाजिक नाटकों के साथ ही तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में भी वर्ग वैषम्य के प्रति सामाजिकों का यह हृदगत असन्तोष यत्र तत्र प्रतिध्वनित हुआ है। `स्वप्न भंग` नाटक में प्रेमी ने दारा जैसे उदार सम्राट की अवतारणा कर अप्रत्यक्ष रूप से राजा तथा प्रजा अथवा वैभवशाली एवं सम्पत्तिहीन के बीच उपस्थित अन्तराल को दूर कर एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना का ही प्रयास किया है। अमीरों की अहमन्यता के विरुद्ध गरीबों के प्रति अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त करते हुए वह कहता है -- `वृद्ध पुरुष, मैं सम्राट नहीं मनुष्य बनना चाहता हूँ, मनुष्य रहकर सम्राट बनना चाहता हूँ। सम्राट बनकर मनुष्यों को मनुष्य बनाना चाहता हूँ। मैं धनी-निर्धन, विद्वान, अविद्वान और छोटे-बड़े का भेद मिटाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि संसार एक मजदूर के पुत्र की मृत्यु का दुख भी उतना ही अनुभव करे जितना कि वह शाहजहाँ की पत्नी की मृत्यु का करता है।`[1] जो प्रत्यक्षत: प्रसाद की स्वच्छन्दतावादी भावप्रवण दृष्टि से प्रेरित होते हुए भी युगीन मानवतावादी विचारों को ही प्रतिध्वनित करता है। किन्तु प्रकाश के निम्न शब्दों में -- `आपके हाथों में शक्ति आ गयी है इसलिये आप सारे गरीबों की इज्जत आबरू को अपने मनोरंजन का साधन बनाना चाहते हैं।`[2] निर्धनों के अन्तर्मन में सुलगते विद्रोह की कल्पना ही साकार हुई है, जो संघर्ष की प्रक्रिया से गुजरते हुए युग की एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में सामने आयी।

पूँजीवादी सभ्यता का सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव -

शोषक और शोषितों के जीवन में व्याप्त आर्थिक वैषम्य का चित्रण करते हुए नाटककारों ने पूँजीवादी सभ्यता के संघात से उत्पन्न नवीन जीवन दृष्टि एवं सांस्कृतिक मूल्यों को भी अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया। वस्तुत: आज अर्थयुग की व्यावसायिक प्रवृत्ति ने सामाजिक सम्बन्धों को व्यावसायिकता के ऐसे खोखले धरातल पर पहुँचा दिया है जहाँ न व्यक्ति का कोई कर्तव्य है और न कोई

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी -- `स्वप्नभंग`, पृष्ठ २६

२. ,, ,, -- `स्वप्नभंग`, पृष्ठ ६३

सम्बन्ध ; जो कुछ है वह वैसा है । अत: समाज में पैसे का महत्व तो धीरे-धीरे बढ़ ही रहा है साथ ही धन की उपादेयता के समक्ष प्रेम, औदार्य, त्याग और सद्भावना जैसे उच्चादर्श भी महत्वहीन प्रतीत होने लगे और इनका स्थान ईर्ष्या,द्वेष, कलह आदि विघटनकारी तत्वों ने ले लिया है । जिसकी चरम परिणति पारिवारिक विघटन के रूप में सर्वत्र ही विद्यमान है । और यही कारण है कि आज स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र का रागात्मक सम्बन्ध पहले की भाँति ममत्व एवं स्नेह की दृढ़ मिट्टी पर आधारित न होकर औपचारिकता मात्र रह गया है और वह भी तब तक, जब तक कि वह उसकी स्वार्थ पूर्ति में बाधक न बने ।

सामाजिक सम्बन्धों का यही यथार्थ उपेन्द्र नाथ `अश्क` के `छठा बेटा` नाटक में एक दुखान्त की रूप में चित्रित हुआ है । इसमें नाटककार ने पिता-पुत्र के कटु सम्बन्धों की विवेचना कर मध्यवर्गीय परिवारों के नैतिक स्खलन अथवा विघटन का एक यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है । नाटक का नायक `बसन्तलाल` एक अवकाश प्राप्त, शराबी तथा पुराने विचारों का व्यक्ति है । धन के अभाव तथा उसकी आदतों के कारण उसके सभी पुत्र उसकी उपेक्षा करते हैं और उसे अपने पास नहीं रखते । किन्तु उसके मन में अपने पुत्रों की श्रद्धा-भक्ति तथा सेवा-सुख पाने की अतृप्त आकांक्षा है जो पुत्रों की उपेक्षा के कारण उसके कुण्ठित मन में घूमती रहती है । इसकी सफल व्यंजना नाटककार ने एक स्वप्न के माध्यम से की है । स्वप्न में वह देखता है कि उसे तीन लाख की लाटरी मिल गई है और पैसे के प्रलोभन में उसके सभी पुत्र उसका पूर्ण सत्कार करते हैं । उसकी उचित-अनुचित बातों का समर्थन करते हैं और दिन-रात उसकी चाटुकारिता में लगे रहते हैं यहाँ तक कि उसकी गालियाँ भी सुनते हैं । अपने इस परिवर्तित आचरण का स्पष्टीकरण करते हुए उसका पुत्र देव एक स्थान पर कहता है --`परमात्मा की सौगन्ध, सौ रुपये के लिये तो आदमी सौ जूते खा सकता है । अथवा चालीस रुपया मासिक से मात्र ४२० रुपया - - - फिर यदि १०० जूते खाने के बदले सौ रुपया मिल जाय तो क्या बुरा है ।`[१] जो अर्थयुग की स्थूलताओं को पूर्णत: उजागर कर देता है ।

इस प्रकार अपने इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने समाज में पैसे का

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क -- `छठा बेटा`, पृष्ठ ६०-६१

महत्व तो दिखाया ही है साथ ही स्वार्थ-प्रेरित पुत्रों की दायित्व हीनता तथा वैयक्तिक स्वार्थ की भावना पर भी व्यंग्य प्रहार किया है । मिश्र जी की दृष्टि में तो सामाजिक अपराधों का महत्वपूर्ण कारण ही सामाजिकों का व्यक्तिगत स्वार्थ था, जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने 'सिन्दूर की होली' में मुरारीलाल तथा भगवन्त सिंह सदृश धनलोलुप चरित्रों के माध्यम से की है जो धन के लोभ में उचित-अनुचित समस्त साधनों का प्रयोग कर अन्तत: अपने स्वार्थ-पूर्ति में ही रत रहते हैं । किन्तु दूसरी ओर युवा पीढ़ी के माध्यम से नाटककार ने धन-लोलुपों के प्रति तीव्र आक्रोश भी व्यक्त किया है । मुरारीलाल के मित्र का पुत्र मनोजशंकर अपने पिता की हत्या के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहता है -- 'याद कीजिये - - - - - - - वह रात - - - - - - दस वर्ष बीत गया आपने अपने मित्र को भाँग पिला कर नाव से नदी में ढकेल दिया था । केवल आठ हजार रुपया पचा जाने के लिये - - - - - '[१]।
आर्थिक वैषम्य को लेकर युवा पीढ़ी का यही संघर्ष 'कमला', 'प्रकाश' तथा 'छाया' इत्यादि नाटकों में भी उदित हुआ है । किन्तु 'छाया में नाटककार ने सती-साध्वी छाया के दृढ़ चरित्र के माध्यम से रुपये की अकिंचनता दिखाकर धन के नाम पर समाज में फैले एवं अत्याचार के प्रति सामाजिकों को सचेष्ट करते हुए मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा का आदर्श प्रस्तुत किया है । अत: अपने पति के मित्रों की स्वार्थ नीति का उद्घाटन करते हुए वह कहती है -- बस कीजिए भवानी बाबू ! - - - - - कवि के चरित्र की आज संसार को चिन्ता हो उठी है, लेकिन कवि की आवश्यकताओं की कमी नहीं हुई ।- - - - - स्वयं आपने अपने ढाई हजार रुपए के लिए उन पर दावा करके डिग्री कराई थी और हर महीने हम लोगों का खून पीकर किश्त के रुपए लेते हैं । आपके पास रुपए की कौन सी कमी है ? जिस कवि को संसार का गौरव समझते हैं, उसके लिए आप थोड़े से रुपयों का त्याग नहीं कर सकते ?'[२] जो आज की स्वार्थप्रेरित सभ्यता के प्रति नाटककार हृदय के तीव्र आक्रोश को ही व्यक्त करता है ।

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'सिन्दूर की होली', पृष्ठ १६७
२. हरिकृष्ण प्रेमी -- 'छाया', पृष्ठ ८०

राजनैतिक समस्याश्रयी नाटक --

प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों अथवा अव्यवस्थित राजनीतिक जीवन का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया था; युग की बौद्धिक परिस्थितियों से उद्वेलित होकर वही अपने यथार्थ रूप में प्रसादोत्तर-कालीन नाटकों का भी प्रतिपाद्य बना । यद्यपि हरिकृष्ण 'प्रेमी' के रूप में प्रसाद की आदर्शवादी ऐतिहासिक परम्परा भी अक्षुण्ण रही है । किन्तु प्रसादोत्तरकालीन अधिकांश नाटकों में युग का यह राजनीतिक यथार्थ मुख्यत: व्यंग्य, आक्रोश एवं आन्तरिक पीड़ा के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है । इसके अतिरिक्त जीवन-सन्दर्भों के चित्रण की दृष्टि से भी प्रसादोत्तरकालीन नाटकों में प्रसाद की जागरणकालीन चेतना की अपेक्षा असहयोग आन्दोलन के अनन्तर उद्भूत राजनीतिक संघर्षों एवं समस्याओं को ही अभिव्यक्ति प्रदान की गई है । जिनमें प्रमुख थी- हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, पदासीन नेताओं की स्वार्थनीति, नौकरशाही के अमानवीय अत्याचार तथा स्वार्थरत भारतीयों की अप्रजातंत्रीय मानसिकता । जो अपने स्वार्थपूर्ण एवं अनैतिक कार्यों द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में गतिरोध उपस्थित कर वर्तमान जन-जीवन तथा राजनैतिक वातावरण को विषम एवं संघर्षमय बना रहे थे । राजनैतिक जीवन की इन युगीन समस्याओं को प्रतिपाद्य बनाकर नाटक लिखने वालों में हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं ।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष-

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की साम्प्रदायिक समस्या को प्रतिपाद्य बनाकर नाटक लिखने वालों में हरिकृष्ण प्रेमी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने युगव्यापी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष सदृश चिरन्तन जातिगत एवं धर्मगत संकीर्णता को दूर कर सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयास किया । जो पराधीन भारत को एकता के सूत्र में पिरोने की दृष्टि से युग की एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी । वस्तुत: जिस समय 'प्रेमी' ने नाट्य-रचना प्रारम्भ की, देश में सर्वत्र संघर्षों का वातावरण था । एक ओर तो राष्ट्रीय आन्दोलन पराकाष्ठा पर था और समस्त भारतवासी संगठित रूप में प्राणपण से दासता की श्रृंखलाओं को तोड़ने के लिये संघर्षरत थे, किन्तु दूसरी ओर भारतीयों की इस संगठित शक्ति से भयभीत होकर

अंग्रेजों ने अन्य दमनकारी शोषण नीतियों के साथ ही साम्प्रदायिक दंगों की नवीन शोषण नीति को अपनाकर भारत की राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया । जिसका परिणाम हुआ हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष । अत: भारतवासियों को स्वातन्त्र्य सुख का अनुभव कराने के उद्देश्य से उनके समक्ष राष्ट्रीय एकता की समस्या ही प्रमुख थी, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति उनके 'रक्षाबन्धन', 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'स्वप्नभंग', तथा 'विषपान' नाटकों में सर्वत्र ही प्रतिध्वनित हुई है ।

'रक्षाबन्धन' और 'स्वप्नभंग' तो पूर्णत: हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की सांस्कृतिक भावना से प्रेरित होकर ही लिखे गये हैं । 'रक्षाबन्धन' में हुमायूँ अनेक विपत्तियों और बाधाओं के रहते हुए अपनी हिन्दू बहन कर्मवती की रक्षा के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है । किन्तु 'स्वप्नभंग' में तो दारा का स्वप्न ही धार्मिक भेदभाव से रहित सहृदय समाज की स्थापना करना था । इस प्रकार अपने इन नाटकों में प्रेमी ने धर्मान्धता एवं ऊँच-नीच के भेदभाव से ऊपर उठे हुए मानवतावादी चरित्रों का आदर्श प्रस्तुत कर भारतवासियों में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता को जागृत करने का प्रयास तो किया ही है साथ ही समाज में व्याप्त इन जातीय संघर्षों के निवारण हेतु इनके मूल कारणों का भी उद्घाटन किया है । उनकी दृष्टि में साम्प्रदायिक संघर्षों का मूल कारण सामाजिकों की दूषित मनोवृत्ति अथवा क्षुद्र स्वार्थ ही थे । जिसका उद्घाटन करते हुए 'रक्षाबन्धन' में विक्रमादित्य अपने मुसलमान दोस्त बाँद खाँ से कहता है -- "मेरे भाई ! मैं फिर कहता हूँ और सच बात भी यही है कि मजहब आपस में नहीं लड़ते, कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ लड़ा करते हैं । गरीब और ईमानदार आदमी -- हिन्दू हो या मुसलमान -- हमेशा अपने पड़ोसियों से मिलकर रहे हैं और रहेंगे ।"[1] युग-युग से चले आ रहे इसी चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करते हुए 'आहुति' नाटक में मीर गमरू कहता है -- "कौमों से कौमों की लड़ाई नहीं होती कमाल । यह तो इन्सान की ख्वाहिशें लड़ती हैं ।"[2] जो अप्रत्यक्ष रूप से

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी --'रक्षाबन्धन', पृष्ठ २२
२. ,, -- 'आहुति', पृष्ठ ३८

युगीन राजनीतिक यथार्थ को ही उद्घाटित करता है । वस्तुत: भारतीय समाज में होने वाले इन साम्प्रदायिक दंगों के पीछे भी सामाजिकों की यह स्वार्थी मनोवृत्ति ही कार्यरत थी । जिसका उद्घाटन सेठ गोविन्ददास ने अपने राजनीतिक सामाजिक नाटक 'प्रकाश' में मुस्लिम लीगी शहीदबख्श और हिन्दू महासभा के अध्यक्ष विश्वनाथ जैसे स्वार्थी चरित्रों के माध्यम से किया है जो जातीय हित के नाम पर एक दूसरे में विद्वेष की भावना उत्पन्न कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं । सामाजिकों की इसी स्वार्थी मनोवृत्ति से अवगत कराते हुए प्रकाशचन्द्र कहता है --'इन्हें लड़ाते हैं विदेशी स्वार्थी और इन दोनों समाजों के स्वयंभू नेता ।- - - - सज्जनों इन नेताओं का नेतृत्व तभी तक है जब तक इन समाजों में झगड़ा है ।- - - - - महाशयों ! हिन्दू-मुस्लिम जनता तो लड़ती है, परन्तु ये नेता आपस में क्यों नहीं लड़ते ? इनमें से किसी ने आज तक एक दूसरे का सिर फोड़ा ?[१]

सामाजिकों के इन व्यक्तिगत स्वार्थों अथवा दूषित मनोवृत्ति के उद्घाटन के साथ ही नाटककार ने राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाले अवरोधों-- धर्मान्धता एवं कट्टरता इत्यादि का विरोध कर धार्मिक सहिष्णुता, पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना सदृश उच्च आदर्शों का प्रतिपादन भी किया है । उनका विश्वास था कि जब तक इन दोनों जातियों में परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न न होगी तब तक भारत की राष्ट्रीय एकता संभव नहीं । अत: उन्होंने अपने समस्त नाटकों में सर्वाधिक बल मानवता की रक्षा तथा हिन्दू-मुसलमानों की जातीय एवं सांस्कृतिक एकता पर ही दिया है । 'रक्षाबन्धन' में मानवता की रक्षा के लिये संघर्षशील विक्रमादित्य, कर्मवती तथा हुमायूँ के कथन उनकी जातीय तथा सांस्कृतिक एकता के ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं :

कर्मवती -- चौंकती क्यों हो जवाहरबाई । मुसलमान भी इन्सान है, उनके भी बहने होती हैं । सोचो तो बहन, क्या वे मनुष्य नहीं है ? क्या उनके हृदय नहीं है ? वे ईश्वर को खुदा कहते हैं, मन्दिर में न जाकर मस्जिद में जाते हैं, क्या इसीलिए हमें उनसे घृणा करनी चाहिये ।[२]

----

१. सेठ गोविन्ददास -- 'प्रकाश', पृष्ठ ७५

२. हरिकृष्ण प्रेमी -- 'रक्षाबन्धन', पृष्ठ ३६

विक्रमादित्य -- क्या कहा ? मुसलमान के लिए ? क्या मुसलमान इन्सान नहीं है । जाति और धर्म के नाम पर मनुष्य के टुकड़े न कीजिये ।[१]

हुमायूं -- दुश्मन ! ह: ह: ह: । दुश्मन । आँखों पर से तअस्सुब का चश्मा हटाकर देखो । जिन्हें हम दुश्मन समझते हैं, वे सब हमारे भाई हैं । हम सब एक ही खुदा के बेटे हैं ।[२]

इस प्रकार धर्म के नाम पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच परस्पर विद्वेष की जो भावना जन्म ले रही थी उसके प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए प्रेमी ने अपने नाटकों में धार्मिक सहिष्णुता का ही परिचय दिया है । 'स्वप्नभंग' में दारा का यह कथन -- 'यहाँ न कोई हिन्दू है न मुसलमान -- केवल उस एक -- उस खुदा -- उस ब्रह्म का अलग-अलग घट में प्रतिबिम्ब है । हम छाया के लिये लड़ रहे हैं और वास्तव को भूल रहे हैं ।[३] भारतवासियों में धार्मिक सहिष्णुता का भाव उत्पन्न करने का ही प्रयास है । इसी प्रकार शाहनवाज (औरंगजेब का ससुर) अपने मुसलमान भाइयों की धर्मान्धता एवं अल्पज्ञता पर दुख प्रकट करते हुए कहता है -- 'मैं चाहता हूँ कि मुसलमान देखें जो हिदायतें कुरान शरीफ में दी गई हैं वे ही हिन्दुओं के वेद और उपनिषदों में हैं । इनमें और उनमें फर्क ही क्या है और यदि हो भी तो धर्म के नाम पर जन्मभूमि के टुकड़े तो हम न करें ।[४] मुसलमानों को सचेत करने के साथ ही प्रेमी ने 'शिवासाधना' में एक हिन्दू के मुख से मुसलमान स्त्री, कुरानशरीफ तथा मस्जिद के प्रति आदरभाव व्यक्त किया है तो 'आहुति' में एक हिन्दू तथा मुसलमान का परस्पर रक्षा के लिये आदर्श बलिदान दिखाकर सांस्कृतिक एकता तथा धार्मिक सहिष्णुता के निर्वाह का प्रयत्न किया है, जो विच्छिन्न भारत को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए युग की एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी ।

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी -'रक्षाबन्धन' , पृष्ठ २१
२. ,, ,, -'रक्षाबन्धन', पृष्ठ ४६
३. ,, ,, -- 'स्वप्नभंग' , पृष्ठ १२८
४. ,, ,, -- 'स्वप्नभंग' , पृष्ठ ३०

हिन्दू-मुस्लिम एकता के इस सांस्कृतिक महत्व का प्रतिपादन करने के साथ ही हरिकृष्ण प्रेमी ने भारतीय वीरों -- राजपूतों, मराठों तथा बुन्देलों के शौर्य, स्वातन्त्र्य प्रेम, धैर्य और सहनशीलता के सजीव चित्र अंकित कर परतन्त्र भारत-वासियों को अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये मर मिटने का युग-व्यापी संदेश भी दिया है। 'रक्षाबन्धन' में कर्मवती का यह राष्ट्रीय आह्वान --'जिस समय देश पर विपत्ति के बादल घिरे हुए हैं, बिजली कड़क रही है, शत्रु पैशाचिक अट्टहास कर रहे हैं, उस समय पृथक्-पृथक् व्यक्तियों, जातियों और वंशों के मानापमान और अधिकारों की चर्चा कैसी! यह घोर पाप है बाघसिंह जी! इस समय वीरों को केवल एक अधिकार याद रखना चाहिए, और वह है देश पर न्योछावर करना। शेष सभी पर परदा डाल दो, शेष सभी को पाताल में गाड़ दो।'[1] वस्तुत: नाटककार की युगीन राष्ट्रीय परिस्थितियों के भी उतना ही अनुकूल है जितना मध्यकालीन परिस्थितियों के।

अत: स्पष्ट है कि विषयवस्तु अथवा शैली की दृष्टि से प्रेमी व प्रसाद की स्वच्छन्दतावादी ऐतिहासिक धारा के ही समर्थक रहे हैं किन्तु उनके नाटकों में अभिव्यक्त यथार्थ प्रसाद की अपेक्षा युगजीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है। इसका मूल कारण विषय-वस्तु की युग-सापेक्षता ही थी। जो इतिहास से सम्बद्ध होने पर भी वर्तमान को अपने में पूर्णत: समेटे हुए है। वस्तुत: अपने युग-यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से मध्यकालीन इतिहास को स्वीकार कर प्रेमी ने अपनी व्यवहार कुशलता अथवा यथार्थोन्मुखता का ही परिचय दिया है। वह यह भलीभाँति जानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के इस युग में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिये परम आवश्यक है कि उनके समक्ष हिन्दू तथा मुसलमान चरित्रों के ही आदर्श प्रस्तुत किये जायें। अत: उन्होंने देश में फैले इस साम्प्रदायिक संघर्ष को प्रसाद की भाँति हूणों-आर्यों, बौद्धों तथा ब्राह्मणों के संघर्ष रूप में कल्पित न कर हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में ही चित्रित किया है, जो इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना के साथ ही नाटककार का समकालीन यथार्थ भी था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ काल्पनिक पात्रों तथा प्रासंगिक कथाओं की सृष्टि कर युगीन समस्याओं पर भी अपनी तीक्ष्ण दृष्टि डाली है। 'रक्षाबन्धन' में राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए मेवाड़ का एक सेठ कहता है --'नग्न शब्दों में राजनीति का अर्थ है बहुरूपियापन। सफल

राजनीतिज्ञ वही है, जो समय देखकर नीति, राष्ट्रीयता, जाति, धर्म, सब कुछ बदल सके, जिसका अपना कोई सिद्धान्त न हो, जो समय की गति के विरुद्ध सूखे सिद्धान्तों से चिपके रहने की कट्टरता संकीर्णता प्रकट न करे ।[1] जो अप्रत्यक्ष रूप से समसामयिक राजनीतिक जीवन में व्याप्त अराजकता एवं अव्यवस्था पर ही एक करारा व्यंग्य है ।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की इसी साम्प्रदायिक समस्या को लक्ष्य कर सेठ जी ने राजनैतिक भविष्यवाणी के रूप में `पाकिस्तान` नामक एक विशुद्ध राजनैतिक नाटक की रचना की । किन्तु इसका प्रतिपाद्य प्रेमी के नाटकों से जरा हटकर है । जहाँ प्रेमी ने अपने नाटकों में मुसलमानों के हृदय में भी भारतभूमि के प्रति अपनत्व के भाव को जगाकर राष्ट्रीय एकता का आदर्श प्रस्तुत किया है वहीं सेठ जी ने मुसलमानों द्वारा प्रस्तावित पाकिस्तान निर्माण की राजनीतिक माँग को उग्र रूप देकर देश विभाजन की समस्या को अपरिहार्य एवं अवश्यम्भावी बताया है । देश में बढ़ती इस राजनैतिक समस्या का समसामयिक सामाजिक जीवन पर जो कलुषित प्रभाव पड़ रहा था उसका अति यथार्थ चित्र नाटककार ने जहाँआरा और शान्तिप्रिय के विघटित पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा किया है । साथ ही टेनिस कोर्ट में जहाँआरा,शान्तिप्रिय, पीरबख्श, दुर्गा तथा अमरनाथ इत्यादि के तर्क-वितर्कों में पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल का भी सजीव चित्र प्रस्तुत किया है,किन्तु अन्त में दोनों राष्ट्रों की आन्तरिक अव्यवस्था तथा मन्त्रियों के त्यागपत्र का चित्र प्रस्तुत कर नाटककार ने धार्मिकता के नाम पर अलग देश की माँग करने वाले भारतीय मुसलमानों को चेतावनी देते हुए राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का ही प्रयास किया है ।

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी - `रक्षाबन्धन`, पृष्ठ ६-७

राजनैतिक जीवन में व्याप्त अव्यवस्था

जहाँ प्रेमी ने ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से युगीन राजनैतिक संघर्षों एवं समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है, वहीं लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविन्ददास ने अपने राजनैतिक समस्याश्रयी नाटकों में कतिपय राष्ट्रवादी पात्रों की अवतारणा कर तत्कालीन राजनीतिक जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इनके नाटकों में आगत ये राष्ट्रवादी चरित्र महात्मा गान्धी के राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभावित आदर्शवादी चरित्र हैं जो ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान करते हुए सम्पूर्ण भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का उपक्रम करते हैं। यद्यपि ब्रिटिश सरकार की षडयन्त्रकारी शोषण नीतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप देश में हिंसा और क्रान्ति की ज्वाला भी प्रज्वलित हो उठी थी, किन्तु राष्ट्रीय नेताओं की अहिंसात्मक नीति के कारण उसे कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया और सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन में असहयोग एवं अवज्ञा की अहिंसात्मक नीति का ही प्राधान्य रहा। जिसकी युगव्यापी चेतना सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को अपने राष्ट्रवादी विचारों से आन्दोलित किए हुए है।

मिश्र जी के `सन्यासी' नाटक का मुरलीधर एक ऐसा ही राष्ट्रवादी चरित्र है। राष्ट्रवादी होने के साथ ही वह सम्पादक भी था। अत: उसके लेखों में राष्ट्रवादियों के क्रान्तिकारी विचार सर्वत्र ही प्रतिध्वनित हुए हैं। तत्कालीन राजनीतिक जीवन के प्रति लोगों को जागरूक करते हुए वह कहता है -- `जब तक हम लोगों के साथ जनता की कोई संगठित शक्ति नहीं है, तब तक एक दूसरे की सहायता न करने से हम लोग कहीं के न होंगे। नौकरशाही इस बात पर तुल गई है कि इस अभागे देश में स्वतन्त्र विचारों का जन्म न हो सके।'[1] और अपने इन्हीं स्वतन्त्र विचारों के कारण वह अन्तत: सरकार की कोपदृष्टि का भाजन बनता है तथा देशद्रोह के अभियोग में जेल जाता है। लेकिन वहाँ भी वह शान्त नहीं होता वरन् एक सच्चे देशभक्त की भाँति अपनी निर्भीकता का परिचय देते हुए कहता है --`मैं जेल से निकाल दिया जाऊँ इसके लिए सरकार से माफी नहीं माँग सकता - - - - -

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र -- `सन्यासी', पृष्ठ ५५

गोरों की प्रभुता हमारे जीवन की जड़ में टाँगी चला रही है। आप भी देख रहे हैं - - - - - - मैं भी देख रहा हूँ - - - - - - आप बोल नहीं सकते, मैं बोल सकता हूँ। आयरलैण्ड की तरह वह दिन दूर नहीं जब आपको भी बोलना पड़ेगा।[1] उसके इन शब्दों में भारत के अमर शहीदों की वाणी ही मुखरित है। जो अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन में क्रान्ति का आह्वान कर रहे थे।

किन्तु अंग्रेज सरकार के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान करते हुए इन राष्ट्रवादियों का सर्वाधिक आक्रोश उच्चपदों पर आसीन भारतीय अफसर वर्ग पर ही था, जो अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वातन्त्र्य आन्दोलन एवं राष्ट्रीय भावनाओं का दमन कर अंग्रेजी राजतन्त्र तथा नौकरशाही की जड़ों को और अधिक मजबूत बना रहे थे। अतः अंग्रेज सरकार की कूटनीतिपूर्ण विद्रूपताओं का चित्रण करते हुए मिश्र जी ने नौकरशाही की जड़ को खोदने का भी प्रयास किया है। 'सन्यासी' नाटक में ही राष्ट्रवादी मुरलीधर भारतीय अफसरवर्ग की नौकरशाही प्रवृत्ति पर दुख व्यक्त करते हुए एक भारतीय अफसर मिस्टर राय से कहता है -- 'यह कानून टिका भी है आप ही लोगों के बल पर। यदि आप सभी लोग जितने सभी हिन्दुस्तानी नौकरियों में हैं, केवल एक दिन के लिए सरकार से नाता तोड़ ले तो फिर - - - -।[2]

अन्यायी राजतन्त्र तथा नौकरशाही के प्रति अपने हृदगत असन्तोष को व्यक्त करने के साथ ही मिश्र जी ने अंग्रेजों के खिलाफ एक संगठित शक्ति तैयार करने के उद्देश्य से विश्वकान्त के राजनैतिक आन्दोलन के रूप में 'एशियाई संघ' जैसी एक राजनीतिक संस्था की युगीन आवश्यकता पर भी बल दिया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए मुरलीधर 'एक स्थान पर' कहता है -- '- - - मैं स्वयं बहुत दिनों से इस आन्दोलन का सपना देखता आ रहा हूँ। यह मेरा विश्वास रहा है कि एशिया को आत्मरक्षा के लिए एक न एक दिन अपना संघ जरूर बनाना पड़ेगा। 'लीग आफ नेशन' असल में गोरी जातियों का संघ है।'[3] जो कुछ समय बाद देश की एक यथार्थ संस्था के रूप में सामने आया।

---

1. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'सन्यासी' पृष्ठ १३८
2. ,, ,, - 'सन्यासी' पृष्ठ १३६
3. ,, ,, - 'सन्यासी' पृष्ठ १३७-१३८

किन्तु 'सन्यासी' नाटक में जहाँ मिश्र जी ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध राजनैतिक गतिविधियों का चित्रण करते हुए नौकरशाही की जड़ों को समूल नष्ट करने की आवश्यकता पर जोर दिया है वहीं 'मुक्ति का रहस्य' में चुनाव की विडम्बनाओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर स्वार्थरत भारतीयों की अप्रजातंत्रीय मानसिकता पर भी व्यंग्य प्रहार किया है। नाटक का नायक उमाशंकर जो एक गाँधीवादी एवं आदर्श चरित्र है, ढोंगी नेताओं की इसी स्वार्थपरता पर दुख व्यक्त करते हुए कहता है -- 'चेयरमैन इसीलिये हुआ जाता है कि सबसे पहले अपने बंगले के सामने की सड़क मरम्मत करा दे। कैसे आप लोग यह सब सोचते हैं - - - - मैं तो पहले इस बंगले के पीछे जो गली है उसकी मरम्मत कराऊँगा। - - - -बरसात में बेचारों की बड़ी हाय-हाय होती है। घुटने तक कीचड़ हो जाता है। शायद जब से यहाँ बसे होंगे कभी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने इस पर एक साँची मिट्टी भी नहीं डाली होगी। बोर्ड के शानदार मेम्बरों ने कभी इसका विचार ही नहीं किया।'[1] वस्तुत: मिश्र जी की दृष्टि में देश को पतन की ओर ले जाने का एक बहुत बड़ा कारण स्वार्थी नेतागण तथा समाज का धनिक वर्ग ही था जो बहुत समय से चुनावों में विशेषाधिकार प्राप्त कर राजनीतिक सत्ता का अपने स्वार्थों के लिये दुरुपयोग कर रहा था। अत: उनकी उपेक्षा करते हुए 'मुक्ति का रहस्य' में उमाशंकर कहता है --'अमीरों के लिये बहुत हो चुका है - - - - - - - - अब कुछ गरीबों के लिए होना चाहिए। मुझे इसकी इच्छा ही क्यों हुई? केवल गरीबों के लिए। उनकी हालत जब तक सुधारी नहीं जा सकती - - - - - - - तब तक देश - - - - - - - देश के सर्वस्व वही है - - - - उन्हीं से देश है।'[2] जो नाटककार पर देश में उभर रहे समाजवादी तथा साम्यवादी विचारों का ही प्रभाव था। शोषक वर्ग की इन स्वार्थ नीतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप देश में साम्यवाद की जो लहर उठ रही थी। उसकी चरम परिणति के प्रति लोगों को सचेत करते हुए आगे वह फिर कहता है --'इसीलिये साम्यवाद का तूफान उमड़ा चला आरहा है आप लोगों को अभी नहीं समझता, किसी दिन रूस की हालत होगी - - - - - - - तब कहा जायगा - - - - - - -- गरीबों ने जुल्म किया, लूट

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ १२०-१२१

२. ,, ,, - 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ १२३

लिया - - - - - - फूँक दिया - - - - - मार डाला। वह नौबत क्यों आने पाए, आप लोग - - - - - पहले ही से सम्हल जाइए।[1]

देश में उभर रहे इन क्रान्तिकारी विचारों को स्वर देने के साथ ही मिश्र जी ने राष्ट्रवादियों के खादी प्रेम की मूलभूत आवश्यकता पर भी बल दिया है। खादी के राजनैतिक महत्व का प्रतिपादन करते हुए 'सन्यासी' नाटक में किरणमयी कहती है -- 'इस जमाने में कोई भी भला मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष खादी धर्म से घृणा नहीं कर सकता। संसार इसकी उपयोगिता समझ रहा है। करोड़ों गरीबों की भूख इससे मिट सकती है। तुम्हारा मुल्क स्वाधीन हो सकता है।[2] वस्तुत: राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक भी था कि भारत आर्थिक रूप से स्वतन्त्र एवं आत्म निर्भर हो। और भारतवासियों के समक्ष अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा अंग्रेजी राज्यतन्त्र को हिला देने के उपक्रम में खादी ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा भारत आर्थिक रूप से दृढ़ हो सकता था। अत: खादी के प्रति आस्था धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का पर्याय ही बन गयी। खादी की इसी उपयोगिता के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए 'राक्षस का मन्दिर' में मिश्र जी ने लिखा है -- 'खद्दर का अन्तिम परिणाम सारे संसार की मुक्ति है। करोड़ों भूखे मनुष्यों के कल्याण का सन्देश लेकर यह आगे बढ़ रहा है - - - - इस युग में देश की इस दरिद्रता और गुलामी में जब तक तुम खद्दर और सादगी स्वीकार नहीं करते तब तक तुम्हारी मनुष्यता पूरी नहीं हो सकती।'[3] किन्तु अपने इसी नाटक में एक दूसरे स्थल पर नाटककार ने खादी के प्रति लोगों की आस्था का अनुचित लाभ उठाने वाले ढोंगी नेताओं की प्रवंचनाओं का उद्घाटन कर उनके प्रति आक्रोश भी व्यक्त किया है जो खादी की मूल नीति में विश्वास न कर अपने स्वार्थ के लिये खादी का प्रयोग कर रहे थे। एक विद्यार्थी के शब्दों में -- 'क्यों -- कांग्रेस कमेटी में स्वयं सेवक बनना था तो चार घण्टे के लिए खद्दर को बन्द कर दिया (उसकी धोती फाड़कर) और यह क्या है ? - - - - - यह बेईमानी क्यों तुम विदेशी पहनो कोई बात नहीं - - - - लेकिन यह आत्मवंचना किस काम की ? गाँधी का महत्व शब्दों के बाहर तुम भी नहीं

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ १२२

२. ,, ,, -- 'सन्यासी', पृष्ठ ६२

३. ,, ,, -- 'राक्षस का मन्दिर', पृष्ठ १२६

समझते । जिसे खद्दर में विश्वास नहीं हुआ वह गान्धी में विश्वास क्या करेगा ?[1]

कांग्रेसी नेताओं की इन्हीं स्वार्थ नीतियों के उद्घाटन के उद्देश्य से वृन्दावनलाल वर्मा ने 'धीरे-धीरे' नामक एक राजनीतिक नाटक की रचना की । इसमें नाटककार ने देश के नव-निर्माण के लिये संस्थापित कांग्रेस मंत्रिमण्डल की स्वार्थपरता, अकर्मण्यता एवं प्रत्येक काम को धीरे-धीरे करने की आदत की कटु आलोचना की है । देश की संघर्षशील परिस्थितियों में भी ये नेतागण अपने कर्त्तव्यों के प्रति कितने उदासीन थे इसकी एक झलक नाटक के निम्न कथन में दृष्टव्य है -- "ठीक ठीक । परन्तु यह सब है क्या ? कोरी सलाहें और कागजी घोड़ों की हौंस । कीमती और खर्चीले उपाय बतलाकर निःस्पृह और निश्चिन्त निरीक्षक की तरह आपके लूले लंगड़े विद्वान दूर खड़े हो जाते हैं और फिर सोचते हैं कि उनकी लापरवाही में फल क्यों नहीं लगे ? दफ्तरों में ढेरों मिसिलें तैयार करके लाल फीतों में बाँधकर सावधानी के साथ बेशकीमती आलमारियों में बन्द कर दी जाती है ।- - - - भूखा किसान और टूटा शिल्पी सहायता के लिये आपके सामने आज हाथ पसारता है तो बरसों बाद आपके सेक्रेटरी के कान पर जूं रेंगती है ।"[2] इसके अतिरिक्त नाटककार ने जमींदारी-उन्मूलन, बेकारी तथा देश में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव जैसी समसामयिक समस्याओं का भी यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। किन्तु कलात्मकता के अभाव में नाटक समस्याओं का संकलन मात्र बनकर रह गया है ।

देश की राजनीतिक परिस्थितियों के उद्घाटन की दृष्टि से सेठ गोविन्ददास का नाट्य जगत में विशिष्ट स्थान है । वह स्वयं एक कांग्रेसी नेता थे साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण राजनीतिक गतिविधियों का उन्हें पूर्ण ज्ञान भी था । अतः उनके नाटकों में युग का यह राजनीतिक यथार्थ अपने यथातथ्य रूप में सामने आया है । किन्तु जहाँ तक राजनीतिक पहलू का सवाल है, भारतीय राजनीति को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के उद्देश्य से सेठ जी ने अंग्रेज शासकों की अन्यायपूर्ण नीतियों के उद्घाटन की अपेक्षा भारतीय राजनीतिक जीवन, विशेषकर

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र --'राक्षस का मन्दिर', पृष्ठ १२३

२. वृन्दावनलाल वर्मा --'धीरे-धीरे', पृष्ठ ७९

कांग्रेसियों के जीवन में पनप रही विषमताओं को ही अपने नाटकों का मूलाधार बनाया। अतः इनके नाटकों में एक ओर तो देश के नेताओं तथा कौंसिल के सदस्यों की स्वार्थपरता, यशलिप्सा, धूर्तता तथा प्रवंचनाओं का उद्घाटन किया गया है तथा दूसरी ओर महात्मा गान्धी के उच्च आदर्शों त्याग, सेवा, तपश्चर्या की महत्ता को प्रतिपादित कर रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन दिया गया है।

राजनैतिक जीवन में व्याप्त इन समसामयिक समस्याओं एवं संघर्षों के उद्घाटन की दृष्टि से गोविन्ददास का 'प्रकाश' सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' तथा 'सेवा-पथ' उल्लेखनीय नाटक है। 'प्रकाश' नाटक में नाटककार ने 'इरीगेशन स्कीम' जैसी एक आर्थिक योजना के माध्यम से समाज के राजनैतिक नेताओं, कार्यकर्ताओं एवं धनी-मानी संभ्रान्त पुरुषों के स्वार्थी चरित्रों का उद्घाटन कर तत्कालीन राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं शोषण का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

यह सत्य है कि कौंसिलों में प्रवेश कर नेताओं ने जनहित के नाम पर अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की थी किन्तु वास्तविकता यह थी कि उनसे जनहित तो कम वरन् स्वार्थी नेताओं अथवा पूँजीपतियों का हित ही अधिक हुआ और देश की अधिकांश जनता पूर्ववत् गरीबी में ही दम तोड़ती रही। इन ढोंगी एवं स्वार्थी नेताओं की कथनी और करनी में जो अन्तर था वह एक स्वार्थी पूँजीपति दामोदरदास के शब्दों में स्वयं स्पष्ट है - 'यह दूसरी बात है, डियर, तुम समझती हो कि मैं जो कुछ भाषणों में कहता हूँ उस पर विश्वास करता हूँ - - - - - हाँ जनता को प्रसन्न करने के लिए गरीबों के हित के लम्बे-लम्बे भाषण देना ज़रूरी हो जाता है, नहीं तो दूसरे चुनाव में सफल होना कठिन हो जाय।'[1]

इन चरित्र भ्रष्ट एवं स्वार्थी नेताओं के यथार्थोद्घाटन के साथ ही नाटककार ने प्रकाशचन्द्र जैसे आदर्शवादी व्यक्तित्व की अवतारणा कर स्वराज्यवादियों के संघर्षमय जीवन तथा उनके मार्ग में आने वाले स्वार्थी नेताओं की षड्यन्त्रकारी नीतियों को भी चित्रित किया है जो सिद्धान्तों की भिन्नता के कारण युग की एक

---

१. सेठ गोविन्ददास - 'प्रकाश', पृष्ठ ६0

महत्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर राष्ट्रीय आन्दोलन में गतिरोध उपस्थित कर रही थी। समकालीन समस्या पर आधारित सेठ जी का दूसरा नाटक `सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' है। इसमें नाटककार ने त्रिभुवनदास तथा मनोहरदास के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के माध्यम से १६०५ में होने वाले बंग-भंग के बायकाट आन्दोलन तथा १६०३ के सत्याग्रह आन्दोलन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर नयी पीढ़ी की स्वराज्यवादी चेतना तथा उनके मार्ग में आने वाले संघर्षों का सजीव चित्र अंकित किया है।

किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से `सेवापथ' गोविन्ददास का सर्वोत्तम नाटक है। इसमें नाटककार ने दीनानाथ के आदर्श चरित्र के माध्यम से धारा सभाओं की निरर्थकता प्रतिपादित कर जनसेवा अथवा देश सेवा के तीन मार्गों -- शरीर द्वारा सेवा, धन द्वारा सेवा, तथा राजनीति द्वारा सेवा -- में शरीर द्वारा देश और समाज की नि:स्वार्थ सेवा के मार्ग को ही श्रेयस्कर बताया है। जो नाटककार पर उनके युग का ही प्रभाव था। नाटक का नायक दीनानाथ गाँधी जी के युगीन आन्दोलनों से प्रभावित आदर्शवादी चरित्र है जो पढ़ने-लिखने के पश्चात् भी धन के मोह को छोड़कर नि:स्वार्थभाव से जन-सेवा करता है और अपने उच्चादर्शों के माध्यम से जन सामान्य में भी नि:स्वार्थ सेवा की भावना को जगाता है। इस देशभक्त एवं नि:स्वार्थ देशसेवी वर्ग के उद्घाटन के साथ ही नाटककार ने स्वार्थरत नेताओं के जीवन की भी सजीव झाँकी प्रस्तुत की है जो अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिशीलता में अवरोध उपस्थित कर रहे थे। नाटक पर अपने समय का पूर्ण प्रभाव है अत: एक ओर तो वर्तमान युग के राजनीतिक वादों का संघर्ष कराया गया है तथा दूसरी ओर सुधारक संस्थाओं तथा रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन भी दिया गया है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि जीवन की इन यथार्थ समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने पर भी सेठ जी उद्देश्य की दृष्टि से जीवन के प्रति कोई मौलिक समाधान नहीं दे सके हैं। वस्तुत: उनका नाटककार हृदय गान्धीवाद से इतना अधिक प्रभावित था कि वह अपने नाटकों में गान्धीवाद के अतिरिक्त किसी को स्थापित ही नहीं कर सके हैं। उनके समस्त नाटकों की परिणति गाँधीवाद की विजय के रूप में ही हुई है। योयुगीन आदर्शवादी विचारों के मोह में नाटककार की अपनी विवशता भी थी।

स्पष्ट है कि युग सन्दर्भता अथवा जीवन-सन्दर्भों की दृष्टि से प्रसादोत्तर-कालीन सम्पूर्ण नाटक साहित्य प्रसाद युगीन नाटकों की अपेक्षा अपने युग से अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि इस युग में ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा सामाजिक एवं समस्यात्मक नाटक ही अधिक लिखे गये । यद्यपि अपने आदर्शवादी विचारों के कारण वह कहीं-कहीं आदर्शों के प्रवाह में भी बह गये हैं किन्तु जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से वह अपने यथार्थ में ही रहे हैं । उनके नाटकों में आगत समस्याएँ उनके अपने युग की ही यथार्थ समस्याएँ हैं जिनका अनुभव दैनिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति कर रहा था । किन्तु जहाँ तक उनकी आदर्शवादी परिणति का प्रश्न है उसका मूल कारण भी उनका युगीन यथार्थ ही था जो महात्मा गान्धी के नेतृत्व में, गाँधीवाद के रूप में, युग की एक अनिवार्य आवश्यकता बन चुका था, जिसकी उपेक्षा प्रत्येक नाटककार के लिये सम्भव न थी ।

वस्तुत: यह युग विचारों की दृष्टि से संक्रान्तिकाल था । एक ओर यदि नवागत प्रगतिशील विचारों का प्राधान्य था, तो दूसरी ओर गाँधीवादी विचार भी भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में अपनी व्यवस्था बनाये हुए थे । इन दोनों के बीच पड़कर मनुष्य जिस वैषम्य, संवेदना एवं दिशाहीनता का अनुभव कर रहा था उसका यथार्थोद्घाटन ही इन नाटककारों का मुख्य उद्देश्य भी बना किन्तु विचारों के प्रति निहित पूर्वाग्रह के कारण अधिकांश नाटक एक पक्षीय एवं प्रचारात्मक बनकर ही रह गये । फिर भी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से इनकी यथार्थोन्मुखता को नकारा नहीं जा सकता । वरन् सत्य तो यह है कि इन नाटकों में प्रस्तुत युगीन सन्दर्भ ही उत्तरोत्तर जटिल एवं सूक्ष्म रूप धारण कर स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों के मुख्य प्रतिपाद्य बने । जिसके मूल में नाटककार की युगीन परिस्थितियों का ही विशेष हाथ था ।

अत: सैद्धान्तिक दृष्टि से इन आदर्शोन्मुख नाटकों की गणना यथार्थवादी नाटकों में भले ही न की जा सके । किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रसाद युगीन नाटकों की समृद्ध परम्परा के विरोध में हिन्दी साहित्य-जगत में नाटकों की जिस नवीन परम्परा का प्रणयन हुआ उसका श्रेय इस युग के इन यथार्थ प्रेरित नाटकों को ही है और इन्हीं ने अपने प्रगतिशील विचारों के द्वारा परवर्ती नाटककारों के समक्ष सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन का मार्ग प्रशस्त किया, जिसने नाट्यजगत में एक क्रान्ति मचा दी ।

समसामयिक समस्याओं पर आधारित इन पूर्ण नाटकों के साथ ही- इसी समय यथार्थवादी रंगशिल्प एवं शैली से प्रभावित होकर हिन्दी नाट्य जगत में नाटकों की एक नवीन विधा भी जन्म ले रही थी और वह थी लघु नाटक अथवा एकांकी । एकांकी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है - इसमें एक अंक होता है । यह यथार्थवादी नाट्यधारा का वह सरलतम रूप एवं रचना प्रकार है जिसमें न तो बड़े नाटकों की भाँति दृश्यों तथा घटनाओं की भरमार होती है और न ही साज-सज्जा का विशेष आडम्बर ।वरन् अल्प समय में सीमित साधनों द्वारा जीवन के क्रमबद्ध विवेचन की अपेक्षा उसके किसी एक क्षण, घटना कार्य, चरित्र भाव अथवा पहलू के बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से एक ही अंक में मंच पर कलात्मक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है । यद्यपि आज पठनीय एवं श्रव्य एकांकियों का भी प्रचलन हो चला है किन्तु मूलत: 'एकांकी नाट्य लेखन हिन्दी रंगमंच और उसके नाटक की वह बुनियाद है जहाँ वास्तव में रंगमंच की माँग के लिए एकांकी नाटकों को रचना हुई ।'[1] एकांकी नाटकों के इस बाह्य रूप के अतिरिक्त एकांकी तथा पूर्ण नाटकों के शिल्प विधान में भी पर्याप्त भिन्नता है । एकांकी तथा पूर्ण नाटकों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि 'पूर्ण नाटकों में जहाँ जीवन की सर्वांगीणता, कथासूत्रों की प्रचुरता, अंकों की अनेकता, पात्रों की अधिकता, चरित्र चित्रण में विविधता एवं विचित्रता, कौतूहल में अनिश्चितता, चरम बिन्दु की व्यापकता, वर्णन और परिचय की अधिकता तथा कथा की गति में मन्द गामिता रहती है वहाँ एकांकी में जीवन की एकरूपता, प्रमुख सूत्र की ग्राह्यता, एक अंकता, पात्र परिमितता, चरित्र की संक्षिप्तता एवं सघनता, कौतूहल की आद्यन्तता, चरम बिन्दु की केन्द्रीयता, व्यंजनात्मक तथा क्षिप्रगामिता रहती है ।'[2] और अपने इस सरलतम रूप के कारण ही एकांकी की यह परम्परा अतिशीघ्र हिन्दी के अविकसित रंगमंच तथा जनसामान्य के अधिकाधिक समीप आ गयी । तथा पूर्ण नाटकों की अपेक्षा इसने हिन्दी रंगमंच के विकास में अपेक्षित सहयोग दिया ।

यद्यपि शिल्पगत भिन्नता एवं एकांकी नाटकों की प्रचुरता के कारण आज

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच', पृष्ठ १०६ ।

२. डॉ० शान्ति मलिक, 'हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास', पृष्ठ ४६७

एकांकियों का अध्ययन नाटक से भिन्न एक पृथक् विधा के रूप में किया जाने लगा है। किन्तु एक ओर नाटक की सजातीय विधा एवं यथार्थवादी-रचना शिल्प की एक नवीनतम खोज तथा दूसरी ओर अध्ययन विस्तार की सीमा को देखते हुए प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में एकांकियों का उल्लेख मात्र भूमिका रूप में ही किया जा रहा है, जिसने आगे चलकर युगीन परिस्थितियों के दबाववश यथार्थवादी नाट्यधारा को पुष्ट करने तथा नाटक को जनसामान्य के अधिकाधिक समीप लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

यद्यपि इसका प्रारम्भिक रूप तो 'नीलदेवी' 'भारतजननी विषस्यविष-मौषधम' तथा 'एकघूँट' के रूप में भारतेन्दु तथा प्रसाद युग में भी देखा जा सकता है किन्तु नाटक की एक अन्यतम विधा के रूप में एकांकी की यह परम्परा सन् १६३५-३६ के आस-पास पश्चिम की टेक्नीक से अनुप्राणित होती हुई भुवनेश्वर तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के एकांकियों में एक निश्चित रूपाकार प्राप्त कर सकी। जिसे यन्त्रयुग की द्रुत-गामिता, आधुनिक-संघर्षमय जीवन की व्यस्तताओं, जनसामान्य की अभिरुचि तथा रंगमंच के उद्धार एवं रेडियो के निरन्तर बढ़ते प्रचार ने विशेष लोकप्रियता तथा विकास की अनेक सम्भावनाएँ प्रदान की।

एकांकी के विकास क्रम में भुवनेश्वर, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर तथा जगदीशचन्द्र माथुर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने हिन्दी रंगमंच तथा नाटक के विकास को ध्यान में रखकर विश्वविद्यालयों में नाट्य दलों की प्रतिष्ठा, विभिन्न कालेजों और छोटे-छोटे कस्बों की अव्यावसायिक नाट्यदलों की माँग की पूर्ति के लिए बहुत बड़ी संख्या में एकांकी नाटकों की रचना की।[1] विषय वस्तु की दृष्टि से यह मुख्यतः दो प्रकार के हैं एक तो नाटकों की यथार्थवादीधारा से मिले सामाजिक एकांकी दूसरे रोमैंटिक धारा से मिले सांस्कृतिक ~~फिर भी~~ ऐतिहासिक एकांकी। ~~यद्यपि दोनों ने दोनों प्रकार के क्रिया की रचना की है~~। प्रथम धारा के प्रतिनिधि एकांकीकार भुवनेश्वर है तो दूसरी धारा के डॉ० रामकुमार वर्मा। यद्यपि वर्मा जी की मुख्य प्रतिष्ठा तो एक ऐतिहासिक नाटककार के रूप में ही है, उन्होंने स्वयं भी लिखा है -'मैंने सामाजिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटक अधिक लिखे हैं - - - - -।'[2] किन्तु सामाजिक एकांकीरों में भी उनका महत्वपूर्ण

---

१. डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल, 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच', पृष्ठ १०६।
२ रामकुमार वर्मा, 'दीपदान', भूमिका, पृष्ठ २७।

स्थान है । ऐतिहासिक एकांकियों के साथ उनके कई सामाजिक एकांकी भी प्रकाश में आये जो अपनी कलात्मकता तथा व्यापक रंगदृष्टि के कारण अनेकों बार रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हुए । सन् १९५२ में प्रकाशित `रेशमी टाई` उनका प्रसिद्ध सामाजिक एकांकी संग्रह है । सच पूछा जाय तो इस युग में रंगमंच की व्यावहारिक माँग को देखते हुए सामाजिक एकांकी ही अधिक लिखे गये । पूर्व नाटकों की भाँति ही इन सामाजिक एकांकियों का मुख्य विषय भी प्रेम, विवाह अथवा पारिवारिक जीवन की कुछ-समसामयिक समस्याएँ थीं किन्तु भिन्न जीवन दृष्टि से प्रेरित होने के कारण दोनों की रचनाओं में पर्याप्त भिन्नता है । एक के नाटकों में जीवन के प्रति अनास्था अथवा प्राचीन को पूर्णत: मिटा देने का भाव है तो दूसरे के नाटकों में विगत के प्रति आस्था तथा आदर्शवादी नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता है । जिसका स्पष्ट प्रमाण उनके तत्कालीन सामाजिक एकांकी है ।

भुवनेश्वर पश्चिम की यथार्थवादी शैली से प्रभावित एक सामाजिक एकांकीकार है । `कारवाँ` एकांकी संग्रह `स्ट्राइक` `ऊसर` तथा `ताँबे के कीड़े` उनके उल्लेखनीय एकांकी है । इन सभी एकांकियों में भुवनेश्वर ने स्त्री पुरुष सम्बन्धों की यथार्थवादी स्थिति को लेकर समसामयिक समस्या का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया है । इसमें उन्होंने प्रेम तथा विवाह के सेक्स अथवा काम पक्ष के साथ-साथ उस सामाजिक पक्ष को भी उजागर किया है जो अर्थयुग की बढ़ती विषमताओं के कारण तत्कालीन समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर रही थी । उनकी दृष्टि में नारी और पुरुष का सम्बन्ध मात्र कामुक एवं आर्थिक है, अत: उनके समस्त पात्र प्रेम तथा विवाह के द्वन्द्व में उलझे दिखाई देते हैं जिसे उन्होंने एक स्त्री, उसका पति तथा प्रेमी इस त्रिकोण के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु उनके नाटकों में वर्णित प्रेम तथा विवाह की ये समस्याएँ केवल काम-समस्याएँ ही नहीं है वरन् वह अनेक सामाजिक प्रश्नों की ओर उन्मुख दिखाई देती है यथा `श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना` में स्त्री पुरुष के दिखावटी - सम्बन्धों का अद्भुत संघर्ष है, तो `प्रतिमा का विवाह` में धन-विवाह और प्रेम विवाह का द्वन्द्वात्मक रूप और `शैतान` में स्त्री पुरुष सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक चर्चा है । इसी प्रकार `रोमांस-रोमांच` `लाटरी` तथा `एक साम्यहीन साम्यवादी` में भी पुरुषों की रोमांस भावना को आधार बनाकर मनोवैज्ञानिक स्थितियों का आवेगमय चित्र प्रस्तुत किया है । किन्तु यहाँ नाटककार ने

समस्या के प्रति कोई निश्चित समाधान जुटाने की अपेक्षा समसामयिक जीवन में व्याप्त निराशा,मायूसी अथवा विवशता को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है । इससे इनके एकांकियों में प्रभावोत्पादकता एवं तीखापन तो अवश्य आया है किन्तु इनकी आवेगमयता में नाटककार का जीवन के प्रति निहित दृष्टिकोण असन्तुलित एवं निषेधात्मक हो उठा है । इनके इस असन्तुलन का एक बहुत बड़ा कारण पाश्चात्य प्रभाव भी था जिसके कारण वह पूर्वीय मान्यताओं से समझौता करने में सर्वथा असमर्थ रहे ।

इस प्रकार अपने प्रारम्भिक नाटकों में वह भारतीय सामाजिक जीवन की अपेक्षा पाश्चात्य जीवन से ही प्रभावित दिखाई देते हैं किन्तु धीरे-धीरे उनकी कला में निखार आता गया । विषय प्रतिपादन की दृष्टि से `ऊसर` इनका सर्वश्रेष्ठ एकांकी है । इसमें नाटककार ने मनोविश्लेषण के आधार पर आधुनिक महाजनी सभ्यता के तथाकथित उच्चवर्ग के जीवन के खोखलेपन का उद्घाटन किया है । `ताँबे के कीड़े` में भी उन्होंने उच्चवर्ग के जीवन की रिक्तता पर तीखा व्यंग्य किया है । वस्तुत: भावपक्ष तथा कलापक्ष की दृष्टि से उनके परवर्ती एकांकी अधिक सफल रहे हैं कारण इनमे पाश्चात्य प्रभावों के साथ ही उनकी मौलिकता की भी स्पष्ट छाप है ।

विषयनिरूपण के साथ ही पात्रों के चयन एवं चरित्र निर्माण में भी उनका यथार्थवादी रूप सर्वत्र ही दृष्टिगत हुआ है । उनके समस्त पात्र मानवीय दुर्बलताओं की साक्षात् प्रतिमूर्ति है जिनके चित्रण में नाटककार ने आधुनिक मनोविज्ञान एवं भाषा के एक सर्वथा नये रूप का सहारा लिया है । किन्तु नाटक की एक अन्यतम विधा को जन्म देने पर भी कथावस्तु में निहित उनके असन्तुलित दृष्टिकोण के कारण उन्हें तत्कालीन साहित्य में विशेष प्रतिष्ठा न मिल सकी । संयोग से इसी समय रामकुमार वर्मा भी एकांकी जगत में उतरे और भारतीय जीवन तथा रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान के बल पर अनेक उत्कृष्ट एकांकियों की रचना कर एकांकी जगत में शीर्ष स्थान के अधिकारी बन गये ।

वर्मा जी मूलत: एक रोमैंटिक नाटककार हैं । ऐतिहासिक नाटकों की भाँति उनके सामाजिक नाटकों का मूल आधार भी रोमांस है किन्तु इसका आधार वास्तविकता है । यथार्थ के नाम पर जीवन के गन्दे कुत्सित एवं वासनायुक्त चित्र प्रस्तुत

करना उनकी प्रकृति के अनुकूल न था अत: उन्होंने अपने समस्त एकांकियों में जीवन की वास्तविकताओं का आदर्शपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है । यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने भी अपने एकांकियों में पाश्चात्य बुद्धिवादी नाटककारों से प्रभावित होकर थोड़े से सुशिक्षित,उच्च मध्यवर्गीय सामाजिकों के रोमैंटिक जीवन तथा उससे सम्बद्ध प्रेम,विवाह तथा रूप यौवन के प्रश्नों को ही अपने नाटकों के विषय रूप में उठाया है किन्तु इसमें उठायी गयी प्रेम, विवाह तथा रूप-यौवन की ये समस्याएँ भुवनेश्वर की भाँति पाश्चात्य का अनुकरण न होकर उनके समकालीन जीवन की ही कतिपय यथार्थ समस्याएँ हैं जिसे अपनी कल्पना के सहारे उसे एक आदर्शवादी मोड़ दिया है । इस प्रकार यथार्थ को अपनाकर भी आदर्शोन्मुखता उनके नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता थी जिसके मूल में उनका आदर्शवादी नैतिक दृष्टिकोण ही क्रियाशील था । विषय की दृष्टि से उनके समस्त सामाजिक एकांकियों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है पहला, पति-पत्नी की प्रेमपरक समस्याओं से सम्बन्धित एकांकी यथा `परीक्षा` `१८ जुलाई की शाम` `रेशमी टाई` `एक्ट्रेस` इत्यादि । दूसरा, परिवार के बाहर उत्पन्न प्रेम या सेक्स की समस्या से सम्बन्धित एकांकी यथा `रूप की बीमारी` `एक तोले अफीम की कीमत` `रजनी की रात` `रंगीन स्वप्न` इत्यादि । जिसका उन्होंने सर्वत्र अत्यन्त सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक एवं मनोविनोद पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है । किन्तु भारतीय संस्कृति तथा नैतिक आदर्शों के प्रति नाटककार के विशेष झुकाव के कारण उनके समस्त नाटकीय चरित्र जीवन के यथार्थ को वहन करते हुए भी नाटक के अन्त में समस्या का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं । अपने नारी पात्रों के चरित्र निर्माण में तो वह बहुत अधिक सतर्क रहे हैं । और यही कारण है कि प्रथम वर्ग के एकांकियों में जहाँ उन्होंने पति-पत्नी के सम्बन्धों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके भी पत्नी को भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित सिद्ध किया है, पुरुषों के प्रति उनका अपेक्षित श्रद्धाभाव व्यक्त किया है वहीं दूसरे वर्ग के नाटकों में जहाँ नाटक का मुख्य केन्द्र बिन्दु नारी है वहाँ उन्होंने नारी को एक स्वावलम्बी नारी के रूप में चित्रित करके भी उसकी आत्मरक्षार्थ पुरुष का सहयोग अपेक्षित बताया है यथा `रजनी की रात` में रजनी का चरित्र ।

इस प्रकार उनकी नारियाँ मध्यवर्गीय समाज की शिक्षित नारियाँ अवश्य हैं किन्तु नई शिक्षा के प्रभाव को उन्होंने बहुत स्थूल अर्थ (फैशन परस्ती) से लिया है । और यही कारण है कि मध्यवर्गीय शिक्षित-महिलाओं को पात्र रूप में ग्रहण

करके भी वे उनकी नवीन समस्याओं से प्राय: अछूते ही रहे हैं। जिससे नाटक की अपेक्षित स्वच्छन्दता तो मारी ही गयी है साथ ही नाटक को एक सुनिश्चित उद्देश्य तक ले जाने के क्रम में नाटक की गतिशीलता में भी बाधा पड़ी है। कहीं-कहीं तो वह अपने आदर्शों की रक्षा में चरित्रों को अस्वाभाविक मोड़ भी दे देते हैं यथा `अठारह जुलाई की शाम ' में पत्नि ऊषा के चरित्र का आकस्मिक परिवर्तन। किन्तु जिन एकांकियों में उन्होंने मानसिक द्वन्द्व को विषय बनाया है वह शिल्प की दृष्टि से अधिक अच्छे बन पड़े हैं। उनमें उनका नाटककार हृदय बड़े ही मनोवेग से समस्या के प्रति अग्रसर हुआ है। इसके अतिरिक्त उनके रंगमंचीय ज्ञान एवं कला कौशल में भी उनके एकांकियों को विकास की चरम उपलब्धि तक पहुँचाने में अपेक्षित सहयोग दिया।

यद्यपि इनकी नाट्य कला का पूर्ण विकास तो स्वातन्त्र्योत्तरकालीन नाटकों में ही दिखाई देता है किन्तु रंगमंचीय दृष्टि से वर्मा जी के पूर्व स्वतंत्रताकालीन एकांकी भी नाट्य जगत में एक विशिष्ट महत्त्व रखते हैं, जिन्होंने हिन्दी नाटक को रंगमंच से जोड़ने तथा रंगमंच को जनसामान्य के अधिकाधिक निकट लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

एकांकियों की इसी परम्परा में आगे चलकर उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर तथा जगदीश चन्द्र माथुर ने भी सामाजिक जीवन को आधार बनाकर अनेक एकांकियों की रचना की। भुवनेश्वर तथा रामकुमार वर्मा की भाँति यद्यपि इन्होंने भी अपने नाटकों का मूलाधार तो उच्च अथवा मध्यवर्गीय के सामाजिक जीवन को ही बनाया है किन्तु विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनका क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसमें इन्होंने प्रेम, विवाह जैसे व्यक्तिगत प्रश्नों के साथ ही तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त पारिवारिक मिथ्या आडम्बरों, राजनीतिक प्रपंच, सामाजिक एवं राजनीतिक अव्यवस्था तथा उच्चवर्गियों के स्वार्थपूर्ण मिथ्याभिमान आदि को भी अपनी लेखनी का विषय बनाया। किन्तु सेठ गोविन्ददास को छोड़कर सबका दृष्टिकोण समस्या के प्रति मुख्यत: यथार्थवादी ही रहा है। वह न तो नवीन के प्रति पूर्णत: अविश्वासी थे और न ही अतीत के प्रति आस्थावान। अत: इनके समस्त एकांकियों में सामाजिक पाखण्डों का उद्घाटन कर तत्कालीन सामाजिक जीवन की एक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिसके लिए उन्होंने कहीं युगीन समस्याओं के प्रति व्यंग्यात्मक एवं विवेचनात्मक रुख अपनाया है तो कहीं

हास्य-व्यंग्य का और कहीं मनोविश्लेषण के आधार पर व्यक्ति के अन्तर्मन में बैठकर उनकी भीतरी पर्तों को उद्घाटित करने की सक्रिय चेष्टा की है। इस युग में लिखे गये एकांकियों में अश्क 'कृत देवताओं की छाया' में उल्लेखनीय है।यह सात सामाजिक एकांकियों का संग्रह है जिसमें उन्होंने उच्चवर्ग के साथ ही मध्य एवं निम्न वर्ग की समस्याओं को भी बड़े ही सहज रूप में उठाया है।

इस प्रकार १६३५-३६ में जन्म लेकर १६४० तक एकांकी हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में सर्वसम्मति द्वारा स्वीकृत तो हो चुके थे किन्तु कला की दृष्टि से एकांकियों का पूर्ण विकास १६४५ में द्वितीय महायुद्ध के बाद ही दिखाई देता है। इस समय युगीन परिस्थितियों के दबाववश एकांकी रचना की ओर नाटककारों का ध्यान तो गया ही, पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप कला की दृष्टि से उनकी टेकनीक एवं स्वरूप में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। और एकांकी जो अभी तक जीवन की स्थूलताओं को उजागर करने के क्रम में एक निश्चित दिशा में बढ़ रहा था जीवन की बढ़ती जटिलताओं के सम्पर्क में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर नितान्त अन्तर्मुखी हो उठा।जिसमें पूर्व की अपेक्षा बौद्धिकता, गतिशीलता, संकेतात्मकता,सूक्ष्मता एवं भाव-व्यंजकता इत्यादि गुणों का भी समुचित निर्वाह हुआ और इस प्रकार लघु नाटकों का प्रणयन स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बन गया, जिसने हिन्दी नाटक के विकास में एक नवीन अध्याय जोड़ा।

भाषा-प्रयोग :

नाट्यवस्तु की यथार्थोन्मुखता के साथ ही प्रसादोत्तरकालीन ये बुद्धिवादी नाटककार भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में भी यथार्थवादी रंगमंच की यथातथ्य शैली के समर्थक रहे हैं। नाट्यभाषा की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में उनका विचार था कि, 'तोते की तरह रटे हुए शब्दों को रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता - हमारा नित्य का जीवन जैसा है रंगमंच का जीवन उसके साथ मेल खा सके।'[१] फलत: इनके समस्त नाटकीय चरित्र पूर्व प्रचलित साहित्यिक, अलंकृत एवं कवित्वपूर्ण भाषा की

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र : 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ २५

उपेक्षा कर दैनिक जीवन में व्यवहृत बोलचाल की साधारण गद्य भाषा का ही प्रयोग करते हैं, जिसमें एक ओर व्यंग्य-विनोद का चुभता हुआ रूप है तो दूसरी ओर प्रचलित शब्दों, कहावतों तथा मुहावरों का चलता हुआ प्रयोग। आज के बुद्धिवादी युग में समस्याकुल मनुष्य की वृत्ति भावुकता में बहने तथा कल्पना की रंगीनियों में विस्मृत होने की अपेक्षा तर्क-वितर्क एवं चिन्तन की ओर अधिक बढ़ रही है। समस्या विशेष में पड़कर वह मन ही मन अपनी स्थिति पर पश्चाताप नहीं करता वरन् उनसे मुक्त होने का मार्ग ढूँढ़ता है। अतः समस्या नाटकों में विवृत समस्याओं का निरूपण करते हुए प्रायः सभी नाटककारों ने सामाजिकों की प्रवृत्त्यानुकूल रूढ़ शैली-बद्ध एवं भावुकतापूर्ण संवाद योजना की अपेक्षा कथोपकथन की व्यावहारिक व्यंग्यात्मक, उपहासात्मक एवं तार्किक शैलियों का ही उपयोग किया है, जो युग-जीवन के अनुकूल होने के साथ ही पात्रों के मनोभावों को उभारने तथा नाट्य-कथा को स्वाभाविक गति प्रदान करने में भी सहायक हैं।

भाषा के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने के कारण कथोपकथन में सामान्य बोलचाल की भाषा का प्रयोग इन यथार्थवादी नाटकों की सर्वप्रथम आवश्यकता थी। जिसको ध्यान में रखते हुए प्रसादोत्तरकालीन प्रायः समस्त नाटककारों ने नाटकीय चरित्रों की योग्यता एवं स्थिति के अनुकूल दैनिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली साधारण भाषा का ही प्रयोग किया है, जिसमें हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों का अभूतपूर्व सम्मिश्रण है। उनके ग्रामीण तथा अशिक्षित पात्र तो अपनी सामाजिक स्थिति के अनुकूल क्षेत्रीय भाषा का ही प्रयोग करते हैं जिसमें तद्भव तथा देशज शब्दों का प्रयोग कर भाषा को यथा शक्ति ग्रामीण पुट दिया गया है। सेठ गोविन्ददास के 'गरीबी या अमीरी' नाटक में प्रयुक्त एक ग्रामीण महिला की भाषा उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है।

'औरत-- हाँ हाँ तुम्हारे कारन। जिस तरह किसी बहू के घर में पैर पड़ते ही उस घर में लछमी जी छप्पर फाड़कर फट पड़ती है। वैसे ही गाँव में यह सब तुम्हारे पग छेड़े से हुआ है। तुम्हारे पुन्न से वहना सब जगह सुख, सब जगह सान्ती, सब जगह उछाह है, उछाह।'[1]

---

1. सेठ गोविन्ददास : 'गरीबी या अमीरी', पृ० १३८

इसके अतिरिक्त भाषा को और अधिक सहज एवं स्वाभाविक रूप प्रदान करने के लिए नाटककारों ने कहावतों तथा मुहावरों का भी समुचित प्रयोग किया है। यथा - घर में नहीं है दाने अम्मा चली भुनाने । जब अपना ही दाम खोटा है तो परखैया को क्या दोष ।

किन्तु शिक्षित मध्यवर्गियों की भाषा परिष्कृत खड़ी बोली ही है तथा पात्रों की प्रकृति एवं योग्यता के अनुरूप उसमें उर्दू तथा अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं तो पात्र पूरे-पूरे वाक्य ही अंग्रेजी में बोल जाते हैं यथा 'सेवापथ' में श्रीनिवासदास का निम्न कथन -- हलो, शक्तिपाल, फर्स्ट डिवीजन, फर्स्ट इन ला इन दि होल युनिवर्सिटी । मोस्ट क्रेडिटेबिल इन्डीड । माई हार्टी कॉंग्रेच्युलेशंस ।'[1] जो कथोपकथन की स्वाभाविकता की दृष्टि से भले ही उपयुक्त हो, किन्तु इनका अतिशय प्रयोग नाटक की रोचकता तथा सुगमता के ह्रास का कारण भी बना है । 'सन्यासी' में मालती का यह कथन 'व्हेन लाइफ इज एट स्टेक, मेटा-फिजिक्स इज आउट आफ कोर्ट ।'[2] तथा अन्य नाटकों में उद्धृत अंग्रेजी के अनेकों प्रावधान हिन्दी के साधारण पाठकों के लिए दुरूह ही कहे जायेंगे । किन्तु ऐसे स्थल कुछ ही नाटकों में हैं । अधिकांशत: अंग्रेजी का प्रयोग रोजमर्रा के शब्दों तक ही सीमित है जो दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने के कारण आज हिन्दी भाषा के लिये रूढ़ से हो गये हैं जैसे -- फार्म, गार्डन, डार्लिंग, डियर, एड्रेस, स्कालरशिप, स्टूडेन्ट, कैरियर, पैराग्राफ, ड्रामा, बाथरूम, इण्डियन, योरोपियन, नोबिल प्राइज, आर्टिकिल्स, फर्नीचर, टेबिल, डिस्टेम्पर, बायकाट, कमिटी, मिनिस्ट्री, वारण्ट, डिग्री, आफिस, असिस्टेन्ट, कौंसिल, पार्टी इत्यादि ।

उर्दू भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में भी नाटककारों की यही सहज नीति कार्यरत थी । हिन्दी-उर्दू में होने वाले सम्भाषण की स्वाभाविकता को दृष्टि में रखते हुए उनकी मान्यता भी थी कि 'हिन्दू-मुसलमान पात्रों के परस्पर सम्भाषण में हिन्दू-पात्रों का सरल हिन्दी और मुसलमान पात्रों का सरल उर्दू में ही बोलना उचित प्रतीत होता है ।'[3] जिसको ध्यान में रखते हुए सभी ने यथासम्भव सरल एवं प्रचलित

---

१. सेठ गोविन्ददास - 'सेवापथ', पृष्ठ २
२. लक्ष्मी नारायण मिश्र - 'सन्यासी', पृष्ठ ७७
३. सेठ गोविन्ददास - 'नाट्यकला मीमांसा', पृष्ठ ३१

शब्दों का ही प्रयोग किया है यथा - इज्जत, कर्ज, फिक्र, नतीजा, शोहरत, बदतर, आलीशान, रंजीदा, मुमकिन, फाहशा, मालियत, नाबायब, ताल्लुक, मुदर्रिस, मुअक्किल, पुश्तैनी जायदाद इत्यादि । हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में तो मुसलमान पात्रों की अधिकता के कारण अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू का विशेष प्रयोग हुआ है, किन्तु उनकी भाषा साध्य न बनकर साधन ही रही है अत: अपने लक्ष्य जन-सामान्य तक पहुँचने के लिये उन्होंने उसमें अपेक्षित सुधार एवं संस्कार भी किये हैं । और यही कारण है कि पात्रानुकूलता को महत्व देते हुए भी उर्दू का प्रयोग उनके नाटकों में उत्तरोत्तर कम ही होता गया है । उनका 'स्वप्नभंग' नाटक तो उनकी इस पात्रानुकूल भाषा का अपवाद ही है । नाटक की भूमिका में उद्धृत उनका यह कथन, "इसके लगभग सभी पात्र मुसलमान है, उनकी भाषा उर्दू रखने से नाटक हिन्दी प्रेमियों के काम का न रहता ।"[1] हिन्दी भाषा के प्रति उनकी अपूर्व निष्ठा का ही परिचायक है । इसके अतिरिक्त अन्य नाटकों में भी जहाँ फारसी के तत्सम शब्द प्रयोगों द्वारा भाषा कुछ क्लिष्ट हो गयी है वहाँ उन्होंने नाटक के अन्त में दुरूह शब्दों के अर्थ भी दे दिये हैं ।

उर्दू तथा अंग्रेजी की इस मिश्रित शब्द-योजना के साथ ही भाषा प्रयोग का एक अन्य उदाहरण भी मिलता है और वह है यथावसर प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग । जो 'सेवापथ' में एक मराठी व्यक्ति की भाषा के रूप में दृष्टव्य है -- पोलपाट लाटणा लेकर घर में पतल्या पतल्या पोल्या लटवाता और खाता है, बांगला-बांगला कापड़ पेनता है, मोठ्या-मोठ्या बगल्या में रेता है और सोशलिस्ट बनता है कोलसा कित का उगाळावा तितका काळा । और उसका साथी-हुई आगे दौरा ।[2] किन्तु पाठकों अथवा दर्शकों की भाषा सामर्थ्य को देखते हुए भाषा का यह विशुद्ध रूप सर्वथा व्यावहारिक न था अत: अधिकांश नाटककारों ने हिन्दी में ही प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करवाकर अथवा प्रान्तीय भाषा की प्रकृति के अनुरूप व्याकरणिक एवं उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कराकर नाट्यभाषा को यथासंभव स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया है । 'सेवापथ' नाटक के द्वितीय अंक के दूसरे और चौथे दृश्य में

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी - 'स्वप्नभंग', पृष्ठ ४
२. सेठ गोविन्ददास - 'सेवापथ', पृष्ठ ६५-६६

विभिन्न भाषाओं के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जो नाटककार के भाषा सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान के परिचायक हैं। 'सेवापथ' नाटक में ही मार्गरेट के कथनों में भाषा का यह व्यावहारिक रूप दर्शनीय है --

'हमको ये कंट्री देखने का बोट शोक, मिस्टर श्रीनिवेश। आपका दुर में बड़ा-बड़ा काम देखने का कभी-कभी हम भी आपका साट आवे टो आपको कोई ट्रबल टो नेई होगा, क्योंकि मिस्टर वर्मा को टो कौंसिल का काम से बोट कम फुरसट मिलेगा ?'[1]

इन प्रचलित शब्द प्रयोगों के साथ ही यद्यपि नाटककारों ने कहीं-कहीं संस्कृत निष्ठ शब्दावली का प्रयोगकर भाषा को एक उच्चस्तरीय भाषा का रूप प्रदान करने का भी प्रयास किया है। यथा-मयूरवाहिनी, उलूकवाहिनी विवाहवृत, पार्थिव, दूषित, षटरस व्यंजन इत्यादि। किन्तु एक तो ऐसे स्थल बहुत कम हैं और जो हैं वह भी ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों तक ही सीमित हैं। जो नाटककार पर प्रसाद की स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का ही परिणाम था। उदयशंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्बा' में भाषा की इस स्वच्छन्दतावादी शैली के सर्वत्र ही दर्शन होते हैं।

जहाँ भाषा को यथासम्भव अलंकारिक एवं भावुकतापूर्ण बनाने के साथ ही संवादों को बोलने का ढंग भी प्रसादकालीन ऐतिहासिक नाटकों के अनुकूल है यथा अम्बा का निम्न संवाद -- तथास्तु, प्रभो, यही मेरी उपासना का लक्ष्य है, यही साधना का फल है। मैं कृतकृत्य हूँ नाथ! प्रतिहिंसे ?[2]

किन्तु समस्या नाटकों के सम्बन्ध में वह भी जन-सामान्य में प्रचलित बोलचाल की साधारण भाषा के ही समर्थक रहे हैं। जो उनके 'कमला' नाटक में सर्वत्र ही दृष्टव्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की दृष्टि से इस युग के समस्त नाटककारों ने भारतेन्दुयुगीन भाषा के यथार्थवादी रूप को ही अपनाया है।

---

१. सेठ गोविन्ददास - 'सेवापथ', पृष्ठ २७

२. उदयशंकर भट्ट - 'विद्रोहिणी अम्बा', पृष्ठ ६४

प्रसादोत्तर कालीन नाट्य-भाषा की दूसरी विशेषता उसकी संवादात्मक शैली है जो भावों की विविधता तथा पात्रों की प्रकृति के अनुरूप यथास्थिति व्याख्यात्मक, व्यंग्यात्मक एवं मनोविश्लेषणात्मक रूप धारण करती रही है।

व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग मुख्यत: परोक्ष रूप से घटित घटनाओं की सूचना देने, कथासूत्रों को संयोजित करने, कथावस्तु को गति प्रदान करने तथा पात्रों का चित्रण करने के लिये किया गया है। यों तो इस युग के सभी नाटकों में इस शैली के दर्शन होते हैं किन्तु इसका सर्वाधिक प्रयोग सेठ गोविन्ददास के नाटकों में मिलता है। सेठ जी के नाटकों में किसी समस्या विशेष के उद्घाटन की अपेक्षा समस्या से सम्बन्धित विचारों अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही प्रमुख था अत: उनके नाटकों की शैली व्याख्यात्मक ही रही है। व्यंग्य विनोद एवं तार्किकता का उनमें एक प्रकार से अभाव ही है। सेठ जी के नाटकों में प्रयुक्त संवाद योजना की इसी सहजता एवं सादगी को देखते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है --"उनकी शैली समझाने के रास्ते पर लाने की शैली है, जिसमें एक निश्चित आदर्श के सहारे बातों को खोलने और समझाने का प्रयत्न होता है। वह तीखे शब्दों या व्यंग्य की चोट से श्रोता को हतप्रभ करने की चेष्टा नहीं करते। इसलिए वह सर्वत्र सुलभ, सुथरी, स्पष्ट और विश्वास करने वाली हो सकी है, तीखी तिलमिला देने वाली नहीं जो राजनीतिक क्षेत्र में अधिक सफल होती है।"[१] जो विषयवस्तु के विचार प्रधान होने के कारण सर्वथा अस्वाभाविक तो प्रतीत नहीं होती, किन्तु सिद्धान्त प्रतिपादन के कारण इनके कुछ संवाद लम्बे भाषणों का रूप अवश्य ले लेते हैं जो नाटकीय दृष्टि से उचित नहीं कहे जा सकते। अन्यथा भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण एवं परिमार्जित है। सेठ गोविन्ददास के नाटकों में प्रयुक्त व्याख्यात्मक शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

मनसाराम - (गम्भीरता से) सन्तोष की सीढ़ी नीचे से ही चढ़ी जाती है, हाँ सीढ़ी चढ़ने के पहले, यात्रा करने के पहले ठीक रास्ते की खोज आवश्यक होती है। बिना उसके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना नहीं हो सकता। इस खोज में अनेक प्रयोगों की आवश्यकता होती है। जीवन समुद्र के समान होते हुए उसमें भी कुछ

---

१. डॉ० नगेन्द्र - आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ ७६

फूले फले टापू हैं। जिनके उत्तर हम नहीं देते। ... इसलिए जीवन में सन्तोष हुआ या नहीं यह तो नीतित्रत! तुम जीवन समाप्त होते समय ही पूछ सकते हो। ठीक उत्तर उसी वक्त दिया जा सकता है! हाँ, सन्तोष का मार्ग ढूँढ़ते रहना चाहिए और सच्चा सन्तोष कदाचित् असन्तोष ही है।[1] किन्तु जहाँ तक नाटक की व्यंग्यात्मक शैली का प्रश्न है। इसका प्रयोग मुख्यत: युग जीवन की विभीषिकाओं के प्रति पाठक वर्ग में बौद्धिक वितृष्णा का भाव भरने के लिए किया गया है। जो सामाजिक विकृतियों के रहस्योद्घाटन की दृष्टि से युग की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता भी थी। अत: ऐसे स्थलों पर नाटकीय चरित्रों की भाषा भी तर्कपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर-मूलक अथवा व्यंग्य कटाक्षों से परिपूर्ण है जिसमें पाठकों के हृदय को अन्तरतम तक भेद देने की क्षमता है। तत्कालीन क्रान्तिकारी पात्रों के संवादों में भाषा का यह तीखापन सर्वत्र ही लक्षित है। मिश्र जी की नारियाँ तो सर्वत्र ही अपने व्यंग्य बाणों एवं कर्कश शब्दों का प्रयोग कर नारी स्वातन्त्र्य के समर्थन में तर्क-वितर्क करती हैं। मिश्र जी का 'सिन्दूर की होली' नाटक इनके नाटकीय व्यंग्य का सुन्दर उदाहरण है। इसमें नाटककार ने आधुनिक शिक्षा, सामन्ती मनोवृत्ति तथा सामाजिक रूढ़ियों एवं विसंगतियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है। जिसकी एक झलक मुरारीलाल के निम्न संवाद में द्रष्टव्य है -- 'आजकल का कानून ही ऐसा है। इसमें सजा उसको नहीं दी जाती जोकि अपराध करता है- सजा तो केवल उसको होती है जो अपराध छिपाना नहीं जानता।[2]

किन्तु एक बुद्धिवादी नाटककार होने तथा बौद्धिक चिन्तन को महत्त्व देने के कारण इनके नाटकों में आगत ये तर्क-वितर्क-मूलक संवाद कहीं-कहीं विशेष रूप से लम्बे हो गये हैं। साथ ही हास्य का समुचित प्रयोग न होने के कारण इनके संवादों में बौद्धिक रूक्षता का भाव भी आ गया है। अधिकांश पात्र वाद-विवाद करते हुए एक गोष्ठी रूप में बैठे रहते हैं जो दृश्य-व्यापार को शून्य बनाकर नाटक में नीरसता के संचार का कारण भी बनते हैं।

---

१. सेठ गोविन्ददास - 'सन्तोष कहाँ?', पृष्ठ ६०

२. लक्ष्मी नारायण मिश्र -- 'सिन्दूर की होली', पृष्ठ ३१

लेकिन जहाँ हास्य का समुचित प्रयोग हुआ है वहाँ भाषा बौद्धिक रुक्षता के दोष से सर्वथा मुक्त है । उपेन्द्र नाथ अश्क के नाटकों में हास्य-व्यंग्य का अद्भुत सम्मिश्रण देखते ही बनता है, जो सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन के साथ ही नाटकीय व्यापार को कहीं भी बोझिल नहीं होने देता । यों तो इनके सभी नाटकों में हास्यव्यंग्य का सुन्दर प्रयोग हुआ है किन्तु उनका `स्वर्ग की झलक` तथा `छठा बेटा` उनके शिष्ट, परिष्कृत एवं उन्मुक्त हास्य के सफल उदाहरण हैं । जिसमें हास्य-व्यंग्य के साथ ही वर्तमान समाज की करुण त्रासदी भी अपनी सम्पूर्ण वेदना के साथ साकार हो उठी है । `स्वर्ग की झलक` में आधुनिक नारी की दायित्वहीनता के प्रति मि० अशोक का कथन --`इन चमकदार मोतियों का उपयोग कितना है रघु, तुम नहीं जानते - तुम इन्हें दूर ही से प्यार की नजरों से देख सकते हो, चाहो तो पास बिठा सपनों के संसार बसा सकते हो ; इनकी चमक से अपनी आँखें चका सकते हो ; पर जीवन के खरल में पीस इन्हें किसी काम में ला सकोगे इसकी आशा नहीं ।`[1] अश्क जी की व्यंग्यात्मक भाषा का अच्छा उदाहरण है । जो हास्य के छींटों से सुसज्जित हो पाठकों के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है ।

किन्तु मानव मन की गुत्थियों को सुलझाने तथा समस्या विशेष के मनोवैज्ञानिक पहलू को महत्व देने के कारण इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शैली मनोविश्लेषणात्मक शैली ही मानी गई है । जिसका प्रयोग नाटककार ने पात्रों के मनोभावों को उभारने तथा उनके आन्तरिक द्वन्द्व, पीड़ा, त्रास एवं घुटन को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही किया है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि भावावेग की स्थिति में कण्ठावरोध होता है और मनुष्य अपने मन्तव्य को स्पष्टत: व्यक्त नहीं कर पाता । बात करते-करते अपने अन्तर्भूत दुख के कारण उसका गला भर जाता है, फलत: उसकी भाषा में भी स्थिरता तथा संकोच की भावना पायी जाती है और कथोपकथन रुक-रुक कर चलता है जिसकी अभिव्यक्ति नाटककार ने अपने नाटकों में टूटे एवं अपूर्ण वाक्यों तथा अर्द्धोक्तियों के माध्यम से की है । जिसमें उसे अपूर्व सफलता भी मिली है । मिश्र जी के `सिन्दूर की होली` नाटक में प्रयुक्त भाषा की मनोविश्लेषणात्मक

---

१ उपेन्द्रनाथ अश्क - `स्वर्ग की झलक` ,पृष्ठ ५५

शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

'चन्द्रकला -- क्या 'और '-'और' कर रही हो - - - - - - - - इसमें विस्मय क्या है ? मेरा प्रेमी वहाँ था -- तुम जानती हो । यह मेरी सुहागरात है --- कितनी सूनी - - - लेकिन कितनी व्यापक । इसका अन्त नहीं है । मेरा पुरुष मुझे अपनी गुलामी में न रख सका - - - मुझे स्वतन्त्र कर गया । मुझे जो अवसर कभी न मिलता, वह मिल गया ।'[1]

इन थोड़े से शब्दों में ही नाटककार ने चन्द्रकला के मानसिक उन्माद का जो स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण चित्र खींचा है । भाषिक संरचना की दृष्टि से वह सर्वथा प्रशंसनीय है । ऐसे ही अनेकों मनोविश्लेषणात्मक एवं भावात्मक संवाद तत्कालीन समस्या नाटकों में बिखरे पड़े हैं । जो मनोवैज्ञानिक यथार्थ के उद्घाटन की दृष्टि से प्रसादोत्तरकालीन नाटकों की एक अन्यतम विशेषता है ।

किन्तु नाटक को स्वाभाविकता प्रदान करने के साथ ही वह उसे भावुकता से बचाने के लिये भी सचेष्ट रहे हैं जिसके लिए उन्होंने गीत, नृत्य, अतिकाव्यत्व तथा आत्महत्याओं इत्यादि का परित्याग तो किया ही है साथ ही नाट्यभाषा सम्बन्धी एक नवीन प्रयोग भी किया है और वह है स्वगतों की अपेक्षा मूक अभिनय द्वारा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का उद्घाटन । यद्यपि प्राचीन मान्यताओं के अनुरूप इस युग के अधिकांश[2] नाटकों में स्वगतों का प्रयोग भी मनोभावों के उद्घाटन के उद्देश्य से होता रहा है ।

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'सिन्दूर की होली', पृष्ठ ८६

२. स्वगत कथन के सम्बन्ध में सेठ जी का विचार है कि - 'अश्राव्य और नियत-श्राव्य दोनों प्रकार के स्वगत भाषण पात्र के आन्तरिक भावों एवं द्वन्द्वों को प्रकाश में लाने के लिए लिखे जाते हैं और कला में आन्तरिक भावों एवं द्वन्द्वों का प्रकाशन ही सर्वप्रमुख वस्तु है । . . . अश्राव्य स्वाभाविक तरीके से लिखा जा सकता है और उसके बिना कुछ आन्तरिक भावों एवं अन्तर्द्वन्द्व का ठीक प्रकाशन कठिन ही नहीं, असम्भव है ।' - सेठ 'गरीबी या अमीरी' 'निवेदन', पृष्ठ ६-७ ।

किन्तु सिद्धान्तत: स्वगतों की निरर्थकता समझकर इनका विरोध ही किया गया है। मानव मन की सूक्ष्म मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए डब्ल्यू० बी० यीट्स ने लिखा है कि 'आधुनिक (बौद्धिक) युग के व्यक्ति की यह प्रवृत्ति होती है कि वह भावावेश या मानसिक तनाव के क्षणों में कम से कम बोलता अथवा मूक भाव से कमरे की खिड़की से बाहर किसी दिशा में देखने लगता है अथवा फर्श की ओर ताकने लगता है।'[१] सामाजिकों की इसी मनोवृत्ति को लक्ष्यकर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों में स्वगतों की अपेक्षा मूक अभिनय का अधिकाधिक प्रयोग किया है। मूक अभिनय के पक्ष में तर्क देते हुए उन्होंने लिखा भी है- 'पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है - उतना स्वगत नहीं।'[२] और यही कारण है कि उनके समस्त नाटकीय चरित्र अपनी मानसिक स्थिति के उद्घाटन के लिये लम्बा चौड़ा व्याख्यान देने की अपेक्षा अपनी भाव-भंगिमा अथवा मुखाकृति से ही अपने मनोभावों को पूर्णत: स्पष्ट कर देते हैं। यथा 'सिन्दूर की होली' में चन्द्रकला की निम्नांकित भाव भंगिमा --

'(चन्द्रकला जल्दी से लाश के पास आती है। रजनीकान्त आँख खोल देता है और चन्द्रकला उसकी ओर देखने लगती है। उसका सिर फट गया है, खून की धार सिर से होकर पैर तक चली गई है, जिसमें कुरता धोती रंग गई है। चन्द्रकला क्षण भर उसकी ओर देखती है। फिर रुमाल से अपना मुँह दबाती हुई भीतर चली जाती है। माहिर अली वहीं फर्श पर रजनीकान्त की लाश के पास बैठ जाता है)'[३] जो नाटककार की सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की ही परिचायक है।

---

१ "The habit of modern people, under great emotional stress, is of saying very little or staring out of the window or looking into the drawing room fire ." Drama From Ibsen to Eliot'.
मान्धाता ओझा कृत - 'हिन्दी समस्या नाटक' में उद्धृत, पृष्ठ १३८

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ २३

३. लक्ष्मीनारायण मिश्र - 'सिन्दूर की होली', पृष्ठ ६४

प्रसादोत्तर कालीन नाट्यभाषा में किये गये इन महत्वपूर्ण प्रयोगों के बावजूद भाषा सम्बन्धी एक दोष विशेष रूप से खटकता है और वह है संवादों का अनपेक्षित विस्तार। जो पात्रों की तार्किक प्रवृत्ति एवं सिद्धान्त विवेचन के कारण विस्तृत भाषण अथवा उपदेशों का रूप ले लेते हैं। यह सत्य है कि नाटक की स्वाभाविकता एवं सरलता को दृष्टि में रखकर सभी ने यथासंभव संक्षिप्त एवं गतिशील संवादों की योजना की थी किन्तु भावावेश में कहे गये संवाद कहीं-कहीं काफी बड़े हो गये हैं। लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत `सन्यासी`, `मुक्ति का रहस्य` तथा `सिन्दूर की होली` में क्रमश: मालती, उमाशंकर तथा मनोरमा के कथन उनकी विस्तृत संवाद योजना के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। `राक्षस का मन्दिर` के तो अधिकांश संवाद ही लम्बे हैं जो नाट्य व्यापार में क्रियाशीलता की उपेक्षा कर नाटक को मात्र संवादात्मक भाषण अथवा वाद-विवाद का कार्य-स्थल बना देते हैं। साथ ही सिद्धान्त-प्रतिपादन को महत्व देने के कारण इनमें रूक्षता का भाव ही आ गया है। सेठ गोविन्ददास के नाटकों में भी संवादों की यह विस्तृति नाट्य भाषा की बरोकता का महत्वपूर्ण कारण बनी है। `गरीबी या अमीरी` में तो अक्का तथा विभूषण के कुछ संवाद चार-चार, पाँच-पाँच पृष्ठों के हैं जो सिद्धान्त-प्रतिपादन को महत्व देने के कारण नाट्य-व्यापार को नीरस एवं उबाऊ बना देते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के महात्मा पात्रों के संवादों में जहाँ वह किसी पात्र को उच्च आदर्शों का उपदेश देने लगते हैं, उनके संवाद अपेक्षाकृत काफी विस्तृत एवं बटिल हो गये हैं और उनको देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों `प्रेमी` यह भूल ही गये हैं कि वह नाटक लिख रहे हैं। उनकी नाट्यभाषा की इसी विवरणात्मकता को लक्ष्यकर बच्चन सिंह ने उनकी तुलना नेताओं के भाषण से की है उनका कथन है कि - `कहीं-कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि राजनीतिक रंगमंच से नेताओं के भाषण हो रहे हैं।`[1] `रक्षाबन्धन` में शाहलेस औलिया के ऐसे उपदेशात्मक संवाद इन विस्तृत संवादों के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त स्वगत भाषण, पुनरुक्ति दोष, अथवा व्याकरणिक त्रुटियों के भी दर्शन होते हैं किन्तु भाषा की इन कतिपय त्रुटियों के कारण ही इनके

---

1. डॉ० बच्चन सिंह - `हिन्दी नाटक`, पृष्ठ १०८

नाटकत्व को नकारा नहीं जा सकता । वस्तुत: बोलचाल की साधारण अपितु परिष्कृत शब्दावली का प्रयोग कर नाटककारों ने नाट्यभाषा को जो अर्थव्यंजकता अथवा प्रभावोत्पादकता प्रदान की है, नाट्य विकास की दृष्टि से वह सर्वथा उचित है तथा प्रसाद युगीन नाट्य भाषा की प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्यिक भाषा का एक नवीन मानदण्ड स्थापित करती है ।

रंग-संयोजन

बीसवीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दी नाटककारों तथा सामाजिकों की परिष्कृत रुचि हीनता, व्यावसायिक मण्डलियों की आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण दृश्य-योजना तथा सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता के कारण भारतेन्दु प्रवर्तित हिन्दी का अव्यावसायिक रंगमंच तो पहले ही समाप्त हो चला था, प्रसाद की उच्च साहित्यिक प्रतिभा तथा परिष्कृत रंगदृष्टि ने जनरुचि की अवहेलना कर व्यावसायिक रंगमंच की रही-सही परम्परा को भी समाप्त कर दिया जिसका व्यापक प्रभाव हिन्दी नाटक पर पड़ा और नाटक रंगमंच के अभाव में अपनी सार्थकता को खोकर पाठ्य नाटकों की ओर मुड़ गया । यद्यपि कुछ नाट्य प्रेमियों के सहयोग से इस समय नाटकों का प्रदर्शन स्कूलों, कालेजों तथा अन्य स्वागत समारोहों के अवसर पर छुटपुट रूप से प्रारम्भ हो चला था, किन्तु अपने सीमित साधनों के कारण उनका झुकाव पूर्णकालिक नाटकों की अपेक्षा एकांकी नाटकों की ओर ही अधिक रहा । और हिन्दी नाटक किसी व्यावहारिक रंगमंच के अभाव में दिन प्रतिदिन रंगमंच से दूर होता चला गया ।

संयोग से इसी समय हिन्दी नाट्य जगत में यथार्थवादी नाटकों के प्रणेता लक्ष्मी नारायण मिश्र का आगमन हुआ और उन्होंने इब्सन द्वारा प्रणीत समस्या नाटकों के नवीन यथार्थवादी रंगशिल्प से प्रभावित होकर हिन्दी में रंगमंचीय यथार्थ का एक सर्वथा नवीन रूप प्रतिपादित किया जिसका मुख्य उद्देश्य था रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी अथवा समसामयिक जीवन का यथातथ्य रूप उद्घाटित करना । फलत: रंगमंच को महत्व देने के कारण अभिनेयता को तो प्रश्रय मिला ही, युगीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अभिनेयता के नवीन प्रतिमान भी सामने आये, जिनमें सर्वप्रमुख था स्वाभाविकता एवं सरलता जो विषयवस्तु के साथ ही उसके रचना-विधान एवं रंगशिल्प में भी स्पष्ट परिलक्षित है ।

अत: जहाँ तक प्रसादोत्तर कालीन इन नाटकों के रचना-विधान का सम्बन्ध है वैज्ञानिक युग के इस गतिक्षिप्र जीवन में सामाजिकों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अपेक्षाकृत छोटे नाटकों की रचना की गई । युगजीवन की किसी केन्द्रीय समस्या से अभिभूत होने के कारण इनका कार्य-व्यापार प्राय: सीमित अवधि में समाप्त होने वाला सरल एवं सुसंगठित है । उसमें प्रसाद की भाँति समय अथवा स्थान का अनावश्यक विस्तार नहीं है प्रासंगिक कथाओं का प्रयोग भी अपेक्षाकृत कम तथा समस्या विशेष को घनीभूत करने के उद्देश्य से ही किया गया है । अत: नाटकीय इतिवृत काफी सुलझा हुआ एवं स्पष्ट है, जिसे थोड़े से समय में सहज उपलब्ध साधनों के द्वारा तत्कालीन अविकसित रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता था । कहीं-कहीं तो यह नाटक ३-४ घन्टे की सीमित अवधि में ही समाप्त हो गये हैं जैसे -`छठा बेटा`, `आधीरात`, `कैद`, `भँवर` इत्यादि ।

इसके साथ ही प्रसादोत्तरकालीन इन तथाकथित यथार्थवादी नाटककारों ने रंगमंचीय स्वाभाविकता को ध्यान में रखते हुए दृश्य परिवर्तन की प्राचीन परिपाटी को रंगमंचीय व्यापार में बाधक समझ सम्पूर्ण नाटकीय कार्य-व्यापार को तीन अंकों में समेटने का आग्रह किया है जो निश्चयत: उनपर पाश्चात्य यथार्थवादी रंगशिल्प का ही प्रभाव था । अत: इस युग के अधिकांश नाटक तीन अथवा चार अंकों में विभाजित हैं, कहीं-कहीं तो अंक ही दृश्यों का कार्य करते हैं । उपेन्द्रनाथ अश्क कृत 'छठा बेटा' यथार्थवादी रंगशिल्प का एक श्रेष्ठ उदाहरण है जहाँ पर्दे का गिरना मात्र दर्शकों के विश्राम के लिए था अन्यथा पूरा नाटक एक ही दृश्य पर अभिनीत हुआ है । इस सम्बन्ध में मिश्र जी ने भी स्वीकार किया है कि `बार-बार पर्दा उठाना और गिराना रंगमंच को अस्वाभाविक बना देता है ।`[1] अत: उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों में अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया है । `मुक्ति का रहस्य` की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है कि `- - - - इसमें जैसा कि पढ़ने पर मालूम होगा कुल तीन दृश्य और तीन अंक हैं : एक अंक में केवल एक दृश्य है ।`[2] किन्तु रंगमंच सम्बन्धी अपने

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र -'मुक्ति का रहस्य' `मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ`, पृष्ठ २२

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ २२

प्रयोग भी यथासम्भव कम ही किया गया है। गीतों के सम्बन्ध में मिश्र जी का कथन था कि "नाटक में गीत रखना कोई बहुत जरूरी नहीं है। कभी-कभी गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठता है --- -।[१] गीतों के सम्बन्ध में ऐसे ही प्रतिक्रियात्मक विचार उपेन्द्रनाथ अश्क के निम्न शब्दों में भी व्यक्त हुए हैं उनका विचार था कि, 'अच्छा नाटक नाच गाने के बल पर नहीं, उसके अन्तर्भूत द्वन्द्व, चुस्त चुटीले संवादों और अभिनेताओं के सुन्दर अभिनय के बल पर चलना चाहिए।[२] जो उन पर पड़े पाश्चात्य यथार्थवादी रंगशिल्प का ही प्रभाव है और इससे प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने नाटकों में गीतों का यथासम्भव विरोध किया है। मिश्र जी के नाटकों में 'सन्यासी' की किरणमयी ही एक ऐसी पात्र है जो परिस्थिति-विशेष में गीत गाती दिखायी देती है अन्यथा अधिकांश नाटकों में गीतों के नाम पर मात्र दो चार पंक्तियाँ ही गीत अथवा पद्यबद्ध रूप में प्रयुक्त हुई है। सेठ गोविन्दास तथा हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में गीतों का प्रयोग अवश्य कुछ अधिक है किन्तु गीतों का प्रयोग करते हुए भी यह समस्त नाटककार गीतों की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में विशेषरूप से सजग थे। गीतों के प्रयोग के सम्बन्ध में सेठ गोविन्ददास का तर्क था कि -'गायन नृत्य और कविता का नाटक से सर्वथा बहिष्कार करने की आवश्यकता नहीं है। संसार में गाने से कई व्यक्तियों को प्रेम होता है। अत: नाटक में भी कुछ पात्र गा सकते हैं।[३] अत: इनके नाटकों में गीतों का प्रयोग तो हुआ है किन्तु गीतों में प्रसाद की सी काव्यात्मकता, दार्शनिकता एवं रहस्यमयता नहीं है। अधिकांश गीत सार्थक, सरल एवं संक्षिप्त हैं तथा इनका प्रयोग मुख्यत: कथा-प्रवाह को गति प्रदान करने, चरित्र को उद्घाटित करने, मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने तथा वातावरण निर्मित करने के उद्देश्य से ही किया गया है। लेकिन जहाँ गीतों का प्रयोग अधिक है वहाँ नाटकीय व्यापार में बाधा भी पड़ी है। हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षाबन्धन' में तो गीतों की संख्या १४ तक पहुँच गयी है। कहीं-कहीं तो उन्होंने पहले अंक की समाप्ति तथा दूसरे अंक का प्रारम्भ भी गीत से ही किया है जो नाटकीय

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र - 'मुक्ति का रहस्य' 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ', पृष्ठ२४-२५।

२. जगदीशचन्द्र माथुर इत्यादि = नाटककार अश्क' अश्क कृत लेख 'नौटंकी से पृथ्वी थियेटर्स तक' पृष्ठ ३८८।

३. सेठ गोविन्ददास -'नाट्यकला मीमांसा', पृष्ठ २१-२२

व्यापार की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता तथा नाटक को गतिशील एवं रोचक बनाने की अपेक्षा नीरसता का ही संचार करते हैं। किन्तु सेठ जी के नाटकों में गीतों का प्रयोग अपेक्षाकृत सन्तुलित है तथा जहाँ आवश्यकता नहीं समझी है वहाँ वह गीतों के प्रयोग से दूर ही रहे हैं। `प्रकाश` `सुख किस में` `महत्व किसे` तथा `सेवापथ` में तो एक भी गीत नहीं है। जो नाटककार पर यथार्थवादी रंगशिल्प का प्रभाव था।

रचना-विधान के साथ ही यह प्रगतिशील नाटककार रंगमंचगत स्वाभाविकता के सम्बन्ध में भी विशेषरूप से सजग थे। समस्या नाटक के सन्दर्भ में रंगमंच की स्वाभाविकता तत्कालीन नाटकों का अनिवार्य धर्म था। जिसका उद्घाटन करते हुए मिश्र जी ने लिखा है, `रंगमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम हो कि हमलोग किसी अजनबी जगह में या किसी जादूघर में आ गए हैं। जिस स्वाभाविकता के साथ हम घर में रहते हैं, उसी स्वाभाविकता के साथ हमें रंगमंच पर रहना है।[1] जिसका यथासम्भव निर्वाह भी किया गया। फलत: प्रसादोत्तरकालीन इन यथार्थवादी नाटकों का दृश्यविधान तो विषयवस्तु के अनुकूल युग-जीवन से मेल खाता हुआ सरल, अलंकृत तथा सहज उपलब्ध है ही, उसे यथार्थ के अधिकाधिक निकट लाने तथा रंगमंच और जीवन के अभेद को दर्शाने के उद्देश्य से उनमें चिरपरिचित रंगसंकेतों तथा सूक्ष्म विवरणों का भी यथासम्भव प्रयोग किया गया है। नाटक के अधिकांश दृश्य साधारण कमरों, पार्क, गली, सड़क, मैदान आदि के हैं जिन्हें दिये गये रंग संकेतों तथा विवरणों की सहायता से रंगमंच पर भलीभाँति उसके यथार्थ रूप में विनिर्मित किया जा सकता है। किन्तु कहीं-कहीं प्रत्यक्ष रंगमंच के अभाव तथा नाटककारों की कल्पनाशीलता के कारण कुछ दृश्य जटिल एवं दुरूह भी हो गये हैं, जिनकी यथार्थ सृष्टि स रंगमंच पर सम्भव ही न थी यथा `अंगूर की बेटी` नाटक का निम्न दृश्य -- `निर्जन वन से जाती हुई सड़क, निकट एक नदी। समय - रात। नदी का पुल टूट गया है। टूटे हुए पुल के आगे एक लट्ठे से सड़क रोक दी गयी है। लट्ठे के बीचोबीच एक काठ का बक्स लटकाया गया है। बक्स के आगे के खुले भाग में लाल काँच लगा है, उसमें बड़े अक्षरों में `खतरा, आगे

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र - `मुक्ति का रहस्य`, `मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ`, पृष्ठ २४।

रास्ता नहीं है ।' लिखा गया है । एक गधा चरता हुआ आता है, और उस बक्स के निकट लट्ठे पर अपनी गर्दन खुजलाता है । बक्स नीचे गिरता है, लैम्प बुझ जाता है । माधव और प्रतिभा मोटर पर चढ़े हुए आते हैं । अन्धकार के कारण मोटर लट्ठे को तोड़कर टूटे हुए पुल से नदी में गिर जाती है ।[१] इसी प्रकार के अन्य अनेकों दृश्य सेठ गोविन्ददास के `भूदान यज्ञ' `पाकिस्तान', `गरीबी या अमीरी' तथा `विकास' नाटकों में भी दिखायी देते हैं जो अपनी विस्तृति एवं जटिलता के कारण रंगमंच की अपेक्षा फिल्मों के अधिक निकट है और इनका प्रदर्शन भी साधारण यथार्थवादी रंगमंच के विपरीत आधुनिक विशाल रंगमंच की अपेक्षा करता है । इसका मूल कारण नाटककार पर युगीन फिल्मी टैकनीक का प्रभाव था । नाट्य रचना में फिल्मी टैकनीक की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उनका अभिमत था कि `नाटक और सिनेमा का कहीं-कहीं सुन्दर मिश्रण भी हो सकता है, जैसे युद्ध, चुनाव, मेले इत्यादि के दृश्य । - - - - यदि कुछ पात्रों के मुख से इनका वर्णन कराया जाए - - तो मन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता ।'[२] किन्तु वास्तविकता यह है कि सिनेमा की टैकनीक को अपनाने के कारण इनके ये नाटक न तो रंगमंच के उपयुक्त रह सके और न ही चित्रपट के ।

इन विशाल दृश्यों के साथ ही दृश्य-विधान सम्बन्धी एक अन्य कमी जो इन नाटकों में खटकती है वह है दृश्यों का अतिशीघ्र बदलना । यद्यपि अधिकांश नाटककारों ने यथार्थवादी रंगशिल्प का पालन करते हुए अंकों तथा दृश्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त मितव्ययिता दिखायी है किन्तु फिर भी कहीं-कहीं दृश्यों की संख्या अनपेक्षित विस्तार पा गयी है । हरिकृष्ण प्रेमी के `बन्धन' नाटक में तो दृश्यों की संख्या २४ तक पहुँच गयी है जो नाटकीय प्रभाव की क दृष्टि से बहुत उचित नहीं है । किन्तु दृश्यों की संख्या अधिक होते हुए भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रंगमंच के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट थी । रंगमंच की सीमाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने `विषपान' नाटक की भूमिका में लिखा भी है - `एक राजमहल, घर के भीतर अथवा ऐसे ही किसी

---

१. गोविन्द बल्लभ पन्त - `अंगूर की बेटी', पृष्ठ १०२

२. सेठ गोविन्ददास - `नाट्य कला मीमांसा', पृष्ठ२७-२८

दृश्य, जिसमें काफी सजावट करनी पड़ती है, के पश्चात् वैसा ही दृश्य नहीं लाया जा सकता । एक-एक चीज को हटाकर दूसरी रखने के लिए समय चाहिए । इसीलिए उसके बाद ऐसा दृश्य आना चाहिए जिसमें कोई सजावट न हो । अनेक बार 'रंगमंच' की सुविधा के लिए ही कुछ दृश्य घटाने बढ़ाने पड़ते हैं ।[1] जिसका ध्यान प्रेमी जी ने अपने नाटकों में सर्वत्र ही रखा है । फलत: उनके अधिकांश नाटकों में एक सजे दृश्य के बाद सड़क, गली, मैदान, बाग तथा पगडंडी इत्यादि खुले स्थानों का दृश्य है । 'बन्धन' में तो उन्होंने बालकों के क्रिया-व्यापार को लेकर एक प्रासंगिक कथा का ही निर्माण कर दिया है । यह सभी दृश्य सड़क, पगडंडी इत्यादि पर ही अभिनीत हुए हैं जिनका मूल उद्देश्य ही नाटक के रंगमंचीय यथार्थ की रक्षा करना था । जितनी देर में पटों की सहायता से निर्मित रंगमंच पर यह प्रासंगिक दृश्य अभिनीत होते थे उतनी देर में पीछे एक मंच तैयार हो जाता था । इसके अतिरिक्त अन्य नाटकों में जहाँ दो समान दृश्य एक के बाद एक आये हैं वहाँ भी थोड़े से हेर फेर के साथ दृश्य-परिवर्तन किया जा सकता है । अत: दृश्यों की अधिकता के कारण इन्हें अनभिनेय तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्य है कि पात्रों के अतिशीघ्र प्रवेश प्रस्थान के कारण नाटकीय कथा की धारावाहिकता में बाधा उत्पन्न होती है, जो नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से उचित नहीं है ।

दृश्य-विधान के साथ ही पात्रगत स्वाभाविकता भी प्रसादोत्तरकालीन नाटककारों की एक प्रमुख विशेषता थी । विषयानुरूप पात्रों की संख्या तो सीमित है ही, पात्रों की वेशभूषा भी साधारण तथा युग जीवन से मेल खाती हुई है, तथा यह सभी पात्र अपनी सामाजिक स्थिति के अनुकूल स्वाभाविक भाषा का ही प्रयोग करते हैं । उनकी बोलचाल का लहजा भी आम-जीवन में व्यवहृत मनुष्यों जैसा है जिसके लिये अभिनेताओं को विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती । मनोविश्लेषणात्मक संवादों के बोलने का ढंग अवश्य कुछ कठिन है तथा विशेष प्रयास की अपेक्षा करता है, किन्तु व्यावहारिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव के कारण उनका प्रदर्शन भी असाध्य नहीं है ।

इसके साथ ही नाटक को यथासम्भव स्वाभाविक बनाने के लिए प्रसादोत्तर-

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी - 'विषपान', पृष्ठ ११० ।

कालीन इन सभी नाटककारों ने अभिनयगत स्वाभाविकता पर भी विशेष ध्यान दिया है। इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हुए मिश्र जी ने एक स्थान पर लिखा है -- 'तोते की तरह रटे-रटाये शब्दों को रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुँह से जो शब्द निकले उनके साथ ही शरीर के अंगों का संचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस में सामंजस्य स्थापित कर रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी दिखला दे अथवा हमारा नित्य का जीवन जैसा है रंगमंच का जीवन उसके साथ मेल खा सके। इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया है।'[1] वस्तुत: आज का बुद्धिवादी सामाजिक भावनाओं में बहने की अपेक्षा समस्या विशेष के सन्दर्भ में सोच-विचार तथा तर्क-वितर्क अधिक करता है अत: अधिकांश नाटककारों ने बाह्य उछल-कूद तथा अनावश्यक संलाप की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व मूलक मूक-अभिनय को ही प्रश्रय दिया है। इनके समस्त नाटकीय चरित्र अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा न कर अपने कार्यकलापों द्वारा करते हैं जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने यथावसर अर्द्धोक्तियाँ अथवा अभिनय संकेतों के माध्यम से की है, जो नाटक की रंगमंचीय परिकल्पना को एक साकार रूप देते हैं। अभिनय सम्बन्धी ये छोटे बड़े निर्देश तो इस युग के नाटकों में सर्वत्र ही बिखरे पड़े हैं। 'सिन्दूर की होली' का एक उदाहरण दृष्टव्य है --

'मुरारीलाल -- ऐं! रजनीकान्त! अन्त में हो गया - - - - मरवा ही डाला उस बदमाश ने?

(चन्द्रकला जल्दी से लाश के पास जाती है। रजनीकान्त आँख खोल देता है और चन्द्रकला उसकी ओर देखने लगती है। उसका सिर फट गया है, खून की धार सिर से होकर पैर तक चली गई है, जिसमें कुरता-धोती रंग गई है। चन्द्रकला क्षण भर उसकी ओर देखती है।)

चन्द्रकला -- वाह! अब भी मुस्कराहट?

(फिर रूमाल से अपना मुँह दबाती हुई भीतर चली जाती है। माहिर अली

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र -- 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ २५

वहीं फर्श पर रजनीकान्त की लाश के पास बैठ जाता है ।)[१]

यद्यपि यह सत्य है कि मूक अभिनय के आग्रह में हिन्दी नाटकों से स्वगतों का बहिष्कार होने लगा था किन्तु अधिकांश नाटककार अभी भी स्वगतों के प्रयोग को मनोभावों के चित्रण एवं अन्तर्द्वन्द्वों के प्रकाशन के उद्देश्य से आवश्यक मानते थे । उनका विचार था कि --"भावों का अत्यधिक आवेग हो जाने पर तथा असीम शोक के अवसर पर स्वगत कथनों का प्रयोग स्वाभाविक कहा जा सकता है -- ऐसे अवसरों पर यदि स्वगत कथन न हो तो अस्वाभाविक बात होगी ।"[२] अत: स्वगतों का विरोध होते हुए भी प्रसादोत्तरकालीन इन नाटकों में स्वगतों का खूब प्रयोग हुआ है । सेठ गोविन्ददास, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में स्वगतों का प्रयोग विशेषरूप से हुआ है । सेठ गोविन्ददास के नाटकों में तो यह चार-चार पाँच-पाँच पृष्ठ के हैं जो स्वगत भाषण का रूप धारण कर नाटक को अपेक्षित गतिशीलता प्रदान करने में बाधक प्रतीत होते हैं । इसके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट ने अपने 'कमला' नाटक में स्वगत का प्रयोग अन्य पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिये तो पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' नाटक में अन्य पात्रों की उपस्थिति में तो कहीं-कहीं दृश्य के अन्त में सभी पात्रों के चले जाने पर मुख्य पात्र द्वारा स्वगतों का प्रयोग कराया है,जो रुचिकर तथा स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता ।

अत: निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि "मंचन के प्रति विशेष दृष्टि रखते हुए भी अधिकांश नाटककार प्रत्यक्ष रंगमंच तथा सुस्पष्ट रंगदृष्टि के अभाव में अपने इन नाटकों में वह प्रभविष्णुता तो न ला सके जो पाश्चात्य नाटकों के सन्दर्भ में यथार्थवादी रंगमंच की मुख्य विशेषता थी । किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रसाद की साहित्यिक परिष्कृति के चक्कर में पड़कर भारतेन्दु प्रवर्तित जो नाट्यधारा रंगमंच फलत: जन-सामान्य से दूर जा पड़ी थी, प्रसादोत्तरकालीन नाटककारों ने उसे अभिनय गुणों से युक्त कर पुन: जन-सामान्य से जोड़ने का प्रयास किया । यद्यपि हिन्दी नाट्य-जगत में यथार्थवादी रंगमंचीय परम्परा की शुरुवात तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के

---

१. लक्ष्मी नारायण मिश्र -'सिन्दूर की होली', पृष्ठ ६४

२. सेठ गोविन्ददास - 'नाट्य कला मीमांसा', पृष्ठ १६-२०

नाटकों से ही हो गयी थी, जहाँ उन्होंने प्रसादकालीन भव्य एवं आकर्षक दृश्यविधान की अपेक्षा सरल एवं स्वाभाविक दृश्यों की योजना कर नाटक को रंगमंच के सर्वथा अनुकूल बनाने का प्रयास किया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच को जनसामान्य के अधिकाधिक निकट लाने का सर्वाधिक श्रेय रंगकर्मी नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क को ही है, जिन्होंने नाट्य-रचना के साथ ही रंगमंच की आवश्यकता पर भी समान रूप से बल दिया। नाटक तथा रंगमंच के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध तथा उसकी मौलिक आवश्यकता का विवेचन करते हुए उनका कथन था कि 'यदि आज लेखक रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक लिखें तो कल रंगमंच भी अपनी बर्षों की नींद से जाग उठेगा। वास्तव में दोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। - - - मेरा अपना विचार तथा अनुभव है कि ऐसे नाटक अधिक संख्या में लिखे जाएँ, जो रंगमंच पर सुगमता से खेले जा सकें।'[1] जिसका उन्होंने पूर्णत: निर्वाह भी किया। यद्यपि यथार्थ के बाह्य, सतही एवं एक आयामी रूप को अपनाने के कारण उनके अधिकांश नाटक स्कूलों तथा कालेजों के अम्येच्योर रंगमंच तक ही सीमित रहे हैं फिर भी अभिनेय एवं रंगमंचीय नाटकों की रचना कर उन्होंने नाट्य-जगत को जो योगदान दिया वह सर्वथा सराहनीय है साथ ही हिन्दी रंगमंच के विकास में एक नये युग का प्रारम्भ करता है, जिसका पूर्ण विकास स्वातन्त्र्योत्तर-काल में रचित नाटकों के माध्यम से हुआ।

निष्कर्ष -

प्रसादोत्तरकालीन नाटकों के विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसादकालीन स्वच्छन्दतावादी नाटकों की अतिरंजित भावुकता, कल्पनाप्रियता, आदर्शात्मकता, विश्रृंखल एवं अस्वाभाविक घटना-विन्यास तथा काव्यात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप इस युग में यथार्थवादी नाटकों की जिस अभिनव बुद्धिवादी नाट्यपरम्परा की आधारशिला रखी गई थी, वह युग-जीवन की समसामयिक परिस्थितियों से उद्वेलित होती हुई युग की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में सामने आयी। फलत: समसामयिक समस्याओं के प्रति बुद्धिवादी प्रेक्षक के चिन्तन को उद्बुद्ध करने तथा समाज की पतनशील रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क - 'स्वर्ग की झलक', भूमिका पृष्ठ (ड०)

खण्डनात्मक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाने के उद्देश्य से इस समय सामाजिक समस्या नाटकों का प्रणयन ही अधिक हुआ। यद्यपि प्रसाद के अनुकरण पर इस समय उदयशंकर भट्ट तथा हरिकृष्णप्रेमी इत्यादि नाटककारों के रूप में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा भी विद्यमान रही, किन्तु उनमें इतिहास के प्रति नाटककारों की वह अपूर्व निष्ठा कहीं नहीं थी जो प्रसाद के नाटकों की विशेषता थी। अत: ऐतिहासिक नाटक लिखे जाने पर भी प्रमुखता यथार्थवादी समस्या नाटकों की ही रही। किन्तु बौद्धिकता एवं सिद्धान्त के प्रति निहित पूर्वाग्रह के कारण उनमें हृदय तत्व का समुचित उपयोग न हो सका। फलत: उनमें वह मार्मिकता एवं संवेदनशीलता भी न आ सकी, जो पाठक अथवा प्रेक्षक वर्ग को आमूलत: झकझोर दे। साथ ही समस्या की सही पकड़ न होने के कारण अधिकांश नाटक सतही होकर ही रह गये हैं। और यही कारण है कि युग-जीवन की समस्याओं को अपनाने पर भी नाटककार समस्या के सन्दर्भ में कोई निश्चित समाधान न दे सके वरन् उनका आदर्शवादी रूप ही उनमें यत्र-तत्र अभिव्यंजित हो उठा है, जो युग-यथार्थ को देखते हुए नाटककार की अपनी विवशता भी थी। और इस प्रकार सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य-साहित्य कलात्मकता के अभाव में वाद-विवाद मूलक रूखा संवादात्मक भाषण बनकर रह गया है। जिसमें दृश्यत्व एवं क्रियाशीलता, जो नाटक के अनिवार्य तत्व माने जाते हैं, का सर्वथा अभाव रहा है। यद्यपि कलात्मकता एवं रंगशिल्प की दृष्टि से यथार्थवादी नाटकों के इस दोष को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु सत्य तो यह है कि स्वल्प घटना, सीमित क्रिया-व्यापार एवं व्यंग्यपूर्ण कथोपकथनों के माध्यम से उन्होंने अपने युग यथार्थ को जिस सजीवता के साथ रूपायित किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है तथा परवर्ती-नाटककारों के समक्ष नाट्य रचना का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत करता है। और जहाँ तक कलात्मकता का प्रश्न है तो वह भी समय के साथ-साथ उत्तरोत्तर विकास की ओर प्रयत्नशील है। उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में किये गये शिल्प-सम्बन्धी विविध प्रयोग यथार्थवादी समस्या नाटकों के कलात्मक सौन्दर्य एवं उन्नत भविष्य के ही परिचायक है, जिसका पूर्ण विकास स्वातन्त्र्योत्तरकालीन नाटकों में दृष्टिगत है।

-0-

अध्याय ६

स्वातन्त्र्योत्तर युग

स्वातन्त्र्योत्तर युग (सन् १६४७ से १६७० ई० तक)

१५ अगस्त सन् १६४७ भारतीय इतिहास का वह युगान्तरकारी प्रस्थान विन्दु है जहाँ से युग का सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन स्वातन्त्र्य चेतना से भरकर एक नवीन मोड़ लेता है । अस्तु, भारतीय राजनीति में स्वतन्त्रता प्राप्ति का जो संघर्ष अभी तक ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लड़ा जा रहा था, वही स्वतन्त्रता के स्वर्णिम प्रभात में नवीन आशा एवं उत्साह से भरकर देश के नव-निर्माण की ओर सक्रिय हुआ । फलत: संघर्षरत भारतवासियों के समक्ष अब एक ही उद्देश्य एवं लक्ष्य था और वह था देश का पुनर्गठन तथा समाजवादी समाज की स्थापना, जहाँ न वर्ग संघर्ष हो और न शोषण वरन् सर्वत्र सुख शान्ति एवं समृद्धि का वातावरण हो, जिसमें समस्त भारतवासी अपने दुखों एवं कष्टों को भूलकर राहत की सांस ले सकें । जिसको सफलीभूत करने के लिये सरकार की ओर से राष्ट्र के चतुर्दिक विकास की योजनाएँ भी बनायी गयी, किन्तु भारत की नवोद्भूत समस्या भारत-पाक विभाजन, शरणार्थी समस्या तथा विदेशी आक्रमणों के कारण देश के इन विकास कार्यों में आशातीत सफलता न मिल सकी और भारत का सुख शान्ति एवं समृद्धि का वह सपना जो भारतवासियों ने स्वतन्त्रता के पहले देखा था, एक सपना बन कर ही रह गया । इससे भारत की अर्थव्यवस्था को तो धक्का लगा ही, भारतवासियों की युग व्यापी राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना भी व्यक्ति के स्व में केन्द्रित हो चली । इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति परमार्थ, राष्ट्रसेवा एवं समाज सेवा की अपेक्षा स्वार्थ सेवा को ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मान बैठा और चोरी-बेईमानी, भ्रष्टाचार तथा शोषण उसके जीवन के अभिन्न अंग बन गए । अन्य वर्गों का तो कहना ही क्या ? स्वयं राष्ट्रीय नेतागण जो कुछ दिन पूर्व तक देश भक्ति एवं राष्ट्रीय एकता का नारा लगा रहे थे, शासनसत्ता को प्राप्त करते ही स्वार्थ पूर्ति में संलग्न हो गये और लोकहित के विपरीत अब उनका एक मात्र लक्ष्य हो गया अपना तथा अपने परिवार का हित साधन । जिससे सर्वत्र अनैतिकता एवं अव्यवस्था का बाहुल्य तो हुआ ही, राष्ट्रोद्धार एवं जनहित सदृश पवित्र आदर्श भी अपनी अर्थवत्ता को खोकर चुनावों को जीतने के साधन बन गये, साथ ही भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता के विपरीत देश में प्रान्तीयता अथवा भाषावाद जैसी नवीन समस्याएँ भी उत्पन्न

हुई, जिसने मनुष्य को मानसिक रूप से विघटित कर यथार्थ के कठोर धरातल पर ला खड़ा किया, जहाँ सर्वत्र अभाव, शोषण तथा अन्याय का साम्राज्य था।

जन-जीवन में व्याप्त इन राजनैतिक विसंगतियों के साथ ही देश की औद्योगिक परिस्थितियों ने भी महानगरों की यान्त्रिक विषमताओं को जन्म देकर अजनबीपन, एकाकीपन एवं मानवीय सम्बन्धों की यन्त्रणा के रूप में सामाजिकों का मानसिक विघटन किया। और यही कारण है कि मनुष्य आज भौतिक सुखों की कामना से प्रेरित होकर जितना ही अधिक सम्पन्न बनने की कोशिश कर रहा है, विडम्बना यह है कि वह मानसिक रूप से उतना ही विपन्न होता जा रहा है। अर्थयुग की विषमताओं ने उसके अन्तर्मन में छिपे भावनाओं के स्रोत को सुखाकर पाषाण बना दिया है अत: वह सबके बीच रहकर भी अपने को असहाय महसूस करता है जो कि आज के मानव की सबसे बड़ी समस्या है। यद्यपि इसका किंचित् अनुभव स्वतन्त्रता पूर्व ही कुछ जागृत साहित्यकारों को होने लगा था किन्तु अपने विकसित रूप में, युग की एक महत्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर वह स्वातन्त्र्योत्तर युग में ही सामने आयी।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उत्पन्न इन राष्ट्रीय समस्याओं के साथ ही द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक विसंगतियों ने भी भारत-वासियों की मानसिकता को प्रभावित किया। यों तो इस विश्वयुद्ध की नरसंहारक पाशविकता ने सर्वत्र ही व्यक्ति के आस्था विश्वास एवं सामाजिक मूल्यों का विध्वंस कर मानसिक विघटन की स्थिति उत्पन्न कर दी थी, जिसका अनुभव विश्व का समस्त बुद्धिजीवी वर्ग कर रहा था। किन्तु भारतीय जन-जीवन में इस विश्वयुद्ध का सर्वाधिक प्रभाव व्यापक गरीबी, हिंसा-मारकाट, एवं बेरोजगारी के रूप में आया, जिसने भारत के आर्थिक जीवन को विषम बनाते हुए पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों पर भी कुठाराघात किया और मनुष्य धन के लोभ में अपने परम्परागत मानवीय आदर्शों की अवहेलना कर नितान्त पशुता एवं नीचता पर उतर आया।

समग्रत: देश में व्याप्त इन विसंगतियों का ही परिणाम है कि मनुष्य आज संक्रान्ति की ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति में जी रहा है जहाँ उसके समक्ष कोई

निश्चित लक्ष्य नहीं है, वह यह नहीं सोच पा रहा है कि वह क्या करे ? वरन् सत्य तो यह है कि आज मनुष्य के समक्ष चारों ओर कुण्ठा, निराशा, भय संत्रास एवं घुटन का ऐसा घना अन्धकार छाया हुआ है जिससे बाहर निकलना किसी भी सहृदय सामाजिक के लिये दुष्कर ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है । अत: वह अपने बाह्य परिवेश से क्षुब्ध होकर नितान्त अन्तर्मुखी होता जा रहा है । स्वातन्त्र्योत्तर युग का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य सामाजिकों की इस विघटित मन:स्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण है जहाँ नाटककार ने नाट्यरचना के प्रचलित मानदण्डों -- महान एवं आदर्श चरित्रों - की उपेक्षा कर वर्तमान जीवन की विसंगतियों में घुटते एवं टूटते मूल्यच्युत तथा दिशा-हारा मनुष्य के जीवन को ही अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया । यों तो प्रसादोत्तर युगीन नाटककारों का मुख्य प्रतिपाद्य भी उनके अपने युग का संघर्षरत एवं यथार्थ मानव ही था किन्तु युग दृष्टि के बदलने तथा यथार्थ के अधिकाधिक जटिल रूप धारण करने के कारण आज उसके स्वरूप में नितान्त भिन्नता आ गयी है वह यह कि प्रसादोत्तर युग में समसामयिक परिस्थितियों से संघर्षरत मानव के समक्ष जहाँ भारतीय आदर्शों एवं संस्कारों का एक बाह्य आदर्श क्रियाशील रहा है, वही स्वातन्त्र्योत्तर युग का नाटकीय चरित्र अपने चारों ओर के वातावरण से निराश तथा मानसिक तनाव से पीड़ित युग का सर्वाधिक पराजित एवं खण्डित मानव है जो सामाजिक परिस्थितियों से प्रत्यक्ष लड़ने की अपेक्षा आत्म विश्लेषण एवं आत्म पीड़ा का दुख भोग रहा है । अत: इस युग के नाटकों में घटनाओं की अपेक्षा संवेदनों तथा वर्ग पात्रों की अपेक्षा व्यक्ति की निजी अनुभूतियों को ही महत्व दिया गया है, जिनके प्रतिपादन के लिये नाटककारों ने कभी ऐतिहासिक पौराणिक सन्दर्भों का सहारा लिया है तो कभी सामाजिक विसंगतियों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार भी कराया है । किन्तु इनकी सर्वप्रमुख विशेषता थी यथार्थ के साथ कल्पना का अभूतपूर्व समन्वय । वस्तुत: प्रसादोत्तर युग में जो नाटक कलात्मकता के अभाव में मात्र विवादात्मक अथवा विवरणात्मक बनकर अपनी इयत्ता खो रहा था उसे इस युग में नाटककारों ने अपने अभिनव नाट्य प्रयोगों द्वारा एक नवीन दिशा दी । स्वातन्त्र्योत्तर युग में लिखे गये `कोणार्क`, `अन्धायुग`, `आषाढ़ का एक दिन`, तथा `लहरों के राजहंस` प्रभृति नाटक उनकी इस अभिनव-प्रयोग तथा कलात्मक रुचि के ही स्पष्ट परिचायक है जहाँ नाटककारों ने अपने प्रति-पाद्य को सहज संवेद्य एवं सम्प्रेषणीय बनाने के लिये परम्परित जीवन-सन्दर्भों, चरित्रों

तथा रंगतत्वों का परम्परा से हटकर सर्वथा नवीन मौलिक एवं कलात्मक उपयोग किया है । यद्यपि प्रत्यक्षत: यह ऐतिहासिक नाटक है किन्तु यथार्थ के प्रति सजग रहते हुए इन्होंने इतिहास चित्रण का जो नवीन उपयोग किया है, चरित्रों को इतिहास के बने बनाये साँचों से पृथक् कर उन्हें जो सर्वथा नवीन एवं मानवीय रूप दिया है वह नाटककार की तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि को ही संकेतित करता है । इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित सामाजिक नाट्य परम्परा का अनुगमन करते हुए इस समय जो सामाजिक नाटक लिखे जा रहे थे, अपने नित नूतन प्रयोगों द्वारा उन्होंने भी समकालीन यथार्थ अथवा-युगीन सन्दर्भों के विश्लेषण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

इस प्रकार यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से इस समय दो प्रकार के नाटक दिखायी देते हैं पहला 'कोणार्क' तथा 'अन्धायुग' की परम्परा में लिखे गये इतिहासाश्रित नाटक दूसरे परम्परित सामाजिक नाटक । जिन्हें प्रस्तुत अध्याय में— (१) इतिहासाश्रित सामाजिक नाटक तथा

(२) समसामयिक जीवन से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध नाटक । इन दो वर्गों में विभक्त कर अध्ययन का विषय बनाया गया है ।

इतिहासाश्रित सामाजिक नाटक

यह नाट्य रचना का वह सर्वथा नवीन रूप है जहाँ इतिहास और यथार्थ दो भिन्न छोरों पर होते हुए भी परस्पर अत्यन्त समीप आ गये हैं । यों तो भारतेन्दु युग से ही ऐतिहासिक नाटकों की एक स्वस्थ परम्परा रही है और सभी ने युगानुरूप ऐतिहासिक सन्दर्भों को ग्रहण कर समय-समय पर अपने मनोभावों एवं युग यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान की है किन्तु उस समय इन ऐतिहासिक नाटकों में जो महत्व इतिहास अर्थात ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं को दिया जाता था वह यथार्थ को नहीं । नाटककार का सम्पूर्ण प्रयत्न अपने ऐतिहासिक चरित्रों को एक अपूर्व गरिमा प्रदान कर उन्हें यथासम्भव आदर्श रूप में प्रस्तुत करना था, किन्तु इन समसामयिक नाटककारों ने इतिहास को उसके परम्परित महिमामंडित रूप से निकाल कर एक सर्वथा मौलिक आधार दिया । और यही कारण है कि स्वातन्त्र्योतर काल में रचित इन ऐतिहासिक नाटकों का इतिहास जगप्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककारों की भाँति आदर्शों का इतिहास न होकर मानवीय अनुभूतियों का इतिहास है, जहाँ नाटककार ने इतिहास का मात्र आधार

लेकर समसामयिक युग की विसंगतियों में घुटते हुए मनुष्य के अन्तर्संघर्षों, मूल्यच्युत स्थिति तथा दिशाहीनता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

अत: हम कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर युग में लिखे गये ऐतिहासिक नाटकों की पूर्ण सार्थकता प्राचीन ऐतिहासिक पौराणिक चरित्रों की आधुनिक सन्दर्भ में संगति बैठाने में ही थी जिसके लिए नाटककारों ने अपने नाटकों में सर्वत्र अतीत को वर्तमान, वर्तमान को भविष्य और भविष्य को अतीत के दर्पण में देखने का प्रयास किया है।[१] मोहन राकेश के ऐतिहासिक नाटकों का विश्लेषण करते हुए तिलकराज शर्मा ने लिखा भी है कि 'इतिहास मात्र वहाँ चल पाने के लिये अपनायी गई धूमिल धूलि धूसरित पगडंडी मात्र ही है ताकि उस पर चलकर वे अपनी आधुनिक मानसिकता की नाटकीय यात्रा सम्पादित कर सकें। अतीत के धुंधले या अविज्ञात पृष्ठों में से भी उन्होंने अपने ही युग की सम्वेदनाओं को खोज निकाला है।'[२] जिससे स्पष्ट है कि इतिहास इनके लिये साध्य न होकर उनके अभीष्ट तक पहुँचने का साधन मात्र था साथ ही इतिहास के प्रति इनकी दृष्टि किसी अन्वीक्षक अथवा इतिहासकार की न होकर एक कलाकार की ही रही है, जो किसी भी बाह्य वस्तु का उपयोग अपनी कला को निखारने एवं उसे कमनीय बनाने के लिये ही करता है व्यर्थ उसके जाल में उलझता नहीं है। और यही कारण है कि ऐतिहासिक पौराणिक चरित्रों एवं पृष्ठभूमि को ग्रहण करने पर भी वह प्रचलित अर्थों में ऐतिहासिक नाटक नहीं बन पाये हैं वरन् सत्य तो यह है कि उन्होंने जगप्रसिद्ध ऐतिहासिक पौराणिक चरित्रों को युग सापेक्ष्य नई भूमिकाएँ देकर आधुनिक जीवन सन्दर्भों में सार्थक भंगिमाएँ प्रदान की है। फलत: उनके समस्त ऐतिहासिक चरित्र अच्छाइयों बुराइयों एवं अन्तर्द्वन्द्वों से पूर्ण सामान्य मनुष्य का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। 'अन्धायुग' का युयुत्सु, 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास तथा 'लहरों के राजहंस' का नन्द ऐसे अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण ऐतिहासिक चरित्र है जिनके चित्रण में नाटककार ने उनके इतिहास सम्मत रूप की अपेक्षा उनके मानवीय पक्ष को ही अधिक उभारा है। निष्कर्षत: एक वाक्य में यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इतिहास और यथार्थ का अपूर्व गठबन्धन ही इन इतिहासाश्रित नाटकों की मुख्य विशेषता है जिसके लिये नाटककारों ने मिथकों तथा प्रतीकों का भी सार्थक एवं सफल प्रयोग किया

---

१. जयदेव तनेजा - 'समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि', पृष्ठ १११।
२. तिलकराज शर्मा - 'अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश', पृष्ठ १५२-१५३

है। मिथकों की अर्थव्यंजक क्षमता से परिचित कराते हुए डॉ० लाल ने इन्हें जीवन से कटे लोगों तक पहुँचने की सीढ़ी बताया है।[१] इस सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि आधुनिक जीवन के चतुर्दिक दबाव के कारण व्यक्ति अपने यथार्थ से कटकर ऐसी अपहुँच जगह जा बैठा है जहाँ नाटककार का सीधे पहुँचना कठिन है अत: वह उस तक पहुँचने के लिये एक माध्यम के रूप में मिथक, प्रतीक, बिम्ब, जातक चित्र, धर्म कथा आदि का सहारा लेता है।

अत: यह निर्विवाद है कि स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों में ऐतिहासिक पौराणिक पात्रों के सन्दर्भ में समकालीन मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व और आधुनिक युगबोध को ही अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। और इनकी इस विशेषता को लक्ष्य करके ही हमने प्रस्तुत अध्याय में ऐतिहासिक नाटकों को इतिहासाश्रित सामाजिक नाटक इस नवीन नाम से सम्बोधित किया है।

हिन्दी नाट्य जगत में यथार्थ लेखन की इस नवीन परम्परा का प्रथम उद्घोष सन् १९५१ में जगदीश चन्द्र माथुर के `कोणार्क` नाटक से माना जाता है जिसने हिन्दी नाटक को विकास के विविध आयाम दिये। श्री नेमिचन्द्र जैन के अनुसार `उसमें एक बीते हुए युग के सन्दर्भ में एक समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण किया गया है, जिसमें घटनाओं, पात्रों और भाषा को एक से अधिक स्तर और आयाम प्राप्त होता है और संभाव्य निहित नाटकीय अर्थों का महत्व बढ़ जाता है।[२] विषय-वस्तु की दृष्टि से इसमें नाटककार ने कोणार्क मन्दिर के निर्माण से सम्बन्धित एक प्रचलित किंवदन्ति के आधार पर स्थापित सत्ता तथा आधुनिक कलाकार और उसकी सृजन प्रेरणा के बीच उठ रहे अन्त:संघर्षों एवं विचारों को स्वर दिया है। कोणार्क के ध्वंस के मूल में नाटककार का यह कथन `मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौन्दर्य सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है कोणार्क के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो।'[3] वस्तुत: नाटक की आत्मा को ही द्योतित करता है। जिसे नाटककार ने प्रणय की अठखेलियों और भाग्य के थपेड़ों के माध्यम से एक सांस्कृतिक

---

१. डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल -`कलंकी`, पृष्ठ १३
२. नेमिचन्द्र जैन - `प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य` शीर्षक `हिन्दी साहित्य` तृतीय खण्ड, सम्पादक -धीरेन्द्र वर्मा इत्यादि, पृष्ठ ४०३।
3 जगदीश चन्द्र माथुर - 'कोणार्क' परिशिष्ट पृष्ठ 6

पृष्ठभूमि प्रदान की है । यद्यपि इसमें राजा नरसिंह देव और राजराज चालुक्य जैसे महामंत्री का वर्णन कर नाटक को ऐतिहासिक आधार दिया गया है किन्तु नाटककार ने इन ऐतिहासिक चरित्रों को प्रधानता न देकर मन्दिर के साधारण शिल्पी विशु तथा धर्मपद के जीवन को ही उभारा है, जो ऐतिहासिक परिवेश में जन्म लेने पर भी मूलत: युग भावना के विराट प्रतिनिधि तथा कला की दो युग प्रवृत्तियों के द्योतक बनकर आए हैं । विशु कला के प्राचीन युग की साकार प्रतिमा है तथा कोरी शिल्प साधना का विश्वासी है । वह कला को राजनैतिक चेतना और विद्रोही स्वरों से दूर रखना चाहता है अत: कहता है शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिये अनधिकार चेष्टा होगी ।[१] किन्तु धर्मपद के लिये कला का पूर्ण विकास युग चेतना से सम्बद्ध होने में ही है उसकी वाणी में आज का युग बोल रहा है, उसके माध्यम से हजारों लाखों पीड़ित उपेक्षित मूक जनता का दर्द मुखर हो उठा है । विशु से तर्क करते हुए एक स्थान पर वह कहता है, `जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है - जीवन का संघर्ष । आपकी कला उस संघर्ष को भूल गई है । जब मै इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुये किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की । - - - - इसके बिना जीवन अधूरा है आचार्य ।[२] जो अप्रत्यक्षरूप से नाटककार के समकालीन समाजवादी विचारों का ही द्योतक है और यही कारण है कि वह महामात्य द्वारा शिल्पियों पर किये गये अत्याचारों के विरुद्ध आवाज ही नहीं उठाता वरन् अत्याचारी से प्रत्यक्ष संघर्ष भी करता है ।

इस प्रकार प्रत्यक्षत: नाटक का मूल स्वर अत्याचारी के विरोध में जन-शक्ति का संघर्ष है साथ ही इसमें साम्राज्यशाही के विरुद्ध जनता की उस शक्ति को उभारा गया है जो राज्यों की भाग्य विधायिका है, जिसके इंगित पर सम्राटों का भाग्य बनता है ।[३] इसी को संकेतित करते हुए धर्मपद शैवालिक से कहता है -`बहुत हुआ हुक बहुत हुआ हुक । क्या हम लोग भेड़ बकरियाँ हैं जो चाहे जिसके हवाले कर

---

१. जगदीशचन्द्र माथुर, `कोणार्क`, ~~परिचय~~, पृष्ठ ~~७~~ २८

२. जगदीशचन्द्र माथुर, `कोणार्क`, पृष्ठ ~~२८~~ २६

३. बच्चन सिंह - `हिन्दी नाटक`, पृष्ठ १२०

दी जाय ।'[१] किन्तु इसे एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत कर नाटककार ने उसे गहन मानवीय अनुभूति और काव्यात्मक सौन्दर्य भी प्रदान किया है ।

कोणार्क के पश्चात् माथुर की दूसरी उल्लेखनीय रचना 'शारदीया' है जो १६ वीं शताब्दी के मराठा इतिहास से सम्बन्धित है । विषय की दृष्टि से इसमें भी नाटककार ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में एक कलाकार और उसके प्रेरणास्रोतों का परिवेश के साथ सम्बन्ध ही दिखाया है किन्तु भाषा, शिल्प तथा चरित्र सृष्टि में अनेक दृष्टि से एक कदम आगे होने पर भी इसमें नाटककार के अभिष्ट पंचतोलियां साड़ी के सृष्टा की समस्याओं की अपेक्षा ऐतिहासिक घटनाएँ ही प्रबल हो गई हैं जिससे नाटक के रूप बंध में भी असन्तुलन आ गया है ।

किन्तु युगीन यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से जगदीश चन्द्र माथुर का 'पहला राजा' पुन: एक उल्लेखनीय रचना है । यद्यपि इसमें वर्णित मुख्य कथा मूलत: पुराणों से ही ली गयी है किन्तु अपनी कल्पनाशीलता के बल पर नाटककार ने उसे आधुनिक परिवेश एवं युगीन जीवन-सन्दर्भों से जोड़ दिया है । प्रस्तुत नाटक में जो कथा उठाई गई है परोक्ष रूप से वह भारत की स्वतन्त्रतापूर्ण एवं स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन को ही प्रतिबिम्बित करती है । वस्तुत: नाटक में वर्णित वेन की हत्या आधुनिक सन्दर्भों में और कुछ नहीं भारतीयों द्वारा अंग्रेजी सत्ता के नाश का प्रतीक है और उसके मन्थन से उत्पन्न अंगपुत्र और मानस पुत्र देश की शोषित जनता तथा समकालीन नेतागणों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं जो उस विदेशी सत्ता के मन्थन से अर्थात् उसी के अत्याचारों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए हैं और देश की उन्नति तथा राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए अनेक बाधाओं एवं व्यवधानों के बाद भी संघर्षशील है । उर्वी एवं कवष के माध्यम से नाटककार ने देश में व्याप्त अछूत समस्या को भी उठाया है उर्वी का यह कथन --'तुम राजा हो आर्य और अनार्य, नाग और निषाद, सभी का ताना बाना ही तो तुम्हारा राज वस्त्र है । इन्हें मिलाओगे तो समाज का आधार मजबूत होगा, अलग रखोगे तो समाज भी टूक-टूक होगा और धर्म भी ।'[२] अप्रत्यक्ष रूप से देश में फैली छुआछूत की भावना के विपरीत समाजवाद की

---

१. जगदीश चन्द्र माथुर - 'कोणार्क', पृष्ठ ५२
२. जगदीश चन्द्र माथुर - 'पहला राजा', पृष्ठ ८०

स्थापना पर ही बल देता है। आश्रमों पर होने वाले दस्युओं के आक्रमण देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणों (चीनी आक्रमण) के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त जो पौराणिक चरित्र उन्होंने अपने नाटक में ग्रहण किये हैं वे भी प्रतीकार्थ रूप में समकालीन मानव का ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। नाटक का नायक पृथु युगीन राजनीतिक नेता जवाहरलाल नेहरू का प्रतीक है। जिस प्रकार पृथु ने, देश की उन्नति के लिए, प्रथम राजा निर्वाचित होकर पृथ्वी का दोहन किया था उसी प्रकार जवाहरलाल नेहरू ने भी भारत के प्रथम प्रधानमंत्री निर्वाचित होकर देश की उन्नति के लिये पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ करवाया।

नाटक का दूसरा प्रमुख चरित्र उर्वी है। वह धरती और भूखण्डी का प्रतीक बनकर नाटक में अवतरित हुई है तथा पृथु के सोये हुए पुरुषार्थ को जगाती है— 'तुम राजा हो, प्रजा के नेता हो। तुम्हारा पुरुषार्थ सिर्फ युद्ध और संघर्ष में ही तो नहीं है। मैं वसुन्धरा हूँ, मुझे दुह कर अभीष्ट वस्तुओं को निकालने में भी तुम्हारा पुरुषार्थ है और तुम्हारी प्रजा का धर्म है। तुम आर्य कुल के पहले राजा हो। हे राजन्, कर्म पुरुष बनो।'[1] उसके इस उद्बोधन में यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टि के ही दर्शन होते हैं, जो वैज्ञानिकता के प्रभाव-स्वरूप रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का विरोध कर कर्म को महत्व देती है। 'कवष' स्वातन्त्र्योत्तर भारत की क्षुब्ध, असहाय, पीड़ित एवं उपेक्षित जनता के नेता का प्रतीक है जो अपनी स्थिति को सुधारने के लिए निरन्तर संघर्षशील है। नाटक में आगत गर्ग, अत्रि आदि मुनिगण स्वतन्त्र भारत के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के प्रतीक हैं जो सदैव अपने स्वार्थ साधन की चिन्ता में ही मग्न रहते हैं। इन मुनियों के माध्यम से नाटककार ने समकालीन नेताओं एवं सुविधाभोगी वर्ग पर तीव्र व्यंग्य प्रहार किया है। सच पूछा जाय तो यहाँ नाटककार ने देश की विषम परिस्थितियों से अनुप्राणित होकर ही गर्ग आदि मंत्रिमण्डल के सदस्यों पर इन दुर्भावनाओं को आरोपित किया है, क्योंकि उनकी ये चारित्रिक विशेषताएँ पूर्व की अपेक्षा आज के जीवन में अधिक सत्य चरितार्थ होती है। बाँध के काम में व्यवधान डालने का प्रसंग तो नाटककार ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही नाटक में चित्रित किया है। प्रस्तुत नाटक की विशेष टिप्पणियों के अन्तर्गत नाटककार ने

---

१. जगदीश चन्द्र माथुर, 'पहला राजा', पृष्ठ ८२-८३

स्वयं संकेत किया है 'नाटक में जिस तरह बाँध के काम में ढील डालने का स्वार्थिक कुचक्र दिखाया गया है वह एक सत्य घटना पर आधारित है। मेरी जानकारी में वर्षा हुए बाढ़ को रोकने के लिए एक बाँध की मरम्मत में एक स्थानीय नेता के गुर पर इसीलिए ढील-ढाल दी गई थी कि अगर अधिक मजदूर भेजे जाते तो उन स्थानी नेता की पार्टी के मजदूरों के वेतन में कमी हो जाती।'[1]

इस प्रकार ऐतिहासिक-पौराणिक कथावस्तु से परिवेष्टित होते हुए भी मूलत: यह नाटक आधुनिक जीवन की समस्याओं, घटनाओं एवं चरित्रों को ही प्रकट करता है। नाटक की विषयवस्तु के सम्बन्ध में स्वयं नाटककार का कथन है कि 'हरेक नाटककार को अपने अनुभव के दायरे में से ही समस्याएँ और परिस्थितियाँ बेचैन करती हैं, और उन्हें उजागर करने के लिए वह पात्र और प्रसंग खोजता है। उन्हें ही मंच की परिधियों में बैठाता है। यही मैंने इस नाटक में किया है। - - - - वैदिक और पौराणिक साहित्य पुरातत्व एवं इतिहास, लोकगीत और बोलचाल-- इन सभी में मुझे प्रतीकों के उपकरण मिले हैं उन समस्याओं को प्रकट करने के लिए जिनसे मैं इस नाटक में जूझता रहा हूं। वे समस्याएँ सर्वथा आधुनिक हैं, वे उलझनें मेरा 'भोगा हुआ यथार्थ है।'[2]

नाटक में आगत समस्याओं के इस यथार्थ रूप को देखकर ही प्रस्तुत नाटक के सम्बन्ध में गोविन्द चातक का कथन है कि 'ऊपर से अयथार्थ लगने वाली यह कृति मूल मानवीय यथार्थ का ही अधिक प्रामाणिक उद्घाटन करती है। किन्तु माथुर का यथार्थ समाजवादी यथार्थ नहीं है -- वह एक ऐसी निर्मित और सर्वग्राही मनोस्थिति का यथार्थ है जिसमें अयथार्थ भी यथार्थ जैसी विश्वसनीयता प्राप्त कर लेता है।'[3]

भारतीय राजनीति के एक ऐसे ही चिर परिचित यथार्थ को डॉ० लक्ष्मी

---

१. जगदीश चन्द्र माथुर - 'पहला राजा', पृष्ठ ११४

२. जगदीश चन्द्र माथुर - 'पहला राजा', भूमिका

३. गोविन्द चातक - 'नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर', पृष्ठ ६१

नारायण लाल ने अपने 'कलंकी' नाटक में तन्त्र साधना तथा कलंकी अवतार के मिथक रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि तन्त्रकाल से सम्बन्धित होने के कारण नाटक में तन्त्र साधना के अनेक शब्दों तथा विश्वासों की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु हेरूप और तारा के माध्यम से नाटककार ने उसे सर्वथा नये अर्थों में ग्रहण किया है, उनके चरित्र के अनुरूप उसे नये यथार्थवादी परिदृश्य में देखा है। अत: तांत्रिक के शवसाधना के विषय में यह कहने पर कि 'यह (परिवर्तन) उस क्षण होगा जब यह शव जीवित मनुष्य की भाँति बातें करेगा - - - - औंधे पड़े हुए शव का मुख जब साधक की ओर घूम जायेगा।'[1] हेरूप कहता है -- 'हाँ यथार्थ को यदि बदला जा सकता है, तो केवल उसका सामना करके ही। जब औंधा पड़ा मुख सामने आएगा। - - - यथार्थ का सामना करके ही किसी तांत्रिकता से नहीं।'[2] जो अप्रत्यक्ष रूप से अपने यथार्थ से दूर पड़े लोगों को यथार्थ में रहने का संदेश देता है। बोधिसत्व कथा का संकेत भी नाटककार ने अप्रत्यक्ष रूप से अज्ञानान्धकार में सोयी भारतीय जनता में जागृति एवं आत्मविश्वास की भावना भरने के उद्देश्य से ही किया है।

इस प्रकार नाटक का केन्द्रीय चरित्र हेरूप तंत्रकाल का होकर भी एक यथार्थवादी चरित्र है जो अपनी विवेकशीलता, स्पष्टवादिता के आधार पर शासकों की षडयन्त्रपूर्ण नीतियों का रहस्योद्घाटन कर भावी सुख की आशाओं में सोयी भारतीय जनता को भी उतना ही प्रभावित करता है जितना कलंकी अवतार की प्रतीक्षा में रत तंत्रकालीन अन्धविश्वासी जनता को। स्वयं नाटककार के शब्दों में '- - - - मध्ययुग में जो तंत्रसाधना के नाम पर शवसाधना थी, वही आज प्रजातन्त्र के नाम पर मतगणना नहीं है क्या ? शवसाधना कब पूरी मानी जाती है ? जब औंधे पड़े हुए शव का मुख उसकी पीठ पर लदे हुए साधक की ओर घूम जाएगा, और वह जीवित मनुष्य की भाँति उससे बातें करेगा। क्या यह आज के राजनीतिक परिवेश में पड़े हुए मनुष्य के लिए सच नहीं है ?'[3]

इस प्रकार डॉ० लाल का यह नाटक तांत्रिक पृष्ठभूमि पर होते हुए भी

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल - 'कलंकी', पृष्ठ ३८-३९

२. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल - 'कलंकी', पृष्ठ ३९

३. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल - 'कलंकी', भूमिका पृष्ठ ६

अप्रत्यक्ष रूप से आज की उस राजनीति पर ही व्यंग्य है जहाँ भावी सुखों की आकांक्षा में लीन देश की सीधी सादी भोली जनता को प्रजातन्त्र के नाम पर नेताओं द्वारा गुमराह किया जाता रहा है, जिसके मूल में जनता के सुख की अपेक्षा नेताओं का अपना स्वार्थ, अपने अस्तित्व को बनाये रखने की आकांक्षा ही प्रबल है ।

देश की इन राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के साथ ही इन इतिहासाश्रित नाटकों ने युग की जिस अन्य समसामयिक समस्या को अभिव्यक्ति प्रदान की, वह थी आस्था विश्वास के टूटने से मानव मन में उठ रहे सद् असद् विचारों एवं वृत्तियों का अन्त: संघर्ष जिसे `आषाढ़ का एक दिन` में एक सर्जक कलाकार की व्यक्तिगत समस्याओं के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है तो `लहरों के राजहंस` में प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व रूप में और `अन्धायुग` में सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म तथा आस्था-अनास्था के बीच भटकते मनुष्य की अनिर्णयात्मक स्थिति के रूप में ।

मोहन राकेश रचित `आषाढ़ का एक दिन` यद्यपि प्रत्यक्षत: एक ऐतिहासिक नाटक है जिसकी कथावस्तु का मूल आधार इतिहास प्रसिद्ध कवि कालिदास के जीवन के कुछ प्रसंग है किन्तु नाटककार की प्रतिभा यहाँ इसी बात में है कि उसने इस इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तित्व को कथावस्तु का मूल आधार ग्रहण करके भी कथा कल्पित ही रखी है । उसमें कालिदास एवं मातृगुप्त जैसे नामों गुप्तवंश से कालिदास का सम्बन्ध तथा कालिदास के ग्रन्थों की विषयवस्तु से सम्बन्धित संकेत के अतिरिक्त कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है ।[१] वरन् सत्य तो यह है कि यहाँ नाटककार ने अपनी प्रतिभा के बल पर इस ऐतिहासिक परिदृश्य को आधुनिक सर्जनशील व्यक्ति के जीवन से ही जोड़ने का प्रयास किया है । अत: यहाँ ऐतिहासिकता का बोध देने वाला प्रमुख चरित्र कालिदास एक ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर आधुनिक सृजनशील व्यक्ति का प्रतीक बनकर ही आया है । जिसके माध्यम से नाटककार ने समकालीन सर्जनशील व्यक्ति के अन्तर्विरोधों के संदर्भ में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अन्वेषण का ही प्रयास किया है । इस सम्बन्ध में राकेश जी ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है, `मेरे लिए कालिदास एक व्यक्ति नहीं हमारी सर्जनात्मक शक्तियों का प्रतीक है । नाटक में वह उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है । व्यक्ति

---

१. जगदीश शर्मा - `मोहन राकेश की रंग दृष्टि`, पृष्ठ १३

कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व में से गुजरना पड़ा है या नहीं यह बात गौण है । मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है, हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं ।[1] अतः स्पष्ट है कि यहाँ नाटक की मूल संवेदना समकालीन यथार्थ से ही सम्बन्धित है किन्तु इसे अपेक्षित प्रामाणिकता प्रदान करने के लिये नाटककार ने इतिहास के आवरण में रखकर, युगों युगों से चली आ रही कवि-जीवन की विषमताओं के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

प्रस्तुत नाटक का मूल कथानक कालिदास नामक एक ऐसे कवि के द्वन्द्व को लेकर चलता है जो राज्याश्रय के मोह में अपनी प्राकृतिक ग्रामभूमि एवं बालसंगिनी प्रेमिका मल्लिका, जो उसके कवि जीवन की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं, को छोड़कर राजधानी उज्जयिनी जाता है और वहाँ के राजनीतिक प्रपंच में फंसकर वहाँ की राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से विवाह भी कर लेता है । यद्यपि वहाँ राजकवि के पद तथा काश्मीर प्रदेश के शासन भार को ग्रहण कर वह काफी कीर्ति एवं सम्मान अर्जित करता है किन्तु उसका कलाकार मन फिर भी वहाँ नहीं लगता क्योंकि वहाँ का राजनीतिक वातावरण उसे कवि-कर्म की प्रेरणा देने की अपेक्षा उसकी सृजन प्रतिभा को कुंठित ही अधिक करता है । अपने जीवन की इसी विडम्बना को व्यक्त करते हुए कालिदास एक स्थान पर कहता है - 'लोग सोचते हैं कि मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ भी नहीं लिखा । जो कुछ भी लिखा है वह यहाँ के जीवन का संचय था । - - - - मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन को फिर फिर दोहराया और जब उससे हटकर लिखा तो रचना प्राणवान नहीं हुई ।[2] जो अप्रत्यक्ष रूप से आज के कलाकार के अन्तःसंघर्ष एवं मानसिक द्वन्द्व को ही संकेतित करता है क्योंकि आज के अभावग्रस्त जीवन में राज्याश्रय,राज्य-सम्मान में उसे अपनी आत्मा की बलि तो देनी ही पड़ती है, साथ ही अपने पूर्व जीवन की स्मृतियों को न भूल पाने के कारण वह उस नये वातावरण से भी सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता और इस प्रकार राज्याश्रय, सम्मान, और प्रतिष्ठा तथा कला अथवा स्वतन्त्र लेखन इन दो पाटों के मध्य उसका सम्पूर्ण जीवन पूर्णरूपेण कुचल जाता है ।

---

१. मोहन राकेश - 'लहरों के राजहंस', पृष्ठ १६

२. मोहन राकेश - 'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ १०९

कालिदास और मल्लिका के जीवन की विडम्बना पूर्ण स्थिति का चित्रण कर नाटककार ने युग जीवन की इस विडम्बना को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है,जो नाटककार की दृष्टि में आत्मघात का ही एक रूप है जिसके लिए उन्होंने लिखा भी है दूसरों की अपेक्षाओं के अनुसार अपने को ढालना यह केवल आत्मघात की प्रक्रिया है जो जीवन भर चलती रह सकती है।[१]

कलाकार के जीवन की इस विडम्बनापूर्ण मन:स्थिति के साथ ही नाटककार ने मल्लिका और अम्बिका के माध्यम से सम्प्रति समाज में व्याप्त पीढ़ीगत भेद अर्थात् भावना और यथार्थ के संघर्ष को भी मुखरित किया है। अम्बिका पुरानी पीढ़ी की एक अनुभवशीला यथार्थवादी नारी है। यथार्थ को सत्य मानने के कारण वह भावना को केवल छलना एवं आत्मवंचना मानती है अत: पुत्री के भावनापूर्ण निर्णयों का विरोध करते हुए वह समय-समय पर जीवन के सत्यों का उद्घाटन भी करती है एक स्थान पर वह कहती है 'किसी सम्बन्ध से बचने के लिए अभाव जितना बड़ा कारण होता है, अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाती है।[२] इसके विपरीत मल्लिका नयी पीढ़ी की एक भावनामयी नारी है जो अपने प्रिय की कीर्ति एवं सम्मान प्राप्ति के लिये अपने जीवन का अधिकांश भाग विपत्तियों को झेलते हुए व्यतीत कर देती है। किन्तु अन्तत: उसके जीवन की पराजय दिखाकर नाटककार ने भावना पर यथार्थ की विजय ही दिखायी है। नाटक के अन्त में कलिदास,जो स्वयं एक भावुक चरित्र है, इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहता है 'मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका और हर बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी।[३]

जिसे नाटककार ने इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व दिखाकर बड़े ही सहज ढंग से अपने इस नाटक में प्रस्तुत किया है। नाटक के अन्त में उज्जयिनी से लौटने पर कालिदास मल्लिका के प्रति अपने संचित प्रेमभाव का निवेदन करते हुए जब उससे पुन: अपने जीवन को अथ से प्रारम्भ करने का प्रस्ताव रखता है उसी समय अन्दर से बच्ची के रोने की आवाज उसे उसकी स्थिति का अहसास दिलाकर यथार्थ के कठोर धरातल

---

१. नटरंग २१ 'डायरी के पन्नों से उद्धृत', पृष्ठ १४

२. मोहन राकेश -'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ २६

३. मोहन राकेश - 'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ १०६

पर ला खड़ा करती है और वह यह स्वीकार करता है कि 'यह सम्भवत: इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था । परन्तु देख रहा हूँ कि समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता ।'[1] जो अपने आप में एक शाश्वत यथार्थ है ।

अत: यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्षत: ऐतिहासिक होने पर भी नाटक का मूल कथानक समकालीन यथार्थ जीवन से ही सम्बन्धित है और जहाँ तक पात्रों की ऐतिहासिकता का सम्बन्ध है नाटक में आगत समस्त पात्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में होते हुए भी युग-जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं । राजमहिषी प्रियंगुमंजरी, शोधकर्त्री रंगिनि संगिनि तथा अनुस्वार अनुनासिक की सृष्टि करके एक ओर नाटककार ने नगर जीवन की थोथी औपचारिकता, दम्भपूर्ण जीवन तथा अल्पज्ञता की ओर संकेत किया है तो दूसरी ओर प्रियंगुमंजरी के चरित्र द्वारा नाटककार ने अधिकारी वर्ग की अल्पज्ञता की ओर भी दृष्टिपात कराया है । इसके साथ ही उसमें समकालीन सत्ताधारी अभि-जात्यवर्ग के संस्कारों एवं अहंकारों के भी संकेत मिलते हैं । अत: उनके इस नाटक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वस्तुत: ऐतिहासिकता उनके नामों के चुनाव तक ही सीमित रही है मूलत: वह समकालीन यथार्थ चरित्र ही है जो जीवन की परिस्थिति-जन्य विषमताओं एवं विडम्बनाओं से जूझते हुए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं । नायक के लिए कालिदास एक ऐतिहासिक नाम चुनने का कारण बताते हुए राकेश जी ने स्वयं लिखा भी है 'हो सकता है व्यक्ति कालिदास का यह नाम भी वास्तविक न हो पर हमारी आज तक की सृजनात्मक प्रतिभा के लिये इससे अच्छा दूसरा नाम दूसरा संकेत मुझे नहीं मिला ।'[2] जो नाटककार की प्रखर प्रतिभा एवं सूझ बूझ की परिचायक है ।

युगीन विसंगतियों से जूझते हुए टूटे और खण्डित मानव के ऐसे ही एक अन्तर्द्वन्द्व को नाटककार ने 'लहरों के राजहंस' में नन्द के मन में उठ रहे प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व के रूप में चित्रित किया है । नाटक का शीर्षक 'लहरों के राजहंस' नाटक के नायक नन्द के मूल द्वन्द्व भाव को व्यंजित करता है जिसका स्पष्टीकरण करते हुए अश्वघोष ने अपने 'सौन्दरनन्द' काव्य में लिखा है --

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष, भार्यानुराग: पुनराचकर्ष
सो निश्चयन्नापि ययौ न तस्थौ तरं तरंगेष्विव राजहंस ।[3]

1. मोहन राकेश - 'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ ११८ - ११९
2. मोहन राकेश - 'लहरों के राजहंस', पृष्ठ १६
3. मोहन राकेश - 'लहरों के राजहंस' नाटक की भूमिका मे उद्धृत

जिससे स्पष्ट है कि नाटक की मूलकथा राजकुमार नन्द के बौद्धभिक्षु बनने तथा पत्नी सुन्दरी के प्रति आकर्षण के मध्य अनिश्चय की स्थिति है जिसने उसे लहरों के राजहंस की भाँति चंचल अर्थात् द्वन्द्व युक्त बना दिया है। सुन्दरी एक रूपमती नारी है और अपने रूप गर्व के कारण उसे पूर्ण विश्वास है कि उसका पति उसके रूपपाश से मुक्त होकर भिक्षु नहीं बन सकता। किन्तु दूसरी ओर नन्द उसके रूपपाश से बंधकर भी उससे ऊपर उठना चाहता है। पत्नी के साथ-साथ उसका आकर्षण गौतम बुद्ध के प्रति भी है और यही उसके जीवन की मूल समस्या है जिसने उसे एकदम तोड़कर रख दिया है। अपने हृदय के इसी अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करते हुए वह कहता है --"मैं अपने को एक ऐसे टूटे हुए नक्षत्र की तरह पाता हूँ जिसका कहीं वृत्त नहीं है, जिसका कोई धुरा नहीं है।"[1]

इस प्रकार नाटक की मूल समस्या जीवन के प्रेय और श्रेय के बीच चयन की समस्या है जिसे नाटककार ने संशयग्रस्त नन्द की द्विविधापूर्ण मन:स्थिति के माध्यम से व्यक्त किया है। उसकी स्थिति चयन के अनिश्चय में उठे रुके पैर के समान द्विविधा-पूर्ण है और यही कारण है कि वह सुन्दरी के पास रहकर गौतम बुद्ध के पास जाने को व्याकुल है और बुद्ध के पास रुककर सुन्दरी से मिलने को। और इन दोनों स्थितियों के बीच अनिर्णय के कारण वह अन्त में स्वयं अपनी ही वेदना से आहत हो जाता है। नन्द के जीवन की इसी वेदना तथा टूटन का एहसास दिलाने के लिये नाटककार ने नाटक में 'मृग' तथा 'श्यामांग' प्रसंग का संकेतात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। अपनी ही क्लान्ति से मरे हुए 'मृत और जीवित' मृग का प्रसंग वस्तुत: भीतर ही भीतर थकते, टूटते परन्तु बाहर से जीवित नन्द का ही प्रतीक है। श्यामांग प्रसंग के माध्यम से भी नाटककार ने अप्रत्यक्ष रूप से नन्द के अन्तर्मन को ही साकार किया है। अपने ज्वर प्रलाप में श्यामांग जैसे नन्द की अनिश्चितता, विभ्रम और अकुलाहट को ही ध्वनित करता है।[2]

किन्तु नाटककार की रचनाशक्ति ने इस ऐतिहासिक चरित्र के द्वन्द्व को नये जीवन-सन्दर्भों और नये सम्बन्धों में सर्वथा आधुनिक भंगिमा प्रदान की है। गौर से देखा जाय तो प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व में पिसता हुआ नन्द प्रत्यक्षत: ऐतिहासि

---

१. मोहन राकेश, 'लहरों के राजहंस', पृष्ठ १३७
२. मोहन राकेश, 'लहरों के राजहंस', पृष्ठ १३

होते हुए भी आज के संघर्षशील मानव का ही प्रतीक है जो भौतिक सुखों एवं आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध में पड़कर अपनी अनिर्णयात्मक स्थिति के कारण अन्तत: अपने आप ही टूट जाता है। नाटक की इसी यथार्थोन्मुखता को लक्ष्य कर जयदेव तनेजा ने लिखा है, 'प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व में पिसते हुए नन्द की पीड़ा उस आधुनिक चौराहे पर खड़े उस नंगे व्यक्ति की पीड़ा है, मनुष्य की पीड़ा है जिस सभी दिशाएँ छील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की ओर पैर बढ़ाता है उसे लगता है कि वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है और वह पीछे हट जाता है। वह प्रत्येक स्थान पर अपने को एक सा अधूरा अनुभव करता है।'[1]

व्यक्तिमन के इस अन्तर्द्वन्द्व को स्वर देने के साथ ही नाटककार ने नन्द के माध्यम से समसामयिक जीवन में व्याप्त धर्म की आडम्बरपूर्ण विडम्बना पर दु:ख प्रकट कर एक प्रश्न चिन्ह भी लगाया है। क्योंकि धर्म का वास्तविक सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा हृदय एवं भावना से है बाह्य आडम्बरों से नहीं। अत: बुद्ध द्वारा जबरदस्ती बाल काट दिये जाने पर वह धर्माधिकारियों की रूढ़िवादिता पर आक्रोश व्यक्त करते हुए कहता है 'उन्होंने केश कटवा दिए तो क्या व्यक्ति के रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिह्वा कटवा देते, हाथ पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो जाता।- - - - - पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है तो मेरे केश क्यों कटवा दिए? कटवा ही दिए तो उससे अन्तर क्या पड़ता है? कुछ ही दिनों में फिर नहीं उठ आएँगे? अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जाती।- - --'[2] वस्तुत: नन्द के इस कथन में धर्म की समकालीन विसंगतियों से पीड़ित आधुनिक बुद्धिवादी मनुष्य के हृदय की पुकार ही अधिक मुखर प्रतीत होती है।

महायुद्धोत्तर परिस्थितियों के परिणामस्वरूप मानव मूल्यों का विघटन स्वातन्त्र्योत्तर भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या थी जिसने सर्वत्र हिंसा, अनास्था, संशय, भय, पीड़ा, कुण्ठा संत्रास आदि मनोविकारों को जन्म देकर जनमानस को कुंठित, क्षुब्ध एवं विक्षिप्त कर दिया था। डॉ० धर्मवीर भारती ने अपने 'अन्धायुग' में

---

१. जयदेव तनेजा - 'समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि', पृष्ठ ११८

२. मोहन राकेश, - 'लहरों के राजहंस', पृष्ठ १६६१-६२

युग की इसी विभीषिका को महाभारतोत्तर पृष्ठभूमि पर अन्धयुग के प्रतीक रूप में चित्रित किया है । प्रत्यक्षत: नाटक की मूल 'कथावस्तु महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन के विषाद पूर्ण वातावरण से कृष्ण की मृत्यु तक की घटनाओं पर केन्द्रित है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से नाटककार ने अपने इस नाटक में 'पौराणिक' पात्रों की मौलिक उद्भावना द्वारा युद्ध से उत्पन्न होने वाली मूल्यहीनता, अमानवीयता, दिशाहीनता, कुण्ठा और वैयक्तिक तथा सामूहिक विघटन का ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है । महाभारत का अन्धायुग वस्तुत: सामयिक सन्दर्भों में स्वातन्त्र्योत्तर भारत का ही प्रतीक है जहाँ धृतराष्ट्र सदृश देश के कर्णधार अपनी विवेक-बुद्धि को खोकर, स्वार्थ के अन्धेपन में कैद हो देश को पतन की ओर ले जा रहे थे । साथ ही अपने इस नाटक में नाटककार ने युद्ध के भीषण परिणामों का चित्रण कर भारतवासियों को युद्ध के प्रति सचेत भी किया है उन्होंने स्वयं कहा है --'यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से ।'[1] जो अप्रत्यक्ष रूप से युग की युद्ध विरोधी नीति को ही संकेतित करती है । अर्जुन और अश्वत्थामा के बीच होने वाले ब्रह्मास्त्रों के युद्ध का चित्रण भी नाटककार ने अप्रत्यक्ष रूप से आणविक खोजों में संलग्न मनुष्य को उसके विनाशकारी परिणामों से सचेत करने के लिये ही किया है । ब्राह्मणों के विरोध में कहा गया व्यास का निम्न कथन --

> 'यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु !
> तो आगे आने वाली सदियों तक
> पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
> शिशु होंगे विकलांग और कुण्ठाग्रस्त
> सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी ।'[2]

नाटक को सामयिक अणुयुग से ही जोड़ता है । इन युगीन जीवन सन्दर्भों को रूपायित करने के साथ ही नाटक के समस्त चरित्र भी महाभारतकालीन पृष्ठभूमि से हटकर नितान्त मानवीय धरातल पर ही चित्रित किये गये हैं । नाटक का केन्द्रिय चरित्र अश्वत्थामा, जिसे युधिष्ठिर के अर्धसत्य ने एक बर्बर पशु बना दिया है,अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त अपने युग का एक साधारण मनुष्य ही है । युद्धकाल में सत्य मर्यादा और विवेक के विपरीत जिस अमर्यादित आचरण को व्यवहार में लाया

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती - 'अन्धायुग', पृष्ठ १०
२. वही - 'अन्धायुग', पृष्ठ ६२

गया था उसने मनुष्य की आत्मा का हनन कर उसे विक्षिप्त कर दिया । अश्वत्थामा का चरित्र इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जो युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त हो सर्वत्र विक्षिप्त सा घूमता है । उसके इस कथन --`वध मेरे लिए नहीं रही नीति, वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि ।`[१] में मूलत: समकालीन मानव की वेदना निराशा तथा द्वन्द्व-मूलक मन:स्थिति को ही प्रतिध्वनित किया गया है ।

इसी प्रकार असत्य के मार्ग को छोड़कर सत्य का पथ ग्रहण करने वाले युयुत्सु में नाटककार ने निश्चित परिपाटी से अलग होकर अपना पथ स्वयं निर्धारित करने वाले समसामयिक धुरीहीन एवं द्वन्द्वयुक्त मानव की पीड़ा को ही साकार किया है ।

आज के द्वन्द्वयुक्त जीवन में युयुत्सु का यह निष्कर्ष --
अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो अथवा असत्य का ।[२]

उतना ही सत्य एवं यथार्थ प्रतीत होता है जितना युयुत्सु के रूप में महाभारत युग में । इसके अतिरिक्त प्रहरी के रूप में नाटककार ने जिन काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है उनका मूल प्रयोजन भी जनसामान्य की उद्देश्यहीन मनोवृत्ति को ही चित्रित करना है । कृष्ण के चरित्र पर अवश्य भागवत् का महिमापूर्ण रंग चढ़ा हुआ है किन्तु गांधारी अश्वत्थामा तथा युयुत्सु के मन में कृष्ण के आचरण के प्रति उठने वाले विचारों के माध्यम से नाटककार ने कृष्ण के चरित्र को यथासंभव मानवीय रूप देने का प्रयास किया है ।

इस प्रकार महाभारतीय इतिवृत्त एवं चरित्रों को अपना कर भी नाटककार ने अपने इस नाटक में वर्तमान युग की विसंगतियों, विकृत मनोवृत्तियों, विघटित मूल्यों तथा उनमें भटकते मनुष्यों के आन्तरिक संघर्षों को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है, जो नाटककार की युग चेतना, कल्पना-शक्ति तथा सूक्ष्म संवेदनशीलता की परिचायक है तथा नाटक को पौराणिक सन्दर्भों से हटाकर युगीन सन्दर्भों से जोड़ देताहै ।

---

१. धर्मवीर भारती - `अन्धायुग`, पृष्ठ ३८

२. धर्मवीर भारती - `अन्धायुग`, पृष्ठ ५७

'अन्धायुग' के इसी महाभारतीय इतिवृत्त को अपना कर डॉ० लाल ने भी 'सूर्यमुख' नामक नाटक की रचना की किन्तु 'अन्धायुग' में जहाँ भारती ने त्रेता के उस महायुद्ध की कथा और जीवन्त मूल्यों को आधुनिक युग के सन्दर्भ में तथा आधुनिक संवेदना के आधार पर प्रस्तुत किया है वहीं डॉ० लाल ने अपने 'सूर्यमुख' में उन चरित्रों के पारस्परिक जटिल सम्बन्धो, संकुल मन:स्थितियों और गहन अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण आधुनिक सन्दर्भ और संवेदना के साथ मनोविश्लेषण के आलोक में मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया है[1]।

अपने इस नाटक में नाटककार ने कृष्ण की मृत्यु और द्वारिका के विध्वंस की पौराणिक पृष्ठभूमि का आधार लेकर इस मानवीय सत्य को स्थापित करने का प्रयास किया है कि सत्ता के संघर्ष, मानवीय मूल्यों के ह्रास और विनाशपूर्ण परिस्थितियों में स्त्री-पुरुष का प्रेम आलोकमय प्रभात का वाहक बन सकता है,सूर्यमुख बनकर नया मन्वन्तर ला सकता है। जिसकी पुष्टि के लिये नाटककार ने प्रद्युम्न (कृष्णपुत्र) और वेनुरती (कृष्णपत्नि) के प्रेम तथा इनके गहन आत्म साक्षात्कार का सशक्त अंकन किया है। युद्धोत्तरकालीन द्वारिका में कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र तथा अन्य यदुवंशी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तथा सत्ता प्राप्ति के लिये संघर्ष करते हैं दूसरी ओर काल-समुद्र द्वारिका को डुबोता चला आ रहा है। किन्तु इस गहन अन्धकार में प्रद्युम्न और वेनुरती का प्रेम सूर्यमुख की भाँति कार्य करता है -- वह काल समुद्र के उफान को रोकता है, सत्ता के संघर्ष में भाग लेकर विजयी बनता है किन्तु विपरीत सम्बन्धों (माँ और पुत्र) में उत्पन्न अपने इस प्रेम के कारण उन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ता है। वेनुरती को महल में रहकर व्यंग्य प्रताड़ना तथा घृणा और भर्त्सना को सहना पड़ता है तो प्रद्युम्न को नागकुण्ड की पहाड़ियों पर निर्वासित होना पड़ता है किन्तु इस बाह्य संघर्ष के साथ ही एक दूसरे को पाने के लिये उनके अन्तर में लज्जा और भय का एक आन्तरिक संघर्ष भी चल रहा था जो प्रद्युम्न के इन शब्दों में स्पष्ट है -"मेरे भुजपाश-अंक में लिपटे हुए संशय, इन अस्त्रों से ढक जायेंगे, पर जो मेरे गहन अन्तस में बैठे हैं, वे छायाचित्रों की तरह उभरकर मेरे ही सामने आयेंगे, उन्हें कौन अस्त्र काटेगा ? जहाँ शत्रु अदृश्य है, वे युद्ध इन शस्त्रों से किस तरह लड़े जायेंगे ? जो अस्त्र मुझे हर क्षण बाँधते जा रहे हैं लगता है यही मेरे विजय में पराजय के साक्षी

---

१. जयदेव तनेजा -'समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि', पृष्ठ १४६

बनेंगे ।[1] अथवा स्वयं वेनुरती का यह कथन 'फिर नया जन्म होता है, पर समाज हमारे जन्म के पहले ही हमारे सहज को विपरीत सम्बन्धों के कारागार में बन्दी कर देता है ।[2] जिससे वह संघर्ष करते हैं परन्तु अपनी इस संशयपूर्ण मन:स्थिति से न उबर पाने के कारण वह अन्तत: मृत्यु को प्राप्त होते हैं । किन्तु मनोविश्लेषण के आधार पर नाटककार ने सामाजिक मान्यताओं के विपरीत इनके प्रेम को उचित और धर्मसम्मत सिद्ध कर मनुष्य के संशय और द्वन्द्व को ही उसका सबसे बड़ा शत्रु बताया है । और इस प्रकार नाटक के इन पात्रों को परम्परागत साचों में ढालने की अपेक्षा एक सहज मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया है अत: इन दोनों के प्रेम को असंगत मानने की अपेक्षा इनके प्रेम की प्रशंसा करते हुए नाटककार की भावनाओं का प्रतीक दुर्गपाल साम्ब से कहता है, `नहीं कृष्ण अब अतीत है । वर्तमान अब तुम हो । और वह प्रद्युम्न भविष्य है । वह नया है । सूर्यमुख है वह । उसने इस अन्धकार में प्रेम का एक नया मन्वन्तर प्रारम्भ किया है ।[3] जो नाटककार के युगीन यथार्थवादी विचारों को ही ध्वनित करता है ।

इसके साथ ही नाटककार ने अपने नाटकीय संवादों के माध्यम से अनेक स्थानों पर वर्तमान युग की परिस्थितियों को उजागर करने का प्रयास भी किया है । यथा साम्ब के इस कथन में `इस नगर में बोलने की मूल्यहीन स्वतन्त्रता ने हमे खोखला बना दिया है ।` जहाँ खोखले प्रजातन्त्र पर व्यंग्य किया है वहीं द्वारिका नगर में चूहों का फैलना, सोने चांदी में सापों का होना, गाय के पेट से गधे और हथिनी से सुअर पैदा होना, आदि के संकेत तथा विजय पराजय की बहस में भी आधुनिकता का विसंगति बोध व्यक्त हुआ है ।

इतिहासाश्रित सामाजिक नाटकों की इसी प्रयोगशील परम्परा में आगे चलकर रामधारी सिंह दिनकर कृत `उर्वशी` अज्ञेय कृत `उत्तर प्रियदर्शी` दुष्यन्त कुमार कृत `एक कंठ विषपायी` तथा कुँवर नारायण कृत --`आत्मजयी` इत्यादि कुछ अन्य रचनायें भी सामने आयी जिनमें नाटककार ने प्राचीन ऐतिहासिक पौराणिक पात्रों, प्रसंगों और परिस्थितियों के माध्यम से आधुनिक मानव की जटिल मन:स्थितियों तथा समसामयिक युगबोध को अभिव्यक्ति प्रदान की यथा `उर्वशी` में जहाँ नाटककार ने

---

१. लक्ष्मी नारायण लाल - `सूर्यमुख` ,पृष्ठ ८०
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ ५६
३. ,, ,, ,, , पृष्ठ १२

पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम के माध्यम से आदिमानव से आधुनिक मानव तक के भीतर अनुस्यूत सामान्य सूत्र और उसके व्यक्तित्व के आन्तरिक पर्तों की खोजकर शाश्वत नर-नारी सम्बन्धों को जीवन्त रूप दिया है तथा पुरुरवा के रूप में मानव जाति की चिरन्तन वेदना को प्रतिबिम्बित किया है वहीं `उत्तर प्रियदर्शी` में कलिंग के महा-प्रतापी राजा सम्राट अशोक के प्रचण्ड और क्रूर व्यक्तित्व के आध्यात्मिक कायाकल्प की प्रक्रिया को तर्कसंगत एवं मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत कर अपने ही भीतर स्थित अहंकार रूपी नरक से मुक्ति के लिए छटपटाते आधुनिक मानव की पीड़ा को साकार किया है ।

इसी प्रकार `एक कंठ विषपायी` में पौराणिक परिवेश में, दक्ष द्वारा शंकर को यज्ञ में न बुलाये जाने पर पति के सम्मान में सती का प्राण त्याग तथा सती के वियोग में शिव की प्रतिक्रिया से सम्बन्धित कथा का प्रतीकात्मक चित्रण कर आधुनिक युग की बर्बर रूढ़ियों और परम्पराओं के शव से चिपके लोगों की कथा को प्रस्तुत किया है तो `आत्मजयी` में नाटककार ने नचिकेता को आज के एक ऐसे चिन्तनशील व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो ऐसे मूल्यों के लिये जीता है जो उसमें सुख ही नहीं सार्थकता का भी बोध करा सकें । नचिकेता का पिता से मतभेद और पिता वाजश्रवा का क्रोध में पुत्र को मृत्यु को दे देना न केवल नयी-पुरानी पीढ़ी के संघर्ष का प्रतीक है, अपितु उन सनातन वस्तुपरक और आत्मपरक दृष्टिकोणों का भी प्रतीक है जिनका एक रूप हम अपने आज के जीवन में पाते हैं -- एक ओर तीव्र भौतिक उन्नति और दूसरी ओर आत्मिक स्तर पर जीवन के अर्थ खोजते मानव की पीड़ा ।[1] किन्तु काव्य एवं गीति तत्व की प्रमुखता के कारण इन नाटकों को नाट्य जगत में वह स्थान न मिल सका जो इनके पूर्ववर्ती इतिहासाश्रित नाटकों एवं उनके नाटककारों को प्राप्त हुआ ।

उपर्युक्त नाटकों के विश्लेषण से यद्यपि यह पूर्णत: स्पष्ट है कि इस वर्ग के समस्त नाटककारों ने ऐतिहासिक कथाओं एवं चरित्रों के माध्यम से आधुनिक युग के पीड़ित मानव एवं उसकी समस्याओं को ही अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया है किन्तु विषय की दृष्टि से यथार्थ के प्रति समर्पित होते हुए भी ऐतिहासिक पौराणिक

---

१. जयदेव तनेजा - `समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि`, पृष्ठ २०९-२०२

परिवेश को अपनाने के कारण इनमें वह सम्प्रेषणीयता एवं सजीवता नहीं आ पाई है जो यथार्थवादी नाटकों की मूलभूत आवश्यकता एवं विशेषता थी । यथार्थ चित्रण के लिये नाटककारों की इतिहास के प्रति बढ़ती हुई इस प्रयोगशील दृष्टि की सीमाओं से अवगत होकर ही प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है --

`...उसमें नाटक के लिए आवश्यक समकालीन की बहुत कमी है । `अंधायुग `आषाढ़ का एक दिन`, `लहरों के राजहंस`, `कोणार्क`, `शारदीया` जैसे सार्थक नाटक आधुनिक संवेदना और भाववस्तु को प्रस्तुत करते हुए भी बिना अपवाद के किसी न किसी दूरवर्ती युग में प्रक्षेपित है । रूप में समकालीन स्थितियों, व्यक्तियों और परिवेश से अलगाव समस्त कलात्मकता के बावजूद उनकी सम्प्रेषणीयता को सीमित करता है । नाटक का मुख्यत: और अधिकांशत: न केवल भाववस्तु में, बल्कि उस भाव-वस्तु के परिवेश में, उसके रूपायन में, समकालीन होना बहुत आवश्यक है । इसके अभाव में वह अपने मुख्य सम्प्रेषण माध्यम रंगमंच से सही सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता । जब तक हिन्दी नाटक व्यापकतम समकालीन सामाजिक परिवेश और उसके भीतर जीने वाले अधिकाधिक व्यक्ति और उनकी बहुविध जीवन स्थितियों को गहराई से नहीं प्रस्तुत करता, तब तक सजीव सक्रिय कला विधा के रूप में समर्थ नहीं हो सकता । क्योंकि तब तक वह न तो किसी सशक्त रंगमंच का निर्माण कर सकता है, न मौजूदा रंगमंच को पुष्ट कर सकता है, जिसके बिना नाटक की कोई गति नहीं ।[१] जो नाट्य विकास की दृष्टि से एक उत्तम सुझाव तो है ही साथ ही यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों की महत्ता को प्रतिपादित कर नाटककारों को अपने समकालीन परिवेश में रहकर जन-सामान्य की समस्याओं से जुड़े रहने का एक युगानुकूल संदेश भी दिया है ।

---

१. नेमिचन्द्र जैन - `हिन्दी साहित्य`के `प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य` शीर्षक से उद्धृत सम्पादक मंडल धीरेन्द्र वर्मा इत्यादि, पृष्ठ ५१५

समसामयिक जीवन से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध नाटक

यद्यपि स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी नाटकों का नूतन संस्कार जीवन से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित एवं भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित कतिपय ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों के माध्यम से ही हुआ किन्तु युग यथार्थ की सही पकड़ तथा नाटक का जनसामान्य से निकटतम सम्बन्ध बनाये रखने के लिये अधिकांश नाटककारों ने समकालीन परिवेश और उसमें जीने वाले संघर्षरत मानव से प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही किया है। अत: ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों को एक नवीन दिशा मिलने पर भी प्रमुखता सामाजिक नाटकों की ही रही। इस वर्ग के प्रतिनिधि नाटककारों में सर्वश्री डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, विपिन अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, भुवनेश्वर लक्ष्मीकान्त वर्मा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, नरेश मेहता, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, शील, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, भगवती चरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, शम्भूनाथ सिंह प्रभृति प्रमुख हैं जिन्होंने अपने समकालीन यथार्थ को सम्प्रेषित करने के लिये जीवन के कुछ महत्वपूर्ण प्रसंगों को अपने प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार कर नाट्य रचना सम्बन्धी विविध प्रयोग किये। नाटकों के रूप-विधान अथवा समस्या के प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से इन समस्त सामाजिक नाटकों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं - प्रथम, सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि पर आधारित परम्परित सामाजिक नाटक। जिसमें युगीन यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिये समस्या का चित्रण अथवा उद्घाटन ही प्रमुख है।

दूसरा, नाटककार की कलात्मक एवं काव्यमयी वृत्ति से पोषित मनोविश्लेषणात्मक नाटक। इसमें नाटककार ने समस्या के मूल तक पहुँचने के लिये अपनी कल्पना एवं कला के बल पर मनोविश्लेषण का बड़ा ही कलात्मक उपयोग किया है।

तीसरा, आधुनिक विसंगतियों से पूर्ण एब्सर्ड (विसंगत) नाटक। इसमें नाटककार का मुख्य उद्देश्य समकालीन विसंगतियों की विद्रूपता को प्रकट करना मात्र रहा है और इसके लिये उसने शिल्प के भी सर्वथा विसंगत रूप का ही सहारा लिया है।

सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि पर आधारित परम्परित सामाजिक नाटक

प्रसादोत्तर युग में मिश्र तथा अश्क प्रभृति सामाजिक नाटककारों द्वारा यथार्थवादी समस्या नाटकों की जो अभिनव नाट्यधारा प्रवाहित हुई थी, स्वातन्त्र्योत्तर युग में युग-सन्दर्भों के परिवर्तन के साथ उसमें कुछ नवीन समस्याओं को भी आत्मसात किया गया, जिनमें मुख्य थी, देश-विभाजन, शरणार्थी समस्या सामाजिकों में फैला भ्रष्टाचार, अफसर वर्ग की धाँधली तथा औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप जन-सामान्य में बढ़ता हुआ आर्थिक वैषम्य, एवं विक्षोभ जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही भारत के मूल ढाँचे में दीमक की भाँति प्रविष्ट होकर भारतीय जनतन्त्र की नींव को खोखला कर रहे थे। यद्यपि इन नवागत समस्याओं के साथ ही देश की कुछ अन्य समसामयिक समस्याएँ यथा - वैवाहिक विषमता, नारी जागरण, दहेज प्रथा, वर्ग विषमता तथा आर्थिक वैषम्य भी नाटककार के संवेदनशील मन को आन्दोलित कर रही थी किन्तु युगीन आवश्यकताओं को देखते हुए समाज के प्रबुद्ध नाटककारों की दृष्टि प्रथमत: देश में व्यापक रूप से छायी इन नवागत समस्याओं की ओर ही गयी और इस प्रकार हिन्दी नाटक एकबार फिर से समाज की सीमित चहारदीवारी से निकल कर उसकी व्यापक समस्याओं से जुड़ गया। समाज के इन नवीन जीवन सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से अश्क कृत 'अन्धी गली' विनोद रस्तोगी कृत 'आजादी के बाद' 'नए हाथ' 'स्वर्ग के खण्डहर', वृन्दावनलाल कृत 'कश्मीर का काँटा' उदयशंकर भट्ट कृत 'नया समाज' नरेश मेहता कृत 'खण्डित यात्राएँ' पृथ्वी रंगमंच पर अभिनीत 'दीवार' 'गद्दार', 'पठान' आहुति 'किसान' 'पैसा' तथा भगवती चरण वर्मा कृत 'रुपया तुम्हें खा गया' महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं जिनमें युगीन विसंगतियों को स्वर देकर नाटककार ने तत्कालीन सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भों के परिवर्तन से इन परम्परित नाटकों में जो एक युगान्तरकारी परिवर्तन आया वह यह कि स्वतन्त्रतापूर्व रचित नाटकों में जहाँ गुलामी के कारण नैराश्य असहायता अथवा दीनता का भाव परिलक्षित होता है वहीं स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों में पूर्वकालीन नैराश्य की अपेक्षा नव-निर्माण का भाव अधिक सक्रिय है। उनमें खण्डन के साथ-साथ रचनात्मक प्रवृत्तियों का भी सन्निवेश हो रहा था अत: नाटकों में जागृति का भाव सर्वत्र ही परिलक्षित है, पात्रों में अपने वर्तमान से लड़ जाने की उत्कट अभिलाषा आत्मविश्वास एवं जागरूक चेतना है।

जीवन के बदलते परिप्रेक्ष्य में स्वातन्त्र्योत्तर भारत की सर्वाधिक ज्वलन्त एवं जटिल समस्या थी देश विभाजन तथा शरणार्थी समस्या । फलत: हिन्दी नाटककारों का ध्यान भी सर्वप्रथम देश की इस समस्या की ओर ही गया ।

देश-विभाजन तथा शरणार्थी समस्या

भारत की स्वातन्त्र्य घोषणा ने जहाँ एक ओर भारतवासियों में नवीन आशा एवं उत्साह का संचार कर देश को नव-निर्माण की ओर प्रेरित किया, वहीं दूसरी ओर देश विभाजन, जो भारत की स्वातन्त्र्य घोषणा का ही एक अंग था, के परिणाम स्वरूप उत्पन्न शरणार्थी समस्या के रूप में देश को शोषण, भ्रष्टाचार, काला बाजारी, उत्कोच इत्यादि अनेक विष समस्याओं से भी ग्रसित किया । देश विभाजन के प्रत्यक्ष परिणाम इन अराजक स्थितियों को प्रतिपाद्य बनाकर लिखे गये नाटकों में अश्क कृत `अंधी गली` विनोद रस्तोगी कृत `आजादी के बाद` तथा पृथ्वी रंगमंच पर अभिनीत `गद्दार` आहुति और `दीवार` उल्लेखनीय रचनाएँ हैं । `आहुति` तथा `गद्दार` का तो मूल कथानक ही देश विभाजन के समय होने वाले हिन्दू मुस्लिम झगड़ों पर आधारित है, किन्तु `गद्दार` में जहाँ नाटककार ने भारत के सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से देश के गद्दार मुसलमानों के घृणित कृत्यों के नग्न चित्रों की झाँकी प्रस्तुत की है वहीं `आहुति` में जानकी नामक एक अपहृता किन्तु निर्दोष तरुणि के जीवन की करुण कथा को प्रस्तुत कर भारत विभाजन के समय पंजाब में हुए भीषण हत्याकाण्ड, रक्तपात बलात्कार तथा सामाजिकों की संकुचित मानसिकता तथा हृदयहीनता का रोमांचकारी एवं हृदय विदारक चित्र प्रस्तुत किया है ।

जानकी देश-विभाजन के समय पंजाब में होने वाले भीषण हत्याकाण्ड से संत्रस्त उन नारियों में से एक है जिन्हें सामाजिकों की हृदयहीनता के कारण अपनी आशाओं का गला घोंटकर अपने प्राणों की आहुति दे देनी पड़ी थी । नाटक का मूल कथानक इस प्रकार है कि जानकी का विवाह पंजाब के एक संभ्रान्त एवं प्रतिष्ठित राय साहब के पुत्र राम से तय होता है । इसी बीच पंजाब में अंग्रेजों की भेद नीति के कारण हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक वैमनस्य की व्यापक लहर फैल जाती है और चारों ओर मारकाट, हिंसा, भीषण रक्तपात और अपहरण जैसे अमानुषिक कृत्य होने लगते हैं । और एक दिन जानकी का भी अपहरण हो जाता है । यद्यपि वह एक

मुसलमान द्वारा कुछ ही दिनों पश्चात् उसके पिता के पश्चात् सकुशल पहुँचा दी जाती है किन्तु सामाजिकों की दृष्टि में वह भ्रष्टा एवं पतिता समझी जाती है और यह बात जब उसके श्वसुर रायसाहब को पता लगती है तो वह उसे अपनी पुत्रवधू बनाने से इन्कार कर देते हैं किन्तु राम उसे दिल से चाहता है तथा परिस्थिति को समझता है अत: पिता के मना करने पर भी अपने वचन पर अटल रहता है तथा जानकी को प्राप्त करने के लिये पिता के समस्त वैभव को छोड़ने को तैयार हो जाता है किन्तु जब जानकी को यह पता चलता है तो वह उसके सुख के लिये अपना प्राणान्त कर देती है इधर राम भी इसे सहन नहीं कर पाता और मर जाता है। सामाजिकों की इस हृदयहीनता से क्षुब्ध होकर ही नाटककार ने राम के इन शब्दों में कहलवाया है 'उन हजारों लड़कियों का क्या होगा जो जानकी की तरह भगाई गई हैं, जिन्हें जानकी की तरह भ्रष्ट किया गया है -- उन्हें समाज में कौन ग्रहण करेगा ? कौन अपनायेगा ? उनका उद्धार कैसे होगा ?[१] जो तत्कालीन सामाजिक स्थिति को देखते हुए युग की एक जटिल समस्या बन गयी थी। किन्तु युग की यथार्थ समस्या को अपनाकर भी नाटक का अन्त भावुकतापूर्ण ही है।

'दीवार' भारतवर्ष के बंटवारे की समस्या को लेकर लिखा गया एक प्रतीकात्मक नाटक है। इसमें नाटककार ने दो भाइयों की फूट की कहानी के माध्यम से विभाजन पूर्व ही विभाजन की विभीषिका के प्रति अपने विरोधी भावों को अभिव्यक्ति प्रदान कर अपनी सूक्ष्म संवेदनशीलता का परिचय दिया है। यहाँ दोनों भाई प्रतीक हैं हिन्दू मुसलमानों के तथा अतिथि विदेशी फिरंगी प्रतीक है उन अंग्रेजों के जो अपनी भेदनीति से देश के हिन्दू मुसलमानों में पारस्परिक वैमनस्य का भाव उत्पन्न कर रहे थे। घर का बंटवारा वस्तुत: देश विभाजन का प्रतीक है तथा बंटवारे के बाद नित्य प्रति होने वाली कलह देश के भावी जीवन में आने वाली समस्याओं को ही संकेतित करती है।

पृथ्वी रंगमंच पर अभिनीत 'आहुति' तथा 'दीवार' की भाँति विनोद रस्तोगी ने भी अपने नाटक 'आजादी के बाद' में देश-विभाजन, शरणार्थी समस्या तथा भारतीय समाज में व्याप्त शोषण एवं भ्रष्टाचार का हृदय विदारक

---

१ लालचन्द बिस्मिल - 'आहुति', पृष्ठ १३८

चित्र प्रस्तुत कर अपनी तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है । यह तो सर्वविदित ही है कि १५ अगस्त १९४७को भारत अंग्रेजों के दासत्व बन्धन से विमुक्त हो पूर्ण स्वतन्त्र हो गया था । किन्तु स्वतन्त्रता के बाद शरणार्थी पुनर्वास तथा भारतवासियों की स्वार्थपरता के कारण देश में अराजकता, शोषण, अन्याय और अत्याचार का जो तांडव हुआ उसने भारतवासियों के स्वातन्त्र्य स्वप्न को धूल में मिलाकर भारत की स्वतन्त्रता को ही संदिग्ध बना दिया था । देश की इस विडम्बना पूर्ण स्थिति से क्षुब्ध होकर ही विनोद रस्तोगी ने अपने इस नाटक में स्वातन्त्र्योत्तर भारत की आन्तरिक दुर्बलताओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए १५ अगस्त को 'आनन्द पर्व' की अपेक्षा 'रक्त दिवस' की संज्ञा दी है । इस सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि यह स्वतन्त्रता जो १५ अगस्त के रूप में हमें आज मिली है स्वतन्त्रता नहीं वरन् स्वतंत्रता के वेश में हमारी मृत्यु का चित्र है । अत: उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर भारत की आन्तरिक दुर्बलताओं पर आक्रोश तो व्यक्त किया ही है साथ ही भारतवासियों में आत्मोन्नति का भाव जाग्रत कर उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये भी प्रेरित किया है ।

विभाजनोपरान्त जन्मी शरणार्थी पुनर्वास समस्या को प्रतिपाद्य बनाकर लिखा गया अश्क कृत 'अन्धी गली' युगीन सन्दर्भों के उद्घाटन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण नाटक है । प्रत्यक्षत: तो यह मकानों की समस्या को लेकर लिखा गया एक नाटक है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से नाटककार ने इसमें विभाजन की विभीषिका से संत्रस्त एक शरणार्थी परिवार की करुण कथा को प्रस्तुत कर तत्कालीन शरणार्थियों की दुर्दशा एवं समाज में व्याप्त शोषण, भ्रष्टाचार, कालाबाजारी तथा अधिकारी वर्ग की धाँधलियों का ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है । अपने इस नाटक में नाटककार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में शरणार्थियों को पुन: बसाने के लिये सरकार की ओर से जो सहायतार्थ प्रयत्न किये जा रहे थे वह किस प्रकार देश के स्वार्थी अफसरों तथा उनके चापलूसों तक ही सीमित थे और उसके वास्तविक अधिकारी बेचारे निरीह शरणार्थी दूसरों की उपेक्षा एवं भर्त्सना का पात्र बन कर दर-दर की ठोकरें खाते हुए भटक रहे थे । शरणार्थी जीवन की इसी विडम्बनापूर्ण स्थिति पर दु:ख व्यक्त करते हुए नाटककार ने एक शरणार्थी लहनासिंह के शब्दों में कहलवाया है 'शरणार्थियों को फिर से बसाने के जिन्ने महकमे बने अफसर हण,

उनके ऊपर जितना रुपया खर्च होया ए, उतना जो शरणार्थी को मिले तो ओहनाँ की मुसीबत दूर न हो जावे। अफसराँ ते मक्खमियाँ दे पेट मोटे होंदे जादे ने ते शरणार्थियाँ दे पेट- पल्ले कुछ पैदा नहीं। - - - और फिर जो अमीर शरणार्थी हैं, उनकी सब जगह सुनवाई है। मकान ते दुकानां, लिसंस ते दूसरे फायदे उन्हीं को मिलदे हण जिहड़े अफसरा नू खुश कर सकदे हण।[1] जो तत्कालीन अधिकारी वर्ग की स्वार्थपरता एवं घाँधलियों को ही मुखर करता है।

किन्तु एक ओर जहाँ अधिकारी वर्ग अपने स्वार्थ के वशीभूत हो शरणार्थियों को उनके लिये प्रदत्त समुचित सहायता से वंचित करे हुए था वहीं दूसरी ओर देश के स्वार्थरत सामाजिक भी उनकी इस विवशता का लाभ उठाकर उनका शोषण करने में पीछे नहीं थे वरन् कृत्रिम अभावों की सृष्टिकर यथाशक्ति उनका शोषण कर रहे थे। जिसकी एक झलक सामाजिकों की हृदयहीनता के शिकार एक सन्तप्त शरणार्थी त्रिपाठी जी के इस कथन में स्वत: स्पष्ट है - 'इन सात दिनों के अपने अनुभव से मैं यह समझा हूँ कि मकानों की किल्लत नहीं किल्लत रुपये की है जिसके पास रुपया है, उसे आज मकान मिल सकता है। जिसका २५ रुपया किराया हो, उसका सौ रुपया दीजिये -- आज मकान ले लीजिये।'[2] किन्तु अधिकांश शरणार्थियों के समक्ष तो सबसे बड़ी समस्या धन की ही थी जिसके अभाव में उन्हें शहरों की सड़ाँध युक्त गलियों में रहने को विवश होना पड़ा। प्रस्तुत नाटक में वर्णित अंधी गली वस्तुत: ऐसी ही एक सड़ाँध युक्त अंधेरी गली थी जिसमें आर्थिक मजबूरी के कारण कुछ शरणार्थी घुस आये थे। किन्तु यहाँ इस अंधी गली के माध्यम से नाटककार ने सामाजिकों की उस हृदयहीनता की ओर ही संकेत किया है जो अपने स्वार्थ के अन्धेपन में सम्पूर्ण जन-जीवन को ही अन्धकारमय बनाये हुए थे। अपने इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए नाटककार ने त्रिपाठी जी, जिनकी शरणार्थी के रूप में उपेक्षा एवं असहानुभूति का कड़वा घूँट पीना पड़ा था, के निम्न शब्दों में कैप्टन लीकू सदृश कुछ प्रतिष्ठित सामाजिकों की हृदयहीनता पर व्यंग्य करवाया है। उनका कथन था कि 'बाबू रामचरण

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क - 'अंधी गली', पृष्ठ ३८

२. ,, ,, ,, , पृष्ठ ६२

वाला मकान ढाकर कमेटी इस अंधी गली को तो खुला कर देगी, पर इन घरों और इनमें रहने वालों के दिलों का क्या होगा ? जिनके दरवाजे न जाने कब से बन्द हैं । उन्हें कौन खोलेगा ? कब खोलेगा ? इस पुण्य भूमि में हजारों नहीं लाखों ऐसी अंधी गलियाँ हैं । लीकू साहब क्या सबको खुलवा देंगे ।[1]

शरणार्थियों के जीवन की इस दारुण व्यथा के साथ ही नाटककार ने बिन्दा बाबू जैसे एक सहृदय सामाजिक, जिन्होंने अपने छोटे से घर में अनेक शरणार्थियों को सर छिपाने की जगह दी थी, की सृष्टि कर तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर भी अपनी तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि डाली है जो अपनी विकरालता में समस्त सामाजिक विसंगतियों का मूल कारण थी । अत: नवयुवक श्याम द्वारा ब्लैक मार्केटिंग करने वालों को गोली से उड़ा देने की बात सुनकर बिन्दा बाबू तर्क देते हुए कहते हैं -- 'ऐसा हुक्म जारी करने से पहले आपको आर्थिक स्थिति सुधारनी होगी । मैं बड़े आदमियों की बात नहीं करता जिनके पास बीसियों बंगले हैं । उन लोगों की बात सोचिए, जो हम ऐसे क्लर्क पेशा हैं, जिनके वेतन आम चीजों की कीमतों के साथ नहीं बढ़े।वे अपने आराम का ख्याल न करके स्वयं तंगी से रहकर एक आध-कमरा किराये पर देना चाहते हैं और उसी से अपने वेतन की कमी को पूरा करना चाहते हैं । सो इस समस्या का हल भाई, केवल गोली से उड़ाने का हुक्म नहीं । सारे का सारा आर्थिक ढाँचा जब तक न बदला जाय कुछ नहीं हो सकता । इधर उधर पैबंद लगाने अथवा महज दण्ड देने की तजवीज करने से कुछ न होगा ।'[2] जो अपने आप में युग का एक चिन्तनीय विषय तो था ही, साथ ही नाटककार की तीक्ष्ण एवं निष्पक्ष यथार्थ दृष्टि का भी परिचायक है ।

जमीन्दारी उन्मूलन -

शासन व्यवस्था के समुचित प्रबन्ध हेतु पूर्व स्वतन्त्रता कालीन भारत में सर्वत्र ही जमींदारी व्यवस्था का बोलबाला था । इस व्यवस्था के अन्तर्गत जमीन का मालिक जमींदार कहलाता था किन्तु भूमि पर उत्पादन का कार्य वह स्वयं न कर छोटे-

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क - 'अन्धी गली', पृष्ठ १५२

२. ,, ,, - ,, , पृष्ठ ६४

छोटे किसानों से ही करवाता था जिसके लिये उसे किसानों से मुमिकर के रूप में कृषि का कुछ हिस्सा मिल जाता था और यही उनकी आय का प्रमुख साधन था। यद्यपि यह प्रथा काफी दिनों से चली आ रही थी किन्तु अंग्रेजी की छत्रछाया में उनकी शोषणकारी अर्थनीति के कारण इन जमींदारों को किसानों के शोषण का पर्याप्त अवसर मिला। फलत: वे निर्भय होकर बेगार तो करवाते ही थे, करके रूप में उनकी आय का अधिकांश अपना अधिकार मानकर हड़प लेते थे। इसके अतिरिक्त दैवीय प्रकोप से कृषि विनष्ट हो जाने पर उनके घर, बैल इत्यादि कुर्की करवाकर अपना कर वसूलते थे। जिससे गरीब किसान की दशा बड़ी ही शोचनीय थी, वह दिन रात खून पसीना एक करके भी दाने-दाने को मोहताज थे। भारतीय अर्थ व्यवस्था के मूलाधार किसानों की इस दयनीय दशा को देखकर देश के कुछ प्रबुद्ध नेताओं का ध्यान जमींदारों के बढ़ते अन्यायों की ओर भी गया और उन्होंने उनको समाप्त करने के लिये एक जबरदस्त आन्दोलन छेड़ दिया तथा स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही उन्होंने देशव्यापी जमींदारी आन्दोलन को एक कानून का रूप देकर अभिशप्त किसानों को जमींदारों के चंगुल से सदा-सदा के लिये मुक्त कर दिया। जिससे सम्पूर्ण भारतवर्ष में आशा एवं उत्साह की एक नयी लहर फैल गई।

ग्राम्य जीवन के इस समस्या बहुल पहलू को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में रमेश मेहता कृत `हमारा गाँव` तथा शील कृत `किसान` उल्लेखनीय नाटक है जिसमें नाटककार ने जमींदारों की शोषण नीतियों के सन्दर्भ में किसानों की दयनीय दशा का चित्रण तो किया ही है साथ ही किसानों की जागरूकता का परिचय देते हुए जमींदारी व्यवस्था की समीचीनता पर प्रश्न चिन्ह भी लगाया है। इसी को स्वर देते हुए `हमारा गाँव` का एक जागरूक चरित्र जुगल अपने मौसा से तर्क करते हुए कहता है --`यह इन्सान की खुदगर्जी है, सीना जोरी है, बेईमानी है। अंग्रेजी सरकार इसी के भरोसे चल रही थी। वे बहुतों के हक को छीनकर थोड़े में बाँटते थे। अपनों में फूट डलवा देते थे - - - - हमारा यह धर्म है, मौसा जी कि सब जमींदार अपनी जमीन में से कुछ हिस्सा इन लोगों के नाम कर दें।`[1] जिसके मूल में युगीन साम्यवादी विचारों की सक्रियता ही क्रियाशील है।

---

१. रमेश मेहता - `हमारा गाँव` अंक १

किन्तु `किसान` में नाटककार ने भारतीय किसान तथा जमींदार के बीच जमीन और अधिकार सम्बन्धी संघर्ष को उठाकर स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता के स्वर्णिम प्रभात में सरकार के प्रयत्नों से जमींदारी प्रथा काफी हद तक समाप्त हो गई थी तथा उनके स्थान पर ग्राम पंचायतों की स्थापना भी होने लगी थी किन्तु इन पंचायतों पर अधिकार अभी भी गाँव के सूदखोर जमींदारों का ही था जो देश की खुशहाली एवं समृद्धि के विपरीत अपने स्वार्थों की पूर्ति में ही संलग्न रहते थे। फलत: गरीब किसानों की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई थी। युग जीवन की इसी विडम्बना पर दु:ख व्यक्त करते हुए नाटक का नायक धीरज अपनी पत्नी सुखिया से कहता है -- `अरी जमींदारी तो चली गई पर वह आदमी तो नहीं गये जिनकी दाढ़ी में आदमी का खून लगा है।`[1] जमींदारी चली जाने पर भी अपनी पूर्व स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए गाँवों के ये तथाकथित जमींदार पंचायतों के सरपंच, पुलिस तथा गाँव के हाकिम हुक्कामों से मिलकर किस प्रकार ग्रामीण जनता को परेशान किया करते थे, ऊपर से जनता के रक्षक बनकर अन्दर ही अन्दर क्या-क्या षडयन्त्र रचा करते थे इसका यथार्थ चित्र नाटककार ने नायक धीरज के पारिवारिक जीवन की करुणकथा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। नाटक का नायक धीरज एक परिश्रमी एवं अनुभवी किसान है जिसकी उपजाऊ भूमि का एक विस्तृत भूखण्ड गाँव के जमींदार ने षडयन्त्रों द्वारा अपने अधिकार में कर रखा है। किन्तु अपनी विवेकशीलता एवं बुद्धिमत्ता के बल पर वह ठाकुर के अत्याचारों का जमकर मुकाबला करता है। अत: ठाकुर जंगद के यह कहने पर कि `हम जमीन के मालिक थे। हमारी जमीन जायदाद छीन ली गयी। हमारे ट्रैक्टरों पर पंचायत ने अधिकार कर लिया। यह अत्याचार नहीं तो क्या है?`[2] अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए वह कहता है `अच्छा तो यह अत्याचार है? लेकिन यह भूल गये कि जमीन के मालिक हम किसान थे। अंग्रेजों से गुलामी बख्शीश लेकर तुमने हम किसानों को जाहिल, टुकड़खोर और गुलाम बना रखा था। मेहनत हम करते थे मौज तुम मारते थे। आजादी में लाखों किसान बेटों की जानें गयी लेकिन जब आजादी आयी तो तुमने

---

१. शील - `किसान`, पृष्ठ ८

२. ,, - ,, पृष्ठ ६३

उस पर कब्जा कर लिया ।`[१] वस्तुत: उसके इन शब्दों में देश के पीड़ित एवं शोषित किसान की व्यथा ही मुखर हुई है जो स्वतन्त्रता की मधुर बेला में अपने को विशेष सुरक्षित एवं शक्ति सम्पन्न महसूस कर रहा था । किन्तु नाटक के तृतीय अंक में नाटककार ने `अब गाँव में कोई अनपढ़ न रह जायगा ।` `अब जो खेती का काम करता है उसी के पास ज़मीन है ।` तथा अब पुलिस गाँव वालों के सहयोग से काम करती है ।` सदृश कुछ नवीन स्वरों की प्रतिष्ठा कर किसान जीवन में आने वाले जिस सुखद एवं सुनहले भविष्य की रूपरेखा खींची है वह युग जीवन के यथार्थ की अपेक्षा नाटककार की आस्था मात्र थी जो अपनी संदिग्धता के कारण नाटक को यथार्थ की अपेक्षा आदर्शों की ओर मोड़ देती है ।

किन्तु एक ओर जहाँ सरकार की ज़मींदारी उन्मूलन नीति से ग्रामवासियों एवं देश के नवजाग्रत वर्ग में उज्ज्वल भविष्य का एक आशावादी स्वर गूँज रहा था वहीं दूसरी ओर सरकार की इस नीति ने ज़मींदारियाँ समाप्त कर सामन्तीय संस्कार में पले, ऐशोआराम की जिन्दगी व्यतीत करने वाले ज़मींदारों के आर्थिक आधार को निर्मूल कर उनके समक्ष जीवन-यापन की एक नई समस्या को भी जन्म दिया । जिसका मूल कारण था उनका जातीय अहंभाव जो नवयुग की उपेक्षा में अपने आचार विचारों को न बदल पाने के कारण अभी भी अपने सामन्तीय संस्कारों एवं प्राचीन ऐश्वर्य के मोह से चिपका हुआ था तथा साधन के अभाव में भी अपनी वही प्राचीन मान-मर्यादा एवं गौरव बनाए रखना चाहता था । किन्तु सामाजिक एवं आर्थिक विवशताओं के कारण अपने इस प्रयत्न में असफल होने के कारण वह अन्दर ही अन्दर टूटता जा रहा था । दुर्भाग्यवश इसी समय उनकी नवजाग्रत सन्तान, जो नवयुग की उपेक्षा में अपने परिवारों पर आने वाले भावी संकटों से परिचित हो रही थी, के क्रान्तिकारी विचारों एवं कार्यों द्वारा उनके पारिवारिक जीवन में एक और अन्तर्विरोध उठ खड़ा हुआ, जिसने उन्हें पूर्णत: कुचल कर रख दिया ।

ज़मींदारों की इस विघटित मन:स्थिति को लक्ष्य कर लिखे गये नाटकों में भट्ट कृत `नया समाज` विनोद रस्तोगी कृत `नए हाथ` तथा नरेश मेहता कृत `खण्डित यात्राएँ` उल्लेखनीय हैं । इन सभी में नाटककारों ने ज़मींदारी उन्मूलन के

---

१. शील `किसान`, पृष्ठ ६३-६४

पश्चात् मिटते, किन्तु प्राचीन ऐश्वर्य के मोह से चिपके तथा नवयुग के प्रति अनास्थावान भारतीय जमींदारों की आन्तरिक पीड़ा को उनकी ही प्रगतिशील एवं जाग्रत सन्तानों के विपर्यय में प्रस्तुत किया है।

नाटक के केन्द्रीय चरित्र जमींदार मनोहर सिंह, अजय प्रताप एवं सुरेन परम्परा तथा प्राचीनता के मोह से चिपके अपने युग के ऐसे ही अपराजित चरित्र हैं जिन्हें युग की परिवर्तनशील परिस्थितियों ने अन्ततः पराजित होने के लिये विवश कर दिया था। युग की पुकार को अनसुना करने के कारण इनके पारिवारिक जीवन में नयी और पुरानी पीढ़ी के बीच जो अन्तर्विरोध उठ खड़ा हुआ था वही इनके जीवन की सबसे बड़ी समस्या थी जिसने उन्हें पूर्णतः पराजित कर दिया था इसी को लक्ष्य कर नाटककारों ने जमींदारों के जीवन के अन्य बाह्य पहलुओं की अपेक्षा अर्थयुग के संघात से टूटते जमींदारों के अन्तर्मन को ही अपने नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया।

नाटक 'नया समाज' तथा 'नए हाथ' में इनके जीवन की यह विवशता सर्वत्र ही मुखर हुई है। यद्यपि दोनों की मूल समस्या प्रेम और विवाह के परिवर्तित प्रतिमानों के संघात से टूटते जमींदारों के खोखलेपन को प्रस्तुत करना रहा है किन्तु 'नया समाज' में जहाँ नाटककार सामन्तीय परिवारों में पल रहे प्रेम और विवाह के बदलते प्रतिमानों को स्वर देकर यौनवृत्ति के न्यूरोटिक रूप में उलझ गया है वहीं 'नये हाथ' में नाटककार ने प्रेम और विवाह के परिवर्तित प्रतिमानों को स्वर देते हुए देश में फैले अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज भी उठायी है। जिसको स्वर देते हुए जमींदार अजय प्रताप का भाई विजय प्रताप कहता है --'मगर जो कुछ हुआ उसकी जिम्मेदारी हम जमींदारों पर ही है। हम अपने को भगवान का अवतार समझने लगे थे। गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत पर डाका डालना अपना अधिकार समझते थे, हमारे अत्याचारों से किसान त्राहि-त्राहि करने लगे थे[१]।' प्रत्यक्षतः देश में उभर रहे साम्यवादी विचारों का ही प्रभाव था। नवयुग की इस पुकार के साथ ही नाटककार ने नयी पीढ़ी के नवजाग्रत चरित्रों के माध्यम से देश के विघटन शील जमींदारों को अपने विगत को भूल चलने का संदेश भी दिया है। नयी पीढ़ी के क्रान्तिकारी

---

१. विनोद रस्तोगी - 'नये हाथ' पृष्ठ ६८

विचारों का समर्थन करते हुए नाटक का एक अनुभवी चरित्र नवाब युसुफ अपने मित्र ठाकुर अजय प्रताप को समझाते हुए कहता है - 'ठाकुर साहब वक्त के साथ हमें भी बदलना चाहिए। हमारे तौर तरीके की दीवार खोखली हो गयी है। बढ़े हाथ गिरती हुई दीवार को कब तक थामें रह सकते हैं। उसका गिर जाना ही बेहतर है। उसकी जगह इन नये हाथों से नयी दीवार बनने दीजिए (घड़ी की ओर संकेत करके) उस घड़ी की तरफ देखिए। चौखटा सुइयों को कैद किए है मगर वह उसकी रवानी नहीं रोक सकता। इसी तरह हम भी जमाने की रफ्तार नहीं रोक सकते।'[1] नाटक के अन्त में जमींदार अजय प्रताप अपनी आँखों पर पड़े रूढ़िवादिता के आवरण को हटाकर स्वयं स्वीकार करता है कि 'अभी तक झूठी मर्यादा और सड़ी-गली मान्यताओं को उसी तरह सीने से लगाये था जैसे मोहवश बंदरिया अपने मरे बच्चे को चिपकाये रहती है। अब आँखें खुल गई हैं कुँवर साहब।'[2]

किन्तु 'नया समाज' और 'नए हाथ' में क्रमशः भट्ट और रस्तोगी ने जहाँ प्रेम और विवाह की समस्या के माध्यम से प्राचीन को मिटाकर नवयुग का स्वागत किया है, जमींदारी व्यवस्था की विघटित मान्यताओं के विपरीत समकालीन मूल्यों को प्रतिस्थापित किया है वहीं नरेशमेहता ने अपने 'खण्डित यात्राएँ' में जमींदारी प्रथा के स्थानापन्न तथा नवयुग के प्रतीक पूँजीवाद की अमानवीयताओं का चित्रण कर आगत के प्रति अपनी तीक्ष्ण विश्लेषणात्मक दृष्टि भी डाली है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज सरकार की जमींदारी उन्मूलन नीति से देश का एक आतंकारी अध्याय समाप्त हो चला है किन्तु यह भी असत्य नहीं कि इसके स्थान पर समाज में जिस पूँजीवादी सभ्यता का विकास हो रहा है उसने प्राचीन संस्कारों को तिलांजलि देते हुए जीवन के प्रत्येक मूल्य को पैसे की भाषा में आँकना प्रारम्भ कर दिया है। जिससे मानव जीवन सरल होने की अपेक्षा नित्य प्रति जटिल ही होता जा रहा है। परस्पर विपरीत इन दो संस्कृतियों के बीच आज मनुष्य जिस मानसिक वेदना का अनुभव कर रहा था उसका यथार्थ चित्रण नाटककार ने अपने इस नाटक में एक विघटित

---

१. विनोद रस्तोगी, 'नये हाथ', पृष्ठ १०६

२. ,, ,, , 'नये हाथ', पृष्ठ ११२

सामन्तीय परिवार के माध्यम से किया है । युग जीवन की इसी वेदना को स्वर देते हुए नाटक का केन्द्रीय चरित्र महेन जो आज सामन्तीय संस्कृति का भग्नावशेष मात्र है पूँजीवादी संस्कृति के एक मात्र आधार रुपये पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहता है --`इसकी सुगन्ध विश्वजयी, कालजयी होती है श्रीमती मुखर्जी -- इसी ने ( पापा की छवि की ओर देखकर ) -- सुरेन बाबू को पराजित किया और इसी ने -- (चारों ओर देखकर) - हम सबको खण्डित कर दिया ।`[१]

वस्तुत: आज समाज में जो विषमता है उसका मूल कारण धन ही है । प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन स्तर बढ़ाने की चिन्ता में एक दूसरे का विरोधी होता जा रहा है । महेन तथा बीना का दाम्पत्य-जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । बीना के रूप में नाटककार ने समाज की उस पूँजीवादी सभ्यता पर व्यंग्य किया है जहाँ नैतिकता, मान मर्यादा कुछ नहीं पैसा ही सब कुछ है । महेन की अपार सम्पत्ति के लालच में वह उससे विवाह तो करती है किन्तु जब देखती है कि उसकी आर्थिक परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं तो वह उसे छोड़कर दूसरे को अपने प्रणय जाल में फंसाती है ।

पूँजीवादी संस्कृति की अमानवीयताओं का चित्रण करते हुए नाटककार ने युग जीवन के इस सत्य को भी सामने रखा है कि यद्यपि आज सामन्तीय संस्कृति के समाप्त होने से अ हमारे प्राचीन जीवन मूल्य समाप्त हो चुके हैं किन्तु विडम्बना यह है कि इनके स्थान पर अभी कोई नये मूल्य स्थिर नहीं हो पाये हैं । अत: आज की अधिकांश युवा पीढ़ी निश्चित मूल्यों के अभाव में संक्रान्ति की इसी अनिश्चितता में भटक रही है । उनके समक्ष एक ओर यदि नवयुग का क्रान्तिकारी आह्वान है तो दूसरी ओर प्राचीन संस्कार उनकी चेतना में कुण्डली मारे बैठे हैं । प्रस्तुत नाटक के केन्द्रीय चरित्र जमींदार सुरेन, महेन तथा नन्दिता युग के इन्हीं मिटते मूल्यों के शिकार हैं जिन्होंने नये के अस्वीकार में अपने जीवन की यात्रा ही खण्डित कर दी है । ऐशोआराम की दुनिया में रहने वाले, कर्ज की चिन्ता से बेखबर जमींदार सुरेन, जो आज तक किसी के सामने पराजित नहीं हुए, अपने जीवन के एक मात्र स्वत्व कोठी की चिन्ता में मृत्यु के सम्मुख घुटने ही टेक देते हैं । किन्तु जहाँ तक नन्दिता और महेन

---

१. नरेश मेहता - `खण्डित यात्राएँ`, पृष्ठ १०६-१०७

का प्रश्न है नवयुग के प्रति उनकी आस्था है, वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'जब हम घटनाओं के सामने पड़ जाते हैं तो फिर उसे स्वीकारने में ही गति है, मुक्ति है।'[1] यद्यपि अपने इन्हीं विचारों के कारण वह पिता की इच्छा के विरुद्ध नवयुग के साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयत्न करते हैं किन्तु अपने इन उदार विचारों के बावजूद वह प्राचीन सामन्तीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाते। अपने जीवन की इसी विवशता, तथा अन्तर्तम में व्याप्त घुटन को व्यक्त करते हुए नन्दिता एक स्थान पर कहती है '- - - - - हम कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि हम पिछले युग के मूल्यों, संस्कारों से बंधे हैं, केवल अपने को टूटने दे सकते हैं।'[2] और अपने इन्हीं संस्कारों के कारण वह अन्तत: टूटकर अपने आप में ही सिमट कर रह जाती है अत: कहती है --'मैं स्वयं अपने में से विगत को काटकर फेंकना चाहती हूँ, लेकिन क्या किया जा सकता है शशांक ?[3] उस पर ही विश्वास था - भविष्य पर आस्था नहीं।'

नन्दिता की ही भाँति महेन भी अपने सामन्तीय संस्कारों के कारण नई संस्कृति के रंग ढंग में रंगी पत्नी बीना से सम्बन्ध विच्छेद कर स्पष्ट शब्दों में कह देता है '- - - - - मैं, या पापा, या दीदी सब उस मरी संस्कृति के भग्नावशेष है तुम यहाँ से मुक्त हो जाओ।- - - -'[4] किन्तु। महेन को यहाँ नाटककार ने मूल्यों के विरोधाभास के रूप में चित्रित किया है। मूलत: वह नवीन और प्राचीन दोनों का विरोधी है और यही कारण है कि एक ओर यदि वह प्राचीन बुर्जुआ संस्कृति के विपरीत सम्पादकी जैसी छोटी नौकरी करता है तथा पिता की इच्छा के विरुद्ध पैसों की भाषा में जीवन को पढ़ने वाली प्रेयसी बीना वर्मा से विवाह कर अपने जीवन का मार्ग स्वयं निर्धारित करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने सामन्तीय संस्कारों के कारण वह पूँजीवादी संस्कृति में पली बढ़ी बीना के सामने झुकना भी नहीं जानता। इसी प्रकार पत्नी के अमर्यादित आचरण के कारण यद्यपि उसके हृदय को ठेस लगती है और वह मन ही मन अनुभव करता है कि 'मैंने जो स्वीकारा वह मेरा नहीं था किसी अन्य का था।' किन्तु उसका सामन्तीय संस्कार यह मानने को भी तैयार नहीं कि वह अपने जीवन में

---

१. नरेश मेहता - 'खण्डित यात्राएँ', पृष्ठ ६८
२. ,, - ,, ,, , पृष्ठ २७
३. ,, - ,, ,, , पृष्ठ ६३
४. ,, - ,, ,, , पृष्ठ १००
५. ,, - ,, ,, , पृष्ठ ५५

परणित हुआ है। अत: दर्प के साथ कहता है `इसी ने (रुपये ने) - - - -हम सबको खण्डित कर दिया ! (वह एकदम तन जाता है ।) लेकिन मुझे नहीं ।।[1]

नवयुग के प्रति अपने इन्हीं परस्पर विरोधी विचारों के कारण वह आधुनिकता के मेरुदण्ड मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्त पर व्यंग्य करने से भी नहीं चूकता । वस्तुत: वह समाजवाद की न्यूनताओं से भी परिचित था । वह जानता था कि आज समाजवाद ने सामन्तवाद को समाप्त कर जिस व्यवसायी वर्ग को खड़ा किया है वह अपने आप में कितना सीमित एवं स्वार्थी है । अत: शशांक द्वारा नवयुग की दुहाई देने पर वह कहता है `आप मार्क्स से सहमत हैं मैं नहीं !! क्योंकि वह एक स्वयं सिद्ध समाज मानकर चलता है । - - - - किन्तु क्या समाज विजयी बना ? नहीं !! नहीं !! समाज विचार नहीं करता, कर ही नहीं सकता शशांक बाबू ! इसलिए विचार करने वाला एक नया वर्ग विजयी हुआ है -- बैंक, जिसका राजचिन्ह -- और बेचारे मार्क्स का समाज -- (बालकनी के बाहर दूर का संकेत करते हुए) वो नाच रहा है,गा रहा है,भूखों मर रहा है, आफिसों में जा रहा है और - सन्तति ।[2]

वस्तुत: यह सत्य है कि आज राजनीतिक नेताओं द्वारा समाजवाद की दुहाई तो अवश्य दी जा रही है किन्तु समाज में महत्व उसी का है जिसके पास धन है । समाजवाद का नारा तो महज जनता को धोखे में रखने का एक बहाना है । सच पूछा जाय तो आज समाज की महत्ता ही समाप्त होती जा रही है जो समाज कभी परिवार को बड़ी संज्ञा में सोचा जाता था आज पति पत्नी की इकाई रूप में समझा जाने लगा है और वह भी अपना जीवन स्तर बढ़ाने के लिये आज एक दूसरे के विरोधी हो गये हैं ।

इस प्रकार नरेश मेहता का यह नाटक मिटते सामन्तीय परिवार का यथार्थ चित्रण होने के साथ ही आज की सभ्यता पर करारा व्यंग्य भी है ।

राष्ट्रीय एकता एवं नव निर्माण -

किसी भी राष्ट्र की सुदृढ़ एवं चिरस्थायी स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है

---

१. नरेश मेहता - `खण्डित यात्राएँ`, पृष्ठ १०७
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ ८५

कि वहाँ के समस्त निवासी पारस्परिक वैमनस्य को भूलकर, एक जुट हो देश के नव-निर्माण में सक्रिय सहयोग प्रदान करे । अत: भारत में भी राष्ट्र के चतुर्दिक विकास को ध्यान में रखते हुए देशवासियों के समक्ष राष्ट्रीय एकता एवं नव-निर्माण का आदर्श प्रस्तुत किया गया । क्रियात्मक रूप में तो नव-निर्माण का यह प्रयत्न राष्ट्र निर्माताओं द्वारा सर्वत्र क्रियाशील था ही, साहित्यकारों ने भी अपनी लेखनी के माध्यम से देश के इस महत्वपूर्ण कार्य को आगे बढ़ाने में अपेक्षित सहयोग दिया । राष्ट्रीय एकता एवं नव-निर्माण को प्रतिपाद्य बनाकर लिखे गये नाटकों में ज्ञानदेव अग्निहोत्री कृत `माटी जागी रे` विमला रैना कृत `तीन युग` कृष्ण किशोर श्रीवास्तव कृत `नींव की दरारें` तथा पृथ्वी रंगमंच पर अभिनीत लाल चन्द बिस्मिल कृत पठान तथा शीला कृत `किसान` उल्लेखनीय है । किन्तु `किसान` तथा `माटी जागी रे` में जहाँ नाटककार ने महाजन तथा किसान के संघर्ष में किसानों की विजय दिखाकर गाँवों में होने वाले नव-निर्माण को स्वर दिया है वहीं `तीन युग` में देश की अव्यवस्था को देखकर देश के नव-निर्माण के लिये आदर्शवादी अधिकारियों की आवश्यकता पर बल दिया है । किन्तु `पठान` तथा `नींव की दरारें` में नाटककार का मुख्य उद्देश्य देश की विश्रृंखल भारतीय जनता में परस्पर प्रेम एवं त्याग की भावना उत्पन्न कर राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार करना था और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति में उन्होंने `पठान` में सीमान्त प्रदेश में रहने वाले एक मुस्लिम खान और उनके हिन्दू दीवान के जीवन की त्यागपूर्ण झाँकी प्रस्तुत कर देश की विश्रृंखल भारतीय जनता के समक्ष हिन्दू मुस्लिम एकता का आदर्श प्रस्तुत किया है तथा `नींव की दरारें` में भाषायी तथा क्षेत्रीय आधार पर देश में बढ़ती हुई अनेकता को संयुक्त परिवार के विघटन के प्रतीक रूप में प्रस्तुत कर राष्ट्रीय एकता के विकास पर जोर दिया है ।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से `किसान` तथा `माटी जागी रे` में काफी कुछ समानता है । दोनों में ही नाटककार ने स्वतन्त्रता के पश्चात् गाँवों में होने वाले नवजागरण को अपनी लेखनी का प्रतिपाद्य बनाया है । वस्तुत: स्वातन्त्र्योत्तर भारत में ग्राम विकास योजनाओं द्वारा गाँवों के विकास के लिए जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा की जा रही थी उनको ही नाटककार ने अपने इन नाटकों में मूर्त किया है अत: दोनों में ही सहकारी खेती की आवश्यकता, ट्रैक्टरों की उपयोगिता, बाँध द्वारा नदियों की बाढ़ रोकना, साक्षरता, पारस्परिक मेल-जोल तथा परिश्रम की

महत्ता को दर्शाया गया है । किन्तु दोनों में जो अन्तर है वह यह है कि `किसान` में जहाँ नाटककार ने युगजीवन को उसके यथार्थ रूप में चित्रित किया है वहीं `माटी जागी रे` में युग के बदलते मूल्यों को महाजन के खण्डहर तथा किसान की झोपड़ी के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है । नाटक का केन्द्रीय चरित्र शहरी युवक प्रकाश है जो गाँव में आकर ग्रामवासियों के बीच नव-निर्माण की भावना का प्रसार करता है तथा उनमें मेहनत एवं पारस्परिक मेल-जोल की भावना जाग्रत कर गाँवों की बंजर और परती भूमि को भी उपजाऊ बना देता है ।

किन्तु विमला रैना कृत `तीन युग` भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण कालावधि सन् १६२० से १६५० तक की सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों का यथार्थ चित्र है । इसमें नाटककार ने एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों, जो वास्तव में तीन युगों का प्रतिनिधित्व करती है, के माध्यम से युगीन पीढ़ी भेद एवं बदलते जीवन मूल्यों को स्पष्टकर भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय हमारे समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है

पहली पीढ़ी के प्रतीक हैं जमींदार शंकरलाल, जो सामन्ती संस्कृति में पोषित, अवसरवादी, अनुभवशील, उदार विचार वाले एवं समयानुकूल यथार्थ के पक्षपाती है । अंग्रेज सरकार के स्वामिभक्त सेवक होने के कारण वह कांग्रेस तथा उसकी स्वातन्त्र्य नीतियों का विरोध करते हैं । किन्तु उनके इस विरोध के मूल में उनकी स्वार्थ नीति ही प्रमुख थी । जिसको स्वीकारते हुए वह स्वयं एक स्थान पर कहते हैं कि, `मैं भी ब्रिटिश सरकार का दुश्मन ही हूँ - - - उनका दोस्त नहीं ---- पर ये तुम्हारे नान-वायलेन्ट असहयोगी, मेरे दुश्मन है - - - - यह मुझको खा जायेंगे । तो अपने बचाव के लिये मुझे ब्रिटिश सरकार का साथ देना है । सरकार के लिये नहीं अपने लिये, अपनी जमीन के लिये, अपनी इज्जत अपनी शान के लिये, अपनी जिन्दगी के लिये ।[१] जो केवल जमींदार शंकरलाल की ही विशेषता न थी, वरन् सम्पूर्ण जमींदार वर्ग अपने पतन को निश्चित समझ भारतीय स्वतन्त्रता का विरोधी तथा अंग्रेज सरकार का समर्थक बना हुआ था । किन्तु जब वह देखते हैं कि अंग्रेज सरकार उनकी स्वामिभक्ति के बदले उनकी उपेक्षा ही कर रही है तो उनका मोह भंग होता है और वह मन ही मन कांग्रेसियों का समर्थन करने लगते हैं । यद्यपि ऊपर से वह अंग्रेजों के स्वामिभक्त सेवक ही रहे ।

इन्हीं सामन्ती परिवारों में जो एक दूसरी पीढ़ी जन्म ले रही थी, वह प्रारम्भ से ही अंग्रेजों के अमानुषिक कृत्यों से परिचित थी अत: खुलकर उनका विरोध करती है । नाटक के कैलाश, राजीव, चन्दु, प्रेमा एवं चांद भारत की इसी देशभक्त

---

१. विमला रैना - `तीन युग`, पृष्ठ ८

पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं । यद्यपि सिद्धान्तों की भिन्नता के कारण इनके दो रूप दिखायी देते हैं । प्रथम अहिंसा में विश्वास रखने वाले गाँधीवादी तथा दूसरे हिंसात्मक नीतियों में विश्वास करने वाले क्रान्तिकारी । किन्तु दोनों ने ही अपने अथक प्रयत्नों से देश में एक नवीन जोश, आशा एवं उत्साह का संचार किया । भारत को स्वतन्त्रता दिलाने का वास्तविक श्रेय देश की इस युवा पीढ़ी को ही है किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही इन्होंने अपने कर्तव्यों की इति समझ ली और देश उचित नेतृत्व के अभाव में बिना नाविक की नौका के समान इधर-उधर भटकने लगा ।

किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारत में देश की जिस नवीन पीढ़ी ने जन्म लिया, स्वतन्त्र भारत की प्रथम सन्तान होने के कारण उसमें नव-निर्माण का असीम जोश था, कुछ कर दिखाने का उत्साह था, वह देश की सर्वतोन्मुखी उन्नति चाहता था । किन्तु अपने चारों ओर व्याप्त अव्यवस्था को देखकर उसका उत्साही मन विचलित हो उठा । उसने देखा कि जो देशवासी अभी तक स्वतन्त्रता प्राप्त कर अपने कर्तव्यों के लिये चिल्ला रहे थे वही आज स्वतन्त्रता प्राप्त कर अपने कर्तव्यों से बेखबर निश्चिन्त बैठे हैं । मुन्ना के रूप में लेखिका ने स्वतन्त्र भारत की इस नवीन पीढ़ी के भावों विचारों को स्वर देकर वर्तमान भारत की अव्यवस्था तथा देश सेवी जनता की अकर्मण्यता पर ही व्यंग्य प्रहार किया है । वह अपने पिता से कहता है -- 'पापा कहाँ गई तुम्हारी वह हिम्मत, वह जोश, वह बेचैनी वह आग ? क्या स्वतन्त्रता की एक घूँट पीकर ही सब शान्त हो गया ? क्या स्वतन्त्रता मिल जाने से देश का कल्याण हो गया ? क्या हम देश के सुख की मंजिल पर पहुँच चुके हैं ? क्या अब आगे नहीं बढ़ना है ।'[1]

मुन्ना के इन शब्दों में नवजीवन की पुकार है उज्ज्वल भविष्य की कामना है है एवं जीवन के उद्‌बोधन का सन्देश है । वह देश का भावी कर्णधार था । किन्तु उचित निर्देशन के अभाव में उसका यह उत्साही मन विकृतियों की ओर बढ़ रहा था जिसका बहुत कुछ दायित्व देश की पुरानी पीढ़ी पर ही था अतः उन्हें उनके कर्तव्यों के प्रति सचेत करते हुए देश का भावी कर्णधार मुन्ना स्वयं अपने पिता से कहता है -- 'योजनाएँ बनाना सरल है - - - - - - --- - मगर आदमी में इन्सानियत की बुनियाद डालना खेल नहीं, तमाशा नहीं । उसके लिए त्याग चाहिये । मैं हूँ और मेरे जैसे हजारों हैं लाखों हैं जो कुछ करना चाहते हैं । हमे नेता चाहिये । अगर तुम

पे १. विमला रैना, 'तीन युग', पृष्ठ ११४

मेरे नेता बनो पापा तो मैं क्यों भटकता फिरूँ ------`[1]।

वस्तुत: देश की इन अव्यवस्थित परिस्थितियों में लेखिका को नवयुवक वर्ग के क्रान्तिकारी होने का भय ही विशेष था अत: नाटक में एक ओर जहाँ उसने देश की अवस्था पर दु:ख प्रकट किया है वहीं दूसरी ओर देश की युवा पीढ़ी के स्वप्नों को साकार करने के लिये उनके समक्ष अपने कर्तव्यों पर डटे रहने का आदर्श भी प्रस्तुत किया है । जिसका उद्घाटन करते हुए नाटक का एक अनुभवी चरित्र शंकरलाल कहता है --`अपने मन के आदर्शों को तुम एक अफसर बनकर ज्यादा पूरा कर सकोगे --- बजाय एक बागी के । स्वतन्त्र भारत को तुम्हारे जैसे आदर्शवादी जिलाधीशों की जरूरत है । कप्तान पुलिस की जरूरत है । तुम्हारे जैसे इंजीनियर व सेनापति की जरूरत है । ह- ह - ह ------ बशर्ते कि तुम आदर्शवादी रह पाओ ---- अपने पिता का आशीर्वाद लो कि तुम सशक्त होने पर भी आदर्शवादी रह सको, न जाने क्यों अधिकार का आदर्शों से सदा बैर रहा है ।[2]

जो वास्तव में युग का एक जीवित यथार्थ है क्योंकि कोई भी देश तभी उन्नति कर सकता है जब वहाँ के अधिकारी गण उच्चादर्शों से प्रेरित हो । किन्तु आज भारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यहाँ ऐसे आदर्शवादी अधिकारियों का दिन प्रतिदिन अभाव होता जा रहा है और जो है वह भी अधिकारों की सुखद छाया पाकर अपने स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न है । अत: तत्कालीन परिस्थितियों में देश की उन्नति के लिये जो पहला कदम था वह यह कि हम उच्च पदों पर आसीन होकर भी अपने आदर्शों पर डटे रहें तथा अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहे । देश की इसी युगीन आवश्यकता को नाटककार ने अपनी लेखनी का आधार बनाया है किन्तु एक विशेष उद्देश्य को लेकर चलने के कारण इसमें प्रचारात्मकता का भाव अधिक आ गया है ।

राष्ट्रीय एकता विषय पर आधारित कृष्ण किशोर श्रीवास्तव कृत `नींव की दरारें` भारत सरकार द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत एक उल्लेखनीय नाटक

---

१. विमला रैना, `तीन युग`, पृष्ठ ११५

२. विमला रैना, `तीन युग`, पृष्ठ ११७

है । इसमें नाटककार ने एक मध्यवर्गीय परिवार के बंटवारे की समस्या के आधार पर सम्पूर्ण राष्ट्र की समस्या को चित्रित किया है । उनका विश्वास था कि जिस प्रकार परिवार की उन्नति सबके साथ मिलकर रहने में है उसी प्रकार देश की उन्नति भी सबके एक साथ मिलकर रहने में ही है । इस प्रकार परिवार को उन्होंने देश के प्रतीक रूप में माना है । नाटक की भूमिका में नाटककार ने स्वयं लिखा है कि 'इस नाटक का आधार एक प्रतीक है । मैंने मध्यवर्ग और उसकी समस्याओं में राष्ट्र की समस्याओं के दर्शन किए हैं । यही दर्शन इस नाटक के प्रतीक का प्राण है ।'[1] नाटक की इस मूल भावना के साथ ही उसका प्रत्येक पात्र अपने आप में एक प्रतीक है । माँ देश की आत्मा का प्रतीक है । दिवंगत पिता राष्ट्रपिता के प्रतीक हैं, तीनों भाई हेमन्त वसन्त तथा शरद विवाद ग्रस्त प्रान्तों के प्रतीक हैं । तीनों भाइयों के मकान का बंटवारा देश के बटवारे का प्रतीक है, इनके अलग हो जाने पर विलास और गोपालन का मकान के हिस्से पर दाँत लगाना चीन की भारत के प्रति कुदृष्टि का प्रतीक है । काशी चाचा नेताओं की स्वार्थपरता से संत्रस्त एक निर्भीक नागरिक के प्रतीक हैं । शरद की प्रेमिका परिधि को नाटककार ने निश्छल प्रेम एवं सहृदयता का प्रतीक माना है जो अपने सद्व्यवहार से लोगों के हृदय में व्याप्त मनोमालिन्य को दूर कर एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न करती है ।

युगीन सन्दर्भों की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने देश की उस समय सीमा का स्पर्श किया है जब देश में भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हो रहा था तथा देश की आन्तरिक कलह का फायदा उठाकर चीन सदृश बाहरी देश भारत पर आक्रमण करने के लिये तत्पर थे । देश की इस संकटाकुल स्थिति से भयभीत होकर ही नाटककार ने अपने इस नाटक में राष्ट्रीय एकता की पुकार लगाई है । जिसे स्वर देते हुए काशी चाचा कहते हैं --'लद्दाख और नेफा के कुछ भागों पर चीनियों का कब्ज़ा - - - - - कुछ भारतीयों द्वारा चीन के पक्ष का समर्थन - - -। विदेश की नीचता में देशी का प्रोत्साहन । शरद तुम्हारी माँ अपने घर को देश समझती है । पर तुम चाचा की बात -- तब समझोगे जब तुम्हारा लद्दाख हाथ से जाएगा या तुम्हारे नेफा पर कोई चढ़ बैठेगा ।'[2]

---

१. कृष्ण किशोर श्रीवास्तव -- 'नींव की दरारें', भूमिका

२. कृष्ण किशोर श्रीवास्तव -- 'नींव की दरारें', पृष्ठ ६६

नाटक की मूल कथा इस प्रकार है। पिता की मृत्यु के बाद पुत्रों में अधिकार लिप्सा तथा व्यक्तित्व स्वाधीनता के लिए घर के बंटवारे को लेकर कलह प्रारम्भ होता है और यह सोचकर कि बंटवारे के बाद घर में शान्ति रहेगी, रोज-रोज के झगड़े समाप्त हो जायेंगे घर का बंटवारा हो जाता है। किन्तु बंटवारे के बाद घर की स्थिति का सुधरना तो दूर रहा धीरे-धीरे उनके मन भी बटने लगे। और अपने स्वार्थों की चिन्ता में वह यह भी भूलने लगे कि अलग होकर भी आखिर हम एक हैं, दूसरे की विपत्ति से अपना भी कुछ नुकसान हो सकता है। जिसका परिणाम हुआ घर का ढह जाना तथा माँ की मृत्यु। इस प्रकार यहाँ घर की समस्याओं के साथ नाटककार ने देश की समस्याओं का तादात्म्य जोड़ा है। अतः बंटवारे के पश्चात् घर पर आने वाली विपत्तियों से बेखबर शरद को विपत्ति का अहसास दिलाते हुए परिधि कहती है -- 'शरद, इन्जीनियर होकर भी भूल रहे हो। उत्तर प्रदेश में बाढ़ आयी थी तो बिहार तक रोया था। इधर पूना की बाढ़ से मैसूर तक की आत्मा काँप गयी थी। जरा से घर को लेकर तुम सोचते हो कि जब पानी भैया के हिस्से को नुकसान पहुँचाएगा तब तुम्हारा हिस्सा बचा रहेगा।'[1] प्रेम एवं सौहार्द्र की प्रतीक परिधि के इन शब्दों में नाटककार ने इस बात पर जोर दिया है कि किसी की भी वास्तविक उन्नति अनेकता में नहीं, एकता में है। और देश में फैले हुए यह समस्त विवाद महज नेताओं की चालें हैं, जिनकी आड़ लेकर वह अपने स्वार्थों की सिद्धि करते हैं। अतः यदि देश की रक्षा करनी है देश को दूसरों के हाथों में जाने से रोकना है तो पहले हमें मिलकर एक होना होगा। जीवन के इस सत्य को देखते हुए अनुभवी काशी चाचा का कथन भी सराहनीय है --'टुकड़ों को बहने से रोकना कठिन है। अगर चीज का मोह है तो इन टुकड़ों को जोड़ लो - जुड़कर वे रोकने योग्य हो जाएंगे। इन्हें जोड़ो - मन से जोड़ो, मन भर जोड़ो। ऊपर की रेखा मिटाकर भीतर ही भीतर जोड़ने वाली रेखा खींचो तब कुछ हो पाएगा -- नहीं तो टुकड़ों के साथ तुम भी बह जाओगे। तुम्हारे ये डगमगाते पैर तुम्हे न खड़े होने देंगे, न बढ़ने देंगे।'[2]

---

१. कृष्ण किशोर श्रीवास्तव - 'नींव की दरारें', पृष्ठ १०८

२. ,, ,, - ,, , पृष्ठ ११३

इस प्रकार हम देखते हैं कि `नींव की दरारों` से यहाँ नाटककार का तात्पर्य वस्तुत: मन की दरारों से ही है । जिस प्रकार मकान की नींव में दरार पड़ जाने से वह अतिशीघ्र ढ़ह जाता है उसी प्रकार मनुष्यों के मन में दरार पड़ने से हमारे घर, समाज तथा देश का पतन भी शीघ्र निश्चित है । अत: नाटककार ने अपने इस नाटक में अप्रत्यक्ष रूप से देशवासियों को अपनी सीमा रेखा को भूलकर आन्तरिक प्रेम एवं सौहार्द्र की भावना को बलवती बनाने पर ही जोर दिया है । किन्तु यहाँ नाटककार ने बाह्य विभाजन को उतना हानिकारक नहीं माना है जितना आन्तरिक विभाजन को अत: माँ के शब्दों में कहा भी है --`घर के साथ तुम लोगों का मन भी तो बँट गया है बेटा ! मन न बँटे तो शान्ति रहती है । कहीं रहो - कुछ भी खाओ पीओ - किसी भी भाषा में बोलो लड़ो, पर मन न बँटने दो बस, यही मैं चाहती हूँ ।`[१] जो देश में हो रहे राज्यों के पुनर्गठन के बावजूद राष्ट्र के एकीकरण की भावना पर ही जोर देता है ।

राष्ट्रीय एकता एवं देश की अखण्डता पर बल देने के साथ ही नाटककार ने हेमन्त के माध्यम से देश के उन धूर्त एवं स्वार्थी नेताओं पर भी व्यंग्य किया है जो शासनाधिकारी बनने के बाद स्वयं उन नीतियों का उपयोग करते हैं जिनका कभी उन्होंने स्वयं विरोध किया था । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह नाटककार का एक स्तुत्य प्रयास है जिसमें उसने युग की एक यथार्थ समस्या का बड़े ही प्रभावशाली ढंग से स्पर्श कराया है ।

देश में व्याप्त अनेकता एवं अव्यवस्था की इसी यथार्थ अनुभूति को डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने `रक्त कमल` नाटक में, नाटक के भीतर एक उदात्त नाटक की सृष्टि कर प्रतीकात्मक एवं अयथार्थ रंगशैली में अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

नाटक के भीतर होने वाले नाटक में देवता को देश के प्रतीक रूप में दिखाकर नाटककार ने युग के इस सत्य को उद्घाटित किया है कि देश की स्वतन्त्रता अनेकता में नहीं वरन् एकता में है इसी को लक्ष्य कर नाटककार एक स्थान पर कहता है

---

१. कृष्ण किशोर श्रीवास्तव -- `नींव की दरारें`, पृष्ठ १०९

कि - 'एक हजार वर्ष की हमारी इतनी लम्बी गुलामी, इतनी लूट खसोट, इतने शोषण के बाद जिस शक्ति से हमारा राष्ट्र देवता मुक्त हुआ, वह किसी एक जाति, एक धर्म, एक प्रान्त की शक्ति नहीं थी वरन् एक राष्ट्र की शक्ति थी जिसके प्रतीक थे वह - - - - - - ।'[1]

किन्तु राष्ट्रीय एकता एवं नवनिर्माण के क्रम में नाटककार का सर्वाधिक आक्रोश यहाँ देश के उन पूँजीपतियों तथा नेताओं पर ही था जो परहित की ओट में अपने स्वार्थों की सिद्धि कर रहे थे। युग के इस कुरुप सत्य के उद्घाटन के लिए ही नाटककार ने अपने इस नाटक में कमल नामक एक आदर्श एवं देश सेवी चरित्र का निर्माण किया है। देश के धूर्त नेताओं एवं पूँजीपतियों के मिथ्या आचरण को लक्ष्य कर वह एक स्थान पर कहता है - 'लीडर देश की जनता को मूर्ख बनाकर हमारा नेता बनता है। उद्योगपति समाज का शोषण कर राष्ट्र-सेवी-धर्म सेवी का सेहरा बाँधता है।'[2] वह उनकी इन समाजविरोधी नीतियों के प्रति सजग था अत: सर्वत्र ही उनके अन्यायपूर्ण कृत्यों की कटु आलोचना कर उनके प्रति अपना विद्रोह भाव प्रकट किया है। नाटक के अन्त में अपने इन्हीं हृदगत विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए वह कहता है - 'हाँ मैं यही चाहता हूँ कि आग लग जाए, जिसकी भयंकर लपट में इस देश के अन्तस् में बैठे हुए सारे भूत प्रेत और शैतान जलकर खाक हो जाएँ। इसकी देह में युगों से लगे हुए मकड़ी के जाले, दीमक के ढूह भस्म हो जाएँ। समाज, धर्म और राजनीति के ये बिच्छू सर्प और अजगर जलकर राख हो जायें।'[3] और अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिये ही वह नयी पीढ़ी के प्रतीक अपने भतीजे को आस्त्य नाम से सुशोभित कर उसे उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत करते हुए कहता है --'तुम्हारा काम ? - - - - नहीं मालूम - - - - - सुनो - - - - मानवता का प्रकाश, उसकी समानता, एकता और मनुष्य का गौरव इतिहास के इस भयानक समुद्र ने अपने भीतर घूँट लिया है। इसके बाहर केवल स्वार्थ द्रोह, विश्वासघात, विघटन और मूल्यहीनता का क्षुब्ध हाहाकार सुनाई

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल 'रक्त कमल', पृष्ठ ७२

२. ,, ,, ,, , पृष्ठ ३६

३. ,, ,, ,, , पृष्ठ ६६

दे रहा है। मेरे नये अगस्त्य ! तुम्हें इस विषाक्त समुद्र को सोखना है ताकि हमें मनुष्य का वह विलुप्त प्रकाश, उसकी समानता एकता और उसका गौरव वापस मिल सके नहीं तो अलग-अलग यह गरीब बेचारा मनुष्य टिटिहरी की तरह इस विशेले समुद्र को कहाँ कैसे अपनी चोंच के सहारे सुखा पायेगा।[1]

उसके इन शब्दों में 'नव-निर्माण' की कामना है, एक ऐसे देश की कल्पना है, जहाँ किसी प्रकार का भेदभाव तथा स्वार्थ, द्रोह, विश्वासघात और विघटन जैसी कुप्रवृत्तियाँ न हों। जो स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रत्येक नवयुवक का स्वप्न था। अतः शैली की दृष्टि से अयथार्थ होने पर भी इसमें उनके युग का यथार्थ पूर्णतः प्रतिबिम्बित है।

सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार -

यों तो नव-निर्माण के क्रम में देश के समस्त प्रबुद्ध नाटककारों की दृष्टि तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में व्याप्त अव्यवस्था, शोषण, अन्याय एवं भ्रष्टाचार की ओर आकृष्ट हुई और उन्होंने यथावसर उसे अपने नाटकों में स्वर भी दिया है किन्तु फिर भी इसको मूलाधार बनाकर लिखे गये नाटकों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'न्याय की रात' देवती सरन शर्मा कृत 'चिराग की लौ' तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री कृत 'शुतुरमुर्ग' उल्लेखनीय हैं। किन्तु प्रथम दो में जहाँ नाटककार ने सीधे ढंग से यथार्थोद्घाटन की परम्परित नीति का अनुसरण कर सजीव, कुशल तथा किशोर जैसे कुछ सच्चरित्र कर्तव्यनिष्ठ एवं आदर्शवादी चरित्रों के माध्यम से हेमन्त जैसे समाज के धनी व्यवसायी, जो अपने स्वार्थ के वशीभूत हो धन के बल पर सरकारी अफसरों को अपनी मुट्ठी में बन्द कर कालाबाजारी तथा भ्रष्टाचार को प्रश्रय देता है, सदानन्द जैसे सरकारी अफसर, जो अपनी पक्षपातपूर्णनीति के कारण अकर्मण्यता को प्रश्रय देकर शासन व्यवस्था को निरन्तर कमजोर बना रहे थे, तथा गिरीश जैसे भ्रष्टाचारी, जो धन तथा प्रतिष्ठा की आड़ में देश में भ्रष्टाचार एवं कालाबाजारी

---

१. डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल -- 'रक्त कमल', पृष्ठ १०७

को प्रश्रय देता है सदृश समाज के कुछ सफेद पोश, सम्मानित एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों की स्वार्थपरता, धनलोलुप्ता अकर्मण्यता एवं पक्षपातपूर्ण नीति का उद्घाटन कर देश में व्याप्त अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार की एक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । 'चिराग की लौ' में समाज के इन नकाबपोश भ्रष्टाचारियों के रहस्योद्घाटन के क्रम में नायक किशोर का यह कथन '- - - - चोर लुटेरे और खूनी हैं क्योंकि आजकल इसके लिए नकाब चढ़ाकर पिस्तौल चलाने और छुरा घोंपने की जरूरत नहीं एक जरा भाव बढ़ाने से लोगों के लाखों सिक्के इनकी तिजोरियों में सिमटे चले आते हैं । एक जरा नोक के दाँत गहरे गड़ा देते से लोगों की रगों का सारा खून उनके चेहरे में उमंगों और ऐयाशियों की सुर्खी भरने लगता है ।'[1] वस्तुत: आज की छल छद्म एवं भ्रष्टाचार पूर्ण सामाजिकता को ही उजागर करता है । इसी प्रकार समाज में व्याप्त अव्यवस्था पर दु:ख व्यक्त करते हुए न्याय की रात में नाटककार ने राजीव के इन शब्दों में -- 'हमारा यह विशाल देश एक बहुत बड़ी मानसिक बीमारी का शिकार है । यह अत्यन्त घातक बीमारी है हमारे देश में गहरी भेदभाव की विद्यमानता । कभी प्रान्त के नाम पर कभी धर्म के नाम पर, कभी भाषा के नाम पर और कभी जात-पाँत के नाम पर हमारे देश के करोड़ों निवासी आसानी से बहका लिये जाते हैं और तब से आपस में लड़ने झगड़ने लगते हैं । इन बातों में उलझकर देश की चिन्ता किसी को नहीं रहती । यहाँ तक कि बहुत से सरकारी अफसर भी इन्हीं कमजोरियों के शिकार हैं ।'[2] देश की एक युग-व्यापी समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराया है ।

वहीं 'शुतुरमुर्ग' में प्रतीकात्मकता और व्यंग्य का सहारा लेकर स्वातन्त्र्योत्तर भारत की वर्तमान राजनैतिक गतिविधियों तथा उनके शोषण चक्र में पिसते जन-सामान्य की स्थिति को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है । जीवन सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से नाटक का मूल कथानक सामयिक राजनीति के उस भ्रष्ट व क्रूररूप का व्यंग्यात्मक उद्घाटन है जहाँ सत्ताधारी राजनीतिज्ञों द्वारा अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिये देश की सम्पत्ति का दुरूपयोग कर व्यापक पैमाने पर शोषण का कार्य चालू है । जिसके लिए नाटककार ने शुतुरमुर्ग प्रतीक का

---

१. रेवती सरन शर्मा - 'चिराग की लौ', पृष्ठ ३०
२. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार - 'न्याय की रात', पृष्ठ ११६

बड़ा ही सार्थक एवं व्यंग्यात्मक प्रयोग किया है। वस्तुत: शुतुरमुर्ग यहाँ मनुष्य की उस प्रवृत्ति का प्रतीक है जिसके कारण मनुष्य सदैव कटु सत्य और यथार्थ का सामना करने की अपेक्षा पलायन की वृत्ति को अपनाता है और इसकी परिणति आत्म विनाश में होती है।[1] जिसे नाटककार ने राजा रानी मन्त्री आदि राजनीति के प्रत्येक महानायक पर सहजता एवं सूझबूझ से आरोपित कर देश की पलायनवादी मानसिकता का प्रतिनिधित्व किया है। इसका उद्घाटन करते हुए नाटक का मुख्य पात्र राजा जो मानव स्वभाव में पैठी इस शुतुरमुर्गी नीति से भली-भाँति परिचित है और अपने सिंहासन को सुरक्षित रखने के लिये शुतुरनीति अपना कर मन्त्रियों से लेकर जन-सामान्य तक को धन के ऐश्वर्य एवं अन्य प्रलोभनो के जाल में फंसाकर सत्य को नकारने को विवश कर देता है, स्वयं नाटक के अन्त में मन्त्रियों की छल छद्म नीति के कारण निर्वासित किये जाने पर सूत्रधार के रूप में दर्शकों से कहता है 'यह तो हमें सदैव मालूम रहा कि शुतुरमुर्ग कभी नहीं बना और कभी नहीं टूटा। सोने का शुतुरमुर्ग तो हम इसलिये बनवा रहे थे क्योंकि सचेतन शुतुरमुर्ग हम स्वयं थे। शुतुरमुर्ग की स्थापना न तो हमारा दर्शन था न स्वभाव और न धर्म। वह तो शक्ति और सत्ता सुरक्षित रखने की एक नीति थी। किसी न किसी बहाने हम उन्हें अधिक से अधिक स्वर्ण मुद्राओं का दान देते रहे ताकि हमारा सिंहासन सुरक्षित रहे ताकि वे अपने भोग विलास में अधिक से अधिक रहें और हमारा सिंहासन सुरक्षित रहे।'[2] जो आज के सत्ताधारी राजनीतिज्ञों की स्वार्थी प्रवृत्ति पर एक करारा व्यंग्य है।

प्रस्तुत नाटक में राजा, रानी, भाषण मंत्री, रक्षा मंत्री, महामंत्री, विरोधी लाल (सुबोधी लाल), मामूली ज्ञान, दासी तथा मरता हुआ आदमी ये नौ पात्र है। और प्रत्येक पात्र अपनी-अपनी भूमिका में जीवन की विशिष्ट विसंगति को इस सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है कि सम्पूर्ण नाटक स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन के दिवालियेपन की चिन्त्य स्थिति का व्यंग्य के समर्थ और तीक्ष्ण माध्यम से समग्रता के साथ प्रस्तुत कर देता है।[3] वस्तुत: यहाँ राजा द्वारा कल्पित

---

१. डॉ० रीता कुमार - 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में', पृष्ठ ५६।

२. डा० ज्ञानदेव अग्निहोत्री - 'शुतुरमुर्ग', पृष्ठ ७२-७३

३. जयदेव तनेजा - 'समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि' पृष्ठ १६६

शुतुरमुर्ग का निर्माण तथा उस पर स्वर्ण छत्र लगवाने का कार्य देश की उन बड़ी योजनाओं का ही प्रतीक है जो हर चुनाव के अवसर पर वर्तमान सरकार द्वारा जनता को दी जाती रही है और जिनका अस्तित्व केवल कागजी रूप में ही होता था। प्रत्यक्षत: वह न तो कभी पूर्ण होती थी और न ही उनके समक्ष देश की समस्याओं के निवारण का प्रयत्न होता था, जिसने देश को धन एवं प्रतिभा दोनो ही दृष्टियों से अत्यन्त खोखला कर दिया था। राजा की इस स्वार्थपूर्ण नीति के साथ ही नाटककार ने राजा की हाँ में हाँ मिलाने वाले रक्षामंत्री, भाषण मंत्री, तथा अपने सत्यभाषण द्वारा राजा को आतंकित करने वाले महामंत्री के रूप में आज के युग में मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली बने हुए राजाओं का भी सजीव चित्रण किया। इसके साथ ही आज के विसंगत राजनीतिक परिवेश में जहाँ 'भुखमरी बेतुकी बातें, आदर्शहीन आदर्श और तर्कहीन तर्क' ही राजनीति का मूल मन्त्र है, जहाँ राजा की नीति ही यह है कि उसकी कोई नीति नहीं है वहाँ महत्वपूर्ण पदों तक के लिये असम्बद्ध व्यक्तियों का चुनाव किस प्रकार हो रहा है रानी का कला मंत्री बनना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जो आज के राजनीतिक जीवन की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। इसके अतिरिक्त भुखमरी की जाँच समिति की अध्यक्षा के रूप में रानी द्वारा भूख से मरते हुए आदमी के कलात्मक विवरण एवं मरते हुए आदमी के सम्बन्ध में दासी से कहे गये उसके संवादों में समसामयिक समस्याओं के निवारणार्थ स्थापित समीक्षा समितियों के खोखलेपन को भी प्रदर्शित किया है।

सत्ताधारियों की इस स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति के खोखलेपन का चित्रण करते हुए ही नाटककार ने जन नेता विरोधी लाल के माध्यम से विरोधी पक्ष की उस स्वार्थपूर्ण नीति को भी अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है जहाँ विरोध उनका स्वभाव नहीं वरन् आवश्यकता है और यही कारण है कि वह सत्ताधारियों द्वारा अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति होते देख उनके हाथ बिक जाते हैं अर्थात् अपने विरोध भाव को छोड़कर स्वयं भी राजतन्त्र के एक पुर्जे के रूप में व्यवहार करने लगते हैं। मंत्री बनने के बाद विरोधी लाल द्वारा मामूली राम, जो जन सामान्य का प्रतिनिधि है, को झूठी उम्मीदें देकर वापस भेजना तथा मंत्री पद की शपथ ग्रहण के बाद, मामूलीराम से कही गयी उसकी बातों में -- (अचानक कराहते हुए) मामूलीराम मेरा जीवन तो काँटों की सेज है। तुम सब आराम से रह सको इसलिए मुझे कष्ट

पाना ही होगा ।[1] वस्तुत: आज के स्वार्थी एवं धूर्त नेताओं की छलछद्मपूर्ण नीति का ही यथार्थोद्घाटन किया गया है । इसी प्रकार मामूली राम द्वारा राजा के समक्ष शुतुरमुर्ग न बनने का सत्योद्घाटन करने पर उसे मन्त्रियों द्वारा नागपाश में बाँध देने के मूल में नाटककार का मूल उद्देश्य समसामयिक शुतुरव्यवस्था, जहाँ सभी अपने स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न है, में जागृत एवं संवेदनशील व्यक्तियों की परिणति को ही संकेतित किया है ।

इस प्रकार नाटक के यह समस्त चरित्र अपने नामानुकूल अपने-अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व कर वर्तमान अव्यवस्थित राजनीति के खोखलेपन को तो उद्घाटित करते ही हैं किन्तु यहाँ नाटककार की सम्पूर्ण व्यंग्यात्मकता एवं कुशलता इस बात में है कि उसने अपने पात्रों को वर्ग का एक प्रतिनिधि चरित्र बनाकर भी उनका प्रयोग एक मुखौटे के रूप में ही किया है जिसका उद्घाटन नाटक के अन्त में जाकर होता है जहाँ पात्र स्वयं यह स्वीकार करता है -`सत्य बोलना मेरे जीवन का धर्म नहीं- मेरी कूटनीति का अंग है`[2] अथवा `शुतुरमुर्ग की स्थापना न तो हमारा दर्शन था न स्वभाव और न धर्म । वह तो शक्ति और सत्ता सुरक्षित रखने की एक नीति थी ।`[3] जो अपने आप में रचनाकारका एक नवीनतम प्रयोग है । यद्यपि संवादों की विवरणात्मकता एवं सामयिकता के अतिशय प्रभाव के कारण अधिकांशत: व्यंग्य स्थूल ही है उसमें कहीं भी तीखापन नहीं आ पाया है फिर भी वर्तमान व्यवस्था की विसंगतियों पर प्रहार करने वाले व्यंग्यपरक प्रतीक नाटकों की दृष्टि से अग्निहोत्री का यह नाटक एक पथ-प्रदर्शक के रूप में स्थित है जिसके पश्चात् राजनीतिक समस्याओं पर अनेक प्रतीकात्मक नाटक लिखे गये ।

बेकारी अथवा बेरोजगारी

देश की विषम आर्थिक परिस्थितियों, सामाजिकों की अकर्मण्यता, राजनैतिक जीवन में व्याप्त अराजकता तथा सरकारी कर्मचारियों एवं नौकरशाही में

---

१. ज्ञानदेव अग्निहोत्री -- `शुतुरमुर्ग` पृष्ठ ३२
२. ,, ,, -- `शुतुरमुर्ग` पृष्ठ ७९
३. ,, ,, -- ,, पृष्ठ ७३

व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण बेरोजगारी आज युग की एक गम्भीर समस्या बनती जा रही है ।

देश में बढ़ती बेकारी की इसी भीषणता को लक्ष्य कर शील ने अपने नाटक `हवा का रुख` में बेरोजगारी जैसी नवागत समस्या को अपने नाटक का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया है जिसका उद्घाटन करते हुए नाटक का नायक अमोल, जो घर की आर्थिकपरिस्थितियों से संत्रस्त मध्यवर्गीय परिवार का एक शिक्षित किन्तु बेकार नवयुवक है, एक स्थान पर कहता है `दूकानदार के पास जाओ कोई जगह नहीं । कम्पनियों में भी विकेन्सी, और काम दिलाऊ दफ्तरों में सिफारिश, घूस, दरख्वास्तों के अम्बार, हजारों हाथों में डिग्रियों के उदास कागज, वन्दना मैं सोच नहीं पाता अपना और अपने देश का भविष्य ।`[1]

किन्तु अमोल के मित्र के जीवन की करुण कथा के माध्यम से नाटककार ने बेकारी के जिस चरम रूप का उद्घाटन किया है `वह मेरा दोस्त था, क्लास फेलो था । एम.एस० सी० में फर्स्ट क्लास फर्स्ट आया था जानती हो कमरे के बाहर किराये का नोटिस लगा था और अन्दर उसकी लाश ।`[2] यद्यपि प्रत्यक्षतः यह तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों में समस्या का नितान्त काल्पनिक रूप ही था किन्तु काल्पनिक होते हुए भी वह कल्पना की ऊँची उड़ानों तथा अयथार्थ की नींव पर नहीं खड़ा था वरन् सत्य तो यह है कि यहाँ नाटककार देश में बढ़ती बेकारी की समस्या को देखकर भविष्य के प्रति अत्यन्त शंकालु हो उठा था जिसका उद्घाटन करते हुए नाटककार ने स्वयं लिखा भी है - `मैंने ऐसे पात्रों और परिस्थितियों की कल्पना की है जो अभी समाज की चेतना में उजागर होकर सबकी अपनी नहीं बन पायी है । लेकिन मैं उन्हें आते देख रहा हूँ, इसलिये चेतना की निचली सतह में साँस लेते इन पात्रों को शरीर और परिस्थितियाँ देकर मैंने लोगों का ध्यान खींचना आवश्यक समझा है ।`[3] जो प्रत्यक्षतः नाटककार की सूक्ष्म यथार्थदृष्टि का ही परिचायक है ।

---

१. शील - `हवा का रुख`, पृष्ठ ३५

२. ,, ,, , पृष्ठ ३४

३. ,, ,, , पृष्ठ ६

यद्यपि आज बेकारी जैसी विकट समस्या को सुलझाने के लिये अनेकों प्रयास हो रहे हैं किन्तु फिर भी कोई ठोस कदम अभी तक सामने नहीं आ पा रहा है। इसके मूल कारणों का उद्घाटन करते हुए नाटककार ने देश के नेताओं, जो बेकारी दूर करने का झूठा वायदा करते हैं, की अकर्मण्यता पर जो व्यंग्य किया है 'ये नेता और पार्टियाँ अपनी-अपनी पहल के लिए बेकारी मिटाने का नारा लगाती है, बेकारी मिटाने के लिये झुकती नहीं।'[१] वह नाटककार का समकालीन यथार्थ ही है।

बेकारी की इसी समस्या को प्रतिपाद्य बनाकर लिये गये नाटकों में बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु' सही और युगीन दर्द की अभिव्यक्ति देने वाले पात्रों की तलाश का एक सुन्दर प्रयोग है किन्तु उपलब्ध न हो पाने के कारण इसका विवेचन प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत नहीं किया है।

श्रम और पूँजी का संघर्ष -

उत्पादन के क्षेत्र में औद्योगीकरण एक नवीन क्रान्ति है। यों तो इस क्रान्ति के शुभ चरण भारत में स्वतन्त्रता पूर्व ही दिखायी देने लगे थे किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारत में औद्योगीकरण के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई और देश की अधिकांश उपभोक्ता सामग्री, जो अभी तक विदेशों से मँगायी जाती थी, अपने ही देश में निर्मित की जाने लगी। किन्तु इससे एक ओर जहाँ देश का आर्थिक स्तर सुधरा वहीं पूँजीपतियों की स्वार्थ नीति तथा श्रमिकों की जागरूकता के कारण पूँजीपति और श्रमिकों के बीच आर्थिक वैषम्य को लेकर वर्ग-संघर्ष, हिंसा, तथा शोषण सदृश अनेकों नवीन समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई। जिन्होंने सामाजिक जीवन को विश्रृंखल कर सर्वत्र एक असन्तोषपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया।

नवजागरण के आलोक में देश के कुछ प्रबुद्ध नाटककारों का ध्यान समाज की इस बढ़ती विषमता की ओर गया। यों तो नव-निर्माण के क्रम में तत्कालीनप्रायः समस्त नाटकों में ही पूँजीवादी सभ्यता की अमानवीयताओं तथा पूँजीपतियों की स्वार्थ-पूर्ण शोषणकारी नीतियों का उद्घाटन किया गया है, किन्तु पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से उद्भूत जीवन-संघर्षों को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में शील कृत 'तीन दिन-

---

१. शील 'हवा का रुख', पृष्ठ ६७

तीन घर` तथा डा० लक्ष्मीनारायण लाल कृत `रातरानी ` उल्लेखनीय है। दोनों में ही नाटककार ने शोषक तथा शोषितों के बीच बढ़ रही वैषम्य की खाई को पाटकर एक वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयास किया है। किन्तु `तीन दिन तीन घर ` में जहाँ नाटककार ने एक औद्योगिक नगर में रहने वाले कतिपय परिवारों के समस्या बहुल जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर पूँजीपतियों के शोषण के प्रति जागरण की भावना को स्वर दिया है वहीं `रात की रानी ` में एक पूँजीपति के असन्तुलित दाम्पत्य की करुण कथा के माध्यम से देश में फैले श्रम और पूँजी के संघर्ष को कलात्मक ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है।

शील कृत `तीन दिन तीन घर` मूलत: औद्योगिक नगर की एक गली में रहने वाले तीन घरों के तीन दिन का लेखा चित्र है। किन्तु इस छोटे से कथानक में नाटककार ने तत्कालीन पूँजीपतियों के काले कारनामें तथा उनसे संत्रस्त मध्य एवं निम्न वर्गीय सामाजिकों के क्षोभ एवं असन्तोष को स्वर देकर भारतीय जीवन में उठ रहे श्रम एवं पूँजी के संघर्ष को ही चित्रित किया है। जो अर्थतन्त्र की एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर देश के सम्पूर्ण राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित कर रही थी। आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अमीर हो या गरीब सभी पूँजीवादी अर्थनीति की इस जटिल समस्या का भाजन बने हुए हैं। किसी के सामने अपनी आत्मा की रक्षा करते हुए अपना तथा अपने परिवार का पेट पालने की समस्या है तो कोई एक दिन में ही लखपती और करोड़पति बनने के स्वप्न देखता है। कोई धन के अभाव में पशुओं की भाँति दूसरों के अत्याचार को सह रहा है तो कोई आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो समानाधिकारों के लिये संघर्षरत है और कोई धन की इच्छा में अपने दायित्वों को ही भूल बैठा है। निष्कर्ष यह कि सभी अपने परिवेश से असन्तुष्ट हैं और उससे निकलने के लिये छटपटा रहे हैं। तीनों परिवारों की समस्याओं के मूल में सामाजिकों की यह छटपटाहट ही प्रमुख है।

नाटक की मूल कथा मिल-मालिकों की अन्यायपूर्ण शोषण नीतियों तथा श्रमिकों की जागरणकालीन चेतना को लेकर चलता है जिसका अन्तिम परिणाम होता है - हिंसा, आन्दोलन, हड़ताल और तालाबन्दी।

साहित्यकार प्रभात के माध्यम से नाटककार ने युग की इस अराजकतापूर्ण

राजनीति को ही मुखरित किया है। पूँजीवादी अर्थनीति के मिथ्या मायाजाल पर व्यंग्य करते हुए वह एक स्थान पर कहता है - 'सत्य तो यह है कि थोड़ी पूँजी लगाकर व्यापार करने वाले दिवालिया हो जाते हैं और बड़ी-बड़ी पूँजी लगाने वाले मुनाफा कमा कमा कर मालोमाल हो जाते हैं।'[1] पूँजीपतियों के साथ ही नाटककार ने उनके समर्थकों, जो पैसा खाकर दोनों वर्गों के बीच दलाली का काम करते हैं के मिथ्या आचरण का भण्डाफोड़कर उनके कलुषित चरित्रों का भी उद्घाटन किया है।

अपने स्वार्थ के वशीभूत ये पूँजीपति देश की विकास योजनाओं को ठप्प करने के लिए विदेशी पूँजीपतियों से मिलकर क्या-क्या घोटाले करते थे। इसका यथार्थ चित्र भी नाटककार ने अपने इस नाटक में प्रस्तुत किया है। देश की प्रगति के लिए एक एम० एल० ए० महोदय द्वारा सट्टेबाज एसेम्बली में सोने-चाँदी के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव रखने पर प्रभात कहता है - 'चाँदी सोने का संकट पैदा कर देश में अन्न संकट को न्यौता दिया जा रहा है। हमारे देश का निर्माण और प्रगति रोकने के लिये यह भयानक षडयन्त्र है।'[2] यद्यपि नाटक के अन्त में जनता और पुलिस के सहयोग से इन षडयन्त्रकारियों को गिरफ्तार करवाकर नाटककार ने समस्या का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत कर अपने स्वप्नों के उस समाजवादी समाज की स्थापना का प्रयत्न किया है 'जहाँ एक दिन पैसा मर जायेगा श्रम की पूजा होगी - - - - -।'[3] किन्तु देश में व्याप्त अव्यवस्था के कारण नाटककार अपने इस आदर्श के प्रति शंकालु भी था, वह स्वीकार करता है कि 'वह दिन आने में अभी काफी समय लगेगा।' जो नाटककार की यथार्थ दृष्टि का ही परिचायक है।

नाटक की इस मूल कथा के साथ ही नाटककार ने पूँजीवादी सभ्यता के संघात से उत्पन्न नारी समस्या, कामोत्तेजक सस्ते साहित्य के प्रति जनता की अभिरुचि,

---

१. शील - 'तीन दिन तीन घर', पृष्ठ ३५
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ ८८
३. ,, ,, ,, , पृष्ठ ६४

नेताओं की मिथ्या प्रदर्शन भावना इत्यादि युगीन समस्याओं को भी अपने इस नाटक में गुंफित किया है। यद्यपि श्रमिकों के प्रति अतिरिक्त सहानुभूति के कारण यह नाटक एक पक्षीय हो गया है किन्तु एक छोटे से फलक पर सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को उसके यथार्थ रूप में उतार देने के कारण नाटक का तत्कालीन साहित्य में अद्वितीय स्थान है।

किन्तु डॉ० लाल के 'रातरानी' की मूल समस्या पूँजीपतियों के अनधिकृत अधिकार की समस्या है जिसे नाटककार ने पति-पत्नी के रागात्मक सम्बन्धों द्वारा सुलझाने का प्रयास किया है। नाटक का नायक जयदेव एक प्रेस का मालिक है। आवारा मित्रों की संगति में पड़कर वह अपने पिता के द्वारा उत्तराधिकार में मिली समस्त पूँजी को जुए में हार जाता है। धन के अभाव में प्रेस कर्मचारियों का बोनस बन्द कर देता है जिससे प्रेस कर्मचारी भड़क उठते हैं और हड़ताल कर देते हैं किन्तु इसमें नाटककार ने समस्या के प्रति उग्र एवं विरोधात्मक रुख अपनाने की अपेक्षा उसका समाधान बड़े ही कलात्मक एवं सहानुभूतिपूर्ण ढंग से दिया है। प्रेस मालिक जयदेव की पत्नी कुन्तल स्वभाव से उदार विचारों वाली, संवेदनशील मानवीय गुणों से युक्त निर्भीक नारी है। शोषितों के प्रति उसके हृदय में अपार ममता है। अत: पति की इच्छा के विरुद्ध वह हड़तालियों की माँगों का समर्थन करती है, उनके प्रति पति के अमानवीय व्यवहारों को सुनकर वह सिहर उठती है तथा अपने स्वार्थ के समर्थन में पति द्वारा यह कहने पर कि यह अर्थयुग है, वह उससे प्रतिवाद करते हुए कहती है 'तभी तो इस युग में मनमानी कैंची नहीं चलाई जा सकती। प्रेस में तुमने यही कैंची तो चलाई थी न। ----[1]' तथा श्रमिकों की माँगों के उग्र रूप धारण करने पर वह पति को समझाती भी है 'यह दंडनीति, यह पुलिस, ये जेलखाने इस (धन और अधिकार की) समस्या को नहीं सुलझा सकते।----[2]'

इस प्रकार नाटककार ने यहाँ देश में बढ़ते श्रम और पूँजी के संघर्ष को शोषक और शोषितों के बीच सुलझाने की अपेक्षा पति-पत्नी के असन्तुलित दाम्पत्य-जीवन के माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया है। श्रमिकों के प्रति पति की अनधिकृत

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल - 'रातरानी' पृष्ठ २५

२. ,, ,, - ,, पृष्ठ १०४

अधिकार भावना को लक्ष्य कर वह एक स्थान पर कहती भी है -- "तुम्हारी समस्या अधिकार की है न, तभी तुम सदा मुझे बाँट कर देखते हो । तुम मुझे शायद पत्नी नहीं समझते हो । तुम मेरे पति हो, पर तुम अपने को महज मेरा स्वामी समझते हो। इसी तरह प्रेस वर्कर्स को अपना गुलाम समझते हो ।"[1] कर्मचारियों के प्रति पत्नी के इस सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार को देखकर वह और भड़क उठता है । उसके इस विरोधी व्यवहार के कारण उनके सम्बन्धों में खिंचाव भी आता है, किन्तु विपत्ति के समय में पत्नी कुंतल का अभूतपूर्व त्याग उनके सम्बन्धों को टूटने से बचा लेता है । वह थोड़े से पैसों के लिए मित्रों द्वारा पति को अपमानित किये जाने पर अपने वेतन से उनका बाकी धन चुकाकर उसे अपमानित होने से तो बचाती ही है, साथ ही हड़तालियों के हिंसात्मक जुलूस के समक्ष अपने आभूषणों तथा बूढ़े माली बाबा की जीवन भर की कमाई को बोनस स्वरूप समर्पित कर उनकी सारी उग्रता को सहानुभूति में परिवर्तित कर पति की जीवन रक्षा भी करती है ।

किन्तु यहाँ कुन्तल जैसी साहसी एवं निर्भीक नारी के भावुकतापूर्ण आचरण द्वारा उन्होंने युगीन श्रम और पूँजी की समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है उसमें यथार्थतत्व की अपेक्षा कल्पना तत्व का ही बाहुल्य है । जिसके मूल में नाटककार की पददलित एवं शोषित नारी के प्रति उदार विचारधारा ही प्रमुख थी जो नारी को घर की चहारदीवारी से निकालकर जीवन के एक ऐसे उन्मुक्त धरातल पर खड़ा कर देना चाहती है, जहाँ से वह जीवन के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण कर सके । कुंतल को रात की रानी का प्रतीक मानने के मूल में भी नाटककार की नारी के प्रति यही भावुकतापूर्ण क्रान्तिकारी उद्भावना थी जिसके द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार रात की रानी अपनी सुगन्धि से सम्पूर्ण वातावरण को सुगन्धित कर देती है उसी प्रकार नारी भी अपने मृदुल व्यवहार से सबका मन मोह लेती है । और अपने इस विश्वास के आधार पर ही उन्होंने एक ओर जहाँ कुन्तल के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार द्वारा समस्या का यह मानवतावादी समाधान प्रस्तुत किया है वहीं दूसरी ओर नारी जाति को उनके कर्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति

---

१. डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल - 'रातरानी' पृष्ठ १०५

सचेत कर जागृति का संदेश भी दिया है । देश की इस मूलभूत समस्या के साथ ही नाटककार ने गाँधीवाद की हृदय परिवर्तन नीति, नवयुवकों की धर्म के प्रति अनास्था आदि सामयिक विषयों पर भी अपनी विश्लेषणात्मक दृष्टि डाली है । किन्तु औद्योगीकरण के संघात से आज समाज में अर्थयुग की जिस व्यावसायिक वृत्ति का विकास हो रहा है उसने धन की महत्ता को तो स्वीकार किया ही है, अपने परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति में निहित परस्पर त्याग, सद्भावना और सहिष्णुता जैसे उच्चादर्शों के स्थान पर स्वार्थ और विद्वेष को जन्म देकर पारिवारिक सम्बन्धों को भी पर्याप्त विषाक्त बना दिया है । फलत: आज स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, पिता-पुत्र सभी के सम्बन्धों में व्यावहारिकता ने एक नया मानदण्ड स्थापित कर दिया है जहाँ कोई किसी का दास बनकर नहीं रहना चाहता । साथ ही कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के प्रति उतनी ही दया दिखाता है, उतना ही आदर देता है जिससे उसके विहित जीवन दृष्टि में बाधा न पड़े । फलत: संयुक्त परिवारों का विघटन तो हो ही रहा है स्वतन्त्र परिवारों में भी विघटन के लक्षण दिखाई देने लगे हैं ।

अर्थयुग की इन्हीं विसंगतियों को लक्ष्य कर भगवती चरण वर्मा कृत `रुपया तुम्हे खा गया`, पृथ्वी रंगमंच पर अभिनीत `पैसा` तथा रेवती सरन शर्मा कृत `चिराग की लौ` में पारिवारिक विघटन के उक्त कारणों तथा परिणामों का बड़ा सफल चित्रण किया गया है ।

भगवती चरण वर्मा कृत `रुपया तुम्हे खा गया` मूलत: मानव के आन्तरिक संघर्ष की कहानी है । आज के भौतिकवादी युग में व्यक्ति का विश्वास है कि रुपए की शक्ति सम्पूर्ण सुख सुविधाओं को खरीद सकती है । अत: वह रुपए का उपासक बन गया है । और उसके लिये साम-दण्ड-भेद सभी नीतियों को अपनाने के लिये तैयार है । नाटक का नायक सेठ मानिकचन्द भी रुपए का एक ऐसा ही उपासक है जो अपना तथा अपने परिवार का जीवन सुखमय बनाने के लिये बैंक से दस हजार रुपए चुरा लाता है और उसे पचाकर जीवन भर रुपए को देवता मानकर उसकी उपासना में लगा रहता है । जीवन की सफलता के सम्बन्ध में उसकी अवधारणा थी कि, `जीवन में सफल वही होता है जिसमें हिम्मत हो और वह हिम्मत भी अपराध

करने की हिम्मत हो । अमीर वह बन सकता है जिसको न ईश्वर पर विश्वास हो न धर्म पर, न ईमानदारी पर । केवल एक देवता होता है उसका ---- पैसा ।[1] (क्योंकि) ----- इज्जत और मान उसके है जिसके पास पैसा है ।[1] और अपने इन्हीं सिद्धान्तों के सहारे वह एक दिन अतुल सम्पत्ति का स्वामी बन जाता है । किन्तु भौतिक सुख प्राप्त करके भी उसकी आत्मा अशान्त ही रहती है क्योंकि धन के आधिक्य में परिवार के सभी सदस्य उसके उपभोग की चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं । बीमारी की दशा में जब कि उसे पारिवारिक सद्भावना की आवश्यकता थी पत्नी तथा पुत्र उसे नौकरों के ऊपर छोड़कर पैसे का उपभोग कर रहे थे । पत्नी तथा पुत्र के अपने प्रति इस असद्भावनापूर्ण व्यवहार को देखकर उसका हृदय टूट जाता है और तब वह स्वीकार करता है कि 'इस दुनिया में मेरा कोई नहीं है । बीबी बच्चे नातेदार, पड़ोसी, नौकर -----ये सब के सब मेरे नहीं है मेरे रुपये के हैं ।[2] और इस प्रकार सेठ मानिक चन्द्र के जीवन की इस करुण कथा के माध्यम से नाटककार ने जीवन के इस सत्य को सामने लाने का प्रयास किया है कि आज की भौतिक और पूँजीवादी संस्कृति जिन मान्यताओं पर टिकी हैं वह मान्यताएँ सर्वथा मिथ्या है । यद्यपि यह सत्य है कि आज समाज में पैसे की आवश्यकता है, पैसे से मनुष्य जीवन के अधिकाधिक सुखों को खरीदा जा सकता है किन्तु यह भी सत्य है कि पैसा ही सब कुछ नहीं, पैसा तो एक साधन मात्र है जीवन का वास्तविक सुख तो व्यक्ति का सद्भावनापूर्ण व्यवहार है जिसके अभाव में व्यक्ति का जीवन एक पिशाच की भाँति सूना हो जाता है । अपने जीवन की इसी व्यथा को व्यक्त करते हुए मानिकचन्द्र कहता है --'हाँ, तो उस बीमारी की हालत में मैंने अनुभव किया कि ममता, भावना नाम की कोई चीज नहीं है । मैं अकेला इस कमरे में उस पिशाच की भाँति बन्द था जिसके जीवन में हंसी नहीं, रोना नहीं, एक भयानक सूनापन है ।[2]

किन्तु किशोरीलाल तथा डॉक्टर जयलाल के माध्यम से नाटककार ने रुपए की मान्यता के खोखलेपन को ही प्रदर्शित किया है । मानिक चन्द को उसकी स्थिति से अवगत कराते हुए किशोरीलाल कहता है -- 'हाँ मानिकचन्द, रुपया

---

१. भगवतीचरण वर्मा -- 'रुपया तुम्हें खा गया', पृष्ठ ३१
२. ,, ,, , पृष्ठ ८२
३. ,, ,, , पृष्ठ ६७

तुम्हें खा गया । तुम अपने जीवन को देखो । तुममें ममता नहीं, दया नहीं, प्रेम नहीं, भावना नहीं । तुम्हारे अन्दर वाला मानव मर चुका है । आज तुम्हारे अन्दर अर्थ का पिशाच घुस गया है ।[1] इसी को अन्त में स्वीकार करते हुए स्वयं मानिकचन्द कहता है- 'इस दुनिया में मेरा कोई नहीं है । बीबी बच्चे, नातेदार, पड़ोसी, नौकर- - - ये सब के सब मेरे नहीं हैं मेरे रुपये के हैं ।'[2]

भगवती चरण वर्मा के, 'रुपया तुम्हें खा गया' की भाँति पृथ्वी रंगमंच पर अभिनीत 'पैसा' भी आज के भौतिकवादी युग में व्यक्ति की बढ़ती हुई अतिशय अर्थ लिप्सा का परिणाम है । इसका नायक शान्तिलाल एक मध्यम वर्गीय बैंक मैनेजर है किन्तु धन के लोभ में वह अपनी सुख और शान्ति की साधारण सी नौकरी को छोड़कर कालाबाजारी के जाल में फंस जाता है । और उसकी पैसे की भूख उसकी हरी भरी गृहस्थी को उजाड़कर उसे नर पिशाच बना देती है ।

यद्यपि नाटक के अन्त में पत्नी सुशीला का विवेक जागृत कराकर नाटककार ने शान्ति लाल को एक बर्बर पशु होने से बचा लिया है साथ ही पैसे की निरर्थकता प्रतिपादित कर सामाजिकों के समक्ष अपने जीवन से सन्तुष्ट रहने का आदर्श भी प्रस्तुत किया है किन्तु अन्त में शान्तिलाल द्वारा अपने समस्त धन को देश के कल्याणार्थ समर्पित करवाकर नाटककार ने नाटक को जीवन की यथार्थताओं से बहुत ऊपर उठा दिया है ।

'विराग की लौ' की नायिका तारा का जीवन भी अर्थयुग की इन्हीं विषमताओं से आक्रान्त है । भावावेश में आकर वह २५० रुपये वेतन पाने वाले ईमानदार किशोर से विवाह तो अवश्य करती है किन्तु थोड़े ही दिनों में जीवन की विषमताओं से घबराकर धन की ओर भागती है तथा पति को भी अधिक धन कमाने के लिये विवश करती है । किन्तु पति को अपने आदर्शों पर अडिग देखकर वह स्वयं पाँच सौ रुपये वेतन पर गिरीश नामक एक भ्रष्टाचारी के यहाँ नौकरी कर लेती है और उसके जाल में फंसकर पाँच हजार रुपये के लिये अपने ईमानदार पति के ईमान को बेच देती है ।

---

१. भगवती चरण वर्मा - 'रुपया तुम्हें खा गया', पृष्ठ ८२

२. ,, ,, पृष्ठ ८२

वस्तुत: तारा के माध्यम से यहाँ नाटककार ने पूँजीवादी समाज में धन के पीछे भागने वाली उन आधुनिकाओं की संकुचित मनोवृत्ति का ही उद्घाटन किया है जिनके लिए पैसा ही सब कुछ है तथा प्रेम जैसी पवित्र भावनाएँ भी जहाँ रुपयों की भाषा में ही तोली जाती है। तारा की दृष्टि में भी पारिवारिक सम्बन्धों की स्थिरता का मूलाधार धन ही था और यही कारण है कि पति के जरूरी कागजों को पाँच हजार में बेचकर, पति के पूछे जाने पर, अपने प्रेम की दुहाई देते हुए वह कहती है कि यह सब उसने अपने उस प्रेम को बचाने के लिये किया है - - - जिसे आये दिन की तंगी और वे झगड़े ख़त्म कर रहे थे जिनकी तह में हमेशा रुपये के रोने होते थे। अब वे झगड़े नहीं होंगे।[१] किन्तु सत्य तो यह है कि उसका यह प्रयत्न उसके प्रेम को ही धराशायी कर देता है।

नारी जागरण -

जहाँ तक नारी जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का प्रश्न है इस समय के अधिकांश नाटककारों ने पुरुषों की प्रतारणा से संतप्त नारी की विरह व्यथा को ही अपने नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया है। यों तो पूर्व-स्वतन्त्रता काल से ही नारी जीवन की ये समस्याएँ भारतीय समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए थी किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् बढ़ती नारी शिक्षा तथा जागरणकालीन चेतना के कारण आज उसके स्वरूप में काफी अन्तर आ गया है। फलत: जो नारी अभी तक पुरुषों का विरोध करके भी सामाजिक मान्यताओं से ऊपर नहीं उठ पा रही थी तथा जीवन की विषमताओं से संत्रस्त हो घर की चहारदीवारी में ही अपना दम तोड़ रही थी वही आज अपने अस्तित्व को पहचान कर पुरुषों की अहमन्यता के विरुद्ध उनसे कन्धा मिलाकर चलने के लिये संघर्षरत है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन नाटकों में तो नारी का यह नवजाग्रत रूप सर्वत्र ही दृष्टिगोचर हुआ है। 'हवा का रुख' की वन्दना तथा 'नयारूप' की रानी युग की कुछ ऐसी ही नवजागृत एवं संघर्षरत नारियों का प्रतिनिधित्व करती है जिनके जीवन के सम्बन्ध में अपने भी कुछ उसूल और सिद्धान्त हैं

---

१. रेवती सरन शर्मा - 'चिराग की लौ', पृष्ठ ८४

और अपने इन्हीं उसूलों के कारण पति द्वारा उपेक्षित होने पर एक आई० ए० एस० में निर्वाचित होती है तो दूसरी अपना दवाखाना खोलकर अमोल नामक एक धनहीन एवं सच्चरित्र व्यक्ति से विवाह करती है ।

किन्तु वन्दना में जहाँ पुरुष समाज की अहम्मन्यता तथा उनके मिथ्या आचरणों के विरुद्ध विद्रोह का भाव लक्षित है वहीं रानी के रूप में नाटककार ने नारी के आत्माभिमान एवं कर्तव्यनिष्ठा को स्वर देते हुए नारी के कोमल एवं संयमित रूप की ही प्रतिष्ठा की है । अत: एक ओर जहाँ वह पुरुषों की प्रतारणा के विरुद्ध अपने स्वाभिमान का परिचय देती है --'और देखिए उनके[1] आगे गिड़गिडाइए नहीं । आपके आत्मसम्मान के बदले मैं कुछ पाना नहीं चाहूँगी ।' वहीं अपनी निष्ठा एवं लगन से आई० ए० एस० में प्रवेश पाकर भी अपने को अधूरा ही महसूस करती है --'हाँ आई० ए० एस० में प्रवेश पाकर अर्ध नारीश्वर ही तो बन गई । शरीर अवश्य नारी का रह गया पर प्रशासन[2] के लिए हृदय तो पुरुष का चाहिये - - - - - - - कठोर अकम्पित भावना हीन ।' हो सकता है आज के प्रगतिवादी युग में लोग इसका विरोध करे, क्योंकि आज प्रत्येक नारी की आकांक्षा यही होती है कि वह भी उच्च पदों पर आसीन होकर पुरुषों की बराबरी कर सके, किन्तु वास्तविकता यह है कि इतना सब कुछ पाकर भी उसकी अन्तरात्मा इससे सन्तुष्ट नहीं होती और कहीं न कहीं वह इससे बढ़कर भी कुछ चाहती है । और इस प्रकार रानी के रूप में नाटककार ने यहाँ नारी के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए प्रगतिवादी विचारधारा के साथ नारी मनोविज्ञान का सहारा लेकर नारी के जिस आन्तरिक यथार्थ को उद्घाटित करने का प्रयास किया है वह किसी एक युग का नहीं वरन् युगों-युगों से चला आ रहा एक शाश्वत यथार्थ है जिसे प्रगतिवाद की आड़ में पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता ।

किन्तु एक ओर जहाँ जाग्रत समाज की यह प्रगतिवादी नारियाँ अपने

---

१. पृथ्वी नाथ शर्मा - 'नया रूप', पृष्ठ १८

२. ,, - ,, , पृष्ठ ८१-८२

आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये पुरुषों की प्रतारणा का डटकर मुकाबला करती हैं वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज में अभी ऐसी नारियों की भी कमी नहीं जो पुरुष द्वारा प्रताड़ित होकर भी आजीवन अपने पातिव्रत धर्म का पालन करती है। 'अन्धा कुआँ' की सूका 'हवा का रुख' की अमला 'तीन दिन तीन घर' की कमला तथा 'नया रूप' की लक्ष्मी भारतीय समाज की ऐसी ही असहाय एवं पीड़ित नारियाँ हैं जो अपने भारतीय संस्कारों के कारण सामाजिक मान मर्यादा के वशीभूत हो अपने को अत्याचारी समाज के समक्ष समर्पित करने के लिए विवश है। यद्यपि पुरुषों की अनुचित अधिकार भावना के प्रति उनके मन में रोष है किन्तु उनकी असहायता उन्हें कोई क्रान्तिकारी कदम उठाने की अनुमति नहीं देती। और वैवाहिक जीवन उनके लिये हंसी-खुशी का घरौंदा न होकर एक ऐसा अन्धा कुआँ हो जाता है जिसमें एक बार गिरकर दोबारा निकलना मुश्किल होता है। अपने जीवन की इसी विवशता को व्यक्त करते हुए अन्धा कुआं की नायिका सूका कहती है -- 'अन्धा कुआँ यही है जिसके संग मैं ब्याही गयी हूँ जिसमें एक बार मैं गिरी और ऐसी गिरी कि फिर न उबरी न कोई मुझे निकाल पाया, न मैं खुद निकल सकी और न कभी निकल ही पाऊँगी। बस, धीरे-धीरे इसी में घुट कर मर जाऊँगी।'[1] जो आज एक सभ्य समाज के लिये अत्यन्त लज्जा की बात है। नाटककार नारी जाति के प्रति आदर, श्रद्धा एवं सहानुभूति के कारण नारी समाज पर होने वाले इस अन्याय से दुःखी है तथा पुरुषों के अत्याचारों को अनुचित मानता है। अत: नारी जाति के प्रति सहानुभूति रखने वाले पुरुषों के थोड़े से उपकार को नगण्य जानकर वह सूका के इन शब्दों में पुरुषों की पाशविक प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए कहता है -- 'इन रस्सियों को तैयार करने वाले और इनसे गाँठ बनाने वाले जब तक वे हाथ मौजूद हैं, तब तक केवल इन रस्सियों को काटने से कुछ नहीं होगा बाबू। - - - - - - - - वही खूनी हाथ फिर रस्सियाँ तैयार कर लेंगे, बल्कि और मजबूत रस्सियाँ बनायेंगे और भी कड़े बन्धन से बाँध देंगे।'[2] सच पूछा जाय तो सूका के इन शब्दों में पुरुषों के अत्याचारों से पीड़ित नारी जाति की वेदना एवं पीड़ा ही मुखर हुई है।

---

१. लक्ष्मी नारायण लाल -- 'अन्धा कुआँ' ,पृष्ठ १२६
२. ,, ,, , पृष्ठ ६८

नारी की इस दयनीय अवस्था से दुखी होकर ही `तीन दिन तीन घर' में नाटक की एक जागरूक नारी शोभा पुरुष समाज की कठोरता पर व्यंग्य करते हुए कहती है `संविधान में औरत को जगह मिली लेकिन आदमी उसे जानवर समझता रहा ।'[1] तात्पर्य यह है कि इस स्वतन्त्रता के युग में भी नारी पुरुष के लिये वह मिट्टी का लौंदा है जिसे जैसा चाहे खींच कर बना दे । नारी की इस पराधीनता का एक बहुत बड़ा कारण भारतीय संस्कारों के साथ ही नारी की आर्थिक पराधीनता ही थी अत: सभी ने उसे आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने का सुझाव दिया है । वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने नाटक `पीले हाथ' में तो दहेज एवं विवाह पद्धति की असमीचीनता का चित्रण करते हुए नारी जाति की दुर्दशा के कारणों को दूर करने के उपाय भी सुझाये हैं जिसका उद्घाटन करते हुए निर्मला कहती है --`स्त्री की दुर्दशा का कारण उसकी आर्थिक परतन्त्रता है जहाँ उसको आर्थिक स्वावलम्बन मिला नहीं, वह स्वाधीन हुई । - - - - असल में यह हमारी शिक्षा का दोष है ।- - - स्त्रियों की शिक्षा में यदि घरू शिल्प उद्योग और धन्धे सिखलाये जायँ तथा डाक्टरी पढ़ाई जाय तो समस्या सहज हो सकती है ।'[2] और इस प्रकार समस्या का यह समाधान प्रस्तुत कर नारी को एक स्वावलम्बी नारी के रूप में देखने का प्रयास किया है ।

विदेशी आक्रमण

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास में सन् १९६२ तथा १९६५ में भारतीय सीमा पर होने वाले बाह्य-चीनी तथा पाकिस्तानी-आक्रमणों का भी विशेष महत्व है जिन्होंने भारतीय जनमानस के आस्था विश्वास और मित्रभाव पर कुठाराघात कर भारत की सोयी हुई निश्चिन्त चेतना को झकझोर कर एकबार फिर से राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम की भावना को प्रश्रय दिया । भारतीय सीमा पर होने वाले इन युद्धों की पृष्ठभूमि पर लिखे गये नाटकों में रेवती सरन शर्मा कृत `अपनी धरती', ज्ञानदेव

---

१ शील - `तीन दिन तीन घर ', पृष्ठ ९८

२. वृन्दावन लाल वर्मा -- `पीले हाथ ', पृष्ठ, ३२

अग्निहोत्री कृत `नेफा की एक शाम`, `वतन की आबरू` तथा शिवप्रसाद सिंह कृत `घाटियाँ गूँजती है` उल्लेखनीय है। इन सभी नाटकों में नाटककार ने युद्ध काल की किसी घटना, संवेदना अथवा अनुभूति को ग्रहण कर समस्या का प्रतिक्रियात्मक चित्र प्रस्तुत किया है।

रेवती सरन शर्मा कृत `अपनी धरती` चीनी आक्रमण काल में मातृभूमि की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने वाले वीरों की एक मार्मिक कहानी है। इसमें नाटककार ने एक ममतामयी माँ, जो एक ओर अपने सिपाही पुत्र की ममता से व्याकुल है तो दूसरी ओर किसान की बेटी होने के कारण अपनी धरती की रक्षा का महत्व भी समझती है, की मनोव्यथा का चित्रण कर देश रक्षा के लिये सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर भारतीयों की शूरवीरता, कर्तव्य परायणता तथा अदम्य साहस का परिचय दिया है। यद्यपि प्रत्यक्षत: नाटक में माँ का ममतामयी रूप ही मुखर हुआ है किन्तु मास्टर जी की सृष्टि कर नाटककार ने उसके दूसरे रूप को जिस प्रभावशाली ढंग से उभारा है वह सर्वथा अद्वितीय है तथा नाटककार की सूक्ष्म संवेदनशीलता एवं यथार्थोन्मुखी दृष्टि की ही परिचायक है। जिसका स्पष्टीकरण करते हुए नाटक की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है, `मैंने मास्टर जी के पात्र का सहारा लेकर उसके चरित्र से उन तत्वों को भी उभारा है जो उसे धरती की बेटी के रूप में उजागर करते हैं जो धरती के लिए लड़ना मरना जानती है, लेकिन मैंने उसे माँ रखा है। मास्टर जी से वह कहती है कि वह बेटा माँ की कोख के लिए कलंक है जो धरती और बेटी के मान के लिए नहीं लड़ सकता। परन्तु तुरन्त बाद ही अपनी बेटी से यह भी कहती सुनाई पड़ती है - `धर्म कई होते हैं। एक पति को बेटे को लड़ाई पर भेजने का होता है। एक उस पर क्या बीत रही होगी, यह सोच-सोचकर मोम और लाख की तरह गलने का होता है।`[1] जो नाटकीय कथा को अधिकाधिक स्वाभाविक बना देता है। इसके साथ ही नाटककार ने अपने इस नाटक में बलवन्त तथा हमीद की मित्रता के माध्यम से हिन्दू मुस्लिम प्रेम का भी अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया है किन्तु नाटक के अन्त में खल पात्रों के प्रायश्चित द्वारा नाटककार ने यथार्थता की पृष्ठभूमि पर लिखे अपने इस नाटक को आदर्शों की ओर मोड़ दिया है।

रेवती सरन शर्मा - `अपनी धरती` भूमिका, पृष्ठ ६-१०

चीनी आक्रमण की इसी पृष्ठभूमि पर ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने अपने 'नेफा की एक शाम' नाटक में नेफा से लौटे हुए कुछ प्रेस रिपोर्टरों, छुट्टी पर आये सैनिकों तथा आदिवासियों के सक्रिय सम्पर्क से ज्ञात तथ्यों के आधार पर चीनियों की सशक्त तैयारी के विरुद्ध नेफा के आस पास के आदिवासियों की प्रतिक्रिया, संगठित-शक्ति तथा देश प्रेम की भावना को मुखरित किया है। अपने देश की रक्षा के लिये ये आदिवासी किस प्रकार चीनियों की बर्बरता का सामना कर रहे थे इसे नाटककार ने वीरांगना मातई तथा उसके वीर पुत्रों के पराक्रम पूर्ण क्रिया व्यापारों के माध्यम से बड़े ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। अपनी पुत्रवधू शीकाकाई को सम्बोधित करते हुए मातई का निम्न कथन - 'शीकाकाई आओ हम दोनों उस पत्थर की आड में छुप जायें। जब वे बहुत पास आ जायेंगे तो हम एक-एक को गोलियों का निशाना बनायेंगे।.... मैं बन्दूक चलाऊँगी तुम हथगोले फेंकना।'[1] आदिवासियों की वीरता का प्रत्यक्ष उदाहरण है जहाँ पुरुष तो पुरुष स्त्रियाँ भी अपनी माया ममता को छोड़कर देश रक्षा के लिये सन्नद्ध थी। यद्यपि मातई में भी माँ का हृदय है किन्तु वह अबला नहीं है वरन् पुत्र को युद्धकार्य में व्यवस्थित देख वह स्वयं भी अत्यन्त साहस के साथ शत्रुओं का सामना करती है।

चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के इसी क्रम में शिवप्रसाद सिंह ने अपने नाटक 'घाटियाँ गूंजती है' में एक पत्रकार विवेक, जो आक्रमण सम्बन्धी सत्य समाचार जानने की इच्छा से तेजपुर आया है, की बोमादिला (युद्धस्थल) की यात्रा के दौरान प्राप्त स्थूल सत्य घटनाओं एवं अनुभवों के आधार पर चीनी आक्रमण से आन्दोलित भिन्न-भिन्न व्यक्तियों- देशभक्त तथा देशद्रोही भारतीयों की मन:स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। यहाँ मुकुल तथा टूरा यदि देशद्रोहियों के प्रतिरूप है, जो अपने स्वार्थ के वशीभूत थोड़े से पैसों के लिये देश की आजादी का सौदा करते हैं तो बीकू उन देशभक्तों का जो देश की रक्षा के लिये अपनी ममता का गला घोंटकर अपने देशद्रोही पुत्र टूरा की हत्या कर देता है।

किन्तु भारत पाक संघर्ष को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में

---

१. ज्ञानदेव अग्निहोत्री - 'नेफा की एक शाम', पृष्ठ १२३

अग्निहोत्री कृत 'वतन की आबरु' एक मात्र उल्लेखनीय रचना है । इसका मूल कथानक जेहाद और मजहब की झूठी नकाब लगाकर हमला करने वाले नापाक आक्रमणकारियों की काली करतूतों पर आधारित है।[1] जिसकी प्रतिक्रिया में नाटककार ने रेशमा, पशमीना तथा इलाही बख्श सदृश कुछ मुसलमान भारतीयों की देशभक्ति साहस और त्याग का चित्रण कर युद्धकालीन स्थिति में भारतीय जनता की मन:स्थिति और बलिदान भावना का सजीव चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

यद्यपि इतिहास की एक घटना विशेष से प्रेरित एवं प्रभावित होने के कारण इन समस्त नाटकों का महत्व सामयिक ही रहा है तथा आज इनकी सत्ता एक ऐतिहासिक घटना के रूप में ही है किन्तु अपनी सूक्ष्म संवेदनशीलता के बल पर नाटककार ने इन ऐतिहासिक घटनाओं को युग की इन अनुभूतियों को जो जीवन्त रूप दिया है वह नाटककार की यथार्थ दृष्टि से ही अनुप्रेरित है तथा उसमें उनका यथार्थवादी रूप ही दृष्टिगत होता है । यद्यपि उन्होंने नाटक के अन्त में खल पात्रों की मृत्यु एवं प्रायश्चित द्वारा नाटक को एक आदर्शवादी मोड दिया है किन्तु स्थिति विशेष को देखते हुए उनका यह प्रयास सर्वथा अस्वाभाविक अथवा अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता ।

---

१. ज्ञानदेव अग्निहोत्री, 'वतन की आबरु', भूमिका, पृष्ठ ५

सामाजिक समस्याओं के संघात से व्यक्ति के अन्तर्मन में उत्पन्न द्वन्द्वों एवं संघर्षों से ओतप्रोत मनोविश्लेषणात्मक नाटक

यों तो इस वर्ग के नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य भी नाटककार का समकालीन यथार्थ ही है किन्तु इनकी विशेषता यह है कि इनमें अभिव्यक्त यथार्थ उनके युग का सामाजिक यथार्थ न होकर व्यक्ति का आन्तरिक यथार्थ है जहाँ युग की सामाजिक समस्याओं का स्थान व्यक्ति की निजी समस्याओं ने ले लिया है। वस्तुत: इस समय तक आते-आते देश में फैले भ्रष्टाचार के कारण भारतीयों के स्वतन्त्र राष्ट्र की कल्पना तथा देश के नव-निर्माण का जोश तो क्रमश: मन्द हो ही चला था, आधुनिक परिस्थितियों के चतुर्दिक दबाव ने उसमें अतृप्ति, असन्तोष, अजनबीपन, ऊब, घुटन, मानवीय सम्बन्धों की अस्थिरता इत्यादि विकृतियों को जन्म देकर उसे अन्य अनेक विध जटिल समस्याओं में जकड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि युग के बदलते परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाटकों का सम्बन्ध भी युग की स्थूल सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा व्यक्ति के अन्तर्मन की सूक्ष्म समस्याओं से जुड़ गया। जिनमें मुख्य थीं, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की तनावपूर्ण स्थिति, तथा व्यक्तित्व संघटन की समस्या। किन्तु अन्तर्मन से सम्बद्ध होने के कारण इन नाटकों में वस्तु चित्रण की अपेक्षा मनोविश्लेषण मानसिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्वों की ही प्रधानता थी अत: इनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिये नाटककारों ने आवश्यकतानुसार काव्यमयी वृति एवं प्रतीकों का भी सार्थक उपयोग किया है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का `मादा कैक्टस`, `रातरानी` लक्ष्मीकान्त वर्मा का `आदमी का जहर`, मोहन राकेश का `आधे अधूरे` वृन्दावन लाल वर्मा का `खिलौने की खोज` विष्णुप्रभाकर का `डॉक्टर` तथा मन्नू भंडारी कृत `बिना दीवारों के घर` इस वर्ग के प्रतिनिधि नाटक हैं।

स्त्री पुरुष सम्बन्धों की तनावपूर्ण स्थिति :

व्यक्तिमन की जटिल मन:स्थितियों एवं आन्तरिक यथार्थ उद्घाटन की दृष्टि से इस युग के नाटकों का मूल स्वर है निरन्तर टूटते बिखरते मानवीय सम्बन्धों विशेषकर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का विश्लेषण, जो परिस्थितियों के संघात से आज युग की एक महत्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर रही थी। वस्तुत: आज शिक्षा ने जहाँ एक ओर नारी को अपने पैरों पर खड़ा करके उसे आर्थिक एवं

सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की है वहीं बाह्य दायित्वों के बोझ तथा पुरुषों की परम्परागत अधिकार भावना ने उसके जीवन में असामंजस्य की स्थिति को उत्पन्न करके उनके पारिवारिक जीवन को असन्तुलित एवं विषाक्त बना दिया है, जिसकी चरम परिणति आज दाम्पत्य जीवन में व्याप्त असन्तोष घुटन, टूटन तथा पारिवारिक विघटन के रूप में सर्वत्र ही विद्यमान है।

असन्तुलित दाम्पत्य के इन्हीं टूटते-बिखरते सम्बन्धों को मोहन राकेश ने अपने `आधे-अधूरे` नाटक में समाज के एक विघटनशील आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से व्यक्त किया है। किन्तु इसका मूल कथानक पारिवारिक जीवन की कोई विशेष घटना अथवा समस्या न होकर महानगरों में रहने वाले मध्यवित्तीय स्तर से ढ़ककर आये एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार के स्त्री-पुरुषों के द्वन्द्वपूर्ण जीवन तथा उनसे उत्पन्न ऊब, घुटन, निराशा, खीझ, असन्तोष एवं आक्रोश का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है;जिसके माध्यम से नाटककार ने आधुनिक शहरी,किन्तु वहाँ के खोखले जीवन की दैनिक समस्याओं से जूझते हुए नारी एवं पुरुष की स्थितियों तथा मानवीय जीवन के निरन्तर कटते टूटते और बिखरते हुए सम्बन्धों एवं मूल्यों की ओर समकालीन मानव जाति का ध्यान आकृष्ट कराया है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय के किसी न किसी कोने में कुछ न कुछ अभाव का अनुभव करता है और उस अभाव की पूर्ति के लिये उसके मन में बराबर एक द्वन्द्व उठा करता है। जीवन के इसी अभाव तथा अपूर्णता की पूर्ति तथा अपने अधूरेपन को पूरा करने की आकांक्षा को नाटककार ने सावित्री तथा महेन्द्रनाथ के चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। नाटक के केन्द्रीय चरित्र महेन्द्रनाथ एवं सावित्री एक ऐसे दम्पति हैं जो सदैव अपने को अधूरा महसूस करते हैं और अपने इस अधूरेपन को सम्पूर्णता प्रदान करने की तलाश में इधर-उधर भटकते हुए अन्ततः अपने सम्पूर्ण परिवार को ही परिस्थितियों के गर्त में ढकेल देते हैं। किन्तु नाटक में उद्घाटित सावित्री तथा महेन्द्रनाथ का यह संघर्ष अथवा द्वन्द्व आज केवल एक व्यक्ति अथवा परिवार तक ही सीमित नहीं है वरन् अपने विस्तृत रूप में यह सम्पूर्ण समाज का संघर्ष है और वस्तुतः युग-जीवन के इस सत्य को सामान्यीकृत करने के उद्देश्य से ही नाटककार ने अपने इस नाटक में पुरुष पात्र महेन्द्रनाथ को एक पूर्ण पुरुष के रूप में न दिखाकार काले सूटवाला आदमी, पुरुष १, पुरुष २, पुरुष ३ तथा

पुरुष ४ इन पाँच रूपों में विभाजित किया है जो अन्ततः पुरुष एक महेन्द्रनाथ के ही प्रतिरूप है तथा आधुनिक शहरी जीवन के पुरुषों में किसी न किसी रूप में सर्वत्र सुलभ है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ नाटककार का अभीष्ट सावित्री तथा महेन्द्रनाथ के संघर्षमय जीवन को व्यक्तिगत रूप में न उभारकर जातिगत रूप में उभारना है जो उनके अपने युग का जीवित यथार्थ था। अपने इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ में काले सूट वाले से कहलवाया है --`जहाँ इस समय मैं खड़ा हूँ वहाँ मेरी जगह आप भी हो सकते थे ..... बात इतनी ही है कि विभाजित होकर भी मैं किसी न किसी अंश में आपमें से हर एक व्यक्ति हूँ।`[1] और सम्भवतः पात्रों के इस जातिगत रूप को उभारने के उद्देश्य से ही नाटककार ने अपने नाटकीय चरित्रों को कोई विशिष्ट व्यक्तित्व न देकर उन्हें स्त्री, काले सूट वाला आदमी, पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार, लड़का, बड़ी लड़की, छोटी लड़की आदि नामों से ही सम्बोधित किया है। यद्यपि बाद में उन्हें सावित्री, महेन्द्रनाथ, जुनेजा, सिंघानिया, जगमोहन, अशोक, बिन्नी तथा किन्नी नाम भी दिया गया है किन्तु यह नाटककार का अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार अपने विस्तृत रूप में राकेश का `यह नाटक आज की मौजूदा विडम्बना को, स्थिति को सामने लाता है। व्यापक दृष्टि से इसे टूटते-बिखरते, बिगड़ते-उलझते मानवीय सम्बन्धों की जटिलता का नाटक कह सकते हैं - जहाँ हर व्यक्ति अपूर्ण है और सम्पूर्णता की खोज में भटक रहा है।`[2] कथ्य के इस यथार्थोन्मुखी रूप के साथ ही नाटक के समस्त पात्र भी आधुनिक जीवन के यथार्थ, सशक्त एवं जीवन्त चरित्र है। समसामयिक जीवन की विषमताओं एवं विडम्बनाओं के पुंज मानव की पीड़ा ही उनकी पीड़ा है तथा उनके मानवीय सम्बन्धों को साकारता प्रदान करना ही इन नाटकीय चरित्रों का मुख्य उद्देश्य है।

अतः नाटक के नाम को सार्थकता प्रदान करते हुए नाटक आधे अधूरे के समस्त पात्र भी आधे और अधूरे ही हैं और अन्ततः अपने इस अधूरेपन को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। महेन्द्रनाथ में व्यक्तित्व और शख्सियत का अभाव है जिसे वह जुनेजा के सम्बन्ध से दूर करता है। सावित्री अपने अधूरेपन-धन के अभाव- को दूर करने

----

१. मोहन राकेश `आधे अधूरे`, पृष्ठ १०

२. गिरीश रस्तोगी `मोहनराकेश और उनके नाटक`, पृष्ठ १०९

के लिये अनेक धनवान तथा बड़े नाम वाले व्यक्तियों से सम्पर्क बढ़ाती है। बड़ी लड़की अपने अधूरेपन- बेगानेपन- को दूर करने के लिये अपनी माँ के प्रेमी मनोज के साथ घर से भाग जाती है। लड़का अपने अधूरेपन-अकर्मण्यता तथा बेगानियत को दूर करने के लिए अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटता है तथा यौन-विषयक रोमांसकारी पुस्तकों के पढ़ने में ही अपने जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों को व्यतीत करता है तथा छोटी लड़की के जीवन का अधूरापन-घर का तनावपूर्ण वातावरण उसे स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धी विषयों की ओर आकृष्ट कराता है। इस प्रकार नाटक का प्रत्येक पात्र अपने में सम्पूर्णता की तलाश करता हुआ नजर आता है किन्तु विडम्बना यह है कि पूर्णता की तलाश में वह अपने स्थान से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाता तथा अपने इस अधूरेपन का उत्तरदायी स्वयं को न मानकर दूसरों पर दोषारोपण करता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि परिवार के विघटन एवं जीवन के इस अधूरेपन का कारण परिवार का कोई एक व्यक्ति न होकर परिवार के सभी सदस्य होते हैं। सावित्री के माध्यम से जीवन के इस सत्य को उद्घाटित करते हुए जुनेजा कहता है -- 'असल बात इतनी ही है कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता, तुम्हारी जिन्दगी में तो साल दो साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने एक गलत आदमी से शादी कर ली है ..... क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है—कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी जगह न मिल पाता, इसलिये जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती तुम हमेशा ही इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती।'[1] जो सावित्री के साथ-साथ समाज की उस अतृप्त मनोवृत्ति की ओर संकेत है जहाँ मनुष्य सदैव अपने में पूर्णत्व की ही अभिलाषा करता है किन्तु अन्ततः असफल होकर जीवन की निराशाओं एवं विडम्बनाओं को झेलता रहता है।

घर के असन्तुष्ट एवं कलहपूर्ण वातावरण का परिवार के अन्य सदस्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नाटक में वर्णित लड़का, बड़ी लड़की तथा छोटी लड़की का चरित्र है। जो उन्हें किसी भी स्थिति में स्वाभाविक नहीं रहने देता। किन्नी के चरित्र के माध्यम से नाटककार ने किशोरावस्था के उस एक मनोवैज्ञानिक सत्य को भी प्रकट किया है। जब वह यह नहीं सोच पाता कि क्या

---

१. मोहन राकेश - 'आधे-अधूरे', पृष्ठ १०६

करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए -- `हाँ........ बड़े हो गये हैं। पता नहीं किस वक्त छोटे हो जाते हैं, किस वक्त बड़े हो जाते हैं।`[1] इस प्रकार किन्नी समकालीन जीवन का यथार्थ चरित्र है। वस्तुत: इस प्रकार के घरों में जहाँ माँ-बाप को अपने दिन रात के झगड़ों से ही फुर्सत नहीं मिलती, बच्चों का उचित रीति से पालन नहीं होता और इसका परिणाम होता है किन्नी जैसे असन्तुष्ट चरित्रों का विकसित होना, जो अपने परवर्ती रूप में कल की सावित्री बनकर पारिवारिक विघटन एवं असन्तुष्टि का एक महत्वपूर्ण कारण बनती है। इसके साथ ही नाटक के अन्त में नाटककार ने घर में `रबड़ स्टैम्प` बल्कि `रबड़ का टुकड़ा` जैसी अपनी स्थिति महसूस करने वाले महेन्द्रनाथ, जो पत्नी के प्रेमियों के प्रति घृणा-भाव के कारण घर से बाहर चला जाता है, का `ब्लड-प्रेशर` की अवस्था में घर की उन्हीं अपूर्ण स्थितियों में जो प्रत्यावर्तन कराया है, वह प्रत्यक्षत: समकालीन जीवन का यथार्थ ही है जहाँ स्त्री या पुरुष चाहकर भी इतने आसानी से एक दूसरे से अलग नहीं हो पाते। वरन् उनके बीच कुछ ऐसा सम्बन्ध सूत्र जुड़ा हुआ है कि जिन्दगी भर लड़ने झगड़ने के पश्चात् भी वह उनसे मुक्ति नहीं पा पाता।

इस प्रकार यह नाटक मध्यवर्गियों की असफल अभिलाषा, आकांक्षाओं के परिणामस्वरूप समकालीन आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न पारिवारिक असन्तोष, स्त्री-पुरुषों के आन्तरिक लगाव एवं तनाव तथा परिवार के पीढ़ीगत सम्बन्धों के कटते हुए मूल्यों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। जिसे नाटककार ने अपनी कलात्मक प्रतिभा द्वारा एक जीवन्त रूप दिया है।

किन्तु जहाँ राकेश ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के इस टूटते-बिखरते रूप को एक विवशता के रूप में चित्रित कर मध्यवर्गीय जीवन के सामाजिक यथार्थ का अन्तर्द्वन्द्व-पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है वहीं विष्णु प्रभाकर ने अपने नाटक `डॉक्टर` में वैवाहिक सम्बन्धों की स्थिरता को संदिग्ध बताते हुए पुरुषों की अनुदारता के प्रति बुद्धिवादी नारियों के कर्मठ प्रतिकार, विद्रोह तथा स्वावलम्बन का अन्तश्चेतनामूलक यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया है।

नाटक की नायिका मधुलक्ष्मी, पतिपरित्यक्ता बुद्धिवादी समाज की एक स्वावलम्बी एवं आत्माभिमानी नारी है जो पति सतीशचन्द्र शर्मा द्वारा केवल इसी

----

१. मोहन राकेश - `आधे-अधूरे`, पृष्ठ ६०

कारण से त्याग दी गयी है कि वह कम पढ़ी-लिखी होने के कारण अब अपने इन्जीनियर पति के योग्य नहीं है और वह उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर लेता है। किन्तु पत्नी मधुलक्ष्मी पति के इस अपमान एवं तिरस्कार को भाग्य की विडम्बना मानकर शान्त नहीं बैठ जाती वरन् उसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार कर साधारण मधुलक्ष्मी से डॉक्टर अनीला बन जाती है तथा एक नर्सिंग होम का संचालन कर अपने स्वावलम्बी एवं आत्माभिमानी रूप का परिचय देती है। अपने अन्तर्मन की व्यथा, कुण्ठा एवं पीड़ा को दबाकर वह नर्सिंग होम में जिस तत्परता, लगन एवं सक्रियता से काम करती है उसने इसे एक ख्याति प्राप्त डॉक्टर बना दिया है और उसकी इस प्रशंसा को सुनकर ही इन्जीनियर सतीशचन्द्र अपनी दूसरी पत्नी, जो एक प्राणघातक रोग से ग्रस्त है, को लेकर इस नर्सिंग होम में आता है। किन्तु सतीशचन्द्र की पत्नी के रूप में इस नई मरीज का आगमन डॉ० अनीला के मन को पूर्णतः झकझोर देता है, उसके अवचेतन में बैठी सुप्त कामेषणा पुनः जाग्रत हो जाती है और वह बदले की भावना से भरकर अपने कर्तव्यपथ से विचलित होने लगती है। किन्तु इसी समय एक ओर जहाँ उसका अहं उसे पति से बदला लेने के लिये प्रेरित कर रहा था वहीं दूसरी ओर उसका डाक्टर व्यक्तित्व उसे उसके कर्तव्य के प्रति सचेत कर रहा था। अतः इस नई मरीज को लेकर उसके मन में प्रतिशोध एवं कर्तव्य का एक द्वन्द्व खड़ा होता है जो अन्ततः उसके जीवन को अस्थिर एवं विक्षिप्त बना देता है और वह यह निर्णय नहीं कर पाती कि वह क्या करे ? अपने मन के इसी अन्तर्द्वन्द्व को स्वर देते हुए वह एक स्थान पर कहती है :- `आखिर आपरेशन करना ही होगा पर मैं वह आपरेशन नहीं करूँगी। नहीं करूँगी। ..... लेकिन सब इन्तज़ाम हो चुका है। सबको मालूम है कि आपरेशन होना है क्या कहेंगे ? ..... कुछ भी कहें मैं आपरेशन नहीं करूँगी ..... लेकिन (एकदम गिर जाती है) ओह मैं क्या करूँ ..... मैं क्या करूँ।'[1] वस्तुतः यहाँ कर्तव्य और मन का यह टकराव ही नाटक की आत्मा है, जो अन्ततः उसका पीछा नहीं छोड़ता। वरन् आपरेशन के समय भी उसके अन्तर्मन की यह आवाज --`डॉ० अनीला। शाबास, यही सुनहरा अवसर है। अपनी इच्छा पूरी करो। अपना बदला लो, नारी के अपमान का बदला लो। ..... सुनो अनीला। सुनो ! मैं मधुलक्ष्मी हूँ,

---

१. विष्णु प्रभाकर - `डॉक्टर`, पृष्ठ ८२

मुझे भूलो मत । मैं ही तुम्हारे जन्म का, तुम्हारी प्रगति का, तुम्हारी शोहरत का कारण हूँ । मैं नारी का बदला चाहती हूँ । मैं पुरुष को तड़पते देखना चाहती हूँ । ....[1] उसे उसके कर्तव्यपथ से विमुख करने का प्रयास करती है । किन्तु वह नारी के साथ-साथ एक डॉक्टर भी है अत: अपने अन्तर्मन की आवाज को दबाकर वह श्रीमती शर्मा का सफल आपरेशन करती है और इस प्रकार उसको एक प्राणघातक रोग से मुक्त कर वह पति सतीशचन्द के मुखपर प्रत्युपकार का तीखा तमाचा मारकर सम्पूर्ण अहम्मन्य पुरुष जाति के प्रति बुद्धिवादिनी नारी के प्रतिकार का आदर्श प्रस्तुत करती है । यद्यपि डॉ० अनीला के इस कार्य से नाटक आदर्शवाद की ओर झुका हुआ दिखाई देता है किन्तु मूलत: यदि देखा जाय तो यहाँ पर वह पति के प्रति किसी आस्था अथवा विश्वास के कारण ऐसा करने को बाध्य नहीं हुई है वरन् उसके इस कार्य के पीछे उसके कर्तव्य की प्रेरणा है जो एक डॉक्टर होने के नाते उसका मुख्य धर्म था । अत: आदर्श की ओर झुके होने पर भी नाटक अयथार्थ नहीं लगता ।

पुरुष जाति की अहम्मन्यता के प्रति बुद्धिवादिनी नारी के इसी प्रतिकार को डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल ने अपने 'मादा कैक्टस' में सुजाता की प्रतिशोधग्रन्थि के रूप में चित्रित किया है । अनीला की भाँति ही सुजाता भी पति अरविन्द द्वारा केवल इसलिये त्याग दी गयी थी क्योंकि वह मानसिक स्तर पर पति के कला सृजन को कोई मूर्त प्रेरणा नहीं देती । किन्तु अपने चरित्र को पति की इन निराधार उक्तियों 'पत्नीत्व कलाकार को दुख देता है, उसकी कला को खा लेता है ।' पर खरा सिद्ध करने के लिए वह न केवल एक गर्ल्स कालेज में लेक्चरार बनती है वरन् एक प्रसिद्ध उपन्यासकार दिवाकर की पत्नी बनकर कलाकार अरविन्द की कला पर विस्तृत लेख भी लिखती है और इस प्रकार चित्रकला सम्बन्धी अपनी सूक्ष्म पकड़ एवं समझ का परिचय देकर अपने अहम्मन्य पति को चुनौती भी देती है । उसके इन शब्दों में 'मैं कभी भी विवाह पर राजी न होती, पर मुझे परीक्षा देनी थी अपने विवाह की । ..... मैं यहाँ अपनी परीक्षा का रिजल्ट सुनाने आयी थी ; और देखने भी । अच्छा हुआ एक ही साथ सब हो गया ।'[2] पुरुषों की अहम्मन्यता से प्रताड़ित नारी की पीड़ा ही एक चुनौती का रूप धारण कर सामने आयी है जिसे नाटककार ने मादा कैक्टस के प्रतीकरूप

---

१. विष्णु प्रभाकर - 'डॉक्टर', पृष्ठ १२५

२. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, 'मादा कैक्टस', पृष्ठ ७६

में प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रदान की है।

पति-पत्नी के इन्हीं आधारभूत सम्बन्धों को आधार बनाकर डॉ० लाल ने 'रातरानी' नामक एक और नाटक की रचना की। यद्यपि प्रत्यक्षत: इसमें उन्होंने जयदेव और कुन्तल के माध्यम से पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के बीच फैली युगव्यापी समस्या श्रम और पूँजी के संघर्ष को ही सुलझाने का प्रयास किया है किन्तु नाटक की मूल समस्या अर्थ और आदर्श के बीच संघर्ष की पृष्ठभूमि में पति-पत्नी के परस्पर संबंधों का ही विश्लेषण है और यही कारण है कि 'इसमें नाटक का निर्माण घटनाओं के चयन की अपेक्षा पात्रों के कार्य, उनके कर्म तथा उनकी चेतना के विकास, संघर्ष और द्वन्द्व के आधार पर होता है।'[1] जिसे नाटककार ने निरंजन और सुन्दरम् की प्रतिपदा में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

कुन्तल और जयदेव आधुनिक दम्पति हैं। जयदेव अर्थयुग में जीने वाला एक आधुनिक पूँजीपति है जो हर चीज का मूल्य रुपये में ही आँकता है उसके लिए 'रूप चरित्र, विद्या और कला-साहित्य इन सबसे बड़ा रुपया है'[2]। फलत: वह प्रेस कर्मचारियों पर अन्याय तो करता ही है, पत्नी को भी उसकी इच्छा के विरुद्ध नौकरी करने के लिये मजबूर करता है। इसके अतिरिक्त निरंजन योगी तथा प्रकाश जिनसे भी उसकी मित्रता है वह भी उसके निजी स्वार्थों के ही कारण है। इसके विपरीत कुन्तल मानवीय आदर्शों से ओत-प्रोत एक भावनामयी नारी है जो सबके प्रति सद्भावनापूर्ण व्यवहार रखते हुए विवाह को स्त्री-पुरुष के आत्मदर्शन का माध्यम तथा पति को एक व्यक्ति नहीं वरन् एक संस्था के रूप में स्वीकार करती है। अत: पति की आज्ञा-पालन अपना धर्म समझती है। किन्तु विचारों की असमानता के कारण उनमें सामंजस्य नहीं हो पाता और वह मन ही मन जयदेव से असन्तुष्ट रहने लगती है। इसी समय अकस्मात् उसकी भेंट अपने पूर्व प्रेमी निरंजन से होती है यद्यपि उसके पिता को दहेज में ५ हजार रुपये न दे पाने के कारण उन दोनों का विवाह तो नहीं हो पाता किन्तु विचारों की समानता के कारण वह एक दूसरे को भूल भी नहीं पाते। जयदेव से असामंजस्य की स्थिति में कुन्तल तो मन ही मन उसे चाहती ही है। निरंजन भी

---

१. जयदेव तनेजा - 'समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि', पृष्ठ १३४

२. डॉ. लक्ष्मीनारायणलाल - 'रातरानी', पृष्ठ ४६

अपने पिता की हठधर्मितावश किये गये अपने पूर्वकृत्यों के कारण आत्मग्लानि का अनुभव करता है और उसके प्रायश्चित के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने को तैयार है। नाटक के दूसरे अंक में सुन्दरम के साथ उसे देखकर कुन्तल का काँप उठना, सलज्ज माथा झुका लेना, कुन्तल का स्वयं काफी लेकर आना और उसे देखकर जाते हुए निरंजन का बंधा सा खड़ा रह जाना तथा इसी अंक के दूसरे दृश्य में निरंजन तथा कुन्तल का परस्पर समान रुचियों पर बात करना आदि प्रसंग इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

किन्तु एक और जहाँ कुन्तल निरंजन को चाहती है वहीं दूसरी ओर उसके अचेतन में निरंजन के इस कायरतापूर्ण कृत्य के प्रति आक्रोश भी है। इस सन्दर्भ में जयदेव और कुन्तल का यह वार्तालाप द्रष्टव्य है :-

'जयदेव - हूँ। निरंजन बाबू के हृदय नहीं है क्या ?

कुन्तल - अगर वह होता तो उन्हें पहले मेरी चोट का अन्दाज होना चाहिए था।'[1]

किन्तु फिर भी अन्दर ही अन्दर वह उसे चाहती है जिसने उसके जीवन में एक द्वन्द्व खड़ाकर दिया है। बीमारी की हालत में बार-बार उसका यह स्वप्न देखना 'एक बड़ा सा सुनसान महल, जिसमें सुनहरे कागज के फटे हुए पन्ने तेज हवा में चारों ओर उड़ रहे हैं। मैं उन उड़ते हुए पन्नों का पीछा करती हुई सारे कमरों में दौड़ रही हूँ, पर मेरे हाथ कुछ भी नहीं आता ......।'[2] वस्तुत: उसके जीवन के सूनेपन और निरंजन को पाने की असफल चेष्टा को ही संकेतित करता है।

इसी प्रकार जयदेव से कहे गये कुन्तल के इस कथन 'आप कहते हैं न कि आप में 'डबल पर्सनैलिटी है— एक आप मेरे पति दूसरा आपका बाहर का[3] व्यक्तित्व। मेरे पास भी दो शक्तियाँ हैं -- एक मेरा शरीर दूसरी मेरी आत्मा।' में भी उसकी यह द्विविधापूर्ण मन:स्थिति ही व्यक्त हुई है। जहाँ वह शरीर से जयदेव की पत्नी होते हुए भी आत्मा से निरंजन को ही चाहती है। किन्तु नाटक के अन्त में वह अपने त्याग द्वारा जयदेव के प्रेम को पुन: प्राप्त कर लेती है और जयदेव अपनी गलती महसूस करते

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल - 'रातरानी', पृष्ठ १०८

२. ,, ,, ,, , पृष्ठ १११

३. ,, ,, ,, , पृष्ठ १०६

हुए कहता है, 'कुन्तल मैंने तुमसे कहा था न, मेरे पास दो व्यक्तित्व है— पर आज मैं तुमसे कहता हूँ कि ये दोनों झूठे हैं।...... तुम नहीं जानती मैं, अकेले कितना निर्बल हूँ।'[1]

इस प्रकार अपने इस नाटक में नाटककार ने कुंतल के इस पत्नी और प्रेमिका के द्वन्द्व को प्रस्तुत कर समसामयिक पूँजीवादी युग की एक संघर्षपूर्ण गम्भीर समस्या का स्पर्श तो अवश्य कराया है किन्तु अन्त भावुकतापूर्ण होने के कारण नाटक यथार्थवादी दृष्टि से किसी मौलिक उपलब्धि को प्राप्त नहीं कर सका है।

पति-पत्नी के इन्हीं सामाजिक वैयक्तिक सम्बन्धों की तनावपूर्ण स्थिति को लक्ष्य कर मन्नू भंडारी ने 'बिना दीवारों का घर' नाटक की रचना की। इसमें लेखिका ने एक पढ़ी लिखी पत्नी की बढ़ती लोकप्रियता से पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों में पड़ती हुई दरार को आत्मीयतापूर्ण चित्रण करते हुए समसामयिक मध्य-वर्गीय पारिवारिक विघटन का यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है। वस्तुत: आज शिक्षा के प्रसार तथा आर्थिक विषमताओं के कारण पुरुष ने नारी को घर की चहारदीवारी से निकलने की अनुमति तो अवश्य दे दी है, परन्तु इसके साथ ही सदियों से चले आते हुए उसके अहंभाव ने उसमें एक मानसिक तनाव भी उत्पन्न कर दिया है जिसके कारण वह नारी के चरित्र तथा उसकी बढ़ती लोकप्रियता को हमेशा एक संदिग्ध दृष्टि से देखता है। नाटक का केन्द्रीय चरित्र अजित एक ऐसा ही अहम्मन्य एवं द्विधात्मक दृष्टि का पुरुष है जो पहले तो पत्नी शोभा को पढ़ा लिखा कर इस योग्य बनाता है कि वह भी अन्य पढ़ी लिखी स्त्रियों की भाँति घर के बाहर निकलकर कुछ कर सकने में समर्थ हो सके। किन्तु जब वह पढ़लिखकर एक कालेज में प्रिंसिपल हो जाती है तो अजित उसकी योग्यता को संदिग्ध दृष्टि से देखता है और उसके चरित्र पर शक कर उसे नौकरी छोड़ने के लिये कहता है। किन्तु शोभा एक पढ़ी-लिखी पत्नी होने के नाते इसे अपने स्वाभिमान पर आघात समझ कर उसकी अवज्ञा करती है और दोनों का यह टकराव एक तनाव का रूप धारण कर लेता है जिसका अन्त उनके सम्बन्ध विच्छेद में जाकर होता है।

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल 'रातरानी', पृष्ठ १३३

इस प्रकार विषय की दृष्टि से यह सारा नाटक यद्यपि मानसिक कुंठाओं और आन्तरिक घुटन से भरा पड़ा है किन्तु जटिलताओं के धरातल पर यह कुंठित पात्र कोई गहन नाटकीय अनुभूति नहीं जगाते। साथ ही मंचीय भाषा तथा आवश्यक संघर्ष के अभाव में यह सारा नाटक घिसटता सा लगता है।

किन्तु जहाँ मोहन राकेश, विष्णुप्रभाकर तथा डॉ० लाल ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बीच उत्पन्न तनावपूर्ण स्थिति का मूल कारण सामाजिकों की अहमन्यता को मानकर सामाजिक जीवन का अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण मनोविश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत किया है वहीं वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने 'खिलौने की खोज' में इसका मूल कारण सामाजिक विधि निषेध एवं रूढ़िवादिता को मानते हुए उनसे उत्पन्न विकृतियों का मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतनामूलक समाधान प्रस्तुत किया है। यह एक सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सामाजिक विधि-निषेधों एवं मर्यादा पालन के कारण व्यक्ति के जीवन की अनेक अभिलाषाएँ अतृप्त रह जाती है और व्यक्ति के चेतन मानस से जब उनका सामंजस्य नहीं हो पाता तो उसकी वही अभिलाषाएँ मानसिक ग्रन्थि के रूप में व्यक्ति के अवचेतन मन में स्थित हो धीरे-धीरे कुण्ठा का रूप धारण कर लेती है जिसका चेतन परिणाम होता है मनुष्य की शारीरिक रुग्णता एवं असंगत आचरण। नाटक की प्रमुख नारी पात्र सरूपा अवचेतन की इसी छलना की शिकार है जिसने उसे शारीरिक रूप से रोगी बना दिया है। सरूपा बचपन में सलिल नामक एक व्यक्ति से प्रेम करती है किन्तु सामाजिक मर्यादा के कारण उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध तालगाँव के एक रईस सेतुचन्द से कर दिया जाता है और उसका वह पूर्व प्रेम मर्यादा ज्ञान के कारण एक कुंठा के रूप में उसके अवचेतन में चला जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि यह उसे उसके वैवाहिक जीवन एवं सन्तान के प्रति उदासीन बना देता है। किन्तु वही दमित स्मृतियाँ मनोविश्लेषण के आधार पर, एक खिलौने (चाँदी की बनी स्वयं सरूपा की मूर्ति जो सलिल के पास थी और उसका पुत्र उसे उठा लाया था) के माध्यम से, जब डॉ० सलिल(उसका वही प्रेमी जो अब डॉक्टर बनकर उसी गाँव में रहने लगा है) द्वारा उसके चेतन पटल पर लायी जाती है तो वह स्वस्थ होने लगती है।

इस प्रकार स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बीच उत्पन्न तनावपूर्ण स्थिति के उद्घाटन के क्रम में यद्यपि नाटककार ने अपने इस नाटक में युग की एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक समस्या तथा उसके मनोवैज्ञानिक निदान का स्पर्श कराने का प्रयत्न किया है किन्तु घटनाओं तथा दृश्यों की बहुलता के कारण नाटक में वह सूक्ष्मता एवं व्यंजकता नहीं

आ पायी है जो नाटक को हृदयग्राही बना सके । इसके अतिरिक्त इसमें मनोविश्लेषण के विपरीत प्रचारात्मकता का भाव ही अधिक है ।

व्यक्तित्व संघटन की समस्या :

स्वातन्त्र्योत्तर युग में बदलते सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के कारण आज जीवनादर्शों में जो परिवर्तन हो रहा है उसने सामाजिकों, विशेषकर बुद्धिजीवी कलाकारों एवं साहित्यकारों के जीवन में एक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिया है उनके एक ओर यदि अपने प्राचीन संस्कार अथवा परम्परायें हैं तो दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न नवीन विचार अथवा मान्यतायें । किन्तु दोनों के सामंजस्य के अभाव में उनके समक्ष व्यक्तित्व संघटन की एक नई समस्या उत्पन्न हो रही है जिसने उनके जीवन को अत्यन्त संघर्षमय बना दिया है । युग-यथार्थ का चित्रण करते हुए, देश के कुछ संवेदनशील नाटककारों की दृष्टि समाज की इस समस्या की ओर गयी जिसका सूक्ष्म विश्लेषण उन्होंने अपने नाटकों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

डॉ० लाल कृत 'मादा कैक्टस' कलाकार के जीवन की इसी असामंजस्यपूर्ण स्थिति को लेकर लिखा गया एक नाटक है इसमें नाटककार ने अरविन्द नामक एक कलाकार के थोथे दम्भपूर्ण जीवन के रहस्योद्घाटन द्वारा समाज के उस दिशाभ्रान्त एवं आधुनिक कहलाने वाले कलाकार वर्ग पर व्यंग्य किया है जो कला की ओट में अपने स्वार्थों को छुपाकर अपने को अत्याधुनिक समझने का झूठा दंभ भरता है और इस प्रकार कला के नाम पर अपने दायित्वों से छुटकारा पाने का मिथ्याचरण करता है । प्रस्तुत नाटक के केन्द्रीय चरित्र कलाकार अरविन्द के जीवन की मूल समस्या सामाजिक स्नेह सम्बन्ध तथा कलाकार के दायित्व का द्वन्द्व है । इन दोनों के द्वन्द्व में उलझकर तथा अपने दायित्व के प्रति सजग होकर वह सामाजिकता पर कितना अन्याय करता है, कला के नाम पर अपने दायित्वों के प्रति उदासीन हो वह पत्नी सुजाता तथा आनन्दा के जीवन को किस प्रकार निरर्थक बना देता है इसे नाटककार ने मादा कैक्टस के प्रतीक रूप में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है । अपने कलाकार व्यक्तित्व के प्रति सजग अरविन्द की धारणा थी कि जिस प्रकार मादा कैक्टस के संयोग से नर कैक्टस सूख जाता है उसी प्रकार नारी के सम्पर्क से कलाकार की कला

निर्जीव हो जाती है अत: वह नारी को अपने व्यक्तित्व के ऊपर आरोपित मानकर उसकी उपेक्षा करता है। पत्नी सुजाता के तिरस्कार के मूल में उसका यह कलाकार हृदय ही क्रियाशील था जो अरविन्द के इन शब्दों से स्वत: स्पष्ट है 'दद्दा जी, जब से सुजाता से मेरा विवाह हुआ है, तब से मुझे लग रहा था कि मैं रिक्त होता जा रहा हूँ, मेरी सारी प्रतिभा, रचनात्मक शक्ति क्षीण होती जा रही है।'[1] किन्तु वास्तविकता यह है कि वह उसके बिना रह भी नहीं सकता। वस्तुत: यहाँ मादा कैक्टस के सम्बन्ध में गंगाराम से कहा गया अरविन्द का यह कथन, 'तुम क्या समझोगे! तभी तो यह इतनी अमूल्य है। बिना इसके मैं एक क्षण नहीं रह सकता। इससे प्रेरणा लेकर तो मैंने अमूल्य चित्र बनाए हैं और अभी न जाने कितने अपूर्ण चित्र बनाऊँगा।'[2] अप्रत्यक्षरूप से उसके व्यक्तिगत जीवन पर ही चरितार्थ होता है। और यही कारण है कि पत्नी सुजाता पर कलाकार को दुख देने का आरोप लगाते हुए भी वह पुन: नारी आनन्दा के सम्पर्क में आता है तथा उसकी प्रेरणा ग्रहण कर जीवन पर्यन्त साथ रहने का वादा करता है - 'हम और आनन्दा एक दूसरे को बड़े भाग्य से मिले हैं। हम जीवन पर्यन्त इसी भाँति आनन्द और प्रेरणा से एक दूसरे के संग रहेंगे।'[3] किन्तु आनन्दा के साथ उसका यह स्नेह सम्बन्ध सहज-स्वाभाविक न होकर मात्र वायवीय ही था अत: किसी सुदृढ़ आधार के अभाव में नारी आनन्दा के जीवन को ही नि:शेषकर देता है। नाटक के अन्त में मादा कैक्टस के सूख जाने का संकेत वस्तुत: उसके इस सतही दृष्टिकोण की कृत्रिमता को ही व्यंजित करता है।

इस प्रकार नाटककार ने यहाँ वनस्पतिशास्त्र की इस मान्यता कि मादा कैक्टस के निकट सम्पर्क से नर कैक्टस सूख जाता है, को मानवीय सन्दर्भों में उलटा सिद्ध करके वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में कलाकार के व्यक्तित्व संघटन की समस्या का एक रूप तो प्रस्तुत किया ही है साथ ही सामाजिक दायित्वों के प्रति उदासीन बुद्धिवादी समुदाय के सतही दृष्टिकोण की निन्दा भी की है जो आधुनिक सिद्धान्तों के मोह में जीवन की आवश्यकताओं की अवहेलना कर बुद्धिवादी बनने का दावा तो करते हैं किन्तु उसमें असफल होने पर अपनी असमर्थता के लिए दूसरों पर दोषारोपण करते हैं। उनकी इसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए दद्दा एक स्थान पर कहते हैं 'क्या खूब। तो अरविन्द कैक्टस है। अरविन्द और कैक्टस! वाह - - - वाह। पर ये कैक्टस, बहादुर फिलासफर पाँडे केवल एक ही कारण से सूखते हैं, ... वह भी मादा कैक्टस

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - 'मादा कैक्टस', पृष्ठ ६४
2. वही ,, पृष्ठ ३५
3. ,, ,, , पृष्ठ ५८

के सम्पर्क मात्र से ।.....[1]

`मादा कैक्टस` के अतिरिक्त साहित्यकार के व्यक्तित्व संघटन की समस्या को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में लक्ष्मीकान्त वर्मा का `आदमी का जहर` तथा नरेश मेहता का `सुबह के घण्टे` भी उल्लेखनीय है । लक्ष्मीकान्त वर्मा का `आदमी का जहर` एक लघु नाटक है । यद्यपि प्रत्यक्षत: इसमें समाज कल्याण अथवा समाज सुधार के नाम पर चलने वाली समितियों पर व्यंग्य किया है किन्तु इसकी मूल समस्या अपने को आधुनिक सभ्यता के रंग में न ढाल पाने वाले एक सहृदय साहित्यकार के व्यक्तित्व संघटन की समस्या है । नाटक का नायक शरन, जो एक साहित्यकार तथा पशु रक्षिणी समिति का संयोजक है, अपने अस्तित्व को बनाये रखने की अपेक्षा जीवन के आधारभूत मूल्यों तथा प्रतिमानों के विषय में चिन्तित है और अपने इसी स्वभाव के कारण वह अपने को आज की कृत्रिम एवं आडम्बरपूर्ण सभ्यता में फिट नहीं कर पाता । अत: अपने को संयोजक पद के लिये अयोग्य घोषित किए जाने पर वह कहता है --"मैं सचमुच अपनी असमर्थता पहचानता हूँ । बात यह है कि मिसेज कल्पना कि आप और आपके पति मि० राम करुणा को नकाब की तरह ओढ़ सकते हैं । जब चाहें उतारकर आराम कर सकते हैं । मुझसे यह नहीं हो पाता । इसीलिये शायद मैं इस संस्था के अयोग्य हूँ । इसी के लिए नहीं, इस सारी व्यवस्था में मिस फिट हूँ ।[2] किन्तु नाटक के अन्तर्गत नाटक की योजना द्वारा नाटककार ने आर्थिक विषमताओं से जूझते साहित्यकार महिम के जीवन की जिस समस्या को उठाया है व्यापक रूप में वह आज के अधिकांश साहित्यकारों की समस्या है । आज की संघर्षशील परिस्थितियों में साहित्यकार के समक्ष एक ओर जहाँ साहित्य का व्यापक क्षेत्र है वहीं दूसरी ओर उसका अभावमय सांसारिक जीवन । इन दोनों के बीच पड़कर उसका साहित्यकार व्यक्तित्व किस भाँति चूर-चूर हो जाता है । इसका हृदयविदारक चित्र नाटककार ने महिम के व्यक्तित्व संघटन की समस्या के माध्यम से प्रस्तुत किया है । यद्यपि एक स्थिति ऐसी आती है जब वह सामाजिक विषमताओं से तंग आकर अपने को साहित्य कर्म से अलग कर लेना चाहता है किन्तु एक सच्चे साहित्यकार की विडम्बना यह है कि वह चाहकर भी उससे अलग नहीं हो पाता, उससे अलग होकर अपने को अकेला महसूस करता है ।

---

१. लक्ष्मीनारायण लाल - `मादा कैक्टस`, पृष्ठ ३६
२. लक्ष्मीकान्त वर्मा - `आदमी का जहर`, पृष्ठ ४७-४८ ।

किन्तु `सुबह के घण्टे ` में एक साहित्यकार की इन वैयक्तिक नारी प्रेम और कला की समस्या के साथ ही युगीन सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक समस्याएँ भी समाविष्ट है जो अपनी विकरालता में उसके सचेतन व्यक्तित्व को पूर्णत: नि:शेष कर देती है। नाटक का नायक रमन एक ऐसा ही संवेदनशील व्यक्ति है जो अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण युगीन परिस्थितियों से सामंजस्य के अभाव में आज जेल की कोठरी में बैठा अपने जीवन के घण्टे गिन रहा है। इस समय रात के बारह बजे हुए हैं सुबह उसे फाँसी लगने वाली है। इन पाँच घण्टों में अपने सम्पूर्ण बीते जीवन को स्मृति पटल पर उतार कर वह अपने जीवन का जो कारुणिक चित्र प्रस्तुत करता है उसके माध्यम से नाटककार ने जीवन के इस सत्य को सामने रखना चाहा है कि आज की परिस्थितियों में जहाँ चारो ओर अव्यवस्था, शोषण, अन्याय, स्वार्थपरता और बलात्कार का बोलबाला है, यदि कोई संवेदनशील व्यक्ति जिसमें थोड़ी भी सहानुभूति अथवा मानवता है, अपने सिद्धान्तों के सहारे सामान्य जीवन व्यतीत करना चाहे तो परिस्थितियाँ उसे जीने नहीं देती। यहाँ रमन के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि वह कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य क्रान्तिकारी और समाजवादी होते हुए भी मूलत: मानवतावादी था, वह जीवन को राजनीति नहीं, नीति मानकर उसे पूजा की वस्तु समझता था तथा सत्य को सम्पूर्ण और समग्र रूप में देखने का अभिलाषी था। और अपने इन्हीं मौलिक विचारों के कारण उसने समय-समय पर पार्टी का विरोध भी किया। पार्टी के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उसका विश्वास था कि `मार्क्स ने जो सत्य कहे हैं, तब वे विशेष युग और परिस्थितियों में कहे थे, आज कम्युनिस्टों को गाँधी की आवश्यकता है और गाँधीवादियों को मार्क्स की।'[1] जिसका परिणाम यह हुआ कि वह न तो पार्टी का होकर रह सका और न ही सरकार की कोप दृष्टि से बच सका।

इस प्रकार मनोविश्लेषण के आधार पर नाटककार ने यहाँ रमन के माध्यम से एक संवेदनशील व्यक्ति की जिस करुण कथा को प्रस्तुत किया है, वह आज सिर्फ रमन की ही समस्या नहीं है वरन् समकालीन परिस्थितियों में अधिकांश बुद्धिजीवियों को इस समस्या का सामना करना पड़ता है। किन्तु घटनाओं के रूप में जीवन के एक व्यापक धरातल को अपने नाट्य विषय के रूप में स्वीकार करने के कारण यह नाटक, नाटक की अपेक्षा उपन्यास के अधिक निकट पहुँच गया है।

---

1 नरेश मेहता - `सुबह के घण्टे' पृष्ठ १३६

आधुनिक विसंगतियों से पूर्ण एब्सर्ड नाटक :

यह नाट्य विधा का वह नवविकसित रूप है जिसमें नवनिर्मित जीवन मूल्यों तथा युगीन विसंगतियों को स्वर देने के साथ ही उसे प्रस्तुत करने के लिये शिल्प के भी एक सर्वथा नवीन विसंगत रूप का सहारा लिया गया और वह था यथार्थ के बीच हास्य-व्यंग्य, उछल कूद और बेतुकेपन का प्रयोग, जो अपने बेतुकेपन अथवा विसंगत रूपाकार-जहाँ न तो कोई कथा है और न ही कोई घटनाक्रम वरन् कुछ असंगत अर्थात् ऊट-पटाँग संवादों के प्रयोग तथा शब्दों की पुनरावृत्ति के माध्यम से युगीन विसंगतियों तथा स्थिति के खोखलेपन को स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है - के कारण विसंगत अर्थात् 'एब्सर्ड' नाटक के नाम से जाना गया । नाटक के इस नवीन शिल्प के संबंध में उनका विश्वास था कि 'कथा-विहीनता, हास्य व्यंग्य और बेतुकी स्थितियों के जाल में ऐसी सम्मोहन शक्ति है कि दर्शक नाटक की स्वत:पूर्ण दुनिया का हिस्सा बन जाता है ।'[१] अत: उन्होंने नाटक के परम्परित कथात्मक रूप को परित्याग कर नाट्य कथा अथवा शिल्प की दृष्टि से एक सर्वथा नवीन रूप का सहारा लिया, जो प्रत्यक्षत: उनपर पाश्चात्य का प्रभाव था ।

वस्तुत: स्वतन्त्रता के उपरान्त, जबकि हिन्दी नाटककार यथार्थवाद की सीमाओं से परिचित हो हिन्दी नाटकों के लिये एक नवीन दिशा की तलाश में था, कुछ नाटककारों की दृष्टि पाश्चात्य नाटकों की ओर गयी जहाँ महायुद्धोत्तर परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न जीवन के जटिल भावबोध को अभिव्यक्ति देने के लिये सर्वत्र एब्सर्ड नाटकों का बोलबाला था,जो अपने विसंगत संवादों तथा बेतुकी स्थितियों द्वारा युगयथार्थ के खोखलेपन तथा जीवन के खोए, छिपे एवं दबे यथार्थ को प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे । सन् १९५२ में लिखा गया बेकेट का 'वेटिंग फ़ार गोदो' इस नवीन नाट्य शिल्प का प्रमुख आकर्षण है, जिससे प्रभावित होकर हिन्दी नाटककारों ने भी अपने नाटकों में युगीन विसंगति के आन्तरिक सत्यों को उद्घाटित करने के लिये नाटकों के इस नवीन एवं विसंगत शिल्प का सहारा लिया । किन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि हिन्दी नाटक में इस नवीन शिल्प का आगमन पाश्चात्य महायुद्धोत्तर परिस्थितियों का प्रत्यक्ष परिणाम न होकर स्वातन्त्र्योत्तर भारत की

---

१. भुवनेश्वर, 'कारवाँ तथा अन्य एकांकी', पृष्ठ १६

विसंगतिपूर्ण राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम है जो द्वितीय महायुद्धोत्तर परिस्थितियों से अनुप्राणित होती हुई सन् ६० के करीब भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में सामने आ रही थी। अत: पाश्चात्य से प्रभावित होते हुए भी स्वातन्त्र्योत्तर युग में लिखे गये यह नाटक पाश्चात्य नाटकों के अन्धानुकरण नहीं थे वरन् इन नये नाटकों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सन् ५०-५५ के आस-पास जगदीश चन्द्र माथुर, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती ने अपने सांस्कृतिक, ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से युगीन विसंगतियों के जिस जटिल भावबोध का स्पर्श कराया था तथा हिन्दी नाटक को जीवन के यथार्थ से जोड़कर उसे एक सर्वथा नवीन रूप दिया था, जीवन के उसी भावबोध को और अधिक गहराई से पकड़ने के लिये उनके समकालीन विपिन अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा, शम्भूनाथ सिंह, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, अमृतराय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, हमीदुल्ला, सत्यव्रत सिन्हा, मणिमधुकर, मुद्राराक्षस तथा ब्रजमोहन शाह ने पाश्चात्य नाटकों के एब्सर्ड शिल्प से प्रभावित होकर हिन्दी नाटकों में भी शिल्प सम्बन्धी विविध प्रयोग किये, जो अपने नवीन शिल्प के कारण साठोत्तरी नये नाटक के नाम से जाने जाते हैं। सन् ६० के आस-पास लिखे गये इन नये नाटकों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ० रीता कुमार ने लिखा है कि, 'वस्तुत: नया नाटक यथार्थ के बीच हास्य-व्यंग्य और बेतुकेपन को जोड़कर अपने युग और मानव की विसंगत स्थिति को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है। वह पुराने नाटक की तरह कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करता अपितु प्रश्नों को मूर्त रूप देकर दर्शक को आत्मसाक्षात्कार करने के लिए विवश करता है।[१] परम्परा को एक नया आयाम देता है, सच पूछा जाय तो हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद अपने विशद रूप में स्वातन्त्र्योत्तर युग में रचित इन नये नाटकों में ही सामने आया है किन्तु साहित्य की एक प्रमुख धारा के रूप में इनका पूर्ण विकास सन् ७० के बाद ही हुआ अत: समय सीमा के कारण इनका सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत प्रबन्ध में सम्भव नहीं है।

किन्तु पाश्चात्य से प्रभावित होते हुए भी हिन्दी नाट्य जगत में काल-क्रम की दृष्टि से भुवनेश्वर इस प्रयोगशील नाट्य-परम्परा के प्रथम संवाहक माने जाते हैं।

---

१. डॉ० रीता कुमार, 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में', पृष्ठ ५०

यद्यपि उनके प्रारम्भिक नाटकों की मूल संवेदना समसामयिक नाटककारों की भाँति प्रेम अथवा विवाह की संस्था से ही सम्बन्धित है जहाँ यथार्थ कथानक में बंधकर आता है किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-४५) के समय परिवर्तित जीवन मूल्यों को देखकर उन्होंने महसूस किया कि आज जीवन की इस जटिल भावभूमि में प्रेम के त्रिकोण रचना व्यर्थ और बेमानी है उनसे लोगों का मनोरंजन तो हो सकता है किन्तु कला का विकास नहीं । अत: अपने परवर्ती नाटकों में उन्होंने प्रेम और विवाह की इस व्यक्तिगत समस्या के स्थान पर समकालीन व्यापक परिवेश में व्याप्त मूल्य-संकट, विघटन, नीरवता, संत्रास, घुटन, राजनैतिक अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार को ही अपने नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया तथा उसे प्रस्तुत करने के लिये हास्य-व्यंग्य, उछल-कूद और बेतुकेपन के अनोखे वातावरण की सृष्टि की । भुवनेश्वर कृत `ऊसर` तथा `ताँबे के कीड़े उनके इस नवीन प्रयोग के अच्छे उदाहरण हैं । `ऊसर` में नाटककार ने समसामयिक जीवन में छाने वाले बंजरपन तथा जिन्दगी के खोखलेपन को एक निश्चित कथा की अपेक्षा कुछ बेतुके संवादों से भरने का प्रयास किया है तो `ताँबे के कीड़े` में जीवन की ऊब, निरर्थकता, थकन तथा समकालीन राजनैतिक भ्रष्टाचार एवं विसंगत परिस्थितियों में जीवन ढोने की विवशता को एक रिक्शेवाला, थका अफसर, परेशान रमणी, मसरूफ पति और अनाउन्सर के बेतुके संवादों द्वारा मूर्त करने का प्रयास किया है, जो अपने बेतुकेपन में भी यथार्थ के विसंगति बोध को बड़ी सफलता से स्पष्ट कर देते हैं । यथा - `ताँबे के कीड़े` का निम्नलिखित संवाद --

`थका अफसर -- मैं बेहद थका हूँ । मेरा रोम-रोम चूर हो रहा है और आपने इसे गिरा दिया और फिर मारा । मैं सीटी बजाता हूँ । देखता हूँ उसे बजा सकता हूँ या नहीं ।

परेशान रमणी-- यह देखता नहीं था, और मैं हमेशा देखती हूँ । यह देखता नहीं था ।

मसरूफ पति -- मैंने देखा और अपनी जीवनसंगिनी से बताया, मैंने उसे कायल कर दिया कि बिना नाश किए बताया जा ही नहीं सकता । (अनाउन्सर हँसती है और झुनझुना बजाती है ।`[1]

---

१. भुवनेश्वर `कारवाँ तथा अन्य एकांकी`, पृष्ठ १९९

हास्य-व्यंग्य तथा संवादों के बेतुकेपन के साथ ही भुवनेश्वर ने भावों की सफल अभिव्यंजना के लिये भाषा के भी एक सर्वथा नवीन रूप हरकत की भाषा की खोज की, जो पात्रों के मनोभावों की प्रकाशक होने के कारण आज नये नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता मानी जाती है। किन्तु समय से काफी पहले लिखे जाने के कारण इन्हें तत्कालीन साहित्य में अपेक्षित महत्त्व न मिल सका। लेकिन बाद में इसकी महत्ता को जानकर विपिन अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा शम्भूनाथ सिंह आदि साठोत्तरी नये नाटककारों ने भुवनेश्वर द्वारा प्रतिष्ठित नाटक की इस नवीन परम्परा को पुन: एक नवीन आधार दिया। विपिन अग्रवाल का 'तीन अपाहिज' शम्भूनाथ सिंह का 'दीवार की वापसी' लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'अपना-अपना जूता' एब्सर्ड नाटकों की इस नवीन परम्परा के कतिपय अच्छे उदाहरण हैं जो स्थितियों के तारतम्य में ऊट-पटाँग होते हुए भी दर्शक को एक कलात्मक अनुभूति प्रदान करते हैं। इन सभी नाटककारों ने अपने इन नाटकों में भुवनेश्वर की भाँति किसी कथा अथवा चरित्र को महत्त्व देने की अपेक्षा अपने ऊलजलूल संवादों तथा बेतुकी स्थितियों द्वारा युगीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विसंगतियों तथा उसमें छटपटाते जन-सामान्य की आन्तरिक पीड़ा को ही मूर्त किया है। समकालीन परिवेश में नाटकों के इस नवीन एवं विसंगत रूप की अर्थवत्ता को प्रतिपादित करते हुए विपिन अग्रवाल ने 'कारवाँ तथा अन्य एकांकी' की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि 'संकट काल में या उसके बाद यथार्थ का कोई साधारण बहुपरिचित साहित्यिक पहलू उभारने की कोशिश भी की जाए, तो दर्शकों का मन उस पर टिकता नहीं, ध्यान छिटककर फैले विषाक्त, ऐंठे वातावरण से जुड़ जाता है और कला विलास लगने लगती है, शब्द अर्थ खोने लगते हैं। ऐसे में नाटककार असाधारण, ऊलजलूल या बेतुकी स्थिति पैदा कर, दर्शक को चौंकाकर, बाहर के वातावरण को भुलवा देता है और एक नया सन्दर्भ खड़ा कर देता है।'[१]

सन् १९६३ में प्रकाशित विपिन अग्रवाल का 'तीन अपाहिज' एब्सर्ड नाटकों की इस नवीन परम्परा का प्रथम प्रयोग है। यह ११ लघु नाटकों का संग्रह है और सभी में नाटककार ने एब्सर्ड नाटकों के शिल्प को अपनाकर स्वाधीनोपरान्त

---

१. विपिन अग्रवाल, 'कारवाँ तथा अन्य एकांकी' भूमिका, पृष्ठ १८

भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विसंगतियों को ही मूर्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है । एब्सर्ड नाट्य शिल्प के अनुरूप इनमें कोई कथा तो है ही नहीं, नायक भी अनायक अर्थात् नायक के चारित्रिक गुणों से हीन अपाहिज, भिखारी तथा सामान्य जन है साथ ही युगीन विसंगतियों को स्वर देने के अतिरिक्त इनका अपना कोई चारित्रिक वैशिष्ट्य भी नहीं है । `तीन अपाहिज` के कल्लू, खल्लू तथा गल्लू, जिनका अस्तित्व नाटक में तीन पात्रों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, के बेतुके संवादों तथा क्रियाओं द्वारा नाटककार ने जहाँ तत्कालीन राजनीति से व्यक्तिगत जीवन तक छाने वाली निष्क्रियता तथा विघटन को व्यंजित कर दर्शक को आत्मलोचन का अवसर दिया है वहीं `ऊँची-नीची टाँग का जाँघिया` में ऊँची-नीची टाँग और बाँह के माध्यम से वर्तमान राजनीतिक एवं साहित्यिक जीवन में व्याप्त अवसरवादिता एवं भ्रष्टाचार पर व्यंग्य प्रहार कर अपने नाट्यात्मक संवादों द्वारा भविष्य में आने वाली पीढ़ी के पंगु जीवन की एक झलक भी प्रस्तुत की है `आज से दस साल बाद जब तू जवान होगा तेरे लिए महापुरुष चुने जा चुके होंगे । तू वही दुनियाँ देखेगा, जिसकी नींव आज इस तरह रखी जा रही है ।`[1]

इसके अतिरिक्त अपने `एक स्थिति` `यह पूरा नाटक एक शब्द है` `कूड़े का पीपा`, `अखबार के पृष्ठों से`, `रेल कब आयेगी`, `उल्टा सीधा`, `अदृश्य व्यक्ति की आत्म हत्या` तथा `उत्तर का प्रश्न` आदि नाटकों में भी नाटककार ने पात्रों के बेतुके संवादों द्वारा भारत की भ्रष्ट राजनीति तथा उसमें पिसती सामान्य जनता, सरकारी विभागों की निष्क्रियता, देश की आन्तरिक स्थिति, जन-कल्याणार्थ बने संगठनों की व्यर्थता एवं स्वार्थपूर्ण नीति, युवापीढ़ी के दिशाभ्रान्त विद्रोह मनुष्य के निजत्व की खोज तथा बौद्धिकता के आवरण में छिपी बुद्धिवादियों की स्वार्थी प्रवृत्ति को उजागर कर युगीन विसंगति बोध को ही एक नाट्यात्मक अनुभूति प्रदान की है ।

युग-जीवन की इसी आन्तरिकता की खोज में शम्भूनाथ सिंह ने `दीवार की वापसी` नामक नाटक लिखा । अपने इस नाटक में नाटककार ने एक मध्यवर्गीय नौकरपेशा व्यक्ति के निरर्थक ऊलजलूल संवादों क्रिया-कलापों तथा मुखौटे के प्रयोग द्वारा मनुष्य को उसकी असलियत, जहाँ वह नियम कानून से बँधे होने पर भी मूलत:

---

१. विपिन अग्रवाल, `तीन अपाहिज` संग्रह, पृष्ठ ४०

गधा,बन्दर,लोमड़ी, गीदड़ और भेड़ है, से परिचित कराकर युग के इस सत्य को प्रस्तुत किया है कि आज के सभ्य समाज में उसी व्यक्ति की व्यक्ति रूप में सत्ता है जो अपनी आँख पर पट्टी बाँधकर दूसरों की हाँ में हाँ मिला सके, अन्यथा वह लोगों की दृष्टि में पागल करार दिया जाता है।

किन्तु लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने नाटक 'अपना-अपना जूता'[1] में युगीन विसंगतियों को प्रस्तुत करने के लिए नाट्य-शिल्प सम्बन्धी एक नवीन प्रयोग किया है और वह है सब परिवर्तित घटनाओं, गीतों तथा बेतुके संवादों द्वारा स्वातन्त्र्योत्तर भारत के भ्रष्ट एवं ह्रासोन्मुख समाज का एक व्यापक चित्र प्रस्तुत करना जिसमें नाटककार को पूर्ण सफलता भी मिली है। वस्तुत: आज औद्योगिक विकास ने मनुष्य को महा-नगरों की ऐसी भीड़ में ला पटका है जहाँ चारों ओर रोशनी होते हुए भी सर्वत्र एक घना अन्धकार है और इस अन्धकार में हम सब एक दूसरे की वस्तुएँ हड़पने की ताक में है। महानगरीय परिवेश के इस विसंगत बोध को स्वर देने के साथ ही नाटककार ने नगरवासियों की स्वार्थपूर्ण नीतियों पर भी आक्रोश व्यक्त किया है। विषय प्रति-पादन की दृष्टि से वर्मा जी यहाँ विपिन की अपेक्षा भुवनेश्वर के अधिक निकट है क्योंकि यहां उन्होंने भुवनेश्वर की भाँति पूरे परिवेश को नाटकीय रूप देने का प्रयास किया है। यद्यपि विपिन ने भी भुवनेश्वर की कथाविहीन एवं हरकतपूर्ण भाषा का उपयोग कर आज के विसंगत परिवेश को विसंगत रूप में ही अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है किन्तु दोनों में मूल अन्तर यह है कि विपिन के नाटकों में जहाँ सामाजिक विसंगतियों के प्रस्तुतिकरण में भी एक क्रमिक विकास दिखायी देता है वही भुवनेश्वर के नाटकों में सब कुछ अव्यवस्थित है।

और इस प्रकार हिन्दी नाट्य-जगत में नाट्य रचना की एक नई परम्परा की शुरूआत हुई जिसने आगे आने वाले नाटककारों का मार्ग निर्देशन कर हिन्दी नाट्य-जगत में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और सच पूछा जाय तो हिन्दी नाट्य जगत में यथार्थवाद अपने वास्तविक रूप में मोहभंग की स्थिति में लिखे गये इन साठोत्तरी विसंगतिपूर्ण एब्सर्ड नाटकों के रूप में ही सामने आया है जहाँ न तो भविष्य के प्रति कोई आस्था है और न ही अतीत के प्रति अनावश्यक मोह, वरन् नाटककार ने अपने वर्तमान में रहते हुए युगीन विसंगतियों से जूझते मानव की आन्तरिक पीड़ा, घुटन, संत्रास इत्यादि मानसिक स्थितियों को

1 'क ख ग' पत्रिका जुलाई 1964 मे सम्पादित पृष्ठ 38

उनके समूचे अन्तर्बाह्य के साथ ग्रहण कर युग का एक जीवन्त यथार्थ प्रस्तुत किया है। किन्तु युगीन विसंगतियों के उद्घाटन की दृष्टि से यह उनका प्रयोग काल था अपने विकसित रूप में युग का यह विसंगतिपूर्ण यथार्थ सन् ७० के पश्चात् लिखे गये सर्वेश्वर दयाल, हमीदुल्ला, सत्यव्रत सिन्हा, मणिमधुकर, मुद्राराक्षस, ब्रजमोहनशाह तथा अमृतराय कृत नाटकों में ही सामने आया।

भाषा-प्रयोग

कथ्य एवं शिल्प के क्षेत्र में हुए विविध प्रयोगों के साथ ही स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि उनकी भाषागत मौलिकता है,जिसने पूर्व प्रचलित यथार्थवादी नाटकों की बोलचाल की साधारण किन्तु विवादात्मक एवं अनाटकीय भाषा को काव्यगुणों, बिम्बों, प्रतीकों, संकेतों इत्यादि से समन्वित कर उसे पूर्व की अपेक्षा एक सर्वथा नवीन,कलात्मक एवं नाटकीय रूप दिया। हिन्दी नाटक को इस नई भाषा से साक्षात्कार कराने वालों में जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती तथा मोहन राकेश उल्लेखनीय है। यद्यपि इनसे पूर्व अश्क यथार्थवादी नाटकों की सीधी-सपाट, रूक्ष एवं विवादात्मक भाषा को अपने रंगानुभव के आधार पर हास्य-व्यंग्य आदि गुणों से समन्वित कर उसे यथासंभव नाटकीय रूप प्रदान कर चुके थे,किन्तु उनके नाटक जन-सामान्य को अपने प्रति आकृष्ट करने के अलावा भाषिक दृष्टि से कोई सर्जनात्मक उपलब्धि न कर सके। स्वातन्त्र्योत्तर युग में युग-सन्दर्भों के बदलने के साथ ही नाटककारों का ध्यान भाषा के एक नये रूप की तलाश की ओर गया जिसे माथुर, भारती तथा राकेश ने अपने नाट्य-प्रयोगों द्वारा सर्जनात्मकता के स्तर तक पहुँचाया। भाषिक संरचना की दृष्टि से इनके नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता भाषा के यथार्थवादी सपाट, सतही स्वरूप को नकारते हुए काव्यगुणों, बिम्बों, प्रतीकों तथा संकेतों का सार्थक एवं कलात्मक उपयोग है। जिसने उनके नाटकों को अपेक्षित साहित्यिक संश्लिष्टता तो अवश्य प्रदान की, किन्तु नाट्य भाषा की सही पकड़ होने के कारण वह प्रसाद की भांति उनकी भाषा पर आरोपित कहीं नहीं है।

वस्तुत: स्वातन्त्र्योत्तर युग में जिस समय इन नये नाटककारों ने नाट्य-जगत में प्रवेश किया,उस समय सर्वत्र छायावादी प्रवृत्तियों का बोलबाला था।अत: उनके संस्कार तो छायावादी प्रवृत्तियों में ही ढले थे,जिससे प्रभावित होकर उन्होंने अपने नाटकों के आधार स्वरूप ऐतिहासिक परिवेश तथा उनके अनुकूल प्रसाद की काव्यात्मक

एवं संस्कृत निष्ठ भाषा को स्वीकार किया, किन्तु साथ ही युग यथार्थ से प्रेरित होने के कारण वह उसकी दुरूहता एवं कृत्रिमता से भी भलीभांति परिचित थे, अत: वह उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करने के पक्ष में भी न थे। यद्यपि इनसे पूर्व लक्ष्मीनारायण मिश्र भी प्रसाद की शुद्ध साहित्यिक, अलंकृत एवं संस्कृत निष्ठ भाषा के विरोध में जनसामान्य में प्रचलित बोलचाल की साधारण भाषा का प्रयोग आरम्भ कर चुके थे, किन्तु बौद्धिकता के प्रति विशेष आग्रह के कारण वह अपने इस प्रयोग को कोई निश्चित नाटकीय आयाम दे सकने में असफल ही रहे। अत: तत्कालीन नाट्य-भाषा का स्वरूप तो सर्वथा अनिश्चित एवं विवादास्पद था ही, दूसरी ओर रंगमंच से प्रत्यक्षत: जुड़े होने के कारण नाटककारों के समक्ष यह एक गम्भीर समस्या भी थी कि वह नाट्य रचना के लिये भाषा सम्बन्धी कौन सा मार्ग ग्रहण करें ? प्रसादयुगीन शुद्ध, साहित्यिक, भावप्रवण एवं अलंकृत भाषा का प्रयोग कर अपने नाटकों को जन-सामान्य से काटकर थोड़े से शिक्षित समुदाय तक ही सीमित कर ले अथवा जनभाषा के समर्थन में यथार्थवादी नाटकों की शुष्क, तर्कपूर्ण भाषा को ग्रहण कर नाटक को मात्र वाद-विवाद का रूप देकर उसे उसके नाटकीय गुणों से ही वंचित कर दे ? किन्तु भाषा के यह दोनों ही रूप अति पर थे अत: इन नये नाटककारों ने भाषा के इस परस्पर विपरीत दोनों रूपों को उसके परम्परित रूप में स्वीकार करने की अपेक्षा अपनी प्रतिभा के बल पर उसे एक नवीन एवं व्यावहारिक रूप दिया और वह था, प्रसाद कालीन साहित्यिक, संस्कृत-निष्ठ एवं जन-सामान्य में प्रचलित बोलचाल की भाषा का समन्वित प्रयोग। जो भाषा को युगानुकूल सहज संवेद्य एवं सम्प्रेषणीय बनाने के साथ ही नाटकों में वर्णित-ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा नाटकीय परिवेश को यथार्थ रूप देने में भी सर्वथा समर्थ थी। जगदीश चन्द्र माथुर का 'कोणार्क' धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' तथा मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' उनकी इस नवीन नाट्य भाषा के सशक्त प्रयोग है। वस्तुत: यहाँ नाटककार ने भारत के सांस्कृतिक उत्थान अथवा प्राचीन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित होकर अपने नाटकों में अंशुक, तल्प, उपत्यका, शर्करा, आस्तरण, उपादान, उद्घोष, अभिस्तुति, क्रीत, अभ्यागत, प्रान्तर, उर्वर, विद्वान्ध्य, शिल्पी, सुजन, अनधिकार चेष्टा, इंगित, भाग्य विधायिका, शुश्रूषा, शुभ्र, अंकशायिनी, सहधर्मिणी, परिणति, भुजपाश, अन्तस, मन्वन्तर आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों का सायास प्रयोग तो अवश्य किया है किन्तु उनमें प्रसाद जैसा साहित्यिक एवं ऐतिहासिक मोह नहीं था अत: उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रसादकालीन

साहित्यिकता के घेरे को लाँघकर अरबी फारसी तथा देशज एवं तद्भव शब्दों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये 'कोणार्क' नाटक में धर्मपद का यह कथन द्रष्टव्य है 'जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है- जीवन का संघर्ष।..... आपकी कला उस संघर्ष को भूल गई है। जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुये किसान की कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे को।..... इसके बिना सब कुछ अधूरा है आचार्य।'[1] यहाँ वाक्य गठन में जहाँ माथुर ने प्रसादयुगीन साहित्यिकता को अक्षुण्ण रखा है वहीं शब्दों के प्रयोग में वह यथार्थ, जनसामान्य की बोलचाल की भाषा की ओर झुके दिखायी देते हैं। इस युग के इतिहासाश्रित नाटकों में भाषा का यह समन्वयवादी रूप सर्वत्र ही दिखायी देता है, जिसने प्रसादकालीन साहित्यिक भाषा को जनसामान्य से जोड़ने के साथ ही प्राचीन कथाओं अथवा चरित्रों को समसामयिक परिस्थितियों से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किन्तु जैसे-जैसे नाटक युग जीवन से प्रत्यक्षत: जुड़ता गया पात्रों को उनकी स्थिति के अनुरूप उनकी अपनी यथार्थ भाषा देने के प्रयास में भाषा को लेकर विभिन्न प्रयोग हुए। राकेश इस क्षेत्र के प्रतिनिधि नाटककार हैं जिन्होंने काव्यात्मकता, प्रतीकात्मकता और सांकेतिक कल्पनाशीलता का प्रयोग करते हुए रंगमंच पर एक जीवन्त, युगीन और नाटकीय क्षमता से पूर्ण भाषा को मूर्त किया।[2] यद्यपि इनसे पूर्व माथुर तथा भारती अपने नाट्य प्रयोगों द्वारा प्रचलित साहित्यिक भाषा को एक निश्चित नाटकीय आयाम दे चुके थे किन्तु नाट्य भाषा अपनी पूर्ण सार्थकता एवं अर्थवत्ता के साथ मोहन राकेश के नाटकों में ही सामने आती है, जहाँ उन्होंने प्रसादयुगीन साहित्यिक भाषा की गरिमा एवं कलात्मकता को अक्षुण्ण रखते हुए अपने परवर्ती नाटकों में जनसामान्य में प्रचलित बोलचाल की साधारण भाषा को भी नाटकीय गुणों से युक्त कर एक समर्थ एवं सक्षम भाषा को जन्म दिया। उनका 'आधे-अधूरे' उनकी इस नाटकीय भाषा का एक अच्छा नमूना है जो परवर्ती नाटककारों द्वारा स्वीकृत होकर आज भी नाट्य जगत में अपना महत्व बनाये हुए है तथा विकास की ओर अग्रसर है।

---

१. जगदीश चन्द्र माथुर, 'कोणार्क', पृष्ठ २७

२. डॉ. रीता कुमार 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक: मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में' पृष्ठ ४६।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों को सर्जनात्मक स्तर तक उठाने के क्रम में नाटकीय भाषा की जो सबसे बड़ी उपलब्धि सामने आती है वह थी उसकी काव्यात्मकता एवं भाव प्रवणता, जो छायावादी युग में जन्म लेने के कारण अनायास ही उनके प्रारम्भिक नाटकों में आ गयी है। यद्यपि अपने इस विशिष्ट प्रयोग के कारण उन्हें कहीं-कहीं यथार्थवादी आलोचकों के आक्षेपों का पात्र भी बनना पड़ा है, किन्तु वह उसके प्रति विशेष आग्रहशील नहीं थे अतः काव्य यहाँ संवादों पर आरोपित न होकर उसकी सरलता में अन्तर्निहित है जिसका प्रयोग उन्होंने मुख्यतः नाट्यकथा तथा नाटकीय चरित्रों को उभारने के लिये ही किया है। वस्तुतः यहाँ सम्पूर्ण नाटक कुछ ऐसी काव्यात्मक स्थितियों से सम्बद्ध है यथा - 'कोणार्क' में विशुधर्मपद का पिता-पुत्र सम्बन्ध, विशुसारिका प्रणय-प्रसंग, 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका कालिदास का प्रेम-प्रसंग, मल्लिका की विरह-वेदना, तथा 'लहरों के राजहंस' में सुन्दरी का रूप-गर्व इत्यादि। इसके साथ ही नाटक में मल्लिका, कालिदास, सुन्दरी आदि चरित्रों का व्यक्तित्व इतना रोमानी दिखाया गया है कि उनके भावों की अभिव्यंजना सहज सपाट भाषा में सम्भव ही न थी, वरन् कहीं-कहीं तो यह अपनी भावुकतापूर्ण भाषा से हृदतन्त्री के तारों को सहज ही झंकृत कर जाते हैं यथा 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका का यह संवाद "वस्त्र बदल लूँ, फिर आकर तुम्हें बताती हूँ। वह बहुत अद्भुत अनुभव था माँ बहुत अद्भुत।..... नीलकमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय।.... मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखे मूंद लूँ।..... मेरा तो शरीर भी निचुड़ रहा है माँ। कितना पानी इन वस्त्रों ने पिया है।..... ओह! शीत की चुभन के बाद उष्णता का यह स्पर्श!"[1] किन्तु जहाँ उन्होंने देखा है कि उनकी यह भावुकता उनकी भाषा पर हावी हो रही है वहीं उन्होंने अपने यथार्थवादी अथवा बौद्धिक पात्रों द्वारा कुछ तीखे एवं बौद्धिकतापूर्ण वचन कहलवाकर अपनी भाषा को भावुकता में बहने से बचा लिया है। धर्मपद, अम्बिका, विलोम तथा नन्द के कथोपकथनों में भाषा का यह भावुकता-विहीन रूप सर्वत्र ही देखा जा सकता है अतः भाषा कहीं भी कृत्रिम अथवा बोझिल नहीं लगी है, साथ ही जैसे-जैसे यह रोमानी भाव उनके नाटकों में कम होता गया है वैसे ही वैसे काव्य तत्व के क्रमशः लोप से भाषा के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर आता

---

१. मोहन राकेश - 'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ ७

गया है । माथुर के `कोणार्क` `शारदीया` तथा `पहला राजा` और राकेश के `आषाढ़ का एक दिन`, `लहरों के राजहंस` तथा `आधे-अधूरे` में उनका यह भाषागत अन्तर सहज ही देखा जा सकता है । जहाँ वह क्रमशः प्रसादकालीन भावुकता-पूर्ण एवं संस्कृत निष्ठ भाषा का दामन छोड़कर यथार्थ की ओर बढ़ते दिखायी देते हैं । मोहन राकेश के `आधे-अधूरे` की भाषा तो पूर्णतः यथार्थ के धरातल पर टिकी ही है, `पहला राजा` में भी नाटककार ने यथाशक्ति समकालीन भाषा का स्पर्श कराया है । उदाहरणार्थ नटी का यह संवाद `खूब ! तुम समझते हो कि आजकल का साइंटिस्ट पोएट और फिलासफर तुम्हारे साथ परमात्मा की वंदना करेगा - परमात्मा जिसकी हस्ती अब मखौल की चीज भी नहीं रह गई है ? खूब ।`[1]

इन काव्यात्मक संवादों के साथ ही यद्यपि कहीं-कहीं गीतों का प्रयोग भी हुआ है किन्तु गीतों का प्रयोग एक तो संख्या में बहुत कम है तथा जो है वह भी नाटक के प्रवाह को अक्षुण्ण रखते हुए सहज एवं स्वाभाविक ही प्रतीत होते हैं । यथा `पहला राजा` में उर्वी द्वारा गाया हुआ `सोने की थाली संजोएं बैठी हूँ` यह गीत, जो अपनी सरलता में भी अपने सम्पूर्ण मनोभावों को व्यंजित कर देती है । धर्मवीर भारती का `अन्धायुग` तो पूर्णतः पद्य शैली में लिखा गया एक काव्य नाटक ही है, किन्तु यहाँ भी नाटककार ने भाषा की सहजता के प्रति विशेष ध्यान रखा है । अपने इस नाटक में उन्होंने पद्य का प्रयोग तो अवश्य किया है किन्तु उनका काव्य छायावादी कवियों का सा काव्य नहीं है, वरन् उन्होंने प्रगतिवादी काव्य के मुक्त छन्द और उसमें भी बीच में गद्य तथा अरबी-फारसी, तद्भव अथवा देशज शब्दों के प्रयोग द्वारा काव्य को नाटक से जोड़कर हिन्दी नाट्य जगत में काव्य की महत्ता को प्रति-पादित कर भाषा सम्बन्धी एक नवीन प्रतिमान स्थापित किया है । किन्तु भाषा में प्रयुक्त यह काव्यात्मकता उनके इतिहासाश्रित नाटकों तक ही सीमित थी और सम्भवतः नाट्य भाषा की इस विशिष्टता को लक्ष्य करके ही इन इतिहासाश्रित नाटकों को `काव्यात्मक यथार्थवाद`[2] यह नाम दिया गया है, किन्तु अपने सामाजिक नाटकों में उन्होंने भाषा के जिस रूप का प्रयोग किया है यह भावुकता एवं साहित्यिकता से दूर आम जीवन की भाषा थी जिसमें लालित्य कम और जिन्दगी

---

१. जगदीशचन्द्र माथुर - `पहला राजा`, पृष्ठ १०
2 मान्धाता ओझा - 'हिन्दी समस्या नाटक' पृष्ठ २६०

का खुरदरापन और नुकीलापन अधिक आ गया है।[1] किन्तु फिर भी उसमें मिश्र के नाटकों जैसी नीरसता नहीं है।

नाट्य-भाषा को काव्य गुणों से युक्त कर उसे यथासम्भव नाटकीय रूप देने के साथ ही इन स्वातन्त्र्योत्तरकालीन नाटककारों ने अपने कथ्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिये दृश्य श्रव्य बिम्बों तथा प्रतीकों का भी सार्थक एवं कलात्मक उपयोग किया है,जो रचना के निहितार्थ को स्पष्ट एवं सम्पन्न करने के साथ ही उसकी संरचना तथा बुनावट में भी विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं। धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' में तो यथार्थ दृश्य सज्जा के अभाव में सम्पूर्ण दृश्य ही शब्दों के द्वारा बिम्ब रूप में उभारा गया है उदाहरणार्थ भीम के साथ द्वन्द्व युद्ध में आहत दुर्योधन का यह दृश्य-बिम्ब : 'टूटी जांघों, टूटी कोहनी, टूटी गर्दन वाले। दुर्योधन के माथे पर रखा पाँव। पूरा बोझ डाले हुए भीम ने। बाहें फैलाकर पशुवत घोर निनाद किया। कैसे दुर्योधन की दोनों कनपटियों पर। दो दो नसें सहसा फूलीं और फूट गईं। कैसे ओठ खिंच आए। टूटी हुई जांघों में एक बार हरकत हुई। आँखें खोल दुर्योधन ने देखा। अपनी प्रजाओं को।'[2] जो सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत होकर भी सम्पूर्ण दृश्य को प्रेक्षक की कल्पना में साकार कर देता है। मोहन राकेश के नाटकों में तो यह बिम्ब योजना सर्वत्र ही द्रष्टव्य है,जिसके लिये उन्होंने प्रतीकों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। इनके 'आषाढ़ का एक दिन' में प्रयुक्त मेघ गर्जन, वर्षा का क्रमशः बढ़ता हुआ शब्द, बिजली का कौंधना, 'लहरों के राजहंस' में तालाब में तैरते, राजहंस, बिना घाव अपनी ही क्लान्ति से मरा मृग, व्याघ्र से युद्ध, दर्पण का टूटना तथा श्यामांग प्रसंग कुछ ऐसे प्रतीक हैं,जो दृश्य अथवा श्रव्य बिम्ब का रूप धारण कर कथावस्तु के अनकहे अर्थ को तो व्यंजित करते ही है साथ ही चरित्रों के सूक्ष्मतम द्वन्द्वों को उद्घाटित करके अपेक्षित नाटकीय एवं भावात्मक वातावरण भी उत्पन्न करते हैं। किन्तु नाटकीय संवेदना अथवा अनुभूति से परस्पर जुड़े होने के कारण प्रतीकों का जो स्वाभाविक प्रयोग 'आषाढ़ का एक दिन' में हुआ है वह अन्यथा दुर्लभ है। नाटक के आरम्भ में ही मेघगर्जन और वर्षा का मन्द स्वर जहाँ कालिदास तथा मल्लिका की मनःस्थिति के अनुरूप एक रोमैन्टिक वातावरण की सृष्टि करता है वहीं इसी अंक के अन्त में

---

१. गोविन्द चातक - 'आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना', पृष्ठ १००।

२. धर्मवीर भारती - 'अन्धायुग', पृष्ठ ६४

कालिदास को कश्मीर भेजते समय बिजली का कौंधना तथा कालिदास के चले जाने पर ही मेघगर्जन और वर्षा का गम्भीर शब्द कालिदास तथा मल्लिका की मानसिक हलचल, आन्तरिक पीड़ा अथवा व्यथा को व्यक्त करता है। किन्तु नाटक के तृतीय अंक में कालिदास के लौट आने पर प्रेम और रस से भरे यही मेघ परिस्थितियों के परिवर्तन से मल्लिका को विपत्ति स्वरूप तथा बदले हुए नजर आते हैं। अत: विलोम द्वारा द्वार खटखटाये जाने पर वह कहती है 'वर्षा का दिन है 'कोई' भी हो सकता है।'[1] और इस प्रकार उनकी यह प्रतीक योजना समय और सन्दर्भ के साथ-साथ परिवर्तित होकर नाटकीय कथ्य में पूर्णत: घुल मिल जाती है। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाँति ही यद्यपि 'लहरों के राजहंस' में भी राकेश ने राजहंस, मृग आदि प्रतीकों का सुन्दर उपयोग किया है, किन्तु विचार तत्व से जुड़े होने के कारण वह मुख्यत: पात्रों को समझने में ही मदद करते हैं, उनसे नाटकीय भाषा तथा भावों के प्रकाशन में विशेष सहायता नहीं मिलती, वरन् कहीं तो प्रतीकों की अस्पष्टता तथा अधिकता भाषा को दुरूह ही अधिक बना देती है यथा नन्द की मन:स्थिति का सूचक श्यामांग प्रसंग। इन दोनों नाटकों के साथ ही राकेश ने अपने 'आधे-अधूरे' में भी घर की अस्त-व्यस्त स्थिति से खण्डित घर का एक बिम्ब उपस्थित करने का प्रयास किया है किन्तु यहाँ भी जो महत्व क्रियाओं अथवा संवादों का है वह प्रतीकों का नहीं। सच पूछा जाय तो प्रतीकों तथा बिम्बों के प्रयोग में जो सफलता उन्हें अपने कवित्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटकों में मिली है, वह समकालीन यथार्थजीवी नाटकों में नहीं।

राकेश की भाँति ही डॉ० लाल[2] ने भी प्रतीकों को अभिव्यक्ति का जीवन्त आधार अथवा नाटक की प्रकृत भाषा मानकर अपने मादा कैक्टस में नीलाम के बाजे, अनाथालय के बच्चों के गीत, मादा कैक्टस तथा मुर्गाबी चिड़ियाँ आदि प्रतीकों का उपयोग किया है किन्तु उनके यह प्रतीक उनकी गद्य भाषा में पूर्णत: खप नहीं पाये हैं वरन् सत्य तो यह है कि उनके अधिकांश प्रतीक अनावश्यक एवं घसिटते से प्रतीत होते हैं।

भाषा को काव्यात्मकता, बिम्बों तथा प्रतीकों से सुसज्जित कर उसे यथासम्भव नाटकीय एवं कलात्मक रूप देने के साथ ही यह नये नाटककार - पात्रों को

---

१. मोहन राकेश 'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ १०६

२. लक्ष्मीनारायण लाल - 'मादा कैक्टस', भूमिका

उनके यथार्थ रूप में चित्रित करने के लिये उन्हें उनकी भाषा देने के भी समर्थक रहे हैं किन्तु उनका यह प्रयास पात्रानुकूल भाषा जैसा पुराना प्रयोग नहीं था, वह प्रयोग भाषा का स्थूल बाह्य प्रयोग था, यह प्रयोग आन्तरिक विखण्डन, जीवन की अर्थ-हीनता, विवशता, अलगाव और दुराव-छिपाव पर आधारित है।[१] अत: इनके नाटकों में सर्वत्र पात्रों की बाह्य स्थितियों की अपेक्षा मन:स्थिति के अनुरूप भाषा का गठन किया गया है जो पात्रों की मन: स्थिति के अनुरूप अपना रूप ढालती रहती है। जहाँ पात्र भावुकता से पूर्ण है वहाँ उनकी भाषा भी साहित्यिक, लयात्मक एवं भावुकता से पूर्ण है किन्तु जहाँ पात्र भावना से विमुख होकर पूर्णत: यथार्थ जीवन व्यतीत करते हैं वहाँ उनके मनोभावों के अनुसार भाषा भी साहित्यिकता एवं भावुकता को त्यागकर सरल एवं कृत्रिमता से मुक्त हो गई है। `आषाढ़ का एक दिन` के मल्लिका तथा कालिदास के संवादों में भाषा का यह अन्तर सहज ही देखा जा सकता है। उनकी मन:स्थिति के अनुरूप उनके प्रारम्भिक संवादों में जहाँ वह एक दूसरे के प्रेम में परस्पर आबद्ध हैं, भाषा भावुकता से पूर्ण है, वही अन्तिम संवादों में जब वह जीवन की वास्तविकता से परिचित होते हैं, भाषा भी भावुकता को छोड़कर जीवन की यथार्थता पर उतर आई है। उदाहरणार्थ कालिदास का यह संवाद दृष्टव्य है, `मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका और बहुधा इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आम्बिका ठीक कहती थी .... मैं यहाँ से क्यों नहीं जाना चाहता था ? एक कारण यह भी था कि मुझे अपने पर विश्वास नहीं था ......।[२]

इसके अतिरिक्त अपने सामाजिक नाटकों में जहाँ उन्होंने नाटक का मूल कथानक जीवन के समसामयिक यथार्थ से ही ग्रहण किया है, वहाँ उनके भावों विचारों की वाहिका भाषा पूर्णत: दैनिक जीवन में प्रयुक्त बोलचाल की साधारण भाषा ही रही है, किन्तु पात्रों की मन:स्थिति के अनुरूप उन्होंने उसमें कभी ऊल जलूल, कभी अधूरे और अन्तरालपूर्ण तथा कभी गहरे बिम्बात्मक शब्दों द्वारा सामयिक यथार्थ को प्रभावशाली नाट्य रूप देने का प्रयास किया है। मोहन राकेश का `आधे-अधूरे` उनकी इस नाटकीय भाषा का अच्छा नमूना है जहाँ नाटककार ने आज के इन्सानों की जिन्दगी को किसी कदर आज के मुहावरे में पेश किया है।[३] नाटक के प्रारम्भ में ही

---

१. गोविन्द चातक - `आधुनिक हिन्दी नाटक:भाषिक और संवादीय संरचना`, पृष्ठ ९८।

२. मोहन राकेश - `आषाढ़ का एक दिन`, पृष्ठ १०७

३. इन्द्रनाथ मदान - `आलोचना` अंक २६, १९७३, पृष्ठ ४७

उन्होंने सावित्री के इन शब्दों में `बड़े साहब वहाँ अपनी कारगुजारी कर गये हैं.... दिन भर घर रहकर आदमी और कुछ नहीं,तो अपने कपड़े तो ठिकाने से रख सकता है.. इतना तक नहीं कि चाय पी है, तो बरतन रसोईघर में छोड़ आये। मैं ही आकर उठाऊँ तो उठाऊँ ..... ।[1] भाषा के जिस रूप के दर्शन कराये हैं वह अपनी सहजता में भी एक साधारण परिवार के पति-पत्नी के मध्य निहित कड़ुवाहट, तनाव, ऊब एवं थकन को अभिव्यक्त करने में सर्वथा समर्थ हैं तथा अन्त तक अपने इस दायित्व को निभाती चलती हैं। इस प्रकार भाषा यहाँ अभिव्यक्ति की अपेक्षा मन:स्थिति की सूचक होकर आई है,जिसके लिए नाटककारों ने भाषा सम्बन्धी कतिपय अन्य प्रयोग भी किए हैं।

सर्वप्रथम तो उन्होंने शब्दों का चयन तथा संयोजन इतनी कुशलता से किया है कि उसके एक-एक शब्द आज के जीवन की विषमता तथा टकराहट को व्यक्त करते चलते हैं। मोहन राकेश के नाटकों में तो उनका यह शब्द-चयन देखते ही बनता है। उदाहरणार्थ `आधे अधूरे` में प्रयुक्त सावित्री तथा महेन्द्रनाथ का निम्नलिखित संवाद —

`स्त्री : शुक्र नहीं मनाते कि इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से....

पुरुष एक : मैं नहीं शुक्र नहीं मनाता ? जब-जब किसी नये आदमी का आना-जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मनाता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था फिर मनोज आने लगा था...... ।

स्त्री : (स्थिर दृष्टि से उसे देखती और क्या-क्या बात रह गयी है कहने को बाकी) वह भी कह डालो जल्दी से।

पुरुष एक : क्यों जगमोहन का नाम मेरी जुबान पर आया नहीं कि तुम्हारे श्वास गुम होने शुरू हुये।

स्त्री : (गहरी वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं ...... ।[2]

यहाँ `नाशुक्रे` शब्द का प्रयोग नाटककार की गहन अन्तर्दृष्टि एवं सूक्ष्म-

---

१. मोहन राकेश - `आधे अधूरे`, पृष्ठ १४-१५

२. वही ,, , पृष्ठ २२

बूफ का ही परिचायक है। इस एक ही शब्द के माध्यम से नाटककार ने सावित्री के अन्तर्मन में व्याप्त सम्पूर्ण वितृष्णा, विवशता, ऊब, तल्खी इत्यादि को जिस सजीवता से प्रस्तुत कर दिया है वह नाटककार की अपनी एक बहुत बड़ी खूबी है, जिसने नाटक में हरकत का संचार कर वाक्य के साथ ही दिये गये अभिनय सम्बन्धी निर्देश 'गहरी वितृष्णा के साथ' को अर्थहीन बना दिया है। उनके आधे-अधूरे में तो ऐसे शब्द प्रयोग सर्वत्र ही बिखरे हुए हैं यथा - रबड़ स्टेम्प, रबर का टुकड़ा, घरघुसरा इत्यादि। शब्दों के इन विशिष्ट प्रयोगों के साथ ही उन्होंने अपने नाटकों में एक ही शब्द के दुहरे-तिहरे प्रयोग द्वारा नाटकीय भाषा को एक नयी अर्थवत्ता भी दी है, जिसके प्रमाणस्वरूप आषाढ़ का एक दिन में मल्लिका तथा निक्षेप का यह संवाद दृष्टव्य है :

अम्बिका : कैसी विचक्षणता है ;

निक्षेप : विचक्षणता ?

अम्बिका : विचक्षणता तो है

निक्षेप : इसमें विचक्षणता क्या है अम्बिका ?

अम्बिका : राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदम्बा के मन्दिर में साधना निरत है। राज्य के प्रतिनिधि मन्दिर में जाकर कवि की प्रार्थना करते हैं। कवि धीरे-धीरे आँखें खोलता है।..... इतना बड़ा नाटक करना विचक्षणता नहीं है।[1] वस्तुत: यहाँ प्रयुक्त 'विचक्षणता' शब्द अपने शाब्दिकरूप में उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना ध्वन्यात्मक रूप में। और यही कारण है कि जहाँ अम्बिका द्वारा प्रयुक्त विचक्षणता शब्द कालिदास के प्रति उसके सम्पूर्ण मनोभाव, घृणा, आक्रोश आदि को प्रकट करता है वहीं निक्षेप द्वारा उस शब्द के दोहराने में केवल कौतूहल का भाव ही प्रकट होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रंगमंच की शब्द निर्भरता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने नाटकों में शब्दों के चयन पर तो विशेष बल दिया है किन्तु वह छाँट-छाँटकर नये अथवा विशिष्ट शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती कभी नहीं रहे हैं वरन् कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने नाटकों में इस, उस, यह, वह, कोई खड़ा होना, बैठ

---

१. मोहन राकेश - 'आषाढ़ का एक दिन', पृष्ठ ३२

रहना इत्यादि साधारण शब्दों तथा क्रियाओं का भी बड़ा सार्थक उपयोग किया है तथा क्रियाओं को भी नाटकीय स्थितियों में अद्भुत ध्वन्यार्थ से युक्त कर दिखाया है। उदाहरणार्थ `आधे-अधूरे` में ही सावित्री तथा उसके लड़के के संवादों में सावित्री के बॉस के लिये प्रयुक्त `वह` शब्द "स्त्री — वह आज फिर आने वाला है थोड़ी देर में `
लड़का - अच्छा ...., वह आदमी `[1] यहाँ स्त्री के शब्दों में जहाँ बास के प्रति सम्मान अथवा उपकार का भाव लक्षित होता है वहीं लड़के के कथन में घृणा अथवा उपेक्षा का। अत: इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनके नाटकों में महत्त्व शब्दों का उतना नहीं जितना उनके संयोजन का है। इस सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा भी है कि, `किसी भी भाव के सम्प्रेषण के लिये सृष्टि शब्दों की, एक विशेष लय में कुछ ध्वनियों की होती है। शब्दों का सर्जनात्मक प्रयोग उन सन्दर्भों की लय में और नयी-नयी लय खोज सकता है।`[2] यही कारण है कि उनके नाटकों में बहुत से स्थल ऐसे हैं जहाँ अर्थ शब्दों से नहीं उनके बीच से अथवा उनके समग्र रूप से व्यंग्य रूप में उभरता है। `आषाढ़ का एक दिन` में अनुस्वार-अनुनासिक के संवाद तथा `आधे अधूरे` में पुरुष दो तथा लड़के के बीच हुए संवाद उनकी इस भाषिक संरचना के कतिपय अच्छे उदाहरण हैं जहाँ नाटककार ने ध्वनियों की आन्तरिक लय को पकड़कर उनके सीधे सपाट एवं अर्थहीन प्रतीत होते संवादों से नाटकीय व्यंग्य को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शब्दों की इस आन्तरिक लय को पकड़ने के साथ ही राकेश ने अपनी नाट्य भाषा में सांकेतिक कल्पनाशीलता का प्रयोग करते हुए अनोखे सौन्दर्य की सृष्टि की है जो अपनी साधारणता अथवा अनकहे रूप में भी एक गहन सांकेतिकता छिपाये हुए है। `आषाढ़ का एक दिन` के अन्त में विलोम के द्वार खटखटाने पर कालिदास द्वारा `कौन है?` यह पूछे जाने पर मल्लिका का यह कथन `वर्षा का दिन है कोई भी हो सकता है।` प्रत्यक्षत: तो वर्षाऋतु के एक साधारण दिन की ओर ही संकेत करता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ नाटककार का आशय अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी के `रैनी डे` के आधार पर `विपत्तिग्रस्त दिन` से ही है।

नाट्य भाषा की इस भाषिक संरचना के साथ ही इस काल के नाटकों में भाषा सम्बन्धी एक और प्रयोग मिलता है और वह है भाषा के अंग रूप में पात्रों

---
१ मोहन राकेश 'आधे-अधूरे' पृष्ठ ४६
२. मोहन राकेश - `शब्द और ध्वनि` नटरंग २१, पृष्ठ ११

की क्रियाओं, भंगिमाओं अथवा दृश्य आदि शब्देतर अभिव्यक्ति माध्यमों का समन्वित प्रयोग जो पात्रों के बोले बिना ही नाटककार के अभीष्ट को अनकहे रूप में व्यक्त करते चलते हैं। यद्यपि इसका प्रयोग तो भुवनेश्वर स्वतन्त्रता से काफी पहले ही अपने एकांकियों में कर चुके थे किन्तु नाट्य भाषा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में इसका प्रयोग मोहन राकेश के नाटकों से ही प्रारम्भ होता है। यों तो उनके सभी नाटकों में संवादों तथा क्रियाओं का अभूतपूर्व समन्वय मिलता है किन्तु उनका `आधे अधूरे` तो पूर्णत: क्रिया तत्व से युक्त भाषा का सुन्दर नमूना है। इसमें नाटककार ने महेन्द्रनाथ का फाइल पीटना, छोटी लड़की का जले टोस्ट को कोयला कहकर थू-थू कर प्लेट में थूकना, लड़के का पेड़ पर सिंघानिया का कार्टून बनाना, सावित्री का जगमोहन के पास जाने के लिये सजना संवरना, कंघी से सफेद बालों को ढंकना जैसी छोटी-छोटी क्रियाओं का उल्लेख कर नाटकीय अर्थ को प्रभावपूर्ण तो बनाया ही है साथ ही भाषा को अभिनेय गुणों से युक्त कर उसे रंगमंचीय क्षमता से भी पूर्ण किया है। पात्रों की इन क्रियाओं के साथ ही नाटककार ने अपने कथ्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिये मौन का भी सुन्दर प्रयोग किया है जो कहीं क्रिया और कहीं दृश्य से जुड़कर नाटकीय भाषा को अधिक नाटकीय एवं सक्षम बना देते हैं। आधे-अधूरे में छोटी लड़की की पढ़ाई की सामग्री के लिये शिकायत करने पर तथा बड़ी लड़की का माँ से यह पूछे जाने पर कि `वह कौन सी वस्तु है जो वह संस्कार रूप में इस घर से ले गई है` के उत्तर में घर का वातावरण में छायी निस्तब्धता अपने अनकहे रूप में ही घर की यथार्थ स्थिति का जो जीवन्त एहसास दे जाती है वह उनके रंगमंचीय ज्ञान अथवा अनुभव की परिचायक है, जिसे उन्होंने अपने नाटकों में रिक्त स्थानों तथा टूटे फूटे संवादों द्वारा प्रकट कर नाट्यभाषा को अपेक्षित रंगक्षमता भी प्रदान की है।

एब्सर्ड नाटकों के प्रभावान्तर्गत लिखे गये नाटकों में तो भाषा का यह भंगिमापूर्ण रूप ही अधिक प्रचलित है जहाँ पात्र बोलते कम तथा क्रियाएँ अधिक करते हैं। इसका मूल कारण यह है कि आज जैसे-जैसे परिस्थितियाँ जटिल होती जा रही है शब्द अपनी अर्थवत्ता खोते जा रहे हैं और उनका स्थान क्रियाएँ लेती जा रही हैं और सम्भवत: क्रियाओं तथा भंगिमाओं की अर्थवत्ता को जानकर ही भुवनेश्वर ने अपने नाटकों के सन्दर्भ में `हरकत की भाषा` की आवश्यकता पर बल दिया था। जो भुवनेश्वर के `कारवाँ` एकांकी संग्रह की भूमिका में लिखे विपिन अग्रवाल के निम्नलिखित शब्दों से स्वत: स्पष्ट है `हरकत की भाषा हमारे जीवन का अंग है। कभी हम हरकतें

ज्यादा करते हैं और कभी बोलते अधिक हैं। दोनों का सन्तुलन ही पूरी भाषा है पर जब एक पर से आस्था उठ जाती है तब दूसरी उसकी जगह ले लेती है। आज लगता है, बहुत से शब्द अर्थ खो बैठे हैं या सम्प्रेषण के लिये कालिखमय हो गये हैं। इनके सहारे हम कहना कुछ चाहते हैं और कह कुछ और जाते हैं इसलिए हरकत की भाषा का सहारा लेना अनिवार्य हो गया है।[1] अत: आज नाटक में पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिये भाषा का बहुत सा कार्य संवादों की अपेक्षा उनकी क्रियाओं के माध्यम से ही लिया गया है। यथा उपेक्षा की स्थिति में मुंह चिढ़ाना, अंगूठा दिखाना, गुस्से की स्थिति में हाथ-पैर तथा चीजों को इधर-उधर पटकना, मंच पर ही इधर से उधर जल्दी जल्दी आना जाना इत्यादि। एब्सर्ड नाटकों में तो यह क्रियाएँ कहीं-कहीं बिल्कुल निरर्थक तथा बेतुकी सी लगती है, किन्तु अपने बेतुकेपन में भी वह भाषा को जो अर्थवत्ता दे जाती है वह स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य भाषा की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। उदाहरणार्थ - शम्भूनाथ सिंह कृत `दीवार की वापसी` में `क` का कुर्सी पर टांगे ऊपर करके बैठना, कपड़ों को उठा उठाकर इधर-उधर फेंकना, आगन्तुकों के मुंह पर मुखौटा लगाना इत्यादि क्रियाएँ, जो प्रत्यक्षत: निरर्थक लगते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक बन्धनों से संत्रस्त मनुष्य की सम्पूर्ण मन: स्थिति को बड़े ही सहज ढंग से उजागर कर जाती है। यद्यपि इन क्रियाओं के साथ ही शब्दों की भी अपनी एक भाषा रही है, किन्तु पात्रों की बेतुकी स्थितियों तथा क्रियाओं के अनुरूप उनकी भाषा भी बेतुकेपन से पूर्ण तथा ऊलजलूल है, जिसमें भावुकता का सर्वथा अभाव है।

भाषा सम्बन्धी उपरोक्त विशेषताओं के साथ ही आलोच्यकाल की भाषा में व्यंग्यात्मकता भी पर्याप्त है जिसका प्रयोग नाटककार ने मुख्यत: समकालीन जीवन की विषमताओं एवं कुरूपताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराने के लिये किया है। स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक नाटकों में तो ऐसे व्यंग्यात्मक संवाद सर्वत्र ही भरे हैं, एब्सर्ड नाटक तो पूर्णत: व्यंग्य नाटक ही है, किन्तु इतिहासाश्रित नाटकों में भी इनकी कमी नहीं। विलोम अम्बिका धर्मपद उर्वी कवच इत्यादि के अधिकांश संवाद नाटककार की व्यंग्यात्मक भाषा के अच्छे उदाहरण हैं।

---

१. विपिन अग्रवाल - `बारवाँ` एकांकी संग्रह भूमिका, पृष्ठ १२

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर युग में हुए विभिन्न नाट्य प्रयोगों में हमें व्यवहृत भाषा के मुख्यत: तीन रूप दिखायी देते हैं - प्रथम, राकेश, भारती तथा माथुर के इतिहासाश्रित नाटकों में प्रयुक्त काव्यगुणों, बिम्बों एवं प्रतीकों से युक्त साहित्यिक भाषा। किन्तु यह उस अर्थ में साहित्यिक नहीं है जिस अर्थ में प्रसाद की भाषा। यद्यपि इनके पश्चात् डॉ० लाल भी अपने मिथकीय नाटकों में भाषा के इस काव्यात्मक रूप को पकड़कर चले हैं किन्तु सूक्ष्म संवेदनशीलता के अभाव में वह इसका समुचित उपयोग नहीं कर सके हैं। ~~अतः~~ वरन् सत्य तो यह है कि जैसे-जैसे नाटक युग जीवन से प्रत्यक्षत: जुड़ता जा रहा है पात्रों को उनकी यथार्थ भाषा देने के प्रयास में यह भाषिक परम्परा ही क्रमश: समाप्त होती जा रही है। स्वयं राकेश, जिन्होंने अपने नाट्य प्रयोगों द्वारा भाषा के इस साहित्यिक रूप को एक सर्जनात्मक स्तर तक उठाया था, नाट्य भाषा के इस रूप से पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं थे। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि 'अगर आप मुझसे पूछें तो मैं कहूँगा कि हमारे नाट्य लेखन में इतनी अधिक साहित्यिकता है कि जितनी जल्दी उसके अतिरेक को झाड़ा जा सके, उतना ही अच्छा है।'[1] जिसका प्रत्यक्ष परिणाम उनका 'आधे अधूरे' है जहाँ वह साहित्यिकता के अतिरेक को उतारकर - भाषा की दृष्टि से पूर्णत: यथार्थ पर उतर आये हैं। इस प्रकार नाट्य जगत में भाषा का जो दूसरा रूप सामने आया, वह था, दैनिक जीवन में व्यवहृत बोल-चाल की साधारण भाषा। इस युग के समस्त सामाजिक नाटकों में भाषा का यह रूप ही अधिक प्रचलित रहा है। जो नाटककार की सूक्ष्म संवेदनशीलता से अनुप्राणित हो निरन्तर विकास की ओर अग्रसर है।

इसके पश्चात भाषा का जो तीसरा रूप सामने आता है, वह है, एब्सर्ड नाटकों में प्रयुक्त भंगिमापूर्ण भाषा। यद्यपि इसका आधार तो समसामयिक जीवन में व्यवहृत बोल-चाल की साधारण भाषा ही है, किन्तु यहाँ नाटककार ने शब्दों के बंधे-बंधाये रूप को अस्वीकार कर उसे नितान्त असंगठित एवं अव्यवस्थित रूप में ही स्वीकार किया है। साथ ही पात्रों के संघर्ष को शब्दों की अपेक्षा दृश्य, क्रिया आदि शब्देतर माध्यमों से व्यक्त किया गया है। अत: भाषा यहाँ मन:स्थिति की सूचक सामग्री के रूप में स्वीकार की गयी है। यद्यपि इसका प्रयोग तो भुवनेश्वर के अनुकरण पर ~~अतः~~ सन् ६० के पश्चात् लिखे गये विपिन अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा शम्भूनाथ सिंह

---

१. मोहन राकेश, 'साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि', पृष्ठ ६४

के नाटकों में प्रारम्भ हो गया था किन्तु भाषिक संरचना की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में भाषा के इस नवीन रूप का प्रयोग सन् ७० के पश्चात् लिखे गये हमीदुल्ला, मणिमधुकर, मुद्राराक्षस, सर्वेश्वरलाल सक्सेना तथा बृजमोहन शाह के नाटकों में ही हो सका है।

अत: स्पष्ट है कि जीवन-सन्दर्भों के परिवर्तन के साथ ही आज भाषा के क्षेत्र में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। पात्रों की मन:स्थिति के अनुरूप उन्हें उनकी अपनी भाषा देने के प्रयास में आज भाषा प्रसादकालीन साहित्यिकता के घेरे से निकल कर यथार्थ के धरातल पर तो उतरी ही है साथ ही वास्तविकता के बदलने से उसे प्रस्तुत करने का ढंग भी बदल रहा है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज का नया नाटक है. जहाँ वास्तविकता को बिना भावुकता के, बिना किसी कथा के साँचे में ढालकर प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त संवादों में शब्दों की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्व दिये जाने के कारण वह अभिनय के भी सर्वथा अनुकूल है। और इस प्रकार वह पाठ्य नाटकों के किताबीपन से मुक्त होकर रंगमंचीय उपादानों से प्रत्यक्षत: जा जुड़ी है, जो नाट्य विकास की दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य भाषा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

रंग-संयोजन —

कथ्य, शिल्प एवं भाषागत परिवर्तनों के साथ ही स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों की एक अन्य विशेषता उसकी रंगमंच सापेक्षता है। यों तो हिन्दी नाटक के प्रारम्भ से ही नाटक और रंगमंच का एक सापेक्षिक महत्व रहा है और सभी ने नाटक के अभिनय पक्ष पर जोर देकर नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित रूप का ही समर्थन किया है किन्तु, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, पारसी रंगमंच के प्रति निहित घृणाभाव तथा किसी सुसंस्कृत एवं स्थायी रंगमंच के अभाव में हिन्दी रंगमंच नितान्त अविकसित अवस्था में ही था, और उसकी यह स्थिति स्वतंत्रता प्राप्ति तक इसी प्रकार बनी रही। लेकिन स्वतन्त्रता के उपरान्त जबकि भारत का सम्बन्ध एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में पाश्चात्य देशों इंग्लैण्ड, अमरीका, रूस, फ्रान्स तथा अन्य एशियाई देशों से स्थापित हुआ तो वहाँ के सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने हमारा ध्यान हिन्दी के जीवित रंगमंच और व्यावहारिक नाट्यकला के अभाव की ओर आकृष्ट किया, परिणामस्वरूप रंगमंच के प्रति एक दृढ़ आस्था का उदय हुआ और हिन्दी नाटककार नवीन नाट्य प्रयोगों की ओर प्रवृत्त हुए।[१] फलत: हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के क्षेत्र में एक नवोन्मेष आया, जिसने आगे चलकर एक नाट्यान्दोलन का रूप धारण किया। छठे दशक का अन्त और सातवें दशक का प्रारम्भ तो देशभर में नाट्य आन्दोलन के विभिन्न दिशाओं में अग्रसर होने का काल है। इस समय एक ओर जहाँ सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से अनेक रंगकर्मी नाटककार प्रकाश में आये, वहीं दूसरी ओर उनके उचित मार्ग निर्देशन तथा उनके कार्यों को एक व्यवस्थित एवं व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से देशभर में अनेकों सरकारी अथवा गैरसरकारी प्रयास किये गये। जिसके प्रभावस्वरूप सम्पूर्ण भारत विशेषकर हिन्दी प्रदेश में अनेकों व्यवसायी और अव्यवसायी नाट्य कम्पनियाँ नाट्य-जगत में अवतरित हुईं, जिन्होंने अपने सफल प्रदर्शन द्वारा नाटककारों तथा रंगकर्मियों के समक्ष नाट्यरचना का एक नवीन मानदण्ड स्थापित किया। सच पूछा जाय तो स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों में होने वाले कथ्य, शिल्प एवं भाषा सम्बन्धी परिवर्तनों का मूल कारण इन प्रयोगधर्मी नाटककारों की रंगमंच सम्बन्धी नवीन खोजयात्रा ही थी, जिसने रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुरूप नाटक के स्वरूप में अपेक्षित परिवर्तन कर हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के विकास को एक आन्दोलन का रूप दिया।

---

१. जयदेव तनेजा - 'समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि', पृष्ठ ६२

स्वातन्त्र्योत्तर काल के इन प्रयोगधर्मी नाटककारों में छठें दशक के भारती, माथुर तथा राकेश चिरस्मरणीय है जिन्होंने यथार्थवाद के शुष्क और वस्तुनिष्ठ रंगमंच की सीमाओं से अवगत होकर इस दशक के प्रारम्भ में ही, जबकि हिन्दी रंगमंच नितान्त अविकसित अवस्था में था, अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा रंगदृष्टि के आधार पर प्राचीन परम्परा के पुनरान्वेषण तथा अधुनातन प्रयोगों द्वारा एक सशक्त रंगमंचीय परम्परा को जन्म दिया, जिसमें प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, कल्पनाशीलता, संगीत और आलोक सम्पात आदि का महत्वपूर्ण स्थान था।[1] उनके द्वारा रचित 'कोणार्क' पहला राजा, 'आषाढ़ का एक दिन', तथा 'अन्धायुग' इस रंगमंचीय परम्परा के सशक्त एवं उल्लेखनीय नाटक हैं, जहाँ उन्होंने संस्कृत की प्राचीन परम्परा के पुनरान्वेषण के साथ-साथ संगीत व ध्वनि सम्बन्धी नवीन प्रयोगों के माध्यम से यथार्थवाद के सीमित स्थूल एवं उपकरणाश्रित मंच को संकेतों, प्रतीकों तथा कल्पना के अभूत पूर्व समन्वय द्वारा एक सर्वथा नवीन एवं व्यापक रूप दिया, जो अपनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों के कारण आज तक अनेक प्रायोगिक आयामों से गुजर रहा है।

छठी दशाब्दी में उभरे इन प्रयोगधर्मी नाटककारों के साथ ही हिन्दी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में उठने वाले नवोन्मेष को एक ठोस आधार देने के लिये १९५४ में भारत सरकार की ओर से 'संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना की गई, जिसकी अनुदान और पुरस्कार योजना ने नाटककारों, निर्देशकों और रंगकर्मियों को प्रोत्साहित कर नाटक तथा रंगमंच के विकास को एक विशेष सम्बल प्रदान किया। इसके साथ ही १९५९ में दिल्ली में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना हुई, जिसने अपने ठोस प्रशिक्षण द्वारा हिन्दी रंगमंच को अनेक प्रतिभाशाली निर्देशक और रंगकर्मी तो प्रदान किए ही, हिन्दी भाषा को रंगप्रदर्शन का एक व्यावहारिक माध्यम स्वीकार कर विभिन्न भाषायी नाट्यकला को एक सूत्र में पिरोने तथा राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय रंगमंच की सही तलाश और उसे एक व्यावहारिक रूप देने का महत्वपूर्ण प्रयास भी किया। इसके अतिरिक्त इसी समय नाट्यकला के समुचित विकास के लिये देशभर में रवीन्द्र भवनों (रंगशालाओं) तथा नाट्य केन्द्रों के निर्माण की योजना पर बल दिया गया, जिसने हिन्दी के इस नये रंगमंच के अन्वेषण और प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन सबका सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि हिन्दी रंगमंच जो अभी तक नितान्त

---

१. डॉ० रीता कुमार 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में', पृष्ठ ४६।

अविकसित अवस्था में था शीघ्र ही सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित हो गया । इलाहाबाद में स्थापित `नाट्य केन्द्र`, `थ्री आर्ट्स `; इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन `, `प्रयाग रंगमंच` कानपुर में `एम्बेसडर ` `दर्पन ` दिल्ली में `नया थियेटर`, `हिन्दुस्तानी थियेटर `, `इन्द्रप्रस्थ थियेटर` `थ्री आर्ट्स `अभियान तथा दिशान्तर`[1] आदि हिन्दी प्रदेश में होने वाले रंग आन्दोलन के जीवन्त प्रमाण है जिन्होंने अपने कलात्मक प्रदर्शनों द्वारा हिन्दी रंगमंच निर्माण तथा नाटक के विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान किया ।

इस प्रकार प्रत्यक्षत: तो रंगमंच सम्बन्धी यह शून्यता, जो सन् ३६-३७ के आस-पास पारसी रंगमंचों के पूर्णत: समाप्त होने से हिन्दी रंगमंच पर व्यापक रूप से छाने लगी थीं, स्वतन्त्रता के बाद स्थापित इन सरकारी अथवा गैर सरकारी संस्थाओं के सक्रिय होने से ही समाप्त हुई, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी नाटक को रंगमंच से जोड़ने का महत्वपूर्ण दायित्व स्वतन्त्रता पूर्व स्थापित `पृथ्वी थियेटर` तथा `इप्टा ( इंडियन पीपुल थियेटर एसोसिएशन अर्थात् भारतीय जन नाट्य संघ ) सदृश कतिपय व्यवसायी नाट्य कम्पनियों को ही है । इनमें `इप्टा` जहाँ राजनीतिक साम्यवादी पार्टी के उद्देश्यों को लेकर चली थी वहीं `पृथ्वी थियेटर ` शुद्ध व्यावसायिक नाट्य कम्पनी थी जिसने पारसी थियेटर से हटकर तथा हिन्दी सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता में रंगकला, समाज आदर्श, श्रेष्ठ अभिनय इन सबको अतिनाटकीय नाटकों से मिलाकर हिन्दी रंगमंच के विकास में एक नया अध्याय शुरू किया ।[2] पृथ्वी थियेटर पर अभिनीत `दीवार` `आहुति`, `पठान` तथा `कलाकार` इस रंगमंच के सफल नाटक है, जिसने यथार्थ तथा कल्पना के अभूतपूर्व समन्वय द्वारा अपार दर्शक वर्ग को अपने रंगस्तर से अभिभूत किया । रंगसंयोजन की दृष्टि से इनके नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी रंगमंचगत स्वाभाविकता, सरलता एवं अयान्त्रिकता है, जिसे उनके नाटकों के दृश्यविधान एवं मंच सज्जा आदि में सहज ही देखा जा सकता है । मंच सज्जा की दृष्टि से इन्होंने पर्दों का प्रयोग उठाकर सैटिंग की नूतन पद्धति को अपनाया, जो उन पर पाश्चात्य-यथार्थवादी रंगमंच का प्रभाव था किन्तु उसकी सरलता तथा सादगी द्वारा उन्होंने हिन्दी के मृत रंगमंच को पुन: जिलाकर आधुनिक नाटक की सम्भावनाओं को देश के सम्मुख प्रस्तुत किया । वरन् सत्य तो यह है कि अपने सरल स्वाभाविक एवं सुरुचिपूर्ण

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल - `आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच`, पृष्ठ ७४
२ वही - ,, ,, ,, , पृष्ठ ७०

प्रदर्शनों द्वारा 'पृथ्वी थियेटर्स' ने ही पहली बार इस तथ्य को स्पष्टत: सामने रखा कि कला तड़क-भड़क और अस्वाभाविकताओं एवं कुरुचिपूर्ण प्रसंगों का प्रदर्शन नहीं है । इसका व्यापक अर्थ तो सच्चे अर्थ में, जीवन की अनुकृति है ।[1] जिसे अपनी कल्पना में ढालकर उन्होंने अपने नाटकों को एक सर्वथा नवीन रूप दिया ।

इसी के समानान्तर 'इप्टा' जो कि मूलत: राजनीतिक साम्यवादी दल का रंगमंचीय आयाम था, ने अपने रंगमंचीय प्रयोगों में विभिन्न विस्मृत और तिरस्कृत लोककला रूपों अथवा शैलियों-- रसिया, होली, आल्हा, कजली नौटंकी आदि को जीवित कर अभिनय गायन और रंगमंच की कला को नया रास्ता तो दिखाया ही साथ ही नाटक की कुछ नवीन शैलियों यथा कोरस, कमेन्ट्री, गान, वन्दन, उदासी की धुनें[2] पेन्टोमाइम, पोस्टर नाटक, आशुनाटक, बैले आदि के सफल प्रयोगों द्वारा अपनी ठोस नाटकीय शैलियों को सुसम्पन्न कर भारतीय रंगकर्मियों के समक्ष अभिनय का यह आदर्श प्रस्तुत किया कि 'कुछ कहने के लिये भावनामय संवाद, बौद्धिक, तार्किक, कथोपकथन, बड़ी-बड़ी घटनाओं मंच दृश्यों की आवश्यकता नहीं होती बल्कि मानव दु:ख सुख के गायन, नर्तन, हंसी, मजाक, व्यंग्य, हास्य, नकल के धरातल से जीकर प्रस्तुत कर 'बात' कही जा सकती है[3] । इसके साथ ही इसके नि:स्वार्थ कर्मी सदस्यों ने सादे खुले रंगमंच पर प्रदर्शन करने की कला का आविष्कार करके 'ओपेन एयर थियेटर' के रूप में रंगमंच के एक सर्वथा नवीन रूप को जन्म दिया ।

यद्यपि इनके सीमित साधनों के कारण इनका प्रचार-प्रसार तो बहुत अधिक न हो सका किन्तु अपने नवीन रंगमंचीय प्रयोगों द्वारा इन्होंने नाटक को सामाजिक सार्थकता से जोड़कर नाटककारों एवं रंगकर्मियों के समक्ष रंगमंच सम्बन्धी जो नवीन व्यावहारिक मानदण्ड स्थापित किये उन्होंने हिन्दी रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । हिन्दी नाटक के प्रतिमान और अन्वेषण का जिक्र करते हुए इन व्यावसायिक कम्पनियों के सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने लिखा भी है "निस्संदेह, पृथ्वी, थियेटर और जननाट्य संघ के प्रभाव में लिखे गये और खेले गये नाटकों का स्तर बहुत नीचा है बल्कि नहीं के बराबर है उनकी अपील मुख्यत:

---

१. देवदत्त शास्त्री- 'पृथ्वीराज कपूर 'अभिनन्दनग्रन्थ' लेख शशिप्रभाशास्त्री कृत 'हिन्दी रंगमंच', पृष्ठ २३५ ।

२. देवदत्तशास्त्री, 'पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दनग्रन्थ' लेख निरंजन सेन कृत 'भारतीय जननाट्य', पृष्ठ १५९ ।

३. नेमिचन्द्र जैन - 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच', पृष्ठ ७०

या तो राजनीतिक है या उद्देश्यपरक मनोरंजन प्रधान ।...... फिर भी नाटक में फिर से प्राण प्रतिष्ठा होने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं दोनों घटनाओं को है, क्योंकि उन्होंने नाटक को रंगमंच से जोड़ा और उसे निरे मनोरंजन के प्रकार से उठाकर एक सामाजिक सार्थकता प्रदान की ।[1]

इस प्रकार यह तो थी स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच की रूपरेखा अथवा विकास यात्रा, जिसने एक रंग आन्दोलन का रूप धारण कर समस्त नाटककारों का ध्यान रंगमंच के व्यावहारिक पक्ष की ओर आकृष्ट किया । फलत: अनेक नाटककार तो प्रकाश में आये ही साथ ही उन्होंने नाटक के मंचन को नाटक की एक अनिवार्य शर्त मानकर हिन्दी नाट्य जगत में अनेक रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि की । नाटक के मंचन के सम्बन्ध में इन नये नाटककारों का विश्वास था कि 'नाटककार का, जो जीवन का व्याख्याता है, निकष रंगमंच है । यदि रंगशाला में बैठे हुए प्रेक्षक के सम्मुख प्रस्तुतकर्ता नाटककार की व्याख्या को सफलता के साथ सम्प्रेषित कर देता है तभी वह व्याख्या अर्थ रखती है और तभी वह नाटक सही अर्थों में नाटक है ।'[2] जिसका उन्होंने अपने नाटकों के निर्माण में पूर्णत: पालन भी किया । किन्तु जहाँ तक स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के रंग संयोजन का प्रश्न है इस युग विशेष में रंगमंच के प्रति नाटककारों, निदेशकों तथा अभिनेताओं के रंगमंच के प्रति बढ़ती दायित्व चेतना के कारण नाटकों की मंचीय परिकल्पना में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया और वह था प्रचलित यथार्थवादी रंगमंच, जहाँ सम्पूर्ण नाटक तीन दीवारों वाले ड्राइंग रूम सेट की भारी भरकम स्थूल दृश्यबन्ध में सीमित होकर रह गया था, की सीमाओं से ऊपर उठकर संस्कृत तथा लोकमंच के पुनरान्वेषण तथा प्रतीकों एवं मिथकों के सार्थक प्रयोग, ध्वनि प्रभाव एवं प्रकाश-योजना सदृश अधुनातन प्रयोगों द्वारा हिन्दी के सीमित स्थूल एवं उपकरणाश्रित मंच को अपेक्षाकृत सांकेतिक एवं भावात्मक रूप प्रदान कर अधिकाधिक सूक्ष्म गहन एवं व्यापक रूप देना । स्वातन्त्र्योत्तर युग का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य हिन्दी रंगमंच के इस परिवर्तित रूप का प्रत्यक्ष प्रमाण है जहाँ उन्होंने नाटक के मंचन तथा रंगमंच की सीमाओं एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए हिन्दी नाट्य जगत में रंगसंयोजन सम्बन्धी विविध प्रयोग किए ।

---

१. नेमिचन्द्र जैन -'आलोचना' विशेषांक, भाग १७ जुलाई-सितम्बर १९५७, पृष्ठ ८६

२. सत्यव्रत सिन्हा - 'रंगमंच ही नाटक का निकष' शीर्षक नटरंग ३, पृष्ठ १६-१७ ।

किसी ने यथार्थवादी रंगमंच की शुष्क विवादात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप संस्कृत रंगमंच के जीवन्त तत्वों, काव्यत्व, संगीत, रस, प्रेक्षक की कल्पना नेपथ्य आदि को स्वीकार कर हिन्दी रंगमंच को एक व्यापक रूप दिया तो किसी ने विष्कम्भक, सूत्रधार, नट-नटी की संवादात्मक उक्तियाँ, उपकथन, उपसंहार, स्थापना, समापन, कथागायन इत्यादि प्राचीन नाट्यरूढ़ियों को लोकमंच अथवा यूनानी पद्धति में ढालकर, प्रेक्षक तथा अभिनेताओं के बीच की दूरी को समाप्त कर जन रंगमंच को आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने के एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में स्वीकार किया है और किसी ने परम्परित स्थूल दृश्यों की असमर्थता को ध्वनि, प्रभाव, प्रकाश योजना, नृत्य संगीत बिम्बों एवं प्रतीकों के कलात्मक तथा नाटकीय उपयोग द्वारा पूरा कर, भावों की प्रभावशाली अभिव्यंजना का प्रयत्न किया। धर्मवीर भारती, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायणलाल, विपिन अग्रवाल तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा के नाटकों में हुए रंगमंच सम्बन्धी विविध प्रयोग नाटककारों की रंगमंच सम्बन्धी दायित्व भावना के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं जिन्होंने निर्देशकों तथा अभिनेताओं के सहयोग से रंगमंच पर उतार कर हिन्दी रंगमंच को विकास की अनन्त संभावनाएँ दी।

यों तो नाटक के रंग संयोजन अथवा प्रस्तुतिकरण को दृष्टि में रखकर इस युग के समस्त नाटककारों ने ही रंगमंच की सीमाओं, उसके स्वरूप तथा प्रदर्शन की परिस्थितियों को देखते हुए तीन अंकों वाले एक दृश्यबंधीय नाटकों की रचना कर भाषा, वेशभूषा तथा मंच सज्जा के विषय में अपेक्षित सरलता एवं जागरूकता का परिचय दिया था, जिन्हें सीमित समय में और सीमित साधनों द्वारा हिन्दी के नवविकसित रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सके।

किन्तु हिन्दी नाट्य जगत में रंगमंच सम्बन्धी यह नवोन्मेष जगदीशचन्द्र माथुर धर्मवीर भारती तथा मोहन राकेश के कतिपय नाट्य प्रयोगों द्वारा ही आया, जहाँ उन्होंने रंगमंच को जीवन के अधिकाधिक निकट लाने तथा उसे गहन रंगमंचीय आयामों से जोड़ने के लिये अपनी कल्पनाशीलता के बल पर संस्कृत रंगमंच के पुनरान्वेषण लोकनाट्य रूढ़ियों के नवीनतम उपयोग ध्वनिसंयोजन, प्रकाश व्यवस्था तथा बिम्ब एवं प्रतीकों के कलात्मक उपयोग द्वारा नाटक के जटिल भावबोध को भावात्मक अथवा प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत कर, दृश्य निर्माण सम्बन्धी समस्या का समाधान कर हिन्दी रंगमंच को विकास की अनन्त संभावनाएँ प्रदान की। भारती कृत 'अंधायुग', माथुर कृत 'कोणार्क' तथा 'पहला राजा' और राकेश कृत 'आषाढ़ का एक दिन' तथा

`आधे अधूरे` उनकी इस प्रयोगशील रंग दृष्टि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

अपने इन नाट्य प्रयोगों में जहाँ भारती ने प्राचीन संस्कृत रंगमंच तथा लोकमंच के पुनरान्वेषण द्वारा कथागायन, स्थापना और समापन, पात्रों द्वारा कथित नाट्यात्मक टिप्पणियों आदि नाट्यरूढ़ियों के नवीनतम उपयोग तथा ध्वनि-प्रभाव, प्रकाश और अन्धकार के प्रयोग द्वारा पूर्वावलोकन और समानान्तर कार्य-संयोजन तथा वनपथ और अन्त:पुर के बीच सहज और अबाध सम्बन्ध स्थापित कर कार्य-व्यापार की निरन्तरता को बनाये रखते हुए विशाल महाभारतीय इतिवृत्त को बिम्ब रूप में एक सादे से मंच पर प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता प्रदान कर हिन्दी नाटककारों के समक्ष नाट्य-रचना सम्बन्धी एक नवीन पथ निर्देश किया है। वहीं माथुर तथा राकेश ने संस्कृत रंगमंच तथा लोकमंच की उपलब्धियों को स्वीकार कर, यथार्थवादी रचना शिल्प, ध्वनि, प्रभाव तथा प्रकाश और अन्धकार के कलात्मक उपयोग द्वारा अपने कथ्य को विविध रंगमंचीय आयामों से युक्त कर हिन्दी रंगमंच को जनसामान्य से जोड़ने के सशक्त प्रयोग किये।

मंचीय दृष्टि से पहला राजा को छोड़कर इनके समस्त नाटक यथार्थवादी रंगमंच के बाक्स सैट को आधार बनाकर लिखे गये हैं जिन्हें थोड़ी सी सहज उपलब्ध सामग्री द्वारा मंच पर यथार्थरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। `कोणार्क` में जहाँ नाटक का सारा कार्यव्यापार मन्दिर के पार्श्व भाग में स्थित विशु के कमरे तथा मन्दिर के गर्भगृह के अन्तराल, इन दो दृश्यबन्धों पर घटित हुआ है वहीं `आषाढ़ का एक दिन` में मल्लिका के घर के बरोठे में, `लहरों के राजहंस` में सुन्दरी के शयनकक्ष में और `आधे अधूरे` में सावित्री तथा महेन्द्रनाथ के ड्राइंगरूम में। अपने अन्तिम दोनों नाटकों में तो राकेश ने स्थान और काल की सीमाओं को लाँघ कर अपना सम्पूर्ण नाटकीय कार्यव्यापार एक दृश्यबन्ध पर ही प्रस्तुत किया है। यद्यपि यहाँ कमरे से बाहर घटित घटनाओं को सूच्य रूप में प्रस्तुत करने के कारण नाटकीय कार्यव्यापार में कुछ शिथिलता आ गयी है किन्तु हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के इस प्रयोगकाल में उनकी रंगसंयोजन सम्बन्धी अन्य उपलब्धियों को देखते हुए उनका यह दोष नगण्य ही कहा जायेगा।

किन्तु यथार्थवादी रंगमंच से प्रभावित होने के साथ ही यह नाटककार उसकी सीमाओं तथा व्ययसाध्यता से भलीभाँति परिचित थे अत: उन्होंने अपने नाटकों में दृश्यनिर्माण सम्बन्धी सरलता तथा सादगी पर विशेष ध्यान तो दिया ही है साथ ही जहाँ आवश्यकता समझी है वहाँ अपने कथ्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिये

नट-नटी, सूत्रधार की संवादात्मक उक्तियों, ध्वनि प्रभाव, वाद्यसंगीत तथा प्रकाश आदि के माध्यम से भावात्मक सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक दृश्यों की भी योजना की है। इनमें माथुर जहाँ भावात्मक रंगमंच की ओर झुके दिखाई देते हैं वहीं राकेश प्रतीकात्मक रंगशैली को लेकर चले हैं। जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने 'पहला राजा' में यथार्थ दृश्यबन्ध की उपेक्षा कर सम्पूर्ण कार्यव्यापार को नट-नटी के संवादों तथा ध्वनि और प्रकाश के माध्यम से भावात्मक रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ - नदी पर पुल बाँधने का दृश्य, जहाँ प्रकाश तथा छाया के माध्यम से बाँध पर काम करते मजदूरों की सिलुएट आकृतियाँ उभारी गयी है यथा 'दूर टीले पर कुछ पुरुषों की पंक्ति। आकृतियाँ 'सिलुएट' की भाँति दीख पड़ती है'[1] जो दृश्य को न केवल दूरी और आयाम ही प्रदान करता है, चित्रकला जैसा प्रभाव भी उत्पन्न करता है।

किन्तु राकेश ने अपने नाटकों में यह प्रभाव ध्वनि तथा प्रकाश के माध्यम से प्रतीक रूप में ही प्रस्तुत किया है। वस्तुत: एक सफल रंगकर्मी तथा रंगमंच से प्रत्यक्षत: जुड़े होने के कारण वह यह भलीभाँति जानते थे कि पश्चिम की तकनीकी दृष्टि से सम्पन्न मंच का अनुकरण हमारे परिवेश तथा परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है अत: उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र रूढ़ यथार्थवादी मंच की उपकरण निर्भरता से हटते हुए शब्द प्रधान मंच, जहाँ नाटक का सारा कार्यव्यापार पात्रों के संवादों अथवा अभिनय की उत्कृष्टता पर आश्रित है, की आवश्यकता पर बल दिया। और यही कारण है कि अपने नाटकों का मंच निर्माण करते समय उन्होंने सर्वत्र उन्हीं वस्तुओं का उपयोग किया है जो अपनी साधारणता में भी एक प्रतीकार्थ छुपाये हुए है तथा नाटक को बाह्य-परिवेश प्रदान करने के साथ ही पात्रों की आन्तरिक मन:स्थिति के उद्घाटन तथा नाटक की मूल संवेदना के प्रस्तुतिकरण में भी सहायक हुए हैं। इस प्रकार दृश्य-निर्माण के पीछे उनका मुख्य उद्देश्य नाटकीय स्थिति का संकेत मात्र देना था जिसे उन्होंने अपने नाटकों में प्रयुक्त प्रतीकों के माध्यम से बखूबी निभाया है। वस्तुत: ध्यान से यदि देखा जाय तो उनके नाटकों में प्रयुक्त मंच सज्जा सम्बन्धी समस्त उपादान प्रतीक रूप में उनके कथ्य की अभिव्यक्ति का ही एक सशक्त माध्यम है। 'आषाढ़ का एक दिन' के दृश्य-बन्ध में प्रयुक्त घट, छाज, द्वार पर अंकित स्वस्तिक चिन्ह तथा नेपथ्य में मेघगर्जन और

---

१. जगदीश चन्द्र माथुर - 'पहला राजा', पृष्ठ ७५

की निरन्तरता को बनाये रखते हुए रंगमंच पर यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'अपना-अपना जूता' इस रंगमंचीय प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण है जहाँ नाटककार ने सब परिवर्तित घटनाओं के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ह्रासोन्मुख समाज का एक व्यापक चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज रंग-संयोजन की दृष्टि से हिन्दी नाट्य जगत में विविध प्रयोग हो रहे हैं और हिन्दी रंगमंच अपने परम्परित यथार्थवादी रूप को छोड़कर प्रतीकात्मक, भावात्मक, सांकेतिक तथा एब्सर्ड आदि अनेक दिशाओं में बढ़ रहा है किन्तु यहाँ पर ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यह सब प्रयोग नाटककार ने मात्र प्रयोग के लिए न कर अपने यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए ही किये थे अत: प्रत्यक्षत: यथार्थवादी रंगमंच अथवा रूपबन्ध की उपेक्षा करके भी वह नाटक को जनसामान्य से जोड़कर चलने के कारण यथार्थवादी रूपबन्ध अथवा रंगमंच की पूर्णत: उपेक्षा नहीं कर पाये हैं। सन् १९७० के बाद प्रकाश में आने वाले अमृतराय कृत 'बिन्दियों की एक झालर' 'शताब्दी' 'हमलोग', लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'करफ्यू', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', सुरेन्द्र वर्मा कृत 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', शंकर शेष कृत 'बिन बाती के दीप' 'फन्दी' रमेश बख्शी कृत 'देवयानी का कहना है' 'तीसरा हाथी', हमीदुल्ला कृत 'समय सन्दर्भ' 'उलझी आकृतियाँ' 'दरिन्दे' मुद्राराक्षस कृत 'तिलचट्टा' तथा 'मरजीवा' आदि विभिन्न नाटकीय प्रयोग इस तथ्य के स्पष्ट परिचायक हैं जहाँ नाटककारों की दृष्टि एब्सर्ड शिल्प, लोकरंगमंच तथा प्रतीकों का समन्वित उपयोग करके भी अन्तत: यथार्थोन्मुख रंगमंच की ओर ही रही है। रंगमंच के प्रति नाटककारों के इस परिवर्तित दृष्टिकोण के मूल कारण का उद्घाटन करते हुए गोविन्द चातक एक स्थान पर लिखते हैं कि 'रंगमंच का सम्बन्ध आज कवि दार्शनिक और सर्जनात्मक कलाकार से जुड़ गया है जो नाट्य के बाह्य तत्व पर बल देने की अपेक्षा उसकी आन्तरिक आत्मा तक पहुँचने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में दृश्यविधान उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता जितना नाटक का अन्तर्निहित क्रियाव्यापार, बिम्बग्राही संवाद और उसका अर्थ या भाव तत्व। फलत: दृश्य गौण हो जाता है और चरित्र संवाद तथा नाट्य-स्थितियाँ महत्व अर्जित कर लेती हैं।'[१] जिसे आज के प्रयोगशील नाटकों

---

१. गोविन्द चातक - 'नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर,' पृष्ठ १२३

के सन्दर्भ में भलीभाँति समझा जा सकता है जहाँ नाटककार ने अपने कथ्य की प्रभावशाली अभि अभिव्यक्ति के लिये दृश्यबन्ध की उपेक्षा कर अपनी सारी प्रतिभा संवादों, भाव-स्थितियों तथा क्रियाव्यापार सम्बन्धी नवीन प्रयोगों में ही लगायी है। अत: यहाँ जो महत्व कथ्य तथा अभिनय मुद्राओं का है वह दृश्य का नहीं। नाटककार की इस सृजनात्मक प्रतिभा के साथ ही रंगमंच सम्बन्धी परिवर्तित दृष्टिकोण का एक अन्य कारण आज का प्रबुद्ध दर्शक वर्ग भी है जो नाटक देखते-देखते आज इतना जागरूक हो गया कि दृश्यसज्जा अथवा रंगमंचीय विधान के अभाव में भी वह नाटककार के अभीष्ट को अतिशीघ्र ग्रहण कर लेता है।

अत: स्पष्ट है कि नाटक का रंगसंयोजन, जो स्वतन्त्रता से पूर्व किसी स्थायी एवं सुदृढ़ रंग-परम्परा के अभाव में पाश्चात्य के अनुकरण पर नाटककार द्वारा दिये गये यथार्थवादी दृश्यबन्ध अथवा क्रिया-व्यापार के सीमित दायरे में ही उलझकर रह गया था, आज रंगमंच के क्षेत्र में हुए विविध प्रयोगों के कारण रंगसंयोजन की अनन्त संभावनाओं को लेकर आगे बढ़ा है जहाँ एक ओर नाटककार की अपनी रंगमंचीय परिकल्पना है तो दूसरी ओर अभिनेताओं तथा निर्देशकों की बहुमुखी प्रतिभा तथा लगन। वरन् सत्य तो यह है कि नाटक के अन्तर्निहित पक्ष पर बल देने के कारण आज अधिकांश नाटकों का रंगसंयोजन उसके अपने रूपबन्ध तथा दृश्य तत्व की अपेक्षा निर्देशक की कल्पना-शीलता तथा अभिनेताओं की योग्यता, अध्यवसाय तथा लगन पर निर्भर करता है और यही कारण है कि आज नाटककार द्वारा दिये गये रंगमंचीय निर्देशों का पालन करते हुए भी कोई नाटक अपने किसी प्रस्तुतिकरण में सफलता की सीमा को छूने लगता है तो दूसरे में साधारण प्रस्तुति से ऊपर नहीं उठ पाता है। अत: नाटकीय रूपबन्ध के आधार पर किसी नाटक के रंगसंयोजन की सफलता अथवा असफलता को आँकना आज निरर्थक ही प्रतीत होता है। इसके विपरीत बहुत से नाटक तो ऐसे हैं जिनमें यथार्थवादी रंगमंच की व्ययसाध्यता को देखते हुए रंगमंच के बाह्य तत्व की पूर्णत: उपेक्षा ही की गयी है और है भी तो मात्र संकेत के रूप में। हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के क्षेत्र में चर्चित घटना, नाटक, सड़क नाटक अथवा नुक्कड़ नाटक तो वस्तुत: रंगसज्जा की उपेक्षा तथा संवादों और अभिनय के प्रति बढ़ती जागरूकता का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है जो अपने कथ्य अभिनय तथा संवादों के बल पर, किसी प्रकार की दृश्य सज्जा के अभाव में ही अपार दर्शक वर्ग को अपने प्रति आकृष्ट कर लेते हैं।

निष्कर्ष

स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों के सम्यक् विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त हम अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसादोत्तर युग में अश्क, मिश्र प्रभृति नाटककारों द्वारा यथार्थवादी नाटकों की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी स्वातन्त्र्योत्तर युग में नाटकों की उसी परम्परा में आगे चलकर मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायणलाल, शील, भुवनेश्वर, विष्णु-प्रभाकर, नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल, शम्भूनाथ सिंह आदि नाटककारों की एक लम्बी श्रृंखला सामने आयी, जिसने युग की क्रमशः जटिल होती हुई परिस्थितियों में युग-यथार्थ से अपना अभिन्न सम्बन्ध बनाये रखते हुए, युगीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विषमताओं तथा उनसे संत्रस्त एवं संघर्षरत मानव की अन्तर्बाह्य समस्याओं को अपने प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार कर विषय की दृष्टि से हिन्दी नाटक को बहुमुखी आयाम तो दिये ही, भाषा के चयन में भी युग-यथार्थ से अपना निकट सम्बन्ध स्थापित कर उसे जन-जीवन के अधिकाधिक निकट लाने का प्रयास किया। यद्यपि इसी समय धर्मवीर भारती, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायणलाल आदि के द्वारा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के रूप में इतिहासाश्रित अथवा मिथकीय नाटकों की भी रचना हुई, किन्तु एक तो इनकी संख्या बहुत कम है दूसरे इनमें इतिहास का जो प्रयोग किया गया है वह नाटक का प्रमुख प्रतिपाद्य न होकर समकालीन यथार्थ को प्रस्तुत करने का एक माध्यम मात्र रहा है, जिसे उन पर पड़े यथार्थवादी विचारों का ही प्रभाव माना जा सकता है। किन्तु एक ओर जहाँ स्वातन्त्र्योत्तरकालीन यह नाटककार विषयप्रतिपादन में युग-यथार्थ अथवा यथार्थवादी विचारधारा से प्रेरित एवं प्रभावित दिखाई देते हैं वहीं दूसरी ओर वह यथार्थवाद की शिल्पगत कमजोरियों एवं सैद्धान्तिक सीमाओं से भी भलीभाँति परिचित थे अतः उन्होंने अपने नाटकों में यथार्थवादी शिल्प का अन्धानुकरण करने की अपेक्षा उसमें अयथार्थवादी तत्वों के समावेश द्वारा अपेक्षित सुधार एवं परिष्कार ही अधिक किये हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग का सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जहाँ एक ओर यथार्थ के साथ इतिहास, मिथक अथवा प्रतीकों का अभूतपूर्व समन्वय है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान, संस्कृत एवं लोकनाट्य-शैलियों तथा एब्सर्ड शिल्प का सुन्दर प्रयोग। यद्यपि प्रत्यक्षतः नाटकों में प्रयुक्त-इन अयथार्थवादी नाट्य सिद्धान्तों के कारण आज यह माना जाता है कि हिन्दी नाटक यथार्थवाद की सीमा से दूर हो रहा है किन्तु यहाँ पर ही यह द्रष्टव्य है कि

हिन्दी नाटकों में इनका प्रयोग किसी सिद्धान्त प्रतिपादन अथवा आन्दोलन के रूप में न होकर युग की एक माँग के रूप में हुआ था, जिनका मुख्य उद्देश्य था युगीन विसंगतियों को अधिकाधिक सार्थक एवं प्रभावशाली रूप में जनसामान्य तक पहुँचाना। अत: प्रमुखता शिल्प की न होकर कथ्य की ही रही है, जिसमें हिन्दी नाटक उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर भी है। वरन् सच पूछा जाय तो जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से यथार्थवाद हिन्दी नाटकों में अपने वास्तविकरूप में स्वातन्त्र्योत्तर और वह भी सन् ६० के आस-पास तथा उसके बाद रचित नाटकों में ही, जहाँ समाज की समस्याएँ व्यक्तित्व गुणों से युक्त कर इस रूप में प्रस्तुत की गई है कि वह व्यक्ति की अपनी निजी समस्या होने के बावजूद सम्पूर्ण समाज को अपने में समेटे हुए है, एक सार्थक अभिव्यक्ति पा सका है।

-0-

उपसंहार

उपसंहार

सामाजिक सम्पृक्ति और व्यापक जनानुभूति से प्रेरित होने के कारण नाटक और यथार्थ का अतिप्राचीनकाल से एक अभिन्न एवं अटूट सम्बन्ध रहा है। जिसकी उपादेयता ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण साहित्य को ही प्रभावित किया। साहित्य जगत में स्वीकृत यथार्थवाद भी मूलत: साहित्यकारों की इस सामाजिक सम्पृक्तता का ही परिणाम है। किन्तु सिद्धान्तत: यथार्थवाद शब्द का प्रयोग आज जिस रूप में हो रहा है वह पश्चिम से आयातित एक नूतन विचारधारा है, जिसने ज्ञान-विज्ञान के आलोक में प्रचलित धर्म एवं ईश्वर सम्बन्धी रूढ़ भाववादी मान्यताओं का खण्डन करते हुए मनुष्य को एक नूतन तार्किक, सन्तुलित एवं वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। जिसका व्यापक प्रभाव जीवन तथा जगत के अन्य अनेक पहलुओं के साथ ही साहित्य तथा कला रचना पर भी पड़ा और साहित्य तथा कला जगत में प्रचलित भाववादी मान्यताओं के स्थान पर वस्तुवादी विचारों को मान्यता प्रदान कर जीवन के यथार्थ अंकन पर बल दिया गया। एक सिद्धान्त रूप में साहित्य जगत में यथार्थवाद का उदय पश्चिमी देशों में वहाँ बढ़ रही पूँजीवादी असंगतियों के विकराल रूप धारण करने पर प्रचलित क्लासिकल तथा रोमांटिक साहित्य सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। अत: यथार्थवाद के अन्तर्गत साहित्य जगत में वर्ण्य विषय के रूप में प्रचलित आदर्शवादी तथा भाववादी मान्यताओं के विपरीत मनुष्य के सहज एवं स्वाभाविक विकास तथा उच्चवर्गीय चरित्रों की अपेक्षा सामान्य जन-जीवन के गर्हित एवं निकृष्ट पक्षों को तो स्थान मिला ही, साहित्य रचना के लिये स्वीकृत मान्यताओं के विरोध में भाषा, शिल्प तथा प्रस्तुति माध्यम सम्बन्धी नवीन प्रतिमान भी स्थापित किये गये, जिन्होंने युग जीवन से निकट का सम्बन्ध स्थापित करते हुए चित्रण की स्वाभाविकता पर विशेष ध्यान दिया। अत: प्रस्तुत प्रबन्ध में जब नाटकों के सन्दर्भ में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों की खोज का प्रश्न सामने आता है तो उससे हमारा तात्पर्य नाटकों में प्रयुक्त ऐसे जीवन-सन्दर्भों की खोज से ही रहा है जिनमें विषय की दृष्टि से यथार्थवादी मान्यताओं का पालन करते हुए महान की अपेक्षा सामान्य, सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल, भूत की अपेक्षा वर्तमान तथा आदर्श की अपेक्षा जीवन के यथार्थ को तो महत्व दिया ही गया हो, प्रस्तुति

माध्यमों अर्थात् भाषा प्रयोग तथा रंग-संयोजन की दृष्टि से भी वह रूढ़ नाट्यादर्शों की अपेक्षा युग यथार्थ से मेल खाता हुआ अर्थात् युग जीवन को प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ, सहज तथा स्वाभाविक हो।

और जहाँ तक हिन्दी नाटकों में इन यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण अथवा समावेश का प्रश्न है तो हिन्दी नाटक प्रारम्भ से ही इस दिशा में सचेष्ट दिखाई देता है। यद्यपि एक सिद्धान्त अथवा वाद के रूप में हिन्दी नाट्य साहित्य में यथार्थवाद को प्रतिष्ठा तो प्रसादोत्तरकाल में पाश्चात्य से आयातित एक विचारधारा के रूप में ही मिली, जहाँ नाटककार ने प्रगतिवादी तथा समाजवादी विचारों के आलोक में प्रसाद की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक नाट्यधारा को जीवन की समसामयिक समस्याओं को सुलझाने के लिये व्यर्थ एवं अव्यावहारिक जानकर सामाजिक नाटकों की रचना पर जोर दिया। किन्तु जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण को दृष्टि से इसके दर्शन हमें इससे लगभग चार-पाँच दशक पूर्व भारतेन्दु युग से ही होने लगते हैं। भारतेन्दुयुग का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जहाँ नाटककारों ने अपने नवीन विचारों के आलोक में समाजोद्धार की भावना से प्रेरित होकर युग-यथार्थ से जनसामान्य को अवगत कराने तथा उनमें जन-जागरण की भावना भरने के उद्देश्य से ऐतिहासिक-पौराणिक तथा प्रेमप्रधान कथानकों की अपेक्षा युगीन सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं तथा चरित्रों को अपने मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार कर नाटकों के एक नवीन रूप का प्रणयन तो किया ही साथ ही नाटक को जनसामान्य तक अपने मनोभावों को ले जाने का एक सशक्त माध्यम स्वीकार कर भाषा, शिल्प तथा रंगमंच की दृष्टि से भी उसमें अनेक नवीन प्रयोग किये, जो अपनी स्वाभाविकता तथा सहजता के कारण भारतेन्दुयुगीन नाटकों को हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी नाटकों के प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित कर देते हैं। किन्तु यहाँ पर ही यह द्रष्टव्य है कि उनके इस कार्य के पीछे किसी बाह्य सिद्धान्त की अपेक्षा उनके युग की सुधारवादी प्रेरणा ही क्रियाशील थी अतः इनके नाटकों में युगयथार्थ का चित्रण करते हुए आदर्श की झलक सर्वत्र ही दिखायी देती है। साथ ही नाट्यरचना की दृष्टि से भी वह भारतीय नाट्यादर्शों एवं रंगरूढ़ियों के अधिक समीप रहे हैं अतः उन्हें यथार्थवादी नाटकों की कसौटी पर पूर्णतः कसा तो नहीं जा सकता, फिर भी इतना सत्य

है कि समाज सुधार के अंग स्वरूप भारत में बढ़ते साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी शोषण के विरुद्ध भारतीय जनता को उद्बुद्ध करने के उद्देश्य से इन भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने नाटक के मूलभूत अंगों विषय, भाषा तथा रंग-संयोजन में नवीन परिवर्तन उपस्थित कर नाट्य-रचना सम्बन्धी जो नवीन प्रतिमान स्थापित किये, उनमें निहित नाटककार की युग यथार्थ को प्रस्तुत करने की सहज एवं स्वाभाविक दृष्टि को लक्ष्य कर उन्हें हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के समावेश का प्रारम्भिक चरण मानना अनुचित न होगा। जो लगभग सन् १६३० तक अपने इसी आदर्शोन्मुख रूप में नाट्य साहित्य को प्रभावित करता रहा। यद्यपि भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज की आदर्शवादी नैतिक मान्यताओं तथा प्रसाद की सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी चेतना के कारण उनकी इस यथार्थवादी नाट्यपरम्परा को कुछ ठेस लगी और नाट्य विषय के रूप में एकबार फिर से ऐतिहासिक, पौराणिक सन्दर्भों को महत्व मिला। किन्तु प्रसादोत्तरकाल में आयातित प्रगतिवादी समाजवादी चेतना ने भारतेन्दु प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यधारा- जो भारतेन्दु के पश्चात् द्विवेदी तथा प्रसाद युग तक कतिपय सामाजिक नाटकों अथवा प्रहसनों के रूप में अपनी सत्ता बनाये हुये थी - को पुन: साहित्य की एक महत्वपूर्ण धारा के रूप में स्वीकार कर उसे एक सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित किया गया। प्रसादोत्तर काल में रचित लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत `सन्यासी`, `सिन्दूर की होली`, `राक्षस का मन्दिर`, `मुक्ति का रहस्य`, `राजयोग`, उपेन्द्रनाथ अश्क कृत `छठा बेटा`, `भँवर`, `कैद और उड़ान`, `स्वर्ग की झलक`, `अलग-अलग रास्ते`, `सेठ गोविन्ददास कृत `प्रकाश`, `महत्व किसे ?` `गरीबी या अमीरी` उदयशंकर भट्ट कृत `कमला`, पृथ्वीनाथ शर्मा कृत `साध`, `दुविधा` इत्यादि नाटकों में हम जीवन के इन यथार्थवादी सन्दर्भों की झलक सहज ही देख सकते हैं। जहाँ उन्होंने नाट्य-विषय के रूप में देश में व्याप्त समसामयिक समस्याओं यथा नारी स्वातन्त्र्य, विधवा-विवाह, दहेजप्रथा, स्त्री शिक्षा, असन्तुलित दाम्पत्य तथा वैवाहिक असंगति, घूसखोरी, सामाजिक भ्रष्टाचार आदि युगीन प्रश्नों को बुद्धि के आलोक में एक तर्कसम्मत एवं विवेकपूर्ण आधार तो दिया ही साथ ही उनके प्रस्तुतीकरण के लिये भाषा तथा शिल्प के क्षेत्र में भी यथासम्भव यथार्थवादी सिद्धान्तों का पालन किया है। तत्कालीन नाटकों में प्रयुक्त भाषा का नित्यप्रति जीवन में प्रयोग आने वाला व्यावहारिक रूप तथा नाटकों की यथार्थ दृश्य सज्जा

को ध्यान में रखकर नाटकों का तीन अंकीय विभाजन हिन्दी नाटकों पर पड़े पाश्चात्य यथार्थवादी नाट्य-शिल्प का ही प्रभाव है। किन्तु प्रसादोत्तरकाल में यथार्थवाद को नाटक के एक सिद्धान्त रूप में स्वीकार किये जाने पर भी इस युग के अधिकांश नाटककार अपने भारतीय संस्कारों के कारण इसका सिद्धान्ततः पालन नहीं कर सके हैं। सेठ गोविन्ददास तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में इसका प्रमाण सहज ही देखा जा सकता है। इनमें सेठ गोविन्ददास के नाटक तो पूर्णतः गाँधीवादी आदर्शों से प्रभावित है ही, मिश्र जी जिन्होंने पश्चिम के यथार्थवादी नाटकों अथवा नाट्य-सिद्धान्तों से प्रभावित होकर प्रेम और विवाह जैसी व्यक्ति की निजी समस्याओं को बुद्धिवाद के आलोक में देखने तथा समझने का प्रयास किया है वह भी अपने भारतीय संस्कारों के कारण उन समस्याओं का कोई बुद्धिवादी एवं तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। उनका प्रत्येक पात्र जीवन के यथार्थ को वहन करते हुए भी भावुकता एवं रोमांस से प्रभावित है वरन् कहीं-कहीं तो वह पश्चिमी भावुकता एवं भारतीय आदर्शवाद के चक्कर में इस बुरी तरह उलझ गये हैं कि वह अपने चरित्र को कोई निश्चित स्वरूप ही नहीं दे पाये हैं अतः कहीं-कहीं तो वह एकदम अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगे है। 'सिन्दूर की होली' की चन्द्रकला, 'राक्षस का मन्दिर' की ललिता 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी तथा 'सन्यासी' की मालती उनके कुछ ऐसे ही द्विविधापूर्ण नारी चरित्र हैं जो एक ओर तो भारतीय आदर्शों की दुहाई देते हैं तथा दूसरी ओर भावनाओं में बहकर उचित अनुचित का ध्यान भी नहीं रखते। इसके अतिरिक्त जहाँ मिश्र जी ने बुद्धिवाद के आलोक में समस्याओं के कतिपय बुद्धिवादी एवं तर्कसम्मत समाधान देने का प्रयास किया है वहाँ भी या तो पश्चिम के प्रभाव के कारण वह अपनी जन्मभूमि से ही दूर हट गये हैं या फिर अपने भारतीय संस्कारों के कारण अन्ततः आदर्शों की ओर झुकते दिखाई देते हैं। यद्यपि अश्क के सामाजिक नाटकों, जहाँ उन्होंने समस्याओं को सीधे अपने परिवेश से ग्रहणकर उन्हें यथासम्भव अपने युग के अनुरूप यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है, द्वारा इन यथार्थवादी नाटकों में पुनः एक गति आयी, किन्तु समस्याओं के प्रस्तुतीकरण तथा उनके मंचन की सुविधा की दृष्टि से इस समय जो महत्व एकांकियों को मिला वह अनेकांकी अर्थात् पूर्ण नाटकों को न मिल सका। और इस प्रकार कुछ समय के लिये नाट्य-जगत में नाटकों की अपेक्षा

एकांकियों का ही प्राधान्य हो गया । यद्यपि विषय सीमा के कारण इनका विस्तृत विवेचन तो प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं किया जा सका है किन्तु इतना सत्य है कि इन एकांकियों ने अपने सुगठित रूप तथा तीक्ष्ण यथार्थ दृष्टि द्वारा नाटककारों के समक्ष नाट्य-रचना का जो नवीन रूप प्रस्तुत किया, हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वरन् ध्यान से देखा जाये तो हिन्दी नाट्य जगत में यथार्थवाद की एक सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठा मिश्र की अपेक्षा भुवनेश्वर जैसे यथार्थ जीवी एकांकीकारों द्वारा ही होती दिखाई देती है। कारण, इन्होंने अपने एकांकियों में समस्या को जिस ढंग से उठाया है अथवा प्रस्तुत किया है उसमें न तो कोई आदर्श आड़े आता है और न भावनाओं का अविरल प्रवाह। वरन् पात्र जीवन की यथार्थ स्थिति में सहज ढंग से रहकर समस्या से ही जूझता रहता है। साथ ही यहाँ एकांकीकार किसी उद्देश्य को लेकर नहीं चला है अतः वह समस्या के किसी समाधान के लिये तत्पर भी नहीं दिखाई देता है। उसके सामने केवल समस्या होती है जिसे वह अपने छोटे से रूप में, बिना विशेष उपक्रम के पाठकों, दर्शकों के सामने व्यक्त भर कर देना चाहता है। इसका प्रभाव धीरे-धीरे नाटकों पर भी पड़ा और नाटक जो अभी तक आदर्श का दामन पकड़े हुए था, सहसा यथार्थ के धरातल पर उतर आया। फलतः नाटक में सामाजिक समस्याओं के साथ व्यक्ति चित्रण को तो महत्व मिला उसके चित्रण के लिये मनोविज्ञान का भी विशेष रूप से सहारा लिया गया। स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों और वह भी सातवें दशक के आसपास लिखे गये नाटकों में, जहाँ नाटककार ने मोहभंग की स्थिति में युगीन विसंगतियों से जूझते, उनमें घुटते एवं टूटते, मूल्यच्युत तथा दिशाहारा मनुष्य की विघटित मनःस्थिति को अपने नाटकों के प्रतिपाद्य रूप में स्वीकार किया है, जीवन-सन्दर्भों के इसी यथार्थवादी रूप के दर्शन होते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता के स्वर्णिम प्रभात में अपने सपनों को साकार होते देख इस युग के कुछ नाटककारों ने भविष्य का एक उज्ज्वल चित्र भी अपने नाटकों में खींचा है किन्तु इसी समय देश में बढ़ते पूँजीवाद के कारण नाटककारों का परिचय युग के एक ऐसे संघर्षपूर्ण एवं विषम यथार्थ से हो रहा था जहाँ चारों ओर अव्यवस्था, अन्याय एवं शोषण का साम्राज्य था तथा जिसने अपनी विकरालता से सम्पूर्ण समाज को प्रभावित भी कर रखा था। अतः परिस्थितियों के उत्तरोत्तर जटिल रूप धारण करने पर धीरे-धीरे जीवन के

यही युगीन-सन्दर्भ नाटक के मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकृत हुए और नाटक आदर्शों को छोड़कर पूर्णतः यथार्थ के ठोस धरातल पर उतर आया। जीवन के इन युगीन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से इस युग के यथार्थवादी नाटकों में मोहन राकेश कृत`आधे-अधूरे` डा० लाल कृत `मादा कैक्टस`, `रातरानी`, रेवती सरन शर्मा कृत `चिराग की लौ` विनोद रस्तोगी कृत `आजादी के बाद`, विष्णु प्रभाकर कृत `डॉक्टर` विपिन अग्रवाल कृत `तीन अपाहिज` लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत `अपना-अपना जूता` नरेश मेहता कृत `खण्डित यात्राएँ` कृष्ण किशोर श्रीवास्तव कृत `नींव की दरारें` अश्क कृत `अन्धी गली` तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री कृत `शुतुरमुर्ग` आदि कतिपय उल्लेखनीय नाटक है जिनमें उन्होंने देश-विभाजन, शरणार्थी समस्या, सामाजिक एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार, बेकारी, बेरोजगारी, जमींदारी उन्मूलन, श्रम और पूँजी का संघर्ष, राष्ट्रीय एकता एवं नवनिर्माण, नारी जागरण, विदेशी आक्रमण, असन्तुलित दाम्पत्यजीवन तथा पारिवारिक विघटन आदि युगीन समस्याओं को स्वर देकर युग का एक जीवन्त यथार्थ प्रस्तुत किया है, किन्तु शिल्प की दृष्टि से इस समय कुछ नये नाटककारों का ध्यान नाट्य रचना के लिये स्वीकृत अन्य रचना प्रकारों की ओर भी गया और उन्होंने युग यथार्थ को उसके समूचे अन्तर्बाह्य के साथ प्रस्तुत करने के लिये यथार्थ जीवन-सन्दर्भों अथवा चरित्रों के साथ ही प्रतीकों एब्सर्ड शिल्प तथा लोक नाट्यशैलियों जैसे अयथार्थवादी तत्वों का भी सहारा लिया। इन सामाजिक नाटकों के साथ ही इस समय यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से नाटकों के एक नये रूप का भी प्रणयन हुआ और वह था युग यथार्थ के चित्रण के लिये इतिहास अथवा मिथकों का उपयोग। मोहन राकेश कृत `आषाढ़ का एक दिन`, जगदीश चन्द्र माथुर कृत `कोणार्क` तथा धर्मवीर भारती कृत `अन्धायुग` इस वर्ग के कुछ उल्लेखनीय नाटक हैं। यद्यपि इनका आधार तो इतिहास ही रहा है किन्तु इतिहास के माध्यम से उन्होंने पूँजीवादी समाज की जिन अस्पृश्य, आन्तरिक तथा अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण समस्याओं का कलात्मक स्पर्श कराया है, हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान है। और यही कारण है कि प्रस्तुत प्रबन्ध में इन ऐतिहासिक नाटकों को यथार्थवादी नाटकों के समकक्ष स्थान मिल सका है। हाँ यह जरूर है कि इतिहास, मिथकों तथा प्रतीकों को अपनाने के कारण वे एक पढ़े-लिखे अभिजात्य वर्ग तक ही सीमित

रहते हैं। उनकी अमूर्तता और प्रतीकात्मकता दुर्बोध होने के कारण सम्प्रेषणीयता के अभाव में जनसामान्य से वह गहरी सम्पृक्ति स्थापित नहीं कर सकी है जो तत्कालीन यथार्थवादी नाटकों में दिखायी देती है, फिर भी इनका महत्व अविस्मरणीय है।

इस प्रकार यह तो था यथार्थवादी जीवन-संदर्भों के ग्रहण की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का विषयगत विश्लेषण और जहाँ तक इनके भाषा-प्रयोग तथा रंगसंयोजन का सम्बन्ध है तो इन दोनों दृष्टियों से भी हिन्दी के अधिकांश नाटककार अपने नाटकों में यथार्थवादी सिद्धान्तों की ओर ही बढ़ते दिखायी देते हैं। भाषा प्रयोग में साहित्यिक, अलंकृत एवं पद्यप्रधान भाषा की अपेक्षा दैनिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली व्यावहारिक गद्य भाषा का उपयोग तथा पात्रों की मन:स्थिति के अनुरूप उसे सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करना वस्तुत: उन पर पड़े यथार्थवादी विचारों का ही प्रभाव है। वस्तुत: आधुनिक काल तक आते-आते भाषा का वह स्वरूप जो परम्परित ब्रज अथवा अवधी के रूप में या तो किसी विषय से सम्बद्ध हो गया था अथवा एक सीमागत परिदृश्य को प्रस्तुत करने में रूढ़ हो चुका था, उसे त्यागकर आधुनिक काल के यथार्थवादी नाटककारों का सबसे बड़ा प्रयत्न भाषा को समय के साथ जोड़ने का था। और इस प्रयास में नाटककारों ने जीवनगत अनुभवों, समकालीन परिवेश और आम आदमी की जरूरतों में भाषा और शब्दों को तलाशने की कोशिश की, इसी लिये इन नाटकों में भाषा और शब्द छोटी से छोटी जरूरत को पूरा करने में समर्थ हो सके हैं। भाषा सम्बन्धी यह परिवर्तित दृष्टि जहाँ एक ओर इन नाटककारों को पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों से सम्बद्ध नाटकों की तत्सम प्रधान भाषा से मुक्त करती है वहीं दूसरी ओर अपनी तार्किकता एवं व्यंग्यात्मकता के कारण जीवन की नग्न से नग्न यथार्थ स्थितियों को व्यक्त करने में भी समर्थ होती है। स्वातन्त्र्योत्तरकाल के अनेक नाटककारों में भाषा के इस प्रयोग को सहज ही देखा जा सकता है।

भाषा प्रयोग की भाँति रंग-संयोजन में भी हिन्दी के अधिकांश नाटककार कथ्य की सहज तथा प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिये यथार्थवादी सिद्धान्तों का पालन करते दिखाई देते हैं। हिन्दी नाटक के प्रारम्भ में ही पारसी रंगमंचों की आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन पद्धति की प्रतिक्रिया में जन्मे भारतेन्दुयुगीन आडम्बरहीन सहज तथा सादे रंगमंचों में नाटककार की इस यथार्थवादी रुझान को सहज ही

देखा जा सकता है, जो प्रसादोत्तरकालीन सामाजिक नाटकों तथा पृथ्वी थियेटर एवं भारतीय जन नाट्य संघों की रंगमंचीय उपलब्धियों से गुजरते हुए स्वातन्त्र्योत्तर युग में नाटक तथा रंगमंच की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्वीकृत हुई। फलत: रंगमंच पर नाटक की यथार्थ प्रस्तुति के लिये दृश्यसज्जा अथवा मंच सज्जा के रूप में यथार्थवादी रंगमंच के एक दृश्यबंधीय सिद्धान्त का पालन तो किया ही गया, साथ ही उसे कथ्य के अनुरूप सहज तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये चरित्रों की भाषा, वेशभूषा तथा क्रियाव्यापार सम्बन्धी सहजता पर भी ध्यान दिया गया। यद्यपि इसी समय यथार्थवाद की सीमितताओं से परिचित होकर कुछ नाटक-कार प्रकाश योजना, चित्रों, स्लाइडों, ध्वनि प्रभाव आदि प्रतीकात्मक दृश्य माध्यमों के उपयोग से यथार्थवादी सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते भी दिखाई देते हैं किन्तु उससे नाटक के कथ्य अथवा रंगसंयोजन में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं हुआ है। वरन् ध्यान से देखा जाय तो इन माध्यमों के कारण हिन्दी नाटक पूर्व की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक तथा सम्प्रेषणीय बन पड़ा है तथा उसने अपने इन रंगमंचीय प्रयोगों द्वारा नाटक को यथार्थवादी रंगमंच के एक आयामी रूप से निकालकर बहुआयामी रूप भी प्रदान किया है, जो आज के जटिल भाव-बोध को प्रस्तुत करने के लिये एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकृत हो रहा है। किन्तु इसका एक प्रभाव जो सामने आरहा है वह यह कि विषय की दृष्टि से नाटक जनसामान्य से जुड़े होने पर भी एक बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित होकर रह गया है तथा देश का बहुसंख्यक वर्ग, जिसका कि सम्बन्ध नाटक में उठायी गयी समस्याओं से है, इससे लाभान्वित नहीं हो पा रहा है। जबकि युग की निरन्तर जटिल होती हुई परिस्थितियों को देखते हुए आज यह आवश्यक प्रतीत होने लगा है कि नाटक को समाज-सुधार के एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में जनसामान्य के अधिकाधिक निकट लाया जाये। हिन्दी नाट्य जगत में स्वीकृत नुक्कड़ नाटकों का प्रयोग वस्तुत: नाटककारों द्वारा युग की इस आवश्यकतापूर्ति में ही उठाया गया एक कदम है, जिसके द्वारा उन्होंने नाटक को जनता से सीधे जोड़कर अपनी सीधी सरल तथा व्यंग्यपूर्ण भाषा में समाज की समस्याओं की आलोचना कर- उसमें अपेक्षित परिवर्तन लाने का प्रयास किया है। यद्यपि इनका प्रयोग अभी बहुत कम है, किन्तु नाटकों के इस जनोन्मुख रूप के प्रति नाटककार का झुकाव इस बात का परिचायक

है कि हिन्दी नाटक और नाटककार अनेक कलात्मक प्रयोगों के बावजूद अपने युग-यथार्थ अथवा यथार्थवादी जीवन-सन्दर्भों से जुड़ने के लिये सचेष्ट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि यथार्थवाद हिन्दी नाट्य-लेखन की मूल प्रवृत्ति रही है और नाटककारों ने हिन्दी नाटक के प्रारम्भ से ही अपने नाटकों की रचना युग यथार्थ से जुड़कर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है किन्तु एक दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त के स्तर पर हिन्दी नाटक पाश्चात्य यथार्थवाद का अनुकरण स्वातन्त्र्योत्तर युग में ही कर सका है जहाँ नाटककार ने पूँजीवाद की देन युग के सर्वहारा शोषित, पीड़ित तथा असहाय वर्ग से अपना निकट का सम्बन्ध स्थापित कर नाट्य विषय के रूप में युग-यथार्थ से अपना अभिन्न सम्बन्ध तो स्थापित किया ही है, साथ ही समस्या का प्रस्तुतीकरण भी इस सहज ढंग से किया है कि उसमें उठायी गयी समस्याएँ व्यक्ति की निजी समस्या होने पर भी सम्पूर्ण समाज को अपने में समाहित कर लेती है। इसके अतिरिक्त नाटककार ने उन समस्याओं के चित्रण में अपनी परम्परित समाधान अथवा उपदेश की नीति का परित्याग कर अपने व्यंग्य, आक्रोश तथा वेदना द्वारा उनके यथावत् चित्रण पर ही जोर दिया है, जो अपनी सूक्ष्म पकड़ द्वारा निष्पक्ष रूप से पाठक के अन्तर्मन को उद्वेलित कर देती है। किन्तु इससे पूर्व यथार्थवाद का जो रूप दिखायी देता है उसमें नाट्य विषय के रूप में समस्या तो पाश्चात्य यथार्थवादी नाटकों की भाँति उनके युग की ही रही है किन्तु उनके प्रस्तुतीकरण में भारतीय संस्कारों के कारण आदर्श का एक झीना आवरण सर्वत्र ही दिखायी देता है। साथ ही नाट्य रचना की दृष्टि से भी वह भारतीय नाट्यादर्शों अथवा नाट्य रूढ़ियों के अधिक समीप रहे हैं अतः युग-यथार्थ से प्रेरित होते हुए भी दोनों के स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता आ गयी है। किन्तु इसका मूल कारण भी नाटककार का अपना समकालीन यथार्थ ही था जिसने नाटककार को युगानुरूप आदर्शों की ओर प्रेरित होने के लिये विवश किया। इनमें सर्वप्रमुख कारण तो यही था कि पश्चिमी देशों में जहाँ यथार्थवाद का जन्म आदर्शवाद तथा स्वच्छन्दता की प्रतिक्रिया में एक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में हुआ था वहीं हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद का प्रवेश किसी आन्दोलन की अपेक्षा युग की एक मौलिक आवश्यकता के रूप में हुआ था अतः इसमें जो महत्त्व विषयों के प्रतिपादन पर दिया गया वह सिद्धान्तों पर नहीं। दूसरा कारण यह था कि पाश्चात्य

देशों में यथार्थवाद का जन्म जहाँ पूँजीवादी असंगतियों से उत्पन्न जीवन की संघर्षशील परिस्थितियों में हुआ था वहीं हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद का उदय साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद के शोषणकारी वातावरण में हुआ था। अत: विषय की दृष्टि से तो दोनों में भिन्नता है ही, एक में पूँजीवादी असंगतियों से उत्पन्न जीवन की वैयक्तिक समस्याओं का चित्रण है तो दूसरे में साम्राज्यवादी शोषण से उत्पन्न युग की स्थूल सामाजिक समस्याओं का, उनके प्रस्तुतीकरण में भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। पाश्चात्य साहित्य में जहाँ युग-यथार्थ का चित्रण करते हुए साहित्यकार एक स्वतन्त्र देश का नागरिक होने के कारण अपनी सम्पूर्ण घृणा, आक्रोश अथवा क्रोध को व्यक्त करने के लिए पूर्णत: स्वतन्त्र था वहीं हिन्दी नाटकों में भारतीयों की पराधीनता के कारण वह अपनी वैचारिक जागरूकता का उस सशक्त एवं स्वतन्त्र ढंग से उपयोग नहीं कर पाया है। इसके अतिरिक्त युग-यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिये पाश्चात्य साहित्यकारों ने भाषा के जिस गम्भीर, सक्षम एवं समर्थ गद्य रूप का उपयोग किया था, हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक काल होने के कारण हिन्दी नाटकों में भाषागत वह क्षमता भी न आ पायी थी जो युग के सम्पूर्ण दर्द अथवा तिलमिलाहट को उसके सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य के साथ उद्घाटित कर सके। किन्तु जैसे-जैसे भाषा युग-जीवन से जुड़कर अधिक मँजे हुए रूप में सामने आती गयी नाटक में वर्णित यथार्थ भी अधिक सशक्त रूप में सामने आता गया। इसके साथ ही पाश्चात्य यथार्थवादी साहित्य में जहां समस्या ही प्रमुख होती थी वहीं हिन्दी के के अधिकांश नाटकों में युगीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उपदेशात्मकता अथवा आदर्शात्मकता का भाव भी लक्षित होता है। किन्तु मात्र इस आधार पर ही हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त जीवन-सन्दर्भों की यथार्थवादिता को नकारा नहीं जा सकता। वरन् सत्य तो यह है कि समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने ऐतिहासिक, पौराणिक चरित्र की अपेक्षा युग की जाज्वलन्त समस्याओं को अपने नाट्य-साहित्य में स्थान दिया था, उनके सन्दर्भ से यह आवश्यक हो जाता है कि भारतेन्दु युगीन नाटकों को हिन्दी नाट्य-जगत में यथार्थवादी नाटकों का प्रेरणास्रोत स्वीकार किया जाये। और जहाँ तक उनके नाटकों में आगत समस्याओं के आदर्शीकरण का सवाल है तो उसके लिये यह कहा जा सकता है कि नाट्य-रचना के पीछे वह समाज सुधार के जिस

महत् उद्देश्य अथवा जिम्मेदारी को लेकर चले थे तथा उनकी रचना समाज के जिस अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित अथवा विवेकहीन वर्ग विशेष को ध्यान में रखकर की थी उसे किसी बात को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये उनके नाटकों में उपदेशात्मकता तथा आदर्शों का होना सर्वथा स्वाभाविक ही था। जो प्रसादोत्तरकाल तक किसी कुछ न किसी रूप में सर्वत्र ही दिखायी देती है।

अत: अन्त में निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि यद्यपि आज नाटककारों ने यथार्थवाद को पश्चिम से आयातित एक सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है, किन्तु जीवन-सन्दर्भों के चित्रण में वह युगीन आवश्यकताओं अथवा युग की पुकार को कहीं नहीं भूले हैं। अत: उन्होंने अपने नाटकों में यथार्थवादी जीवन सन्दर्भों का उपयोग भी पाश्चात्य नाटकों की अपेक्षा भारतीय परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप ही किया है। जो यथार्थवाद की मूलभूत विशेषता, युग-यथार्थ के प्रति नाटककार की सूक्ष्म सजग एवं तीक्ष्ण दृष्टि को देखते हुए सर्वथा उचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि युग-सन्दर्भों के परिवर्तन के साथ यथार्थ के स्वरूप फलत: साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। साथ ही किसी सिद्धान्त की सार्थकता भी तभी होती है जब उसे अपनी परिस्थितियों में ढालकर प्रस्तुत किया जाये। और वास्तव में युग यथार्थ के प्रति नाटककारों की इस सजग दृष्टि का ही परिणाम है कि नाट्य-रचना सम्बन्धी विविध दिशाओं में प्रवृत्त होने पर भी आज जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से नाटककार यथार्थवाद की ओर ही आकृष्ट है तथा सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य-साहित्य उसी विचारधारा से प्रेरित एवं प्रभावित है। हाँ समय के अनुरूप उसके प्रस्तुतीकरण की विधियाँ जरूर बदल गयी है। किन्तु यहाँ पर ही यह भी दृष्टव्य है कि विषय वस्तु की यथार्थोन्मुखता के बावजूद जन-रंगमंचों के अभाव तथा नाटकों की कलात्मक दुर्बोधता के कारण आज हिन्दी नाटक एक वर्ग विशेष के सांस्कृतिक अहं एवं मनोरंजन की तुष्टि में ही संलग्न है और देश का बहुसंख्यक वर्ग इससे लाभान्वित नहीं हो पा रहा है। किन्तु यदि हम चाहते हैं कि नाटक सही अर्थों में यथार्थवादी बन सके अथवा युग-जीवन से जुड़ सके तथा देश के बहुसंख्यक समाज की समस्याएँ नाटकों में अपना समाधान पा सके तो नाटक को यथार्थोन्मुख के साथ जनोन्मुख भी बनाना होगा, जिसका दायित्व नाट्य विषय के साथ ही उनके रंगसंयोजन पर भी है। अत: यथार्थवादी

जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से यह अति आवश्यक है कि नाटक को बोधगम्य बनाकर रंगमंच के माध्यम से एक व्यापक आबादी वाले हिस्से से जोड़ा जाये। नुक्कड़ नाटकों का प्रयोग इस दिशा में एक सफल प्रयास है। यद्यपि इन्हें अभी पूर्ण सफलता नहीं मिली है किन्तु इनके प्रति नाटककारों की बढ़ती दायित्व चेतना ने आज अन्ततः यह सिद्ध कर दिया है कि जीवन-सन्दर्भों के ग्रहण की दृष्टि से हिन्दी नाटक यथार्थवाद की ओर अग्रसर है।

-0-

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी नाटक -

१- अंगूर की बेटी - गोविन्द वल्लभ पन्त, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ १९३७ ।

२- अन्धा कुआँ - लक्ष्मीनारायण लाल, भारती भण्डार, लीडर प्रेस,प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् २०१२ वि० ।

३- अन्धा युग - धर्मवीर भारती, किताबमहल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९५५ ई० ।

४- अन्धी गली - उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५६ ।

५- अजातशत्रु - जयशंकरप्रसाद, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सत्ताईसवाँ संस्करण सन् १९७३ ई० ।

६- अपनी धरती - रेवती सरन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन् १९६३ ई० ।

७- आत्मजयी - कुँवरनारायण, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, सन् १९६५ ।

८- आदमी का जहर - लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण सन् १९६३ ई

९- आदिमार्ग - उपेन्द्रनाथ अश्क, साहित्यकार संसद प्रयाग, प्रथमावृत्ति, संवत् २००७ वि० ।

१०- आधीरात - लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,वाराणसी सन् १९६२ ।

११- आधे अधूरे - मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६९ ।

१२- आनरेरी मजिस्ट्रेट - सुदर्शन, इंडियन प्रेस इलाहाबाद, द्वितीय आवृत्ति सन् १९२९ ।

१३- आषाढ़ का एक दिन - मोहन राकेश, राजपाल एण्ड सन्स, सन् १९५८ ।

१४- आहुति - लालचन्द्र बिस्मिल, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन बम्बई, द्वितीय आवृत्ति सन् १९५३ ।

१५- उत्तरप्रियदर्शी - अज्ञेय, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६७ ।

१६- उलट फेर - जी० पी० श्रीवास्तव, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञानवापी, बनारस, चौथा संस्करण संवत् १६५२ वि० ।

१७- उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, सन् १६६१ ।

१८- एक कंठ विषपायी - दुष्यन्त कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सन् १६६३ ।

१६- एक घूंट - जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, सातवाँ संस्करण सन् १६७० ।

२०- कलंकी - डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १६६६ ।

२१- कल्पवृक्ष -- खड्ग बहादुर मल्ल, खंग विलास प्रेस, बांकीपुर, सन् १८८३ ।

२२- कलिकौतुक रूपक - प्रतापनारायण मिश्र, भारतीय प्रेस काशी, सन् १८८५ ।

२३- कमला - उदयशंकर भट्ट, सूरी ब्रदर्स, गनपत रोड, लाहौर, प्रथम संस्करण, सन् १६३६ ।

२४- कामना - जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण ।

२५- कारवाँ तथा अन्य एकांकी - भुवनेश्वर, लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद, सन् १६७१ ।

२६- किसान - शील, संस्कार प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण सन् १६५७ ।

२७- कोणार्क - जगदीश चन्द्र माथुर, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, संवत् २००८ वि० ।

२८- कैद और उड़ान - उपेन्द्रनाथ 'अश्क' नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १६५० ।

२६- खण्डित यात्राएँ - नरेश मेहता, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई, प्रथम संस्करण सन् १६६२ ।

३०- खिलौने की खोज - वृन्दावनलाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी,प्रथम संस्करण ।

३१- गरीबी या अमीरी - सेठ गोविन्ददास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १६५७ ई

३२- ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी काशिराम खत्री - भारत जीवन प्रेस, काशी सन् १८६३ ।

३३- गड़बड़झाला - जी० पी० श्रीवास्तव, प्रकाशन अप्राप्य, सन् १६१२ ।

३४- घाटियाँ गूंजती हैं - डॉ० शिवप्रसाद सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण सन् १६६३ ।

३५- चन्द्रगुप्त, जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, बाईसवां संस्करण, सन् १६७४ ।

३६- चिराग की लौ - रेवती सरन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १६६२ ।

३७- चुंगी की उम्मेदवारी - बदरीनाथ भट्ट, रामभूषण पुस्तक भंडार, बल्का बस्ती, आगरा, तीसरा संस्करण सन् १६३८ ।

३८- छाया - हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, तीसरा संस्करण सन् १६५२ ।

३६- जनमेजय का नागयज्ञ - जयशंकर प्रसाद, भारतीभंडार लीडर प्रेस,इलाहाबाद, नवाँ संस्करण संवत् २०२६ वि० ।

४०- त्याग या ग्रहण - सेठगोविन्ददास, राय साहब रामदयाल अग्रवाला, इलाहाबाद, सन् १६४३ ।

४१- तीन अपाहिज - विपिन अग्रवाल, यशपाल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् १६६६ ।

४२- तीन दिन तीन घर -- शील, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् १६६१ ।

४३- तीन युग - विमला रैना, किताब महल, इलाहाबाद, सन् १६५८ ।

४४- दर्पन - लक्ष्मीनारायण लाल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

४५- दीपदान - डॉ० रामकुमार वर्मा, भारती भंडार प्रयाग, सन् १६५८ ।

४६- दीवार - पृथ्वीराज कपूर, पृथ्वी थियेटर्स बम्बई, सन् १६५२ ।

४७- दु:खिनीबाला - राधाकृष्णदास हरिप्रकाश यन्त्रालय बनारस, चतुर्थ संस्करण संवत् १६५५ वि० ।

४८- दुमदार आदमी - जी० पी० श्रीवास्तव, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी हरिसन रोड, कलकत्ता, चौथा संस्करण, सन् १६३६ ।

४६- देशी कुत्ता विलायती बोल - राधाकान्त लाल काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५०- धीरे-धीरे - वृन्दावनलाल वर्मा, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, सं० २००८ वि० ।

५१- ध्रुवस्वामिनी - जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तेइसवाँ संस्करण संवत् २०२७ वि० ।

५२- न्याय की रात - चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली, तीसरा संस्करण सन् १९६८ ।

५३- नया रूप - पृथ्वीनाथ शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, सन् १९६२ ।

५४- नया समाज - उदयशंकर भट्ट, मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् १९५५ ।

५५- नये हाथ - विनोद रस्तोगी, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, सन् १९५८ ।

५६- नाट्य संभव - किशोरीलाल गोस्वामी, १९०४ ई० ।

५७- नींव की दरारें - कृष्ण किशोर श्रीवास्तव, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद ।

५८- नेफा की एक शाम - ज्ञानदेव अग्निहोत्री, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, दिल्ली ६, प्रथम संस्करण सन् १९६४ ।

५९- नेत्रोन्मीलन - श्याम बिहारी शुकदेव बिहारी मिश्र, साहित्य संवर्धिनी समिति कलकत्ता, प्रथम संस्करण संवत् १९७१ वि० ।

६०- नोक झोंक - जी० पी० श्रीवास्तव, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञानवापी बनारस, छठा संस्करण, सन् १९५१ ।

६१- डॉक्टर - विष्णु प्रभाकर, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९५८ ।

६२- पठान - लालचन्द बिस्मिल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७१ ।

६३- पहला राजा - जगदीश चन्द्र माथुर, राधाकृष्णप्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६९।

६४- प्रकाश - सेठ गोविन्ददास, महाकोशल साहित्य मन्दिर, जबलपुर, दूसरा संस्करण सन् १९६२ वि० ।

६५- पाकिस्तान - सेठ गोविन्ददास, किताब महल, प्रयाग, सन् १९४६ ।

६६- पीले हाथ - वृन्दावनलाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी, प्रथम संस्करण, सन् १६४८ ।

६७- प्रेम की वेदी - प्रेमचन्द्र, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद ।

६८- प्रेम या पाप - सैठ गोविन्ददास, रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग, सन् १६४६ ।

६६- पैतरे - उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाम प्रकाशन, प्रयाग, सन् १६५२ ।

७०- बन्धन - हरिकृष्ण प्रेमी, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, पांचवां, संस्करण, सन् १६५६ ।

७१- बाल्य विवाह नाटक - पंडित देवदत्त शर्मा, चिन्तामणि यन्त्रालय, फर्रुखाबाद, चतुर्थ संस्करण, सन् १८६७ ।

७२- बिना दीवारों के घर - मन्नू भंडारी, अक्षर प्रकाशन, प्रा० लिमिटेड दिल्ली, द्वितीय संस्करण १६७५ ।

७३- बूढ़े मुंह मुहाँसे - राधाचरण गोस्वामी, भारत जीवन यन्त्रालय काशी, प्रथम संस्करण, संवत् १६४४ वि० ।

७४- भट्ट नाटकावली - बालकृष्ण भट्ट तथा धनंजय भट्ट `सरल`, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण संवत् २००४ वि० ।

७५- भारत भारत - खड्ग बहादुर मल्ल, खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, प्रथम संस्करण सन् १८८५ ।

७६- भारत सौभाग्य, अम्बिकादत्त व्यास, प्रकाशन तथा संस्करण अप्राप्य ।

७७- भारत सौभाग्य - उपाध्याय बदरीनारायण शर्मा चौधरी `प्रेमघन` आनन्द कादम्बिनी, मिर्जापुर, सन् १८८६ ।

७८- भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संपा० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण, संवत् २००७ वि० ।

७६- मूलचूक - पी० पी० श्रीवास्तव, वी० पी० सिन्हा, गोंडा, सन् १६३८ ।

८०- मंगल सूत्र - वृन्दावन लाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी, प्रथम संस्करण सन् १६५३ ।

८१- महत्व किसे ? - सेठ गोविन्ददास, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, सन् १६५७ ।

८२- मादा कैक्टस - लक्ष्मीनारायण लाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १९५९ ।

८३- मिस अमेरिकन - बदरीनाथ भट्ट, इंडियन प्रेस, प्रयाग १९२९ ।

८४- मुक्ति का रहस्य - लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण ।

८५- रक्त कमल - डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण १९७४ ।

८६- रणधीर प्रेममोहिनी - श्री निवासदास, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, सन् १९७९ वि० ।

८७- रक्षाबन्धन - हरिकृष्ण प्रेमी, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, चौबीसवाँ संस्करण, सन् १९५६ ।

८८- रातरानी - डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १९७६ ।

८९- राजयोग - लक्ष्मीनारायण मिश्र, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

९०- राक्षस का मन्दिर - लक्ष्मीनारायण मिश्र, साहित्य भवन, लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण ।

९१- रुपया तुम्हें खा गया - भगवतीचरण वर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, पटना सन् १९५५ ।

९२- रेशमी टाई - रामकुमार वर्मा, लीडर प्रेस, प्रयाग, संवत् १९९८ वि० ।

९३- लबड़ धोंधो,- जी० पी० श्रीवास्तव, गंगापुस्तक माला, लखनऊ, तृतीयावृत्ति, संवत् १९९१ वि० ।

९४- लहरों के राजहंस - मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवां संस्करण सन् १९७३ ।

९५- वतन की आबरू - ज्ञानदेव अग्निहोत्री, उमेश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १९६६ ।

९६- विवाहिता विलाप - निहूलाल, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् १९७१ शक ।

९७- विद्रोहिणी अम्बा - उदयशंकर भट्ट, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण सन् १९६४ ।

९८- विवाह विज्ञापन - बदरीनाथ भट्ट, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, संवत् १९८४ वि० ।

९९- विवाह विडम्बन नाटक - तोताराम, भारत बन्धु प्रेस, द्वितीय संस्करण, सन् १९०० ।

१००- विशाख - जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, संवत् २००४ वि० ।

१०१- विषपान - हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, पंचम संस्करण, सन् १९५८ ।

१०२- वेन चरित्र - बदरीनाथ भट्ट, रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, आगरा, प्रथम संस्करण, सन् १९७९ विक्रम ।

१०३- शमशाद सौसन - केशवराम भट्ट, बिहार बन्धुछापाखाना, बाँकीपुर, सन् १८८० ।

१०४- शुतुरमुर्ग - ज्ञानदेव अग्निहोत्री, ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९६८ ।

१०५- स्कन्दगुप्त - जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, संवत् १९८५ वि० ।

१०६- स्वप्न भंग - हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण, सन् १९५१ ।

१०७- स्वर्ग की झलक - उपेन्द्रनाथ अश्क, मोतीलाल बनारसीदास, हिन्दी संस्कृत पुस्तक विक्रेता, लाहौर, तृतीय संस्करण, सन् १९३९ ।

१०८- संग्राम - प्रेमचन्द, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, सन् १९७९ ।

१०९- सज्जाद सम्बुल - केशवराम भट्ट, एजुकेशनल बुक डिपो, दरीबाकलाँ, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

११०- सन्यासी — लक्ष्मीनारायण मिश्र, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद प्रथम संस्करण ।

१११- संयोगिता स्वयंवर - लाला श्रीनिवासदास, प्रकाशन, संस्करण अप्राप्य ।

११२ - सन्तोष कहाँ ? - सेठ गोविन्ददास, कल्याण साहित्य मन्दिर, प्रयाग, प्रथम संस्करण संवत् २००२ वि० ।

११३- समाज - घनानन्द बहुगुणा, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, प्रथमावृति, सन् १६३० ।

११४- साध -- पृथ्वीनाथ शर्मा, हिन्दी भवन, लाहौर, सन् १६४४ ई० ।

११५- सिन्दूर की होली - लक्ष्मी नारायण मिश्र, भारती भंडार, रामघाट बनारस सिटी, प्रथम संस्करण, संवत् १६६१ वि० ।

११६- सुहाग बिन्दी - गोविन्दवल्लभ पन्त, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, संवत् २००६ वि० ।

११७- सुबह के घन्टे - नरेश मेहता, नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग, संवत् २०२३ ।

११८- सूर्यमुख -- लक्ष्मी नारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन् १६६८ ।

११६- सेवापथ -- सेठ गोविन्ददास, हिन्दी भवन, प्रयाग, सन् १६५० ।

१२०- हवा का रुख -- शील, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १६६२ ।

१२१- हिंसा या अहिंसा - सेठ गोविन्ददास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् २०२७ वि० ।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

हिन्दी -

१- अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश- तिलकराजशर्मा, आर्य बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् १६७६ ।

२- आज का भारत -- रजनीपाम दत्त, अनु० आनन्दस्वरूप वर्मा, दि मैकमिलन कम्पनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १६७७ ।

३- आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद - डॉ० परशुराम शुक्ल, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, सन् १६६६ ई० ।

४- आधुनिक हिन्दी साहित्य - प्रो० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् १६४१ ई० ।

५- आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य -- कृष्ण बिहारी मिश्र, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १६७२ ।

६- आधुनिक साहित्य -- नन्द दुलारे बाजपेयी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण २०१८ वि० ।

७- आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का विकास - डॉ० श्याम वर्मा, ग्रन्थम, रामबाग कानपुर, प्रथम संस्करण जनवरी १६७१ ।

८- आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ० नगेन्द्र, साहित्यरत्न भन्डार, आगरा, तृतीय संस्करण, संवत् २००७ वि० ।

६- आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना- गोविन्द चातक, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १६८२ ।

१०- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - संपा० नेमिचन्द्र जैन दि मैकमिलन कम्पनी आफ इंडिया, प्रथम संस्करण १६७८ ।

११- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १६७३ ।

१२- आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास- डॉ० बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १६७८ ।

१३- काव्य के रूप - गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, सन् १६५० ।

१४- कला क्या है - तोल्सतोय, रूपान्तरकार- इन्दुकान्त शुक्ल, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय बनारस, प्रथम जन संस्करण १९५५ ।

१५- कला दर्शन -- शची रानी गुर्टू, साहनी प्रकाशन, दिल्ली १९५६ ई० ।

१६- कांग्रेस का इतिहास (खण्ड १) - पट्टाभि सीता रामैया, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली, शाखा लखनऊ सन् १९३५ ।

१७- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार लीडर प्रेस प्रयाग, संवत् १९९६ वि० ।

१८- गद्य तरंगिणी - प्रेमचन्द्र, प्रकाशन, संस्करण अप्राप्य ।

१९- दर्शन साहित्य और आलोचना - लेखक बेलिन्स्की आदि अनुवादक नरोत्तम नागर, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, १९५८ ई० ।

२०- नाटक - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सम्पा० दामोदर स्वरूप गुप्त विश्वविद्यालय, परीक्षा-बुक डिपो, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् १९४१ ई० ।

२१- नाटक और यथार्थवाद - कमलिनी मेहता, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण ।

२२- नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली सन् १९७३ ।

२३- नाटककार अश्क - जगदीशचन्द्र माथुर, नीलाभ प्रकाशन गृह इलाहाबाद प्रथम संस्करण १९५४ ।

२४- नाट्यकला मीमांसा - सेठ गोविन्ददास, संस्करण १९३५ ।

२५- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस ।

२६- नाट्यशास्त्र - महावीर प्रसाद द्विवेदी, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण १९२९ ।

२७- प्रसाद -- नाट्य और रंग शिल्प, गोविन्द चातक आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७० ।

२८- प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक - भगवती प्रसाद शुक्ल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, प्रथम संस्करण १९७१ ।

२६- प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, सरस्वती मन्दिर, बनारस, प्रथम संस्करण, सं० २०० वि० ।

३०- प्रेमघन सर्वस्व -- बदरीनारायण चौधरी `प्रेमघन` ,हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग २००७ ।

३१- पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ - देवदत्त शास्त्री, किसलय मंच,इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६३ ।

३२- बीसवीं शताब्दी का हिन्दी रंगमंच -- शशिप्रभा अत्री, चिन्ता प्रकाशन पिलानी, प्रथम संस्करण १९८१ ।

३३- भारत का बृहत् इतिहास (तृतीय भाग) मजूमदार चौधरी, दत्त अनु० योगेन्द्र मिश्र, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लन्दन, द्वितीय संस्करण १९७१ ।

३४- भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास -- चोपड़ा, पुरी, दास, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, प्रथम हिन्दी संस्करण १९७५ ।

३५- भारत में शिक्षा - श्रीधरनाथ मुखर्जी, आर्य बुक डिपो बड़ौदा, प्रथम संस्करण १९६० ।

३६- भारतेन्दु की विचारधारा, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, शक्ति कार्यालय, दारागंज, प्रयाग, प्रथम संस्करण १९४८ ।

३७- भारतेन्दु - डॉ० रामविलास शर्मा, युग मन्दिर, उन्नाव, प्रथम संस्करण ।

३८- भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच, वासुदेव नन्दन प्रसाद, भारती भवन पटना १९७३ ।

३९- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - बाबू ब्रजरत्नदास, हिन्दुस्तानी एकेडमी यू० पी० सन् १९३५ ।

४०- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, साहित्य भवन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण १९६५ ।

४१- भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति - डॉ० सुषमा नारायण, हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली, पटना १९६६ ।

४२- महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग - डॉ० उदयभानु सिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ २००८ विक्रम ।

४३- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण - डॉ० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण ।

४४- मूल्य और उपलब्धि -- शम्भूनाथ सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली पटना, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

४५- मोहन राकेश और उनके नाटक - गिरीश रस्तोगी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९७६ ।

४६- मोहन राकेश की रंग सृष्टि - जगदीश शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९७५ ।

४७- यथार्थवाद - शिवकुमार मिश्र, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इंडिया लिमिटेड, द्वितीय संवर्धित संस्करण १९७८ ।

४८- रंगमंच -- बलवन्त गार्गी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६८ ।

४९- रंगमंच -- सर्वदानन्द, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी आगरा, प्रथम संस्करण १९६६ ।

५०- रंगमंच और नाटक की भूमिका - लक्ष्मीनारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६५ ई० ।

५१- रंगमंच - कला और दृष्टि -- गोविन्द चातक तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली ।

५२- राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास - मन्मथ नाथ गुप्त शिवलाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, आगरा, द्वितीय संस्करण १९६२ ।

५३- विचार और वितर्क - हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, नवीन संस्करण १९५४ ।

५४- संस्कृति और साहित्य, डॉ० राम विलास शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९४९ ।

५५- संकलित रचनाएँ (भाग ३) - मार्क्स - एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को ।

५६- समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि - जयदेव तनेजा, सामयिक प्रकाशन १९७१ ।

५७- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में -- डॉ० रीता कुमार, विभू प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९८० ।

५८- साहित्य चिन्तन - डॉ० रामकुमार वर्मा, किताब महल, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६५ ।

५९- साहित्यिक निबन्ध - डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण १९६४ ।

६०- शिक्षा के सिद्धान्त और आधार- लक्ष्मी नारायण गुप्त एवं डॉ० एस० के० पाल, कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण ।

६१- हमारी नाट्य परम्परा - श्रीकृष्णदास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५६ ई० ।

६२- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी, तृतीय संस्करण से २०१८ वि० ।

६३- हिन्दी कहानी में यथार्थवाद - डॉ० नूरजहाँ, अभिनव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९७६ ।

६४- हिन्दी गद्य के युग निर्माता, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९५१ ।

६५- हिन्दी नाटक - बच्चन सिंह, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९५८ ई० ।

६६- हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - डॉ० दशरथ ओझा राजपाल एण्ड सन्स, द्वितीय संस्करण ।

६७- हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र - डॉ० बच्चन त्रिपाठी मनु शर्मा, बड़ी पियरी, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

६८- हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ० वेदपाल खन्ना, 'विमल', भारत भारती लिमिटेड, दिल्ली, १९५८ ई० ।

६९- हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - डॉ० शान्ति मलिक नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७१ ।

७०- हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव - विश्वनाथ मिश्र लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १६६६ ।

७१- हिन्दी व नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा - कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह, भारती ग्रन्थ भण्डार, दिल्ली १६६५ ।

७२- हिन्दी रंगमंच का उद्भव और विकास - डॉ० विश्वनाथ शर्मा, उषा पब्लिशिंग हाउस जोधपुर, प्रथम संस्करण १६७६ ।

७३- हिन्दी समस्या नाटक - मान्धाता ओझा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १६६८ ई० ।

७४- हिन्दी साहित्य (तृतीय खण्ड), धीरेन्द्र वर्मा, प्रधान सम्पादक, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, प्रथम संस्करण १६६६ ई० ।

७५- हिन्दी साहित्य - हजारी प्रसाद द्विवेदी, अतरचन्द्र कपूर एण्ड सन्स दिल्ली १६५२ ।

७६- हिन्दी साहित्य का इतिहास- रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, आठवाँ संस्करण संवत् २००६ वि० ।

७७- हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (अष्टम भाग) -- डॉ० विनय मोहन शर्मा नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत २०२६ वि० ।

७८- हिन्दी साहित्य कोष - धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक) ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी १, द्वितीय संस्करण संवत् २०२० वि० ।

<u>English</u>

1. A History of English Literature -Cazamian
Revised Edition -

2. Comparitive Literature - H. Lavin
Edition 1951

3. Dictonary of World Literature- J.T. Shiply
Philosophical Library - New York. 1943.

4. Encyclopaedia Britanica. Vol. 19

5. Literature and Reality- Howard Fast Peoples
Publication House Bombay 1955.

6. Modern India. Bipan Chandra - N.C.E. R. T.
New Delhi 1971.

7. On Literature- Maxim Gorky, Pragati
Prakashan - Moscow.

8. On Literature and Art- Marx Engels Progress
Publishers, Moscow 1978.

9. Studies in European Realism - George Lukacs.
Hillway Publishing Company 1950.

10. The Art of the Drama-Millett and Bentley Appleton
Centuary Crofts, New York 1935.

<u>पत्र-पत्रिकाएँ</u>

१ - आलोचना अंक २६, १९७३, अंक १७, १९५७

अंक ३ अप्रैल १९५२

२- क ख ग : अंक ५ जुलाई १९६४

३- दिनमान २०-२६ अप्रैल १९८० ।

४- नटरंग - अंक ३, २१ ।

५- विशाल भारत - मार्च १९२९ ।

६- हिन्दी प्रदीप - बालकृष्ण भट्ट, जिल्द २२ संख्या ५,

भाग २५, संख्या ९-१२ ।